अर्थशास्त्र

मुरलीधर जोशी
अध्यापक, लखनऊ विश्वविद्यालय
और
सेवाराम शर्मा
अध्यापक, लखनऊ विश्वविद्यालय

लखनऊ
दि अपर इंडिया पब्लिशिंग हाउस लिमिटेड
१९५१

प्रस्तावना

गत पच्चीस-तीस वर्षोंमें पाश्चात्य देशोमें अर्थशास्त्रके सिद्धान्तोके विवेचन और विश्लेषणमें बडे वेगसे प्रगतिहुई है। कोईभी आधुनिक अर्थशास्त्री इन प्रवृत्तियोंसे प्रभावित हुए विना नही रह सकता। प्रस्तुत पुस्तकमें अर्थशास्त्रके सम्पूर्ण क्षेत्रके सिद्धान्तोकी विवेचना कीगई है। प्रत्येक विषयपर आधुनिक मतका प्रतिपादन करते हुए तत्सम्बन्धी अन्य मतोकी विवेचनाभी करदी गई है। आशाहै कि पाठको—विशेषकर विश्वविद्यालयोके विद्यार्थियो—के लिए यह पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी।

साधारणत: अर्थशास्त्रके दो विभाग किये जाते है। एक विभाग सिद्धान्तोका निरूपण करताहै और दूसरा आर्थिक समस्याओका अध्ययन करता है। दोनो विषय महत्वपूर्ण है। इस पुस्तकमें अर्थशास्त्रके सिद्धान्तोपर ही प्रकाश डालनेका प्रयास कियागया है। अतएव इसमें पाठकोको आर्थिक समस्याओ और उनके समाधानो का विशेष वर्णन नही मिलेगा।

अर्थशास्त्रकी आधुनिक पुस्तकोमें एक विशेष दृष्टिकोणके आधारपर सम्पूर्ण विषयोकी विवेचना करनेकी प्रथा चलपडी है। किसीमें आर्थिक क्षेमको, किसीमें राष्ट्रीय आयको, किसीमें मूल्यको और किसीमें सीमान्त विश्लेषणको प्रधानता दी गई है। इस रीतिसे विषयका प्रतिपादन करनेमें कुछ विशेषताए अवश्य है। प्रस्तुत पुस्तकमें लेखकोने अपनेको किसी एक दृष्टिकोणसे बद्ध नही किया है। उन्होने केवल एकही दृष्टिकोण अपने सामने रखाहै और वह यह कि पाठक इस विषयके विविध प्रकरणोको सुगमताके साथ समझ सकें। यही कारणहै कि आधुनिक प्रवृत्तियोका समावेश करतेहुए भी अध्यायोके क्रममें कुछ अशतक पुरानाही ढग रखागया है।

इस पुस्तकको लिखनेमें सबसे बडी कठिनाई लेखकोको विषय सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दोको प्राप्त करनेमें हुई। प्रचलित पुस्तको, अर्थशास्त्र शब्दावलियो और कोषोमें जो शब्द प्राप्त हुए उनमें अनेक अनुपयुक्त जानपड़े। अतएव लेखकोने बहुतसे शब्दोकी सृष्टि स्वयकी है। कही कहीपर एकही अर्थमें दो शब्दोका भी

प्रयोग होगया है जैसे प्रतियोगिता और प्रतिस्पर्धा, मजूरी और पारिश्रमिक इत्यादि। अभी अर्थशास्त्र शब्दावली बननेको है। अतएव लेखकोंने अपनेको किसी शब्द-विशेष से बद्ध नही करलिया है। पाठकोंकी सुविधाके लिए पुस्तकमें प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दोकी एक शब्दावली पुस्तकके अन्तमें दे दीगई है।

अर्थशास्त्रके सम्पूर्ण क्षेत्रकी विवेचना करनेमें एक समस्या यह उत्पन्न होजाती है कि भिन्न भिन्न विषयोका किस अनुपातमें समन्वय कियाजाये। अर्थशास्त्रके अन्तर्गत अनेक विषय और प्रकरणहै और प्रत्येकसे सम्बन्धित अनेक मत है। अतएव किस विषयको कितना स्थान देना चाहिए इसका निर्णय करना कठिन है। हो सकताहै कि प्रस्तुत पुस्तकमें किसी प्रकरण विशेषकी उस मात्रामें विवेचना न होपाई हो जिस मात्रामें अन्य पुस्तकोमें प्राप्तहो अथवा पाठक आशा करते हो। कालान्तरमें भिन्न भिन्न विषयोके महत्वमें परिवर्तन होता रहताहै और भिन्न भिन्न प्रकरणोंके सन्तुलनमें लेखककी मनोवृत्तिका भी प्रभाव पड़ता है। पाठकोसे हमारा सविनय अनुरोधहै कि वे हमको पुस्तककी त्रुटियो और अशुद्धियोंकी सूचना देनेका कष्ट करें जिससे हम दूसरे सस्करणमें पुस्तकको अधिक उपयोगी बना सकें।

हमारे ज्ञानका आधार प्रधानतया पाश्चात्य देशोके अर्थशास्त्रियोकी पुस्तकें और लेखहै। हम इनके बहुत आभारी है। हमको मार्शल, टौसिग, पीगू, विक्सीड, विकसेल, वीजर, नाइट, रौबिन्स्, माइजेज, हायक, ओहलिन, केन्स और हैबरलरकी पुस्तको से विशेष सहायता मिली है। विश्वविद्यालयमें अध्यापनका कार्य करनेके कारण हमको स्वयभी सोचने-समझने और तर्क करनेका अवसर प्राप्त हुआ है। इसके लिए हम अपने सहयोगी अध्यापको और अर्थशास्त्रके छात्रोके भी आभारी हैं।

लखनऊ विश्वविद्यालय

मुरलीधर जोशी
सेवाराम शर्मा

विषय-सूची

१

अर्थशास्त्र का स्वरूप और क्षेत्र

इस संसारमें मनुष्य जिस वातावरणमें जन्म लेता है वह वास्तवमें अनेक प्रकारकी परिस्थितियोका सम्मिश्रण मात्र है। इनमेंसे कुछ परिस्थितिया ऐसी है जिनके उत्पन्न करनेमें उसका कुछ हाथ नही है और कुछ ऐसी है जो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूपसे उसीके आचरण और व्यवहारके फलस्वरूप उत्पन्न हुई है। इन सभी प्रकारकी परिस्थितियोका उसपर तथा उसके कार्योपर प्रभाव अवश्य पडता है। अतएव वह इन परिस्थितियो और तत्सम्बन्धी तथ्योको समझनेकी चेष्टा करता है। सम्भव है कि प्रारम्भमें वह केवल स्वाभाविक उत्सुकतावशही ऐसा करता रहा हो परन्तु निश्चयही आगे चलकर इस प्रकार प्राप्त ज्ञानका प्रयोग उसने या तो परिस्थितियोको अपने अनुकूल अथवा अपने को परिस्थितियोके अनुकूल बनानेमें किया। यही नही जहा परिवर्तन सम्भव नही हुआ,वहा प्रतिकूल परिस्थितियोसे सघर्ष करनेमें भी इस ज्ञानसे उसको बडी सहायता मिली।

उत्सुकता जाग्रत करने वाली वस्तुओमें प्रकृतिका स्थान सर्वप्रथम है। मनुष्य अपने आस पास जीव-जन्तुओ और पेड-पौदोको देखता है और उनकी उत्पत्ति एव विकास,गुण तथा प्रवृत्ति जाननेकी चेष्टा करता है। इसी प्रकार वह आकाशमें सूर्य, चन्द्र तथा नक्षत्रोको देखता है। पृथ्वी पर प्रकाश, धूप, वृष्टि, नदी, समुद्र पहाड इत्यादि को देखता है। खानसे खनिज पदार्थ, लोहा, कोयला, सोना, चादी इत्यादि निकलते हुए देखता है। निश्चय ही उसके मनमें इनके विषयमें जाननेकी उत्कठा होती है। केवल देख-सुनकर प्राप्त साधारण बोधसे ही उसको सन्तोष नही होता। वह गहराईमें जाना चाहता है और कार्य-कारणके सम्बन्धका ज्ञान प्राप्त करना चाहता है। वह इन विषयोकी छान-बीन करके उनके अन्तर्गत नियमो और सिद्धान्तोकी स्थापना करता है तथा उनके आधार पर भावी परिस्थितियोके विषयमें कुछ अश तक भविष्यवाणी करनेका भी दावा करता है। इस प्रकारके ज्ञानको विज्ञान कहते है। भिन्न भिन्न विषयोके सम्बन्धमें एकत्रित

ज्ञान-विज्ञान विभिन्न शास्त्रोके अन्तर्गत आते है। उदाहरणके लिए प्राणियोके विषयमें जो विज्ञान है, उसका समावेश प्राणि शास्त्रमें, पेड़-पौदोका वनस्पति शास्त्र में और ग्रह-नक्षत्रो आदिका खगोल शास्त्र में है। इसी प्रकार रसायन शास्त्र, भौतिक शास्त्र, भूगर्भ शास्त्र इत्यादि भी अपने अपने विषयोके विज्ञानको प्रतिपादित करते है। इनमें भी कुछ विषयो पर अधिक ज्ञान प्राप्त होचुका है क्योकि उनके प्राप्त करनेके अधिक साधन उपलब्ध है; अन्य बहुतसे विषयो पर अभी ज्ञान बहुत ही परिमित है।

अर्थशास्त्र का विषय

मनुष्य न केवल बाह्य परिस्थितिको ही समझनेका प्रयत्न करता है, वरन् वह अपने और अपने कार्योके विषयमें भी जानना चाहता है। उदाहरणके लिए, वह अपने शरीरके तथा अपनी मनोवृत्तिके विषयमें भी ज्ञान प्राप्त करना चाहता है। इन विषयोकी विवेचना तथा व्याख्याके फलस्वरूप शरीरविज्ञान शास्त्र और मनोविज्ञान शास्त्रकी उत्पत्ति हुई है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, वह समाजमें रहना पसन्द करता है। अतएव उसके अन्य मनुष्योसे अनेक प्रकारके सम्बन्ध हो जाते है। इन सम्बन्धोके अध्ययनके फलस्वरूप अनेक शास्त्रोकी सृष्टि हुई है। जैसे समाजके सगठित रूपमें रहनेके लिए व्यवस्था एव नियमकी आवश्यकता होती है, जिसके लिए किसी प्रकारक शासक अथवा शासकसघ का होना आवश्यक है। इसके फल-स्वरूप राजा और प्रजा, शासक और शासित, राज्य और नागरिकोके बीच अनेक प्रकारके कर्तव्य और उत्तरदायित्वके प्रश्न उपस्थित हो जाते है, जिनका विवेचन राजनीति शास्त्रमें किया जाता है। इसी प्रकार मनुष्य और मनुष्यके बीच धर्म सम्बन्धी, भाषा सम्बन्धी, नीतिसम्बन्धी समस्याए उत्पन्न होजाती है जिनका अध्ययन तत्सम्बन्धी शास्त्रोमें किया जाता है।

मनुष्यकी अनेक प्रकारकी आवश्यकताए होती है जिनकी पूर्तिके लिए वह सतत प्रयत्न करता रहता है। इन्ही आवश्यकताओकी पूर्तिके लिए किसान खेतोमें और श्रमजीवी कारखानोमें काम करते है। कुछ मनुष्य अध्यापनका कार्य करते है, कुछ चिकित्साका, कुछ व्यापारका और कुछ सरकारी नौकरीका। इन्ही आवश्यकताओ

की पूर्तिके लिए विविध प्रकारके कल कारखानो, बैंक, रेल, जहाज, डाक और तार इत्यादिका निर्माण हुआ है। इन्ही आवश्यकताओ की पूर्तिके लिए साधारणत: मनुष्य चिन्तित रहता है और कठिन परिश्रम तथा दौडधूप करता है। अतएव यह कोई आश्चर्यकी बात नही है कि मनुष्य इस विषयकी ओर विशेषरूप से आकृष्ट हुआ है तथा उसने इसके अध्ययनकी चेष्टा की है जिसके परिणामस्वरूप एक शास्त्रकी उत्पत्ति हुई, जिसे अर्थशास्त्र कहते है।

अर्थशास्त्रके नामही मे उस विद्याका बोध होता है, जिसका सम्बन्ध 'अर्थ' अर्थात् धन, द्रव्य और सम्पत्तिसे हो। हम देखते भी है कि मनुष्यके समयका एक बडा भाग अर्थके उपार्जन और उसके द्वारा अपनी आवश्यकताओंकी पूर्तिमें व्यय होता है। जिन आवश्यकताओंकी पूर्ति अर्थ द्वारा होसकती हैं उनको आर्थिक आवश्यकताए कह सकते है। आजकलके आर्थिक समाजमें प्राय. सभी आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूपमें अर्थकी आवश्यकता पडती है। यह कहना ठीक नही होगा कि मनुष्यकी कुछ आवश्यकताए आर्थिक होती है और कुछ अनार्थिक और तत्सम्बन्धी आर्थिक तथा अनार्थिक कार्य भी होते है। वास्तव में प्रत्येक आवश्यकता तथा कार्यका कम या अधिक मात्रा में आर्थिक पक्ष अवश्य रहता है। अतएव इन कार्यो और आवश्यकताओसे अर्थशास्त्रका सम्बन्ध हो जाता हैं तभी अर्थशास्त्री को उनका अध्ययन करना पडता है।

मनुष्यकी आवश्यकताए जहा अपरिमित होती है, वही उनकी पूर्तिके साधन परिमितभी होते हैं। अतएव मनुष्य अपनेको इस प्रकारकी परिस्थिति में पाता है जिसमें उसे यह निर्णय करना पडता है कि किन आवश्यकताओकी पूर्ति की जावे और किस अंश में। हम देखते है कि प्रत्येक कुटुम्ब की आय सीमित होती है परन्तु उसके सामने अनेक प्रकारकी आवश्यकताए रहती है, जिन सभी की तृप्ति इस सीमित आय से नही हो सकती क्योकि आय का जो भाग एक आवश्यकता की पूर्ति पर व्यय किया जाता है, वह दूसरी आवश्यकताकी पूर्ति के लिए उपलब्ध नही रहता। अर्थात् एक आवश्यकताकी पूर्ति का अर्थ हुआ किसी दूसरी इच्छा का अतृप्त रहना। मनुष्यकी आवश्यकताओकी पूर्ति उपभोगकी वस्तुओसे होती है। समाजके सभी लोगो की सभी आवश्यकताओके लिए उपभोगकी वस्तुए पर्याप्त नही होती है। इसका प्रधान कारण यही है कि इन वस्तुओंको उत्पन्न

करनेके साधन, प्राकृतिक सामग्री, पूजी और मनुष्यों की शारीरिक एव मानसिक शक्ति सीमित है। अतएव यह एक महत्वपूर्ण समस्या है कि इन सीमित साधनोका असीमित आवश्यकताओ की पूर्ति के साथ किस प्रकार सामजस्य किया जाय। इस समस्याको हम आर्थिक समस्या भी कह सकते है। यह समस्या प्रत्येक व्यक्ति, कुटुम्व और समाज के सामने है। यही समस्या अतीतकाल में भी रही है और भविष्य में भी रहेगी। यह ठीक है कि अतीतकाल की अपेक्षा वर्तमान समय में उत्पत्तिके साधनो और वस्तुओके उत्पादन में वहुत वृद्धि हो गयी है परन्तु साथ ही साथ आवश्यकताओकी संख्या में भी वृद्धि हुई है। अतएव समस्या ज्यो की त्यो वनी है। यह समस्या प्रत्येक प्रकार की आर्थिक पद्धति में पायी जाती है। देश में पूजीवादी व्यवस्था हो अथवा समाजवादी, प्रत्येक व्यवस्थाको इस परिस्थितिका सामना करना पडता है और प्रत्येक व्यक्ति भिन्न भिन्न रीतियोसे इस समस्याको सुलझाना चाहता है। पृथ्वीके अधिकांश भागमें आजकल पूजीवादी आर्थिक व्यवस्था है अतएव इस पुस्तकमें प्रधानतया इसी वातकी विवेचना की जायेगी कि इस व्यवस्था के अन्तर्गत इस समस्या का समाधान किस प्रकार किया जाता है। इस व्यवस्थाके अतिरिक्त जो अन्य प्रकार की व्यवस्थाए प्रचलित हैं उनमें किस प्रकारसे इसका समाधान किया गया है, इसका भी सक्षेपमें विवेचन किया जायेगा।

मनुष्य अपनेको इस परिस्थिति में पाता है कि उसकी आवश्यकताए तो अपरिमित है किन्तु उसके पास उनकी पूर्तिके साधन परिमित है। इन साधनोमें एक विशेष गुण यह है कि इनमेंसे वहुतसे इस प्रकारके हैं जिनसे अनेक प्रकारकी आवश्यकताओकी पूर्तिका कार्य लिया जा सकता है। उदाहरणके लिए भूमि एक उत्पत्ति का साधन है। भूमि पर कई प्रकारका अनाज पैदा किया जा सकता है; मकान वनाया जा सकता है; तालाव अथवा कुआ खुदवाया जा सकता है; और भी अनेक प्रकारसे भूमिका उपयोग हो सकता है। परन्तु यदि भूमि का एक टुकडा किसी समय एक कार्यमें लगा दिया गया तो उसी समय उससे दूसरा कार्य नही लिया जा सकता। यही अवस्था श्रम और पूजीकी भी है। ऐसी दशा में परिमित एव विविध कार्योंके योग्य साधनो का अपरिमित आवश्यकताओसे सामजस्य करने में जिस प्रकारका आचरण होता है, वह मनुष्यके लिए वडे महत्वका है, क्योकि उसीके आधार पर इस वात का निर्णय होता है कि उसकी किन आवश्यकताओकी पूर्ति

होसकेगी और किस अश तक। कई आधुनिक अर्थशास्त्रियो के मतमें अर्थशास्त्र के विषयका मूल तत्व यही है। हम ससार में जितने आर्थिक कार्य, आर्थिक सस्थाए और आर्थिक सम्बन्ध पाते है वह सब इसी मूल तत्व पर केन्द्रित है। एक प्रकारसे अर्थशास्त्रके विषयको इस दृष्टिकोणसे देखना ठीक भी है। किसी समस्या को समझने, सुलझाने और समाधान करनेका कार्य ही किसी भी शास्त्रका मुख्य उद्देश्य है। मनुष्य और समाजके सामने एक बडी विकट समस्या यह है कि वह अनेक प्रकारकी आवश्यकताओसे घिरा हुआ है और इनमें वरावर वृद्धि हो रही है। इनकी तृप्तिके लिए वह अपने पास पर्याप्त मात्रा में साधन नही पाता। ऐसी परिस्थिति में वह क्या करता है और वैसा क्यो करता है, इसका विश्लेषण करना और इनको कार्य-कारणसे सम्वन्धित कर उनके साधारण व्यापार पर प्रकाश डालना एक महत्वपूर्ण विज्ञानसम्वन्धी कार्य है। अर्थशास्त्रके मूल में यही तत्व है।

इसी परिस्थितिको हम दूसरे प्रकारसे भी देख सकते है। मनुष्यको जीवित रहनेके लिए वायुकी आवश्यकता है। परन्तु सौभाग्यसे प्रकृतिने वायुको इतनी प्रचुर मात्रामें प्रदान किया है कि उसके सम्वन्धमें कभी भी इस प्रकार की समस्या पैदा नही हुई कि 'कव' 'कहा' और 'कितनी मात्रामें' इसका प्रयोग करें। सभी वायु सम्वन्धी आवश्यकताओकी पूर्ति करने पर भी यह वहुत परिमाणमें बची रहती है। इसलिए वायुके सम्वन्धमें कोई आर्थिक समस्या उत्पन्न नही होती। यही कारण है कि वायुके लिए हमको किसी प्रकारका मूल्य नही देना पड़ता। जिस वस्तुको बिना प्रयास और बिना मूल्यके किसी भी मात्रामें प्राप्त किया जासके, उसको हम बिना मूल्यकी वस्तु कहेंगे। इस प्रकारकी वस्तुए हमारे बडे कामकी हो सकती है परन्तु आर्थिक दृष्टिसे इनका कोई महत्व नही है। अतएव इन वस्तुओको हम आर्थिक वस्तुओके वर्गमें नही रखते। मनुष्यके दुर्भाग्यसे ऐसी वस्तुओकी संख्या बहुतही कम है। अधिकाश वस्तुओकी मात्रा सीमित होती है और उनको प्राप्त करनेके लिए हमको स्वय परिश्रम करना पडता है अथवा मूल्य देकर दूसरेसे लेना पडता है। प्रकृतिने सभी वस्तुओको प्रचुरताके साथ नही दिया। भूमि का क्षेत्र सीमित है और कृषिके योग्य भूमि का तो बहुतही सीमित। इसी प्रकार खनिज -पदार्थोका परिमाण भी सीमित है। आवश्यकतासे कम मात्रामें होनेके कारण

इनको प्राप्त करनेके लिए श्रम अथवा द्रव्यके रूपमें मूल्य चुकाना पडता है। मनुष्य की बनाई हुई वस्तुएभी सीमितही होती है क्योंकि उनको बनानेके साधन भी सीमित है। अतएव उनको प्राप्त करनेके लिए भी मूल्य देना होता है। एक प्रकारसे हम कह सकते है कि मूल्यवाली वस्तुए ही आर्थिक वस्तुए है और इन वस्तुओके उपभोगसे जिन आवश्यकताओंकी पूर्ति होती है वही आर्थिक आवश्यकताए समझी जाती है।

अर्थशास्त्र का क्षेत्र

आर्थिक साधनोके परिमित होनेके कारण अनेक प्रकारके आर्थिक व्यापार उत्पन्न होजाते है। पहिला महत्वपूर्ण व्यापार उत्पत्तिके साधनोसे भिन्न भिन्न प्रकारकी वस्तुए भिन्न भिन्न मात्राओमें उत्पन्न करना है। उत्पत्तिकी इस क्रियापर राष्ट्रीय आयका परिमाण और उसका स्वरूप निर्भर करता है। आर्थिक साधनोंके समुचित प्रयोग पर आर्थिक क्रियाका स्तर निर्भर करता है। अतएव राष्ट्रीय आय कितनी है और किस प्रकार की है और इनमें किस प्रकारका परिवर्तन हो रहा है यह अर्थशास्त्रका एक महत्वपूर्ण अग है जिसका विश्लेषण करना आवश्यक हो जाता है। दो प्रकार की वस्तुओका उत्पादन होता है। एक तो उपभोग्य वस्तुए और दूसरी उत्पादक वस्तुए। इन वस्तुओकी उत्पत्तिकी क्रियामें जो साधन भाग लेते है, उनकी द्रव्यरूपी आय भी इसी क्रिया द्वारा प्राप्त होती है। इस द्रव्यरूपी आयके व्यय पर ही उत्पन्नकी हुई वस्तुओकी माग अवलम्बित रहती है और मागके आधार पर उत्पत्तिका स्तर निर्भर करता है। यदि मागमें किसी कारण कमी आ जाय तो आर्थिक साधनोमें बेकारी, उत्पत्तिकी मात्रामें कमी और आर्थिक क्षेमका ह्रास होने लगता है। पूजीवादी आर्थिक व्यवस्थामे इस प्रकारकी अवस्था बहुधा हो जाया करती है। इस प्रकारकी परिस्थितिया क्यो उत्पन्न हो जाती है और किस प्रकार इनका प्रतिकार किया जासकता है, यह आधुनिक आर्थिक विश्लेषण का महत्वपूर्ण अग हो गया है क्योंकि इसी पर राष्ट्रीय आयका और साधनोके उपयोग का परिमाण निर्भर करता है।

दूसरा आर्थिक व्यापार जो कि प्रत्येक आर्थिक व्यवस्थामें पाया जाता है,

विनिमयका है। प्राचीनसे प्राचीन मनुष्यजाति में भी किसी न किसी मात्रामें श्रमविभाजन और विशिष्टीकरण पाया गया है। आधुनिक ससारमें तो यह विशिष्टीकरण इतना विस्तृत एव व्यापक हो गया है कि कोई भी मनुष्य अपने उपभोग की वस्तुओका एक छोटा भाग भी स्वय नही उत्पन्न करता। लाखो करोडो वस्तुओके बीच वह एक भी समूची वस्तु नही बनाता; केवल उसका एक नगण्य भाग बनाता है। ऐसी अवस्थामें अपनी अपनी आवश्यकताओ की तृप्तिके लिए विनिमयका कार्य आवश्यक हो जाता है। प्राचीन कालमें यह कार्य वस्तु-विनिमय की प्रथा द्वारा सम्पन्न होता था। आजकल वही द्रव्यके माध्यमसे होता है। विनिमयकी सुगमताके लिए दो बातोका होना अति आवश्यक है। एक तो विनिमयका आधार और दूसरा उसका माध्यम। विनिमयका आधार मूल्य है और माध्यम द्रव्य। आजकल द्रव्यके रूपमें ही मूल्य प्रकट किया जाता है और द्रव्यकी सहायतासे क्रय-विक्रय होता है।

द्रव्यका परिमाण सरकार, केन्द्रीय बैंक और अन्य व्यापारी बैंको द्वारा निर्धारित होता है। प्रगतिशील देशोमें बैंको द्वारा प्रचलित किये गये साखद्रव्य की ही प्रधानता है। आर्थिक पद्धतिके सगठन तथा संचालन में द्रव्यका इतना महत्व है कि इसके परिमाण, व्यय और सचयके परिवर्तनसे आर्थिक अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है। अतएव द्रव्य और द्रव्य सम्बन्धी सस्थाओके नियन्त्रण की आवश्यकता होती है।

द्रव्यके रूपमें वस्तुओके जो मूल्य निर्धारित होते है, उन्हीके आधार पर पूजीवादी पद्धतिमें उत्पत्तिका स्तर और स्वरूप बनता और बदलता जाता है। आर्थिक स्वतन्त्रता की व्यवस्थामें उत्पादक उन्ही वस्तुओका, उन्ही मात्राओमें उत्पादन करते है जिनसे उन्हें अधिक लाभ हो। वस्तुओके बनानेमें जो लागत लगती है वह इन वस्तुओके उत्पादनमें लगे साधनोके मूल्यका ही समुच्चय है। वस्तुओके मूल्य और लागतके अन्तर पर ही लाभकी मात्रा निर्भर करती है। अतएव उत्पादकको अपना व्यवसाय और उत्पादनकी मात्राको स्थिर करनेके लिए वस्तुओ और साधनोके मूल्यकी जानकारी होनी चाहिए। यह मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है और इसपर किन किन बातोका प्रभाव पड़ता है, इसका विश्लेषण अर्थशास्त्र का एक प्रधान अग है। यदि हम ध्यानसे देखें तो ज्ञात होगा कि मूल्यस्तरो पर न केवल

लाभकी मात्रा निर्भर करती है अपितु उत्पत्तिके साधनोंकी नियुक्ति, राष्ट्रीय आय और व्यक्तिगत आय भी इन्हीपर निर्भर करती है।

उत्पादित आय भिन्न भिन्न मनुष्यो अथवा वर्गोंमें किस प्रकार विभक्त होती है, यहभी एक महत्वपूर्ण प्रश्न है क्योकि आयका जो भाग उनको मिलता है, उसीपर उनका आर्थिक क्षेम निर्भर करता है। आजकल मुख्यत: आय द्रव्यके रूपमें होती है, जिसका उपार्जन उत्पत्तिके कार्यमें सहायता देनेसे होता है। यह द्रव्यमयी आय श्रमजीवियो को पारिश्रमिक और वेतनके रूपमें और पूजीपतियोको व्याज, लगान और लाभके रूपमें प्राप्त होती है। स्पष्ट है कि इस आयकी मात्रा उत्पत्तिके साधनो के प्रयोग और उनके मूल्यपर अवलम्बित होती है। श्रमजीवियोंकी आयका परिमाण इस बात पर निर्भर करता है कि उनकी नियुक्ति कितने समयके लिए और कितने पारिश्रमिक पर होगी। उत्पत्तिके अन्य साधनोके मूल्यका निर्धारण भी उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार साधारण वस्तुओके मूल्यका।

राष्ट्रीय आय किस प्रकार समाजमें भिन्न भिन्न आर्थिक वर्गोंमें और किस अनुपात में विभाजित होती है, इसका प्रभाव केवल इन वर्गोके क्षेमपर ही नही परन्तु सारी आर्थिक व्यवस्था पर पडता है। अनुभवसे यह ज्ञात हुआ है कि कम आयवाले अपनी आयका अधिकाश भाग उपभोगकी वस्तुए खरीदनेमें व्यय कर देते है और धनी वर्ग अपनी आयका एक बडा भाग बचा लेते है। इसी बचतसे उद्योग-धन्धोके लिए पूजी बनती है। यदि यह बचत पूजीके रूपमें प्रकट होती रहे और आर्थिक कार्योमें लगती रहे तो इससे आर्थिक साधनोको काम मिलता रहेगा और उत्पत्तिकी मात्रा और आयस्तरमें भी वृद्धि होती रहेगी। परन्तु बहुधा ऐसा होजाता है कि यह बचत पूजीके रूपमें न लगकर सचित रूपमें बेकार पडी रहजाती है क्योकि इसको लगानेसे पूजीपतियोको लाभकी आशा नही होती। बचत और इसके उपयोगके व्यवधानसे आर्थिक कार्यमें शिथिलता और मन्दी आजाती है। कुछ लोगोका विश्वास है कि सामाजिक आयमें से यदि कम आय वाले वर्गको अधिक भाग प्राप्त हो तो उनकी व्ययशीलतासे उपभोगके पदार्थोंकी माग बढेगी, जिससे पूजीकी उत्पादकतामें वृद्धिकी आशा बनी रहेगी, क्योकि पूजीवादी समाजमें आयका वितरण बहुत असमान होता है और अधिकाश बचतकी मात्रा एक छोटे वर्गके पास केन्द्रित रहती है अतएव वर्ग सम्बन्धी वितरणका इस प्रकरणमें बहुत महत्व

हो जाता है।

उत्पत्तिका चरम उद्देश्य उपभोग है। उत्पादक वस्तुओका प्रयोजन भी उपभोग की वस्तुओके निर्माणमें सहायता देना है। अतएव इनका मूल्य भी इनकी सहायता से निर्मित उपभोगकी वस्तुओके मूल्य पर निर्भर करता है। उत्पादकोको उपभोक्ताओके लिए वस्तुए बनानी है। साधारणत: पूजीवादी व्यवस्थामें उपभोक्ताको कोई भी वस्तु किसी भी मात्रामें प्राप्त करनेकी पूर्ण स्वतन्त्रता होती है। अब प्रश्न यह उठता है कि उपभोक्ता किस परिमाणमें किन किन वस्तुओको प्राप्त करनेकी चेष्टा करेगा इसका निश्चय अवश्यही उसकी आयके परिमाण, उसकी आवश्यकताओकी गरिमा और आवश्यकताओको तृप्त करने वाली वस्तुओके मूल्य पर निर्भर करेगा। यह जानी हुई वात है कि उत्पादक वर्ग विज्ञापनो और अपने क्रय-चातुर्यसे अपनी वस्तुओकी माग उत्पन्न करते है और उनके बेचनेमें समर्थ होते है। परन्तु अन्ततोगत्वा वही उत्पादक अपने व्यवसायमें सफल होगें जो अपने उद्योग-धधोका शीघ्रतासे उपभोक्ताओकी मागमें होने वाले परिवर्तनोके साथ सामजस्य बनाये रख सकेंगे। इस प्रकरणमें एक गूढ विषयकी ओर हमारा ध्यान आकर्षित होता है कि किस प्रकार उत्पत्ति और उपभोगकी क्रियाए एक साथ गुथी हुई हैं। उत्पत्ति की क्रियासे आयका सृजन होता है। इस आयका साधनोके स्वामियोमें वितरण होता है। इसके फलस्वरूप भिन्न भिन्न वस्तुओकी भिन्न भिन्न मात्रामें माग होती है और इसके आधारपर पुन: उत्पत्तिकी क्रिया निर्भर करती है।

आधुनिक कालमें कोईभी देश स्वावलम्वी नही रह सकता। भारतवर्ष बहुतसी वस्तुए दूसरे देशोसे मोल लेता है और अपनी वस्तुओको दूसरे देशोमें बेचता है। इसके अतिरिक्त एक देशकी पूजीभी दूसरे देशमें लगी होती है। इस प्रकारके अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धोके कारण आयात-निर्यात, विदेशीविनिमय, लेनदेन का असन्तुलन इत्यादि समस्याए उत्पन्न हो जाती है जिनका विवेचन और विश्लेषणभी अर्थशास्त्रके अन्तर्गत होता है।

प्रत्येक देशकी सरकारभी उसकी आर्थिक पद्धतिका महत्वपूर्ण अंग होती है। अपनी कर-व्यय-ऋणनीति एव आर्थिक विधानो द्वारा वह उत्पत्तिकी मात्रा और उसके स्वरूप, राष्ट्रीय आय और उसके वितरणमें बहुत प्रभाव डाल सकती है। अतएव राजस्वनीति सम्बन्धी सभी कार्य अर्थशास्त्री के अध्ययनके विषय होजाते है।

एक और रीतिका भी प्रयोग किया जाता है जिसको आनुमानिक रीति कहते है। यह सर्वविदित है कि वास्तविक आर्थिक घटनाए बहुत गहन, पेचीली और उलझी होती है जिससे उनका पूर्ण रूपसे विश्लेषण करना बहुत ही कठिन कार्य है। अतएव विश्लेषणके लिए अर्थशास्त्री आर्थिक परिस्थितिको काल्पनिक रूपसे सरल बनानेकी चेष्टा करता है। इस कल्पित आर्थिक व्यवस्थामें वह कुछ बातोंको स्वयसिद्ध मान लेता है। उदाहरणके लिए मनुष्य आर्थिक कार्योंको अपने लाभके उद्देश्यसे करता है, आर्थिक व्यवहारोमें पूर्ण स्पर्द्धा पायी जाती है इत्यादि। इन अनुमानोके आधार पर वह तर्क द्वारा नये नये परिणाम निकालता है। अब ये नये परिणाम वास्तविक जगत्में कहा तक लागू होगे, यह इस बात पर निर्भर है कि उसकी कल्पनाए वास्तविक स्थितिसे कितनी भिन्न है। यदि वास्तविक स्थितियो में कल्पित स्थितियोसे अधिक विभिन्नता न हो तो हम कह सकते है कि जो परिणाम काल्पनिक स्थितियोके आधार पर प्राप्त किये गये है, वे वास्तविक जगत् में भी ठीक उतरेंगे। यदि ऐसा नही है तो वास्तविक जगत् में ये परिणाम पूर्णरूप से लागू नही होगे। उदाहरणके लिए, यदि पूर्ण प्रतिस्पर्द्धाके आधार पर हम इस परिणाम पर पहुँचें कि अमुक वस्तु का अमुक मूल्य होगा और यदि वास्तविक ससारमें अपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा हो तो हमारा परिणाम ठीक नही उतरेगा। यह नही समझना चाहिए कि वास्तविक जीवन इन कल्पित अवस्थाओसे भिन्न है अतएव इस आनुमानिक रीतिका कोई महत्व नही है। एक मिश्रित और पेचीली स्थिति का विश्लेषण करनेके लिए इस रीतिका प्रयोग बहुधा सुविधाजनक होता है। एक सरल आर्थिक प्रतिरूप कल्पितकर उसके आधारपर कुछ परिणाम निकाले जाते है और क्रमशः इस कल्पित प्रतिरूपमें वास्तविकता का समावेश करके उनमें सशोधन कियाजा सकता है। यह भी नही समझना चाहिए कि जिन अर्थशास्त्रियो ने इस विधिका प्रयोग किया है वे वास्तविकतासे अनभिज्ञ थे। हा, इस बातको पूर्णरूप से ध्यानमें रखना चाहिए कि आनुमानिक आधार पर जो कार्य-कारण श्रृखलाका प्रतिपादन किया जाता है उसकी वास्तविकता और यथार्थता तभी प्रमाणित होसकती है, जब कि वे कल्पनाए वास्तविकतासे अधिक दूर न हो।

व्यवहारमें अर्थशास्त्रीको अपने विषयको समझनेमें और उसके विश्लेषणमें इन सभी रीतियोकी आवश्यकता होती है। ऐतिहासिक रीतिका महत्व इसलिए है कि

इसके प्रयोगमें हम वास्तविकताके साथ चलते हैं और उसके आधार पर ही सामान्य धर्म जाननेकी चेष्टा करते हैं। परन्तु आर्थिक विषयोकी गम्भीरता और जटिलता के कारण प्रत्येक अवस्थामें इस रीतिका प्रयोग सम्भव नही होता। अतएव हमको आनुमानिक रीतिका आश्रय लेना पड़ता है। इस रीतिके आधार पर जो परिणाम प्राप्त किये जातेहै उनकी यथार्थताकी परीक्षाके लिए हमको उन्हें वास्तविकता की कसौटी पर कसना पडता है।

आर्थिक क्षेम

जब मनुष्य किसी विषयका अध्ययन एव विश्लेषण करता है तो उसका कुछ न कुछ उद्देश्य रहता है। एक उद्देश्य तो उस विषयका ज्ञान प्राप्त करना, उसके विविध अगो-प्रत्यगोका अध्ययन करके उनके कार्य-कारण पर प्रकाश डालना और तत्सम्बन्धी सामान्य धर्म खोज निकालना है। इस ज्ञानकी प्राप्तिके लिए उसे अनेक प्रकारकी वैज्ञानिक रीतियो और प्रयोगोको काममें लाना पडता है। परन्तु हमारा उद्देश्य केवल ज्ञानप्राप्ति ही नही होसकता। इस जगत्में केवल ज्ञानही से हमारा काम नही चलता। हमको कर्म करने पडते हैं। ज्ञान प्राप्त करनेकी मनोवृत्ति, अवकाश तथा साधन केवल कुछही लोगोको उपलब्ध होते है परन्तु कर्म सभीको करने पडते है क्योकि बिना कर्म किये हम अपनी आवश्यकताओकी पूर्ति नही कर सकते। योतो थोडा बहुत प्रत्येक मनुष्य अपने कार्यके विषयमें जानता ही है, परन्तु प्रत्येक मनुष्यको उसका पूर्ण ज्ञान नही होता। अतएव ऐसे लोगोके कार्य उतनी उत्तमतासे नही होसकते जितनी कि तत्सम्बन्धी ज्ञान प्राप्तिसे होसकते है। यदि हमें किसी विषयका ज्ञान होजाये तो उस विषय सम्बन्धी कार्योको हम अधिक सुगमता से और अच्छे ढगसे करसकते है। अतएव प्राप्त ज्ञानका व्यवहारमें प्रयोग होना चाहिए। उदाहरणके लिए, यदि मनुष्यको शरीरके अवयवो, उनके कार्यो और सम्बन्धोका ज्ञान प्राप्त हो तो व्यवहारमें उस ज्ञानसे शारीरिक व्याधियोको दूर अथवा कम करनेमें उसको सुविधा होगी।

आर्थिक क्षेत्रमें जो कार्य किये जाते है उनका उद्देश्य अन्ततोगत्वा आवश्यकताओ की पूर्ति कर आर्थिक क्षेमको बढाना है अतएव इस क्षेत्रके अध्ययन और विश्लेषण

से जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है उससे आर्थिक क्षेमकी वृद्धिमें सहायता मिलने की भावना होना स्वाभाविक है। जिन विज्ञानोका सीधा सम्बन्ध मानव समाज से है और विशेषकर जो मनुष्यकी आर्थिक आवश्यकताओसे सम्बन्धित है उनको तो अर्थ-शास्त्रके कार्यक्षेत्रमें बहुत महत्व प्राप्त है। अतएव अर्थशास्त्रीको अपने ज्ञानके प्रकाशसे आर्थिक क्षेमकी वृद्धिके लिए सरकारको, अन्य सस्थाओको और व्यक्तियो को उचित आर्थिक नीतिका अवलम्बन करनेमें सहायता देनी चाहिए।

अर्थशास्त्र और विज्ञान

कभी कभी यह प्रश्न किया जाता है कि अर्थशास्त्रको विज्ञान कहना चाहिए अथवा नही। वास्तवमें यह प्रश्न ठीक नही है। जब हम आर्थिक परिस्थितियो, कार्यों और सम्बन्धोका वैज्ञानिक रीतियोसे अध्ययन और विश्लेषण करते है और उनके आधारपर कार्य-कारणके सम्बन्धोका ज्ञान करते है और तत्सम्बन्धी नियमोंका प्रति-पादन करते है तो निश्चय ही हम इस विद्याको विज्ञान द्वारा सम्बोधित करेंगे। हो सकता है कि हमारा विज्ञान अनेक कठिनाइयोके कारण अभीतक उच्च स्तर तक न पहुँच सका हो। परन्तु हमारा लक्ष्य और ध्येय यही है। अर्थशास्त्रको इससे भी कोई प्रयोजन नही कि हमारी आवश्यकताए अच्छी है अथवा बुरी और हमारा लक्ष्य वाछनीय है अथवा अवाछनीय। अर्थशास्त्री तो वास्तवमें जो आर्थिक कार्य हो रहे है और जो आर्थिक सम्बन्ध पाये जाते है उनका ही अध्ययन और विश्लेषण करता है और उनके विषयमें ही सामान्य धर्म का प्रतिपादन करता है। मनुष्यको मदिरापान करना चाहिए अथवा नहीं, उसको अधिक द्रव्य भोजनमें व्यय करना चाहिए अथवा सिनेमामें, इनका उत्तर अर्थशास्त्रकी परिधिके बाहर है। इसका उत्तर सम्भवत: नीति शास्त्र देसके। अर्थशास्त्री देखता है कि लोग मदिरा पीते हैं, उसके लिए मूल्य देनेको तत्पर है अतएव उत्पादकोको मदिरा उत्पादन करनेमें लाभ की आशा होती है और उत्पत्तिके कुछ साधन मदिरा बनानेके काममें आते हैं जिस के फलस्वरूप यह साधन अन्य आवश्यकताओको तृप्त करनेके लिए प्राप्त नहीं होते। इस प्रकारकी परिस्थितियोका अर्थशास्त्री अध्ययन करता है।

अर्थशास्त्र विज्ञान तो अवश्य है, परन्तु अन्य विज्ञानोकी अपेक्षा इसका सम्बन्ध

कार्यक्षेत्रसे अधिक है। ऐसा होना अवश्यम्भावी है, क्योंकि इसका विषय ही इस प्रकार का है। अर्थशास्त्रके विषयको अच्छी तरह समझकर और उसका मनन कर जो क्रियायें की जायेंगी उनसे आर्थिक क्षेममें वृद्धि होनेकी सम्भावना है। यही कारण है कि इगलैडके विद्वान अर्थशास्त्री प्रोफेसर पीगू ने कहा है कि अर्थशास्त्री इस प्रकारके विज्ञानकी वृद्धिकी चेष्टा करेगा जो कि क्रियाका आधार बन सके।

अर्थशास्त्र का अन्य शास्त्रों से सम्बन्ध

इस अध्यायके आरम्भमें ही लिखा जा चुका है कि भिन्न भिन्न विषयोके अध्ययनके फलस्वरूप भिन्न भिन्न शास्त्रोकी सृष्टि हुई है। परन्तु वास्तवमें इन सभी विषयो और तत्सम्वन्धी शास्त्रोमें पृथकता नही है। सभी विषय प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूपमें, कम या अधिक मात्रामें एक दूसरेसे सम्वन्धित है। अर्थशास्त्रका सम्वन्ध मनुष्यो के एक विशेष प्रकारके व्यवहार एव आचरणसे है परन्तु इस व्यवहार एव आचरणके लिए मनुष्य अपनेको अन्य परिस्थितियोसे अलग नही कर सकता। इस प्रकरणमें अर्थशास्त्रसे केवल उन्ही शास्त्रोके सम्बन्धकी विवेचना, सक्षेपमे की जायेगी जो उसके अधिक निकट है।

अर्थशास्त्रका समाजशास्त्रसे घनिष्ठ सम्वन्ध है। यह कहना तो ठीक नही होगा कि अर्थशास्त्र समाजशास्त्रका एक भाग है क्योकि दोनोके विषय और क्षेत्र अलग अलग है। परन्तु चूकि आर्थिक कार्य एव सम्बन्ध सामाजिक पद्धति, वर्गीकरण, सस्थाओ, विचारो और व्यवहारोसे प्रभावित होते है अतएव अर्थशास्त्रीको समाज सम्वन्धी विषयोकी जानकारी होना आवश्यक है। इस प्रकार मानव शास्त्र से भी अर्थशास्त्र सम्बन्धित है। भिन्न भिन्न युगोमें भिन्न भिन्न प्रकारकी सस्कृतियोमें मनुष्यका अध्ययन मानव शास्त्र का विषय है। इस विषयके अध्ययनसे अर्थशास्त्रीको प्राचीन, आर्थिक सस्थाओ और सम्वन्धोको समझनेमें सहायता मिल सकती है। राजस्व शास्त्र, अर्थशास्त्र और राजनीति शास्त्रको जोडता है। राज्यका विधान किस प्रकार का है, आर्थिक क्षेत्रमें राज्यकी क्या नीति है और राज्य किस प्रकार आर्थिक कार्योका नियन्त्रण करता है, राज्यकी कर-व्यय-ऋणनीति क्या है, इनका आर्थिक स्थिति और क्रियाओ पर गहरा प्रभाव पडता है। आर्थिक क्षेमसे नीति शास्त्रका विशेष

सम्बन्ध है। माना कि अर्थशास्त्रीको, क्या होना चाहिए और क्या नही होना चाहिए, इस विषयसे विशेष प्रयोजन नही होता है फिरभी अनेक आर्थिक नीतिया और विधान नीतिशास्त्रकी उक्तियो परही आश्रित रहती है। उदाहरणके लिए प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक न्यूनतम जीवनस्तरको सुरक्षित करना, सन्तोपजनक पारिश्रमिक देना, सामाजिक बीमा करना, सम्पत्तिके वितरणमें असमानता कम करना; इस प्रकारके सभी कार्य अधिकतर नीतिशास्त्रसे सम्बन्धित है। मनोविज्ञानसे भी अर्थशास्त्रका सम्बन्ध है। उपयोगिताकी प्राप्ति, लाभकी आशा, निराशा, उपयोग और बचत करनेकी प्रवृत्ति इस प्रकारकी मनोवृत्तियोका आर्थिक कार्यो पर बहुत अधिक प्रभाव पडता है।

अर्थशास्त्र के नियम

प्राय: कहा जाता है कि अर्थशास्त्रके नियम प्राकृतिक विज्ञानोमें प्रतिपादित नियमोके समान अनिवार्य नही होते है अर्थात् अर्थशास्त्रके नियमोसे हमको इस प्रकारकी आशा नही करनी चाहिए कि वे सभी काममें और सभी परिस्थितियोमें चरितार्थ होगे। परन्तु यदि हम इस विषयके मूलमें जायें तो पता चलता है कि इस प्रकारका आक्षेप ठीक नही है। अर्थशास्त्रके नियम अन्य विज्ञानोके नियमोके समान ही है। किसी भी नियमसे यही बोध होता है कि किन्ही दीगयी परिस्थितियोमें किस परिणामकी आशा करनी चाहिए। यदि यह आशा पूरी नही होरही है तो अवश्यमेव परिस्थितिमें बदलाव होगया होगा। उदाहरणके लिए बाज़ारका एक नियम है कि यदि किसी वस्तुके परिमाणमें वृद्धि होजाये तो उसका मूल्य गिरने लगेगा। अब यदि वस्तुके परिमाणमें वृद्धि होगई और फिरभी मूल्य नही गिरा तो इसका तात्पर्य यह नही कि नियम अशुद्ध है। यह नियम चरितार्थ इसलिए नही होरहा होगा कि सम्भव है परिस्थितियोमें अन्तर पड गयाहो। होसकता है मागभी उसी अनुपातमें बढ गयी हो जिस अनुपातमें बाजारमें पूर्ति बढी है। अथवा बढे हुए परिमाणको बाज़ारमें न रखकर उत्पादक अथवा व्यापारी सग्रह कर रहे हो।

अर्थशास्त्रके और प्राकृतिक नियमोके भेद करनेका प्रधान कारण होसकता है यह रहाहो कि प्राकृतिक विज्ञान सम्बन्धी नियमोकी प्रयोगशालामें परीक्षा की-

जासकती है, जहा परिस्थितिया नियन्त्रित की जासकती है। जैसा कि पहिले वताया जाचुका है कि अर्थशास्त्री की प्रयोगशाला किसी कमरेके भीतर सीमित नही की जासकती और न आर्थिक परिस्थितिया ही इच्छानुकूल वनायी जासकती है। अतएव आर्थिक नियमोकी परीक्षा करनेके लिए हमको सदैव इस प्रकारकी शुद्ध परिस्थितिया प्राप्त नही होतीहै जिनमें वह नियम पूर्णरूप से चरितार्थ होसके। यही कारणहै कि आर्थिक नियमोके प्रतिपादनमें प्राय: 'जव अन्य वातें यथावत् रहें' यह वाक्य जोड दिया जाता है।

२

आवश्यकताएं

उपभोग का महत्व

हम चारो ओर मनुष्यको अनेक प्रकारके कार्योंमें व्यस्त पाते हैं। कोई खेतमें, कोई कारखानेमें, कोई व्यापारमें, कोई दफ्तरमें और कोई किसी अन्य व्यवसायमें लगा दिखायी देता है। इसका प्रधान कारण यह है कि साधारणत. मनुष्य इसी प्रकारके कार्यो से अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति करसकता है। आवश्यकताओ की पूर्तिके लिए विविध प्रकारकी वस्तुओ और सेवाओंका उपभोग करना पडता है। उपभोग शब्दका सम्बन्ध उपभोक्ता की आवश्यकताओ की पूर्तिसे है। कुछ वस्तुएं ऐसीहै जिनका अस्तित्व एकही वारके उपभोगसे, कमसे कम वाह्य रूपमें तो समाप्त होजाता है—रोटी, फल, कोयला इस प्रकारके उदाहरण हैं; और कुछ वस्तुए टिकाऊ होती हैं। इनका अस्तित्व एव उपयोगिता दीर्घकाल तक बनी रहती है। कपडा, फर्निचर, रेडिओ इसके उदाहरण है। वस्तुओंके उपभोगसे हम वस्तुओकी उपयोगिता प्राप्त करते है। यदि किसी वस्तुकी उपयोगिता उपभोक्ताकी आवश्यकताकी पूर्तिके विना नष्ट होजाये तो उसको उपभोग नही कहा जायेगा। ऐसी स्थितिमें हम कहेंगे कि वह वस्तु नष्ट होगयी। उदाहरणके लिए बाढ, भूचाल, आंधी, अग्नि आदि प्रकोपोसे जो विनाश होताहै उसको उपभोग नही कहा जाता। उपभोगसे किसी आवश्यकताकी पूर्ति अवश्य होनी चाहिए। आवश्यकता अच्छी है अथवा बुरी, इसका प्रश्न नही है। कैसीभी आवश्यकताहो, यदि किसी वस्तु अथवा सेवा द्वारा उसकी पूर्ति होजाये तो ऐसी स्थितिमें उपभोग शब्द प्रयोग किया जाता है।

आवश्यकताए और उनकी विशेषताए

हम देखते है कि मनुष्यको अनेक प्रकारकी वस्तुओ एव सेवाओकी आवश्यकता

होती है। जन्मसे मरण पर्यन्त इन आवश्यकताओ से छुटकारा नही मिलता। चाहे मनुष्य वनमानुषकी अवस्थामें हो अथवा आधुनिक सभ्यताके नये युगमें, आवश्यकताए उसको घेरे रहती है। हा यह अवश्यहै कि सभी मनुष्योकी सभी अवस्थाओ में एकही प्रकारकी आवश्यकताए नही होती। जब मनुष्य पशुवत् जीवन व्यतीत करता था तो उसकी आवश्यकताए केवल उदर-पूर्ति तकही सीमित थी। ज्यो ज्यो वह सभ्यताकी ओर अग्रसर होता गया, उसकी आवश्यकताओ की सख्यामें वृद्धि होती गयी। कहा जाताहै कि सभ्यताका विकास और आवश्यकताओ की वृद्धि साथ साथ चली आयी है। आधुनिक कालमें तो आवश्यकताओ का कोई अन्त ही नही दिखायी पडता। साधारणत: मनुष्य अपनेको इनके बोझमे दबा हुआ पाता है। प्रारम्भिक आवश्यकताओ के अतिरिक्त, जिनकी पूर्ति जीवन-रक्षाके लिए अनिवार्य है, जैसे अन्न, वस्त्र, मकान, आधुनिक कालमें सास्कृतिक और भोगविलास सम्बन्धी आवश्यकताओ की बहुत वृद्धि हुई है। इन्ही बढती हुई आवश्यकताओ की पूर्तिके लिए आर्थिक साधनो, कार्यों और सम्बन्धोकी भी वृद्धि हुई है।

आवश्यकताओमें अनेक प्रकारकी विशेषताए दिखायी देती है।

(१) आवश्यकताओ की सख्या अपरिमित है। शायद ही कोई ऐसा मनुष्य होगा जिसकी सभी आवश्यकताओ की पूर्ति होगयी हो। धनी से धनी मनुष्यको भी यही प्रतीत होताहै कि यदि उसके पास और अधिक धन होता, तो वह और अधिक आवश्यकताओ की पूर्ति कर सकता अथवा इन्ही आवश्यकताओ की पूर्ति विशेष प्रकारसे कर पाता। आवश्यकताए सदैव प्रत्यक्ष नही रहती है। जैसेही किसी प्रबल आवश्यकताकी पूर्ति हुई, दूसरी आवश्यकता उसका स्थान ग्रहण कर लेती है। इसी प्रकार मनुष्यके आर्थिक और आय स्तरमें वृद्धि होनेके कारणभी अनेक प्रकारकी आवश्यकताए उत्पन्न होजाती है। एक साधारण आवश्यकताकी पूर्तिके लियेही अनेक वस्तुओकी आवश्यकता होती है। उदाहरणके लिए उदर-पूर्ति का काम रूखे सूखे भोजनसेभी चल सकता है, परन्तु मनुष्यकी तृप्ति इस प्रकारके भोजनसे नही होती। वह बढिया और स्वादिष्ट भोजन चाहताहै साथही समय समयपर उसमे परिवर्तनभी चाहता है। इसी प्रकार सर्दी-गर्मीसे शरीरकी रक्षाके लिए उसे वस्त्रोकी आवश्यकता होती है। काम तो साधारण वस्त्रोसे भी चल

जाता है, परन्तु मनुष्यको इससे सन्तोष कहा होता है। उसको तो बढ़िया और विविध प्रकारके वस्त्र चाहिए, पहननेके लिए अलग, सोनेके लिए अलग, जानेके और खेलनेके लिए अलग। इसी विविधता और विलासिताके समावेशसे एक सरल सी आवश्यकताभी दुरूह बन जाती है।

पाश्चात्य देशोंकी विचार-धाराके अनुसार इन बढ़ती हुई आवश्यकताओं के परिणामस्वरूप ही सभ्यताकी वृद्धि हुई है। यदि मनुष्य सन्तोषी होकर हाथपर हाथ रखकर बैठ जाता तो सुख, आराम और विलासकी अनेक सामग्रियां जो हम अपने चारोओर देखते है, कहासे उपलब्ध होतीं। यह बात हमकोभी मान्यहै कि मनुष्यके शारीरिक एव मानसिक सुख-सन्तोषके लिए विविध प्रकारकी वस्तुओकी आवश्यकता होती है। अपनी वर्तमान अवस्थासे असन्तोषके कारणही वह उद्यम एव उद्योग करनेको प्रेरित होताहै जिसके फलस्वरूप अनेक प्रकारके आविष्कार होते है, जिससे मनुष्यकी आर्थिक अवस्थामें विकास होता है। यदि सन्तोषावस्था मनुष्यको आलसी और निष्क्रिय बनाने लगे तो इस प्रकारका सन्तोष उसके और समाजके लिए हितकर न होगा। वह असन्तोष जो मनुष्यको अग्रसर होनेके लिए प्रेरित करता है, वाछनीय समझा जाना चाहिए।

(२) हमने बताया कि कोईभी मनुष्य अपनी सभी आवश्यकताओ की पूर्ति नही कर सकता। परन्तु इसका अर्थ यह नही कि वह किसी एक आवश्यकता की पूर्णरूप से पूर्ति नही करसकता। आवश्यकताओ की एक विशेषता यह है कि किसी विशेष समय मे किसी विशेष वस्तुकी आवश्यकता की पूर्णरूप से पूर्ति की जासकती है। इसका कारण यहहै कि जैसे जैसे आवश्यकताकी पूर्तिके साधन हमारे पास बढते जाते है, वैसे वैसे उस आवश्यकताकी तीव्रता घटती जातीहै और अन्तमें ऐसा समय आजाता है कि वह आवश्यकता उस समय बिल्कुल शान्त होजाती है। इसका उदाहरण हम भोजनकी आवश्यकतासे देसकते है। भूखकी सीमा होती है जैसे जैसे भोजनकी सामग्री हमें अधिक मात्रामें प्राप्त होती जातीहै, वैसे वैसे भूख मिटती जाती है। जब पेट भर जाताहै तो भोजनकी आवश्यकता नही रहती। इसी प्रकार परिमाणके साथ प्रत्येक आवश्यकता की तीव्रता घटती जाती है और पर्याप्त मात्रामे उस वस्तुकी प्राप्ति होने पर उसकी आवश्यकताकी पूर्णरूप से पूर्ति होजाती है। अर्थशास्त्र का एक मुख्य सिद्धान्त जिसे 'क्रमागत-उपयोगिता-ह्रासनियम' कहते है, आवश्यकताओ

की इसी विशेषता पर आधारित है। इस नियमका विवेचन आगे चल कर किया जायेगा।

(३) आवश्यकताओंकी आपसमें प्रतिस्पर्द्धा रहती है। इसका प्रधान कारण यह है कि मनुष्यके पास एकसाथ सभी आवश्यकताओ की पूर्तिके साधन नही होने। इसलिए उसको निर्णय करना पडताहै कि किस आवश्यकता की पूर्ति किस अग तक कीजाये। इसका उदाहरण हमको अपने नित्यके व्यवहारमे मिलता है। यदि किसी विद्यार्थीको एक पुस्तक और एक कोट की आवश्यकता है और उसके पास एकही वस्तुको खरीदनेके लिए धनहै तो इन दो आवश्यकताओ में होड होगी और विद्यार्थीको इनमेंसे एकको चुनना पडेगा यदि वह कोट खरीदता है, तो उसे किताब से वचित रहना पडेगा।

(४) आवश्यकताए विकल्पितभी होती हैं अर्थात् किसी आवश्यकताकी पूर्ति अनेक वस्तुओसे होसकती है। ये वस्तुए एक दूसरेकी स्थानापन्न होसकती है। उदाहरणार्थ भूख-निवारणके लिये गेहू, जौ चना अथवा बाजरेकी रोटी खायी जासकती है। कुछ अशोमें एक अन्न दूसरे अन्नका स्थानापन्न होसकता है। यदि गेहूका मूल्य बढजाय तो लोग जौ, चना इत्यादि अन्नोको काममें लाने लग जायेंगे। यदि एक आवश्यकता दो वस्तुओमें से किसी एकसे सन्तुष्ट की जासकती है तो लोग उस वस्तुको खरीदेंगे, जिसका मूल्य कम होगा। इस प्रकारकी वस्तुओमें बहुत अधिक मात्रामें प्रतिस्पर्द्धा होती है। उत्पादनके कार्यमें भी कई साधन ऐसे होतेहैं जो एक दूसरेके स्थानापन्न होसकते है। उत्पादक को प्रायः यह विचार करना पडता है कि वह मजदूरोकी सख्यामें वृद्धि करे अथवा मशीनो की। इस प्रवृत्तिके आधार पर प्रतिस्थापन सिद्धान्त बना है। हम आगे चलकर देखेंगे कि इस सिद्धान्त का प्रयोग अर्थशास्त्रके सभी भागोमें होता है।

(५) आवश्यकताए एक दूसरेकी पूरक भी होती है। किसी एक आवश्यकताकी पूर्तिके लिये अनेक वस्तुओकी एकसाथ आवश्यकता होतीहै, जैसे टेनिस खेलनेके लिये बल्ला, गेंद, जाल और परदो की एकसाथ आवश्यकता होती है। इन सबके सहयोगसे ही टेनिस खेलनेकी आवश्यकता की पूर्ति होसकती है। इस प्रकार विशेष रूपसे सम्बधित वस्तुओमें से किसी एकके मूल्यमें परिवर्तन होनेसे तत्सम्बन्धी वस्तुओकी माग में एव उनके मूल्यमें भी परिवर्तनकी सम्भावना रहती है।

(६) किसी मनुष्य अथवा परिवारको विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्तिके लिए जो वस्तुए नित्य व्यवहारमें लाई जाती है, उन सबसे मिलकर उस मनुष्य अथवा कुटुम्बका जीवन-स्तर निर्धारित होता है। इन वस्तुओंके उपभोगका स्वभाव पड जाताहै, जिसमे बहुत धीरे धीरे परिवर्तन होता है। इसी प्रकार अनेक वस्तुओंका प्रयोग लोकाचारसे होता है। इनमेभी परिवर्तन धीरे धीरे होता है। इस प्रवृत्तिसे वस्तुओके उपभोग और उनकी मागमें कुछ अश तक स्थिरता आजाती है, जिससे उत्पादन कार्यमें भी उसी सीमा तक स्थिरता आजाती है।

उपयोगिता

जब हम यह कहतेहै कि हमारी अमुक आवश्यकता है तो उससे किसी वस्तुका अभाव सूचित होता है। यदि वह वस्तु पर्याप्त मात्रामे प्राप्त होजाती है तो अभाव दूर होजाता है और हम कहते है कि इस आवश्यकता की पूर्ति होगयी। वस्तुओ और सेवाओके उपभोगसे हमको जो तृप्ति होतीहै उसको मापनेके लिये उपयोगिता शब्दका प्रयोग किया जाता है। तृप्ति एक मानसिक अवस्थाहै जिसका विश्लेषण बहुतही कठिन कार्य है। किसी एकही मनुष्यको भिन्न भिन्न परिस्थितियोंमें एकही वस्तुसे भिन्न भिन्न मात्रामें तृप्ति मिलती है, जिनकी माप करना एव उनकी तुलना करना सुगम नही होता। अन्य मनुष्योको किसी वस्तु अथवा सेवासे किस मात्रामें तृप्ति मिलतीहै, इसका ज्ञान होना तो अत्यन्त दुष्कर है। फिरभी इस कार्यके लिये किसी प्रकारका बाह्य मापदड काममें लाना अनिवार्य होजाता है।

किसी मनुष्यको एक वस्तुके उपभोगसे कितनी मात्रामें तृप्ति प्राप्त होतीहै इस का निरपेक्ष रूपमें तो अनुमान नही होसकता किन्तु विविध वस्तुओके उपभोगसे उस को जो सापेक्ष तृप्ति मिलनेकी सम्भावना रहतीहै उसका अनुमान किया जासकता है। यदि दो वस्तुओका मूल्य समानहो और कोई व्यक्ति उन दोनोमें से एकको खरीदताहै तो इससे प्रकट होताहै कि वह दूसरी वस्तुकी अपेक्षा उस वस्तुके उपभोग से अधिक मात्रामें तृप्तिकी आशा करता है। किसी वस्तुको प्राप्त करनेके लिए मूल्य देना पडता है। उस मूल्यसे अन्य वस्तुएभी प्राप्त होसकती है। जब कोई व्यक्ति एक वस्तु खरीदताहै तो वह उससे प्राप्त होनेवाली तृप्तिकी तुलना उन

वस्तुओसे प्राप्तहोनेवाली तृप्तिसे करताहै जो उसने नही खरीदी। इस प्रकार हम देखतेहै कि किसी वस्तुको प्राप्त करनेके लिये मनुष्य जो द्रव्य देताहै, उससे वस्तुसे प्राप्त होनेवाली उपयोगिताका बोध होता है। यदि वह यह निश्चय नही कर पारहा कि वह उस वस्तुको ले अथवा द्रव्यको अपने पास रखे तो इससे बोध होताहै कि किसी दूसरी वस्तुसे अपेक्षित तृप्ति पहली वस्तुकी अपेक्षित तृप्तिके समकक्ष है।

किसी दीहुई परिस्थितिमें किसी वस्तुके उपभोग से जो तृप्ति मिलतीहै उसको उपयोगिता कहते है। इस उपयोगिताकी माप तो नही होसकती परन्तु किसी व्यक्ति विशेषकी उस परिस्थितिमें उस वस्तुसे अपेक्षित उपयोगिताकी अन्य वस्तु अथवा द्रव्यसे अपेक्षित उपयोगितासे हम तुलना कर सकते है। यदि किन्ही दो वस्तुओके लिए मनुष्य समान द्रव्य देनेको तैयारहो तो हम यह कह सकतेहै कि वह उन दोनोसे समान उपयोगिताकी आशा करता है। अतएव साधारणतया कहा जासकता है कि दो वस्तुओकी अपेक्षित उपयोगिताए उसी अनुपातमें है जिस अनुपातमें उनको प्राप्त करनेके लिए द्रव्य दिया जाता है। इस प्रकरणमें हम यह बताना चाहतेहै कि द्रव्यसे उपयोगिताकी माप और तुलना करनेमें सुविधा होती है। द्रव्य-विहीन आर्थिक पद्धतिमें भी इस प्रकारका तुलनात्मक कार्य किया जासकता है जबकि एक वस्तुसे अपेक्षित उपयोगिताकी तुलना सीधे दूसरी वस्तुसे अपेक्षित उपयोगितासे कीजाती है।

क्रमागत-उपयोगिता-ह्रास नियम

आवश्यकताओ और उनकी विशेषताओकी चर्चा करते हुए हमने बताया था कि प्रत्येक आवश्यकता सीमित होतीहै अर्थात् उसका निवारण होसकता है। इसका कारण यह है कि जैसे जैसे उस आवश्यकताकी पूर्ति करनेके साधनोका सग्रह अथवा उपभोग होता जाताहै, वैसे वैसे उस आवश्यकता की तीव्रता घटती जाती है और एक समय आजाता है जब उसका लोप होजाता है। इसी बातको हम दूसरे प्रकारसे भी कह सकते है। किसी समय अथवा परिस्थितिमें यदि कोई व्यक्ति किसी वस्तु विशेषका लगातार उपभोग अथवा सचय करता है तो उस वस्तु की क्रमागत इकाइयोसे प्राप्त उपयोगिता घटने लगतीहै क्योकि उस वस्तु कीआव-

श्यकताकी तीव्रता घटने लगती है। अतएव तृप्तिकी मात्राभी कम होने लगती है। जब वह वस्तु इतनी मात्रामें संचित होजाती है अथवा उपभोग की जातीहै कि आवश्यकता बिल्कुल शान्त होजाती है तो ऐसी अवस्थामें तृप्तिके कुल परिमाणमें वृद्धि नही होती और हम कह सकतेहै कि उपयोगिता शून्य होगई है। अब यदि इस सीमाके आगेभी उपभोग किया जाय तो कुल उपयोगितामें हानि होनेकी सम्भावना रहतीहै अर्थात् उपयोगिता प्रतिकूल होने लगती है। उपयोगिताकी इस प्रकारकी प्रवृत्तिके आधार पर एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त बनाहै, जिसको 'क्रमागत-उपयोगिता-ह्रास नियम' कहते है। इस नियमकी व्याख्या इस प्रकारसे कीजाती है: जैसे जैसे किसी कालावधि में किसी वस्तुका सग्रह क्रमश: बढता जाताहै, वैसे वैसे क्रमागत प्राप्त उपयोगिताका ह्रास होने लगता है। अर्थात् वस्तुकी किसी इकाई से प्राप्त उपयोगिता उससे पहिलेकी इकाईकी उपयोगितासे कम रहती है। इससे यह नही समझना चाहिए कि वस्तुकी इकाइयोमें असमान उपयोगिता निहित है। सभी इकाइयोका रूपरग इत्यादि विशेषताए समानहै परन्तु जैसे जैसे एक मनुष्य उस वस्तुकी इकाइयोका क्रमश: उपभोग अथवा सचय करता जाताहै, वैसे वैसे उसको प्राप्त क्रमागत उपयोगिताका ह्रास होने लगता है। उदाहरणके लिए कोई मनुष्य केले खरीदता है जोकि सब बातोमें समान है। तुलनाके निमित्त मान लीजिये कि पहिले केलेसे उसको १०० इकाई उपयोगिता प्राप्त होती है। जब वह दो केले लेताहै तो (केलेकी इच्छाकी आंशिक तृप्ति हो चुकनेके कारण) मान लीजिए ८० इकाई उपयोगिताकी वृद्धि हुई अर्थात् दो केलोसे कुल १८० इकाई उपयोगिता प्राप्त हुई। यह कहना उपयुक्त नही होगा कि दूसरे केलेकी उपयोगिता ८० इकाई है और पहिलेकी १००। दोनो केले सर्वथा समान है परन्तु क्योकि वह व्यक्ति एक केला ले चुका है अतएव उसके मनमें दूसरे केलेके लिए पहिले जैसी तीव्र अभिलाषा नही है। कहनेका तात्पर्य यह है कि किसी वस्तुकी उपयोगिता जाननेके लिए यह आवश्यकहै कि उपभोक्ता के पास उस वस्तुकी कितनी इकाइया है। उपरोक्त उदाहरण में जब वह व्यक्ति तीसरा केला खरीदता है तो मान लीजिये कुल उपयोगितामें ५० इकाइयोकी वृद्धि होजाती है। अर्थात् कुल उपयोगिता २३० इकाइया होजाती है। इसी प्रकार मान लीजिये कि चौथे केलेसे केवल २० इकाई उपयोगिता की वृद्धि होजाती है। इस प्रकार ४ केलोकी कुल उपयोगिता २५० इकाइया हुई। यह नही कहना

चाहिए कि तीसरे केलेकी उपयोगिता ५० और चौथे केलेकी २० इकाइया हे वल्कि इस प्रवृत्तिको इस प्रकार वताना चाहिए कि जब प्राप्त केलोकी सख्या दो से तीन होगयी हो तो कुल उपयोगितामें ५० इकाइयोकी वृद्धि हुई और जव सख्या तीनसे चार हुईतो कुल उपयोगितामें २० इकाई की वृद्धि हुई। यहा पर हम देख रहे है कि ज्यो ज्यो केलोकी सख्या बढती जारही है, त्यो त्यो कुल उपयोगिता कम अनुपातमें बढ रही है।

कुल उपयोगिता और सीमान्त उपयोगिता

ऊपर दिये गये केलोके उदाहरणसे हम कुल उपयोगिता और सीमान्त उपयोगिता के भेद और उनके सम्वन्धका स्पष्टीकरण कर सकते हे। इस उदाहरणको वढा कर हम आगे दीहुई तालिकामें दिखा रहे हे .*

केलोकी सख्या	कुल उपयोग्तिा	सीमान्त उपयोगिता
१	१००	१००
२	१८०	८०
३	२३०	५०
४	२५०	२०
५	२६०	१०
६	२६०	०
७	२५०	—१०
८	२३०	—२०

* ध्यान रहे कि तालिका में जो सख्याएं दीगयी हैं वह सब काल्पनिक हैं। वास्तव में न कुल उपयोगिता और न सीमान्त उपयोगिता इस प्रकार संख्या के रूपमें प्रकट की जासकती हे। यहा पर संख्याओ द्वारा केवल इस बातको दिखानेकी चेष्टा कीगयी हैं कि कुल उपयोगिता और सीमान्त उपयोगिता किस प्रकारसे सम्वन्धित हैं।

किसी वस्तुकी जितनीभी इकाइयां लीगयी हों उन सभीकी उपयोगिताके समुदायको कुल उपयोगिता कहते हैं। तालिकाके कॉलम २ में केलोंकी भिन्न भिन्न संख्याओंकी कुल उपयोगिता दिखायी गयी है। उदाहरणके लिए ५ केलोंकी कुल उपयोगिता २६० इकाई है। वस्तुकी इकाइयोंकी क्रमागत वृद्धिसे प्रत्येक बार कुल उपयोगितामें जो वृद्धि होतीहै, उसे सीमान्त उपयोगिता कहते हैं। इसको तालिकाके कालम ३ में दिखाया गया है। जब केलोंकी संख्या बढ़कर ३ से ४ हुई तो कुल उपयोगिता २३० से २५० इकाइयां होगयी अर्थात् कुल उपयोगितामें २० इकाइयों की वृद्धि हुई। अतः ४ केले लेने पर सीमान्त उपयोगिता २० है। इसी प्रकार ५ केले लेने पर सीमान्त उपयोगिता १० है जबकि कुल उपयोगिता २५० से बढकर २६० इकाइया होजाती है। सीमान्त उपयोगिता प्राप्त करनेकी सरल विधि यहहै कि जब वस्तुकी संख्यामें एक इकाई बढा या घटा दीगयी हो तो दो क्रमागत कुल उपयोगिताओं का अन्तर निकाल लिया जाये।

इस तालिकासे यहभी पता चलताहै कि ५ केलोंके प्राप्त करने तक कुल उपयोगिता बढती जाती है, यद्यपि क्रमागत वृद्धिका अनुपात घटता जाता है। छठे केलेके लेनेपर उपयोगिता पूर्ववत् रहतीहै और सातवें और आठवें केलोंके लेने पर घटने लगती है। अब यदि हम सीमान्त उपयोगिताके कॉलमको ध्यान-पूर्वक देखें तो मालूम होगा कि केलोकी संख्यामें वृद्धि होनेपर क्रमागत सीमान्त उपयोगिता घटती जातीहै; परन्तु पाच केलो तक (जहा तक कुल उपयोगिता बढती रहती है) यह धनात्मक रहती है। ६ केले लेने पर सीमान्त उपयोगिता शून्य होजाती है और कुल उपयोगिताकी वृद्धिभी समाप्त होजाती है अर्थात् कुल उपयोगिताके अधिकतम स्तर पर सीमान्त उपयोगिता शून्य रहती है। जब केलोकी सातवी और आठवी इकाई लीजाती है तो सीमान्त उपयोगिता ऋणात्मक होजाती है और कुल उपयोगिता घटने लगती है। सामने दिये रेखा-चित्रमें सीमान्त उपयोगिता दिखायी गयी है।

इस चित्रमें समकोण चतुर्भुज द्वारा सीमान्त उपयोगिता दिखायी गयी है। स्पष्ट है कि जैसे जैसे केलोकी संख्या बढती जाती है, चतुर्भुजका क्षेत्रफल घटता जाता है। यदि इन चतुर्भुजोके सिरोको अविच्छिन्न रेखा द्वारा जोडदें तो दाहिनी ओर को गिरती हुई इस रेखासे भी घटती हुई सीमान्त उपयोगिता दृष्टिगोचर होती है।

स्केल १ केला = ½″
२० उप० = १″
प्राप्त उपयोगिता
१००
८०
६०
४०
२०
०
१
२
३
४
५
६
७
८
केलो की सख्या
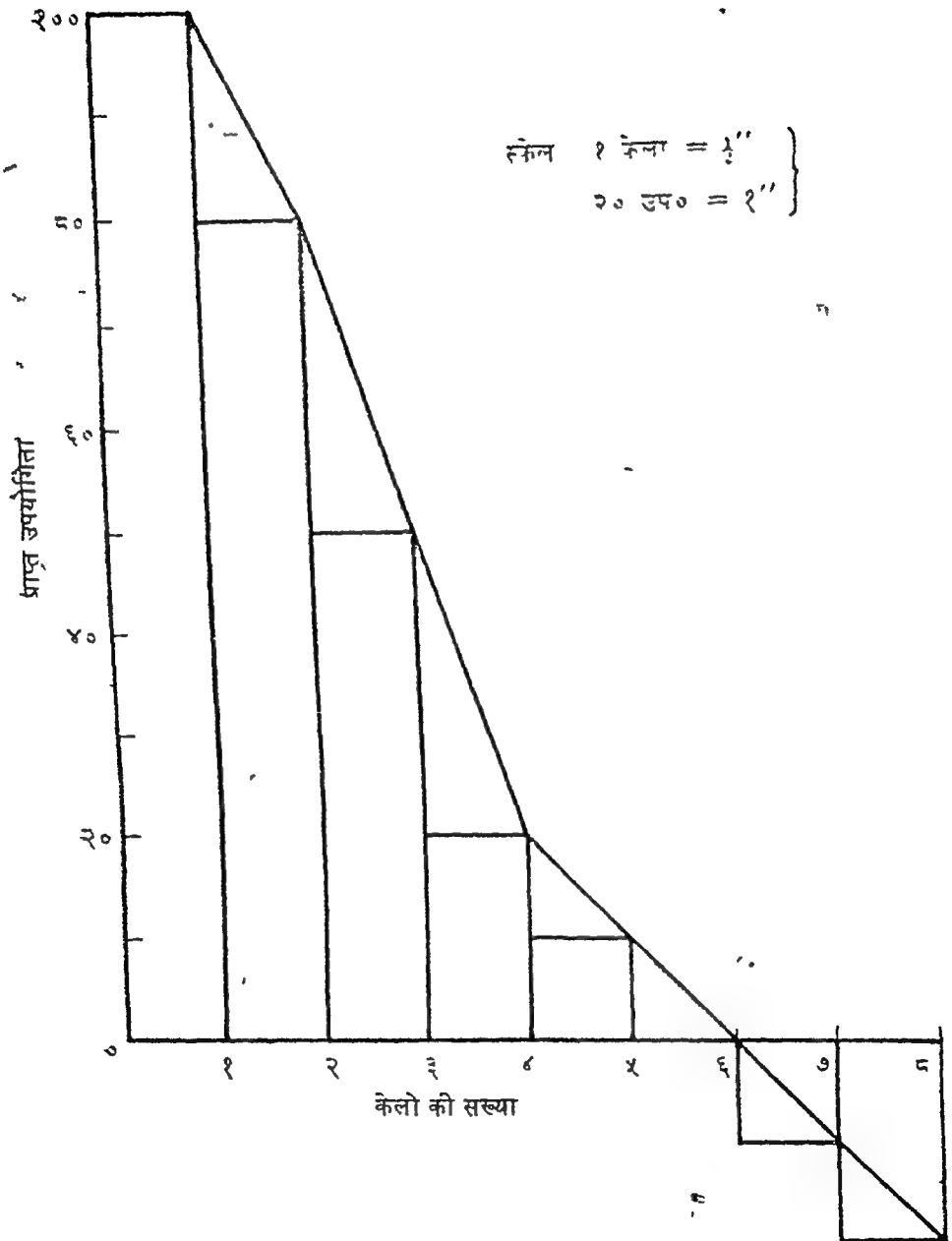
क्रमागत उपयोगिता ह्रास नियमके कुछ अपवाद भी बताये जाते हैं। देखा जाताहै कि यदि कोई वस्तु बहुत ही सूक्ष्म मात्रामें लीजाये तो कुछ सीमा तक सीमान्त उपयोगिता घटनेके बदले बढ़ती जान पड़ती है। परन्तु यदि हम किसी वस्तुकी इकाई पर्याप्त मात्रामें लें तो यह नियम प्रारम्भसे ही लागू होजायेगा। उदाहरणके लिए अमरूदकी छोटी छोटी फाकोंको भी उसकी इकाई माना जा सकताहै और एक अमरूदको अथवा एक सेर अमरूदको भी। किसी वस्तुकी इकाई का पर्याप्त परिमाण क्याहो, इसका परिमाण भिन्न भिन्न वस्तुओंके लिए भिन्न भिन्न परिस्थितियों में भिन्न भिन्न होगा।

इसी प्रकार यदि ४ कुर्सियोंका एक सेट होताहै और किसी व्यक्तिके पास ३ कुर्सियां हैं तो चौथी कुर्सीसे उसको अधिक सीमान्त उपयोगिता जान पड़ेगी। ऐसी परिस्थितिमें चारों कुर्सियोंके एक पूरे सेटको एक पर्याप्त मात्राकी इकाई समझना चाहिए। यही बात डाकके टिकट इकट्ठा करनेवालों अथवा विलक्षण वस्तुओंका संग्रह करनेवालों के विषयमें भी कही जासकती है। पूर्वोक्त उदाहरण क्रमागत-उपयोगिता-ह्रास नियमके वास्तविक रूपमें अपवाद नहीं है।

सम-सीमान्त-उपयोगिता नियम

प्रत्येक मनुष्य चाहताहै कि उसको अधिकतम सन्तोष और तृप्ति मिले। वह अपने परिमित साधनोंका प्रयोग इस प्रकारसे करना चाहताहै जिससे उसे प्रत्येक साधनके सीमान्त उपभोगसे सम उपयोगिता प्राप्त हो। यदि किसी साधनके एक दिशाके उपयोगसे दूसरी दिशाके उपयोग द्वारा अधिक उपयोगिता प्राप्त होनेकी सम्भावना हो तो यह उसके हितमें होगा कि वह उस साधनको कम उपयोगिता वाले उपयोगसे हटाकर अधिक उपयोगिता वाले उपयोगमें लगाये। जब उसके साधनोंकी सीमान्तिक उपयोगिताएं सभी उपयोगोंमें समान होजाती हैं तो फिर साधनको एक उपयोगसे दूसरे उपयोगमें बदलनेसे कोई लाभ नहीं होता। साधनोंको विविध उपयोगोंमें वितरण करनेकी इस प्रवृत्तिको सम-सीमान्त-उपयोगिता नियम कह सकते हैं। इसका दूसरा नाम प्रतिस्थापना सिद्धान्त भी है क्योंकि इसके अन्तर्गत साधनोंके विभिन्न उपयोगोंकी इस प्रकारसे प्रतिस्थापना होती है कि किसी भी

उपयोगोसे समान सीमान्तिक उपयोगिता प्राप्त हो। जब इस प्रकारका वितरण हो जाता है तो फिर तटस्थताका आविर्भाव होजाता है, अतएव इस दशाको तटस्थता सिद्धान्तभी कहा गया है। प्रति-स्थापना शीर्षक अध्याय मे सिद्धान्त का पूर्ण रूपेण विवेचन किया गया है। वह हम देखेंगे कि यह सिद्धान्त अर्थशास्त्र के सभी भागो अर्थात् उपभोग, उत्पादन, विनिमय और वितरणमें चरितार्थ होता है।

उपभोगके सम्बन्धमे इस प्रवृत्तिको 'सम-सीमान्त-उपयोगिता नियम' कहते है। इस नियम की व्याख्या इस प्रकार कर सकते है। प्रत्येक मनुष्य अपनी आय को भिन्न भिन्न वस्तुओमें इस प्रकार व्यय करेगा, जिससे उसको विभिन्न वस्तुओमें व्यय किये गये रुपये अथवा आनोसे समान सीमान्त उपयोगिता प्राप्तहो। आय एक ऐसा साधन है जिसका उपयोग विविध वस्तुओको प्राप्त करनेमें होता है। यदि आयकी एक इकाईसे एक उपयोगकी अपेक्षा दूसरे उपयोगमें अधिक उपयोगिता मिलनेकी सम्भावना हो तो उसको दूसरे उपयोगमें व्यय करनेमें अधिक तृप्ति मिलेगी। परन्तु जब किसी उपयोगमें द्रव्यकी एक इकाईके बाद दूसरी इकाई क्रमश. व्यय की जायेगी तो उस उपयोगकी सीमान्तिक उपयोगिता घटती जायेगी और ऐसी स्थिति आजायेगी जबकि दूसरे उपयोगसे अधिक तृप्ति होगी। इस दूसरे और इसी प्रकार तीसरे, चौथे उपयोगोमें भी क्रमागत-उपयोगिता-ह्रास नियम लागू होगा। अतएव वह व्यक्ति द्रव्यकी विभिन्न इकाइयोको व्यय करनेके पहिले यह जाननेकी चेष्टा करेगा कि किस वस्तुमें व्यय करनेसे उसे अधिक सीमान्त उपयोगिता प्राप्त होगी। उसको अपने कुल व्ययसे अधिकतम उपयोगिता तभी मिल सकेगी जब द्रव्यकी प्रत्येक इकाईसे सभी उपयोगोमें समान सीमान्त उपयोगिता प्राप्त हो। इस नियमको हम साधारण एव सुगम उदाहरणसे दिखा सकते है। मान लीजिए एक लडकेके पास एक रुपया है, जिससे वह चाय, पेडा और सन्तरे लेना चाहता है। सुगमताके लिए हम यहभी मान लेतेहै कि इन सभी वस्तुओकी इकाईका मूल्य दो आना है। अब प्रश्न यह है कि वह कितनी इकाइया भिन्न भिन्न वस्तुओकी मोलले, जिससे उसे अधिकतम उपयोगिताकी प्राप्ति हो। वह निश्चयही अपने मनमें प्रत्येक वस्तुकी विभिन्न इकाइयोसे प्राप्त होनेवाली उपयोगिताओ की तुलना करेगा। अगले पृष्ठ पर दीगयी तालिकामे काल्पनिक सख्याओमें इन तीनों वस्तुओकी विभिन्न इकाइयोसे प्राप्त उपयोगिता दीगयी है।

प्रति दुअन्नीसे प्राप्त वस्तुकी इकाइयां	आपेक्षित उपयोगिता		
	चाय	पेडा	सन्तरा
१	५	१५	१०
२	३	१२	८
३	२	१०	५
४	१	५	२
५	०	१	१

इस तालिकाको ध्यानमें रखते हुए उस लडकेको एक रुपया निम्न प्रकारसे व्यय करनेमें अधिकतम उपयोगिता मिलेगी:

वस्तुओंकी इकाई	उपयोगिता	कुल
१ प्याली चाय	५	५
४ पेडे	१५ + १२ + १० + ५	४२
३ सन्तरे	१० + ८ + ५	२३
	कुल उपयोगिता	७०

यदि वह चौथे पेडेके स्थानमें एक प्याली चाय और पिये तो कुल उपयोगितामें ५ इकाईकी कमी और ३ इकाईकी वृद्धि होगी अर्थात् कुल उपयोगितामें २ इकाई की कमी होजायेगी, कुल उपयोगिता ६८ (७० – ५ + ३) रह जायेगी। पाठक स्वय जाच करके ज्ञात कर सकतेहै कि अन्य किसी प्रकारसे वस्तुओको मोल लेनेमें कुल उपयोगिता ७० से कम ही मिलेगी। इस उदाहरणमें प्रत्येक वस्तुमें व्यय की गयी दुअन्नीकी सीमान्त उपयोगिता ५ है। इसी स्थितिको रेखाचित्र द्वारा भी प्रकट कर सकते है।
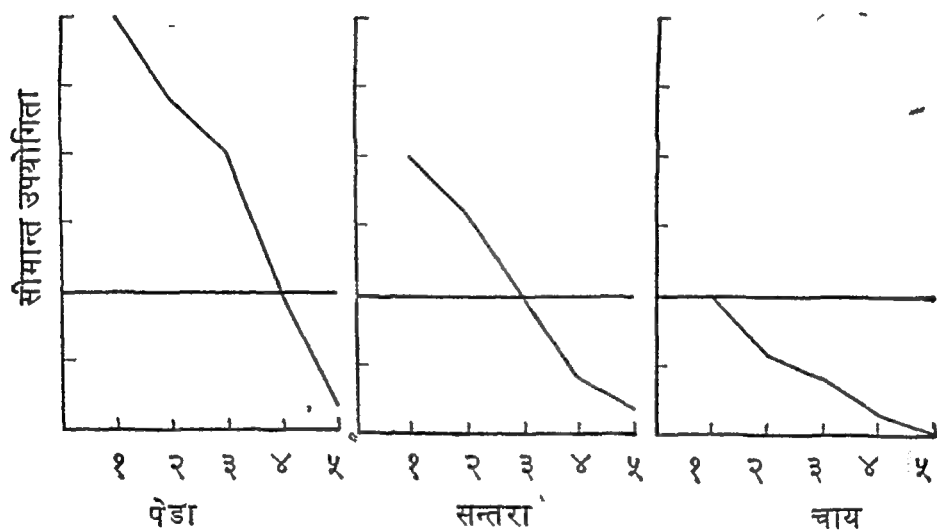
इस रेखाचित्र में पडी रेखा द्वारा प्रति दुअन्नीसे प्राप्त वस्तुका परिमाण और खडी रेखा द्वारा सीमान्तिक उपयोगिता दिखायी गयी है। स्पष्ट है कि आठ दुअन्नियो से चार पेडे, तीन सन्तरे और एक प्याली चाय लेनेसे उसको समान (५) सीमान्तिक उपयोगिता मिलती है।

वास्तवमें सभी वस्तुओकी इकाइयोका मूल्य समान नही होता है। इस वात को ध्यानमें रखते हुए हम इस सिद्धान्तको इस प्रकारसे भी कह सकतेहै कि प्रत्येक विचारवान् मनुष्य इस प्रकार व्यय करेगा जिससे सभी मोल लीगयी वस्तुओकी सीमान्त उपयोगिता उनके मूल्यके अनुपातमें हो। उदाहरणके लिए यदि छातेका मूल्य १० रुपया, टोपीका २ रुपया और रूमालका १ रुपया हो तो कोई मनुष्य

छाते को खरीदना नहीं चाहेगा, यदि उसे अन्तिम उपयोगिता कमसे कम ५ टोपियां और १० रुमालोंके बराबर न हो। इस सम्बन्धको समीकरणके रूपमें इस प्रकार लिखा जा सकता है:

$$\frac{\text{छातेका मूल्य}}{\text{छातेकी सीमान्त उपयोगिता}} = \frac{\text{टोपीका मूल्य}}{\text{टोपीकी सीमान्त उपयोगिता}} = \frac{\text{रुमालका मूल्य}}{\text{रुमालकी सीमान्त उपयोगिता}}$$

यदि किसी वस्तुके मूल्यमें परिवर्तन होजाये तो भिन्न भिन्न वस्तुओंकी इकाइयों को खरीदनेमें भी इसी प्रकार परिवर्तन होनेकी प्रवृत्ति होगी, जिससे अनुपात पूर्ववत् होजाये।

भिन्न भिन्न वस्तुओं पर द्रव्यको व्यय करनेसे कोई भी व्यक्ति कुल उपयोगिताको तभी अधिकतम बना सकता है जब कि मोल लीगयी वस्तुओंकी सीमान्त उपयोगिताएं उनके मूल्यके अनुपातमें हो।

वास्तविक संसारमें भिन्न भिन्न वस्तुओंकी मांगकी स्थिरता और अनेक मूल्यों में बहुत भिन्नता होनेके कारण इस अनुपातके अनुसार चलना कठिन होजाता है। परन्तु प्रवृत्ति इस प्रकारकी अवश्य रहती है। एक बात और भी ध्यानमें रखनेकी है कि कालान्तरमें फैशन और रुचिमें परिवर्तन होनेके कारण भिन्न भिन्न वस्तुओंकी सापेक्ष सीमान्तिक उपयोगिताओं में भी अन्तर आजाता है। यदि कुछ काल तक वस्तुओंके मूल्य और रुचिमें परिवर्तन न हो तो मनुष्यको अपने व्ययके वितरणसे अधिकतम उपयोगिता प्राप्त करनेमें सुगमता होगी।

मांग

मांग का तात्पर्य

अर्थशास्त्र में 'माग' शब्दका प्रयोग एक विशिष्ट अर्थमें होता है। किसी मनुष्यकी किसीभी वस्तु सम्बन्धी माग उसके मूल्यके साथ निहित रहती है। 'मोहनकी २० आमोकी माग है' यह वाक्य असम्बद्ध समझा जायेगा, जबतक इसके साथ आमका भाव न जोड दिया जाये। वस्तुत: हमको कहना चाहिए, 'यदि आमका मूल्य चार आने प्रति आम हो तो इस मूल्यपर मोहनकी माग २० आमकी है।' यदि आमका भाव चार आने न होकर पाच आने अथवा तीन आने हो तो सम्भव है कि मोहनकी मागमें भी अन्तर पड जाये। भिन्न भिन्न मूल्यो पर मोहनके लिए आमोकी माग भिन्न भिन्न होगी। अतएव मागका तात्पर्य यह है कि किसी समय विशेषमें खरीदार भिन्न भिन्न मूल्योपर किसी वस्तुकी कितनी इकाइया खरीदेगा।

मागका आवश्यकताओ और उनकी विशेषताओसे घनिष्ट सम्बन्ध है। दूसरे अध्यायमें हमने बताया है कि किसीभी वस्तुकी आवश्यकता की तीव्रता उस वस्तु के सग्रहसे कम होजाती है। आवश्यकता की तीव्रतामें न्यूनता आनेके कारण उस वस्तुकी उपयोगिता भी कम होतीचली जाती है अतएव उसका मूल्यभी उपभोक्ताकी दृष्टिमें गिरता जाता है। आवश्यकताकी तीव्रताका मागपर भी प्रभाव पडता है। यदि किसी मनुष्यको किसी वस्तुकी आवश्यकता बहुत तीव्रहो तो उसके लिए उस वस्तुकी उपयोगिता बहुत अधिक होगी और वह उसको अधिक मूल्यपर भी खरीद लेगा। परन्तु यदि आवश्यकता शिथिल पड गयीहो तो वह उस वस्तुको कम मूल्य पर खरीदना चाहेगा। इस प्रकार हम देखतेहै कि मोहन अधिक परिमाणमें आम खरीदना तभी पसन्द करेगा जबकि विक्रेता उनका मूल्य घटाये। अधिक मूल्य होने पर वह कम आम खरीदेगा। मागकी इस प्रवृत्तिका हम पृष्ठ पर दीगयी तालिका द्वारा निदर्शन कर सकते है:

मूल्य (आनों में)	मोहनकी मांग
८ प्रति आम	० आम
७ ,, ,,	१
६ ,, ,,	५
५ ,, ,,	१०
४ ,, ,,	२०
३ ,, ,,	३०
२ ,, ,,	३५

स्मरण रहे कि उपरिलिखित तालिका किसी विशेष व्यक्ति की किसी विशेष समय पर आमोकी मागकी द्योतक है; भिन्न भिन्न व्यक्तियो के लिए एक ही समय पर अथवा एकही व्यक्तिके लिए भिन्न भिन्न समयो पर यह तालिका भी भिन्न हो-सकती है क्योकि प्रत्येक मनुष्यकी किसीभी वस्तु सम्वन्धी माग उसकी आय, अभिरुचि और अन्य वस्तुओके मूल्यपर अवलम्बित रहती है। इनमें परिवर्तन होने से उसकी मागमें भी परिवर्तन होनेकी सम्भावना रहती है। परन्तु किसी समय विशेषमें इन सव वातोके यथावत् रहनेपर वह भिन्न भिन्न मूल्योपर उस वस्तुको भिन्न भिन्न परिमाणो में खरीदनेको तत्पर रहेगा। भिन्न भिन्न मनुष्यो की आय, अभिरुचि, आवश्यकताकी तीव्रता किसी वस्तुके लिये भिन्न भिन्न होती है। अतएव प्रत्येक मनुष्य भिन्न भिन्न मूल्योपर किसी वस्तुको समान परिमाणमें नही खरीदेगा। ऊपर दीगयी तालिकाके अनुसार मोहन ६ आनेके हिसावसे ५ आम खरीदता है, दूसरे उपभोक्ताकी माग, जिसको आममें अधिक अभिरुचि नही है अथवा जो इस भावपर आम खरीदने में असमर्थ है, ६ आने प्रति आम मूल्य होनेपर शून्य हो सकती है। अतएव प्रत्येक उपभोक्ताकी आमकी मागकी तालिका भिन्न भिन्न होने की सम्भावना है। यदि हम किसी समय विशेषके लिए सभी उपभोक्ताओ की मागकी तालिकाओ का समुच्चय करें तो हमको सभी उपभोक्ताओ की कुल आमो की मागकी तालिका प्राप्त होसकती है। कल्पना कीजिए, आमोके बाज़ारमें पाच उपभोक्ताहै, जिनकी किसी एक दिनकी मागकी तालिका निम्न प्रकारकी है:

प्रति आम का मूल्य	दैनिक मांग					
	क	ख	ग	घ	ङ	कुल
८ आना	०	०	१	०	२	३
७	१	०	२	०	५	८
६	५	०	५	२	८	२०
५	१०	१	१०	५	१५	४१
४	२०	३	१५	१०	२५	७३
३	३०	५	२०	१५	३०	१००
२	३५	१०	२०	२०	३०	११५

अन्तिम कोष्टकमें उपभोक्ताओ की भिन्न भिन्न मूल्योसे सम्बन्धित कुल माग पाचो उपभोक्ताओ की मागोके योगसे प्राप्त कीगयी है। उदाहरणके लिए यदि आमोका मूल्य ४ आने प्रति आमहो तो कुल माग ७३ होगी और यदि २ आने हो तो कुल माग ११५ होगी। इस कुल मागकी तालिकाको (तथा प्रत्येक उपभोक्ताकी माग की तालिकाको) रेखाचित्र द्वाराभी व्यक्त किया जासकता है।

मांग का नियम

माग की तालिका और रेखाचित्र से मागके विषयमें हमको एक बडी महत्वपूर्ण बात मालूम होती है। वह यहकि जैसे जैसे आमका मूल्य घटता जाता है, वैसे वैसे उसकी माग बढती जाती है और जैसे जैसे मूल्य बढता जाता है, वैसे वैसे माग घटती जाती है। यही बात स्वाभाविकभी मालूम पडती है। यदि किसी वस्तुको अधिक मात्रामें बेचनाहो तो उसके मूल्यको घटाना ही पडेगा; क्योकि अधिक मात्रामें लेनेसे किसीभी उपभोक्ताको कम सीमान्तिक उपयोगिता प्राप्त होती है। अतएव अन्य बातोके यथावत् रहनेपर उपभोक्ताओ को अधिक मात्रामें खरीदने के लिए मूल्य घटाकर ही आकृष्ट किया जासकता है। इसी बातको हम दूसरे प्रकारसे भी कह सकते है। कोई उपभोक्ता किसी मूल्यपर वस्तु खरीदता है तो
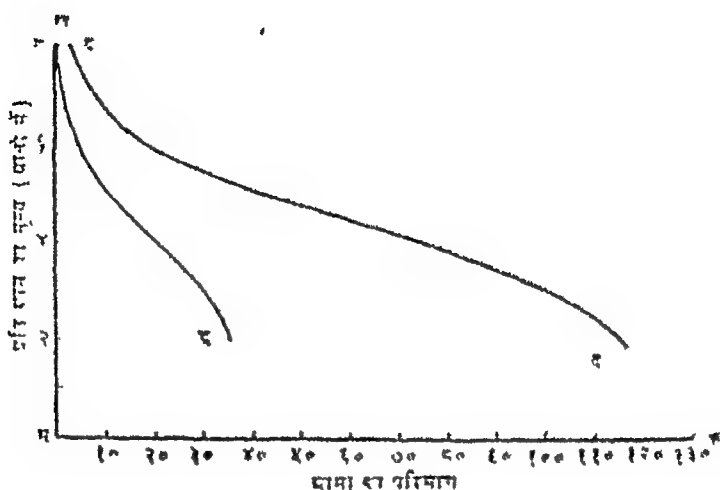
इस रेखाचित्रमें द द रेखा मोहनके मागकी तालिका और द'द' रेखा कुन मागको दर्शाती है।

वह अपनेको उसी मूल्यसे प्राप्त होनेवाली दूसरी वस्तुसे वंचित करता है अर्थात् जिस दूसरी वस्तुको वह लेसकता था, उसका उसे त्याग करना पडता है। अब यदि उसको पहिली वस्तु कम मूल्यपर प्राप्त होसके तो दूसरी वस्तुकी अपेक्षा वह वस्तु अधिक क्रय सिद्ध हो जायेगी। अर्थात् यदि दो वस्तुओंमें प्रतियोगिता हो और उनमेंसे एकके मूल्यमें कमी करदी जाये तो जिस वस्तुका मूल्य कम कर दिया गया है उसकी माग वढ जायेगी और अपेक्षत: अधिक मूल्यवाली वस्तुके स्थानमें भी इसी वस्तुको अधिक मात्रामें लेनेकी प्रवृत्ति होगी क्योंकि मूल्यमें कमी होनेसे अन्य स्थानापन्न वस्तुओंका स्थानभी कुछ अंश तक वही वस्तु ग्रहण करने लगेगी। अतएव इसकी मागमें वृद्धि अवश्य हो जायेगी।

चाहे हम इस विषयको घटती हुई सीमान्तिक उपयोगिताके दृष्टिकोणसे देखें अथवा स्थानापन्न वस्तुओंके परिमाणमें अन्तरके दृष्टिकोणसे देखें, किसी वस्तुकी माग अधिक मूल्यपर कम और कम मूल्यपर अधिक रहेगी। इसीको माग का नियम भी कहते हैं। यह स्थिति रेखाचित्रमें दाहिनी ओर गिरती हुई मागकी रेखासे व्यक्त होती है।

मांग मे परिवर्तन

मागके नियमके अनुसार अन्य बातें यथावत् रहनेपर भी मूल्यमें कमी होनेसे किसी वस्तुकी मागमें वृद्धि और मूल्यमें वृद्धि होनेपर मागमें कमी होजाती है। यह प्रवृत्ति किसीभी मागकी तालिका अथवा मागकी रेखामें देखीजा सकती है। परन्तु मूल्यमें कमी अथवा वृद्धि न होने परभी किसी वस्तुकी मागमें कमी अथवा वृद्धि हो सकती है। मागमें इसप्रकार होनेवाली कमी अथवा वृद्धिको 'मागमे परिवर्तन' के नामसे पुकारते हैं। परिवर्तनकी परिभाषा इसप्रकार है। यदि किन्ही दियेगये मूल्योपर उपभोक्ता पहिलेसे कम अथवा अधिक परिमाणमें उस वस्तुको खरीदें तो हम कहतेहै कि उस वस्तुकी मागमें परिवर्तन होगया है। यदि दियेगये मूल्यो पर उपभोक्ता पहिलेसे अधिक परिमाणमें उस वस्तुको खरीदे तो हम कहेंगे किमाग का प्रसार हुआ और यदि कम मात्रामे खरीदें तो हम कहेंगे कि मागमें सकुचन हुआ। नीचे दीहुई तालिकामें मागके परिवर्तनको दिखाया गया है:

आमोका मूल्य (आना)	पहिलेकी माग	इकाई की माग	
		क	ख
८ प्रति आम	३	५	०
७ ,, ,,	८	१२	२
६ ,, ,,	२०	३०	१०
५ ,, ,,	४१	६०	२५
४ ,, ,,	७३	९०	४५
३ ,, ,,	१००	१२०	६०
२ ,, ,,	११५	१४०	८५

नयी मागका कोष्टक (क) मागमें प्रसार और कोष्टक (ख) मागमें सकुचन सूचित करता है। इस तालिकाको रेखाचित्रमें पृष्ठ पर दिखाया गया है:
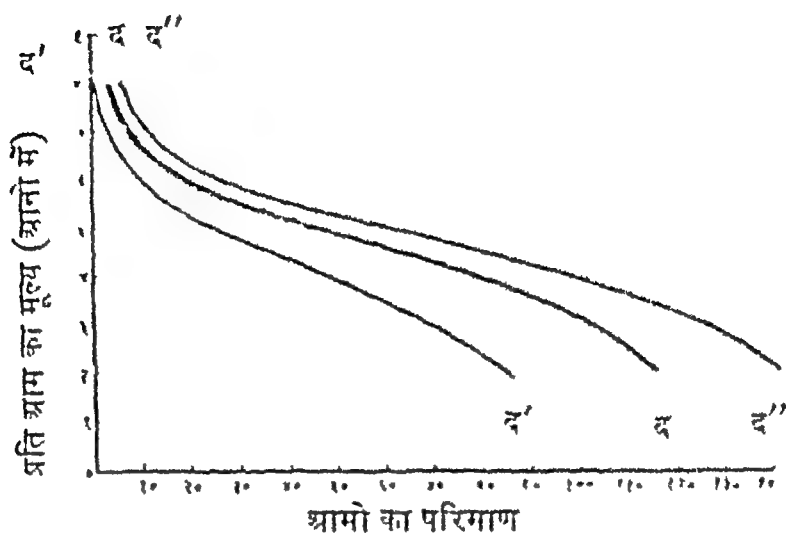
पिछली मागको द द रेखासे दिखलाया गया है। द' द' रेखासे मांगमें सकुचन और द'' द'' रेखासे मांगमें प्रसार दिखलाया गया है।

इस प्रकार हम देखतेहै कि मागमें परिवर्तन होनेपर मागकी तालिका और रेखाचित्र वदल जाते है। मागमें परिवर्तन होनेका कारण यहहै कि अन्य सब बातें-पूर्ववत् नही रहती है। घट वढ होनेसे, भिन्न भिन्न वस्तुओं सम्वन्धी अभिरुचि में परिवर्तन होनेसे अथवा अन्य वस्तुओके कम या अधिक मात्रा और मूल्यमें प्राप्त होनेके कारणभी किसी वस्तुकी मागमें परिवर्तन होसकता है। साधारणत. आय की वृद्धिसे किसी वस्तुकी कुल मागमें प्रसार और आयकी कमीसे मांगमें सकुचन होजाता है। यदि किसी कारणसे लोग आमोको पहिलेसे अधिक पसन्द करने लगें तो भी मागका प्रसार होगा और यदि कम पसन्द करें तो माग सकुचित हो जायेगी। इसी प्रकार यदि किसी वस्तुकी प्रतिरूप वस्तुओकी सख्यामें वृद्धि होजाये अथवा किसी प्रतियोगिता वाली वस्तुका मूल्य कम करदिया जाये तो पहिली वस्तुकी मागमें संकुचन हो जायेगा। इसके प्रतिकूल यदि प्रतिरूप वस्तुओकी सख्या कम होजाय अथवा किसी प्रतियोगिता करनेवाली वस्तुका मूल्य वढजाये तो पहिली वस्तुकी मागमें प्रसार होगा। उदाहरणके लिए यदि कोई नया फल बाज़ारमें विकने लगे तो कुछ लोग आमोकी कमी करके इस नये फलको लेने लगेंगे। अतएव आमकी मागकी रेखा वायी ओर नीचेको होजायेगी। और यदि सेब, सन्तरा इत्यादि फलोके मूल्यमें

वृद्धि होजाये तो कुछ लोग इनके बदले आम लेने लगेंगे और आमकी मागमें प्रसार होजायेगा।

मांग की लोच

अभी हम देख चुके है कि मूल्यमें परिवर्तन होनेसे किसी वस्तु की मागके परिमाणमें भी परिवर्तन होजाता है। परन्तु सभी वस्तुओके मूल्यमें कुछ घट-बढ हो जानेका प्रभाव सभी मनुष्यो पर एकसा नही पडता। कुछ वस्तुए ऐसी होती हैं जिनके मूल्यमें थोडासा अन्तर होजाने पर उनकी मागमें विशेष परिवर्तन नही होताहै जैसे नमक। परन्तु यह वात चीनीके लिए नही कह सकते है। यदि चीनीका मूल्य १ रुपया प्रति सेर से घटकर १४ आने प्रति सेर होजाये तो उसकी मागमें अवश्य ही वृद्धि होगी और १ रुपया २ आने प्रति सेर होनेपर माग घट जायेगी। हा यहबात अवश्यहै कि कुछ धनीलोग जिनकी १ रुपयेके भावपर चीनीकी आवश्यकता पूर्णरूप से तृप्त होजाती है, वह १४ आने सेरके हिसाबसे भी उतनी ही मात्रामें चीनी खरीदेंगे और १ रुपया २ आने प्रति सेरपर भी उतनीही मात्रामें खरीदेंगे। यदि चीनी २ आने प्रति सेरके हिसाबसे विकने लगे तो प्राय: सभीलोग इस भावपर चीनीको पर्याप्त परिमाणमें खरीद लेंगे और डेढ आने प्रति सेरपर मांगमें विशेष वृद्धि न होगी। किसी वस्तुके मूल्यमें परिवर्तन होनेसे जो मागके परिमाणमें परिवर्तन होजाता है उसको मागकी लोच कहते है। अर्थात् मागकी लोच मूल्य-परिवर्तनसे प्रभावित होकर मागमें पडनेवाले अन्तरकी माप है। यदि मूल्यके परिवर्तनसे मागमें कुछभी अन्तर न हो तो उसको बेलोच माग कहेंगे। शायदही ऐसी कोई वस्तुहो जिसकी समुदायिक माग वेलोच हो। वास्तवमें भिन्न भिन्न वस्तुओकी माग कम या अधिक लोचदार होती है। इसको जाननेकी एक सुगम रीति यहहै कि किसी वस्तुके मूल्यमें परिवर्तन होनेके कारण उस वस्तुमें कियेगये व्यय में परिवर्तनको मालूम किया जाय। मान लीजिये आमके मूल्यमें कुछ वृद्धि हुई जिसके परिणामस्वरूप उसकी मागकी मात्रामें इतनीही कमी हुई कि उसपर कियागया कुल व्यय पूर्ववत्‌ही रहा अथवा आमके मूल्यमें कुछ कमी होनेपर उसकी मागमें इतनीही वृद्धि हुई कि उसपर कियागया कुल व्यय उतनाही रहा

तो ऐसी अवस्थामें हम कहतेहैं कि इन दो मूल्य-स्तरोंके अन्तर्गत मागकी लोच एक इकाई है। परन्तु यदि मूल्य घटनेसे कुल व्यय बढ़जाये और मूल्य बढ़नेसे कुल व्यय घटजाये तो हम कह सकतेहैं कि मागकी लोच एक इकाईसे अधिक है। इसके प्रतिकूल यदि मूल्यके घटनेसे कुल व्यय घटजाये और मूल्यके बढ़नेसे कुल व्यय बढ़जाये तो हम कह सकतेहैं कि मागकी लोच एक इकाईसे कम है। इस बातको नीचे दीहुई तालिकामें दिखाया गया है :

मूल्य आना	माग	कुल व्यय आने	लोचकी मात्रा
८	३००	२४००	इकाईसे अधिक
७	४००	२८००	" "
६	५००	३०००	इकाई
५	६००	३०००	"
४	७००	२८००	इकाईसे कम
३	८००	२४००	" "
२	९००	१८००	" "
१	१०००	१०००	" "

मागकी लोचको नापनेकी इस साधारण विधिको रेखाचित्र द्वाराभी दिखाया जासकता है :
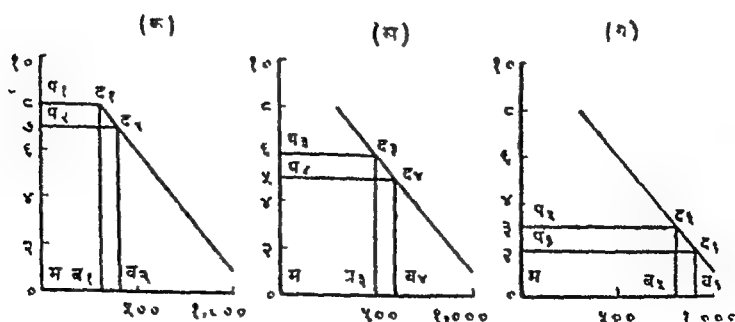
रखाचित्र (क) में द १ और द २ मूल्योके अन्तर्गत मागकी लोच इकाईसे अधिक है क्योकि 'म' प २' 'द२, व२' का क्षेत्रफल (कुल मूल्य) 'म, प१' 'द१, व१' से अधिक है। चित्र (ख) मे 'द ३' और 'द ४' के अन्तर्गत मागकी लोच इकाई है क्योकि 'म, प ३' 'द ३ ब ३' और 'म, प ४' 'प ४, व ४' का क्षेत्रफल बराबर है और रेखा चित्र (ग) में 'द ५' और 'द ६' मूल्योके अतर्गत मागकी लोच इकाईसे कम है क्योकि 'म, प ६' 'द ६, ब ६' का क्षेत्रफल 'म, प ५' 'द ५, ब ५' से कम है। इन तीनो रेखाचित्रो में मागकी रेखाए एकसी है परन्तु मागकी रेखाओके एक सी होनेका तात्पर्य यह न समझना चाहिये कि मागकी लोच भी एकसी ही है; भिन्न भिन्न मूल्योपर लोच भिन्न भिन्न है। अतएव हमको विना विश्लेषणके नही कहना चाहिए कि किसी वस्तुकी माग कम या अधिक लोचवाली है, जबतक कि सारी रेखाकी एक सी लोच न हो। चूंकि लोच भिन्न भिन्न मूल्योपर भिन्न भिन्न होसकती है इस कारण मागकी लोचका विवेचन करते समय हमको किसी मूल्य-विशेषपर लोचके सम्बन्धमे बताना चाहिए।

एक और प्रकारसे मागकी लोच अको द्वारा प्रकटकी जासकती है। यदि किसी वस्तुके मूल्यमें कमी होनेके कारण माग उसी अनुपातमें बढे तो हम कहेंगे कि लोच एक इकाई है। यदि माग अधिक अनुपातमें बढे तो लोच एकसे अधिकहै और यदि माग कम अनुपातमे बढे तो लोच एकसे कम समझी जायेगी। यदि माग बिल्कुल ही न बढे तो लोच शून्य समझी जायेगी। इस सम्बन्धको निम्नलिखित समीकरण के रूपमें लिख सकते है :

$$\text{लोच} = \frac{\text{मागमें प्रतिशत वृद्धि}}{\text{मूल्यमें प्रतिशत कमी}}$$

उदाहरणके लिये यदि आमके मूल्यमें १० प्रतिशत कमी होनेपर उसकी मागके परिमाणमें १० प्रतिशत वृद्धिहो तो लोच एक इकाई, १५ प्रतिशत वृद्धि होनेपर इकाईसे अधिके और ५ प्रतिशत वृद्धि होनेपर इकाईसे कम और पूर्ववत् रहनेपर शून्य होगी।

गणितकी ओर जिनकी प्रवृत्ति हो, ऐसे पाठकोके लिए मागकी लोचको रेखा-चित्र द्वारा दिखलाया और मापा जा सकता है।
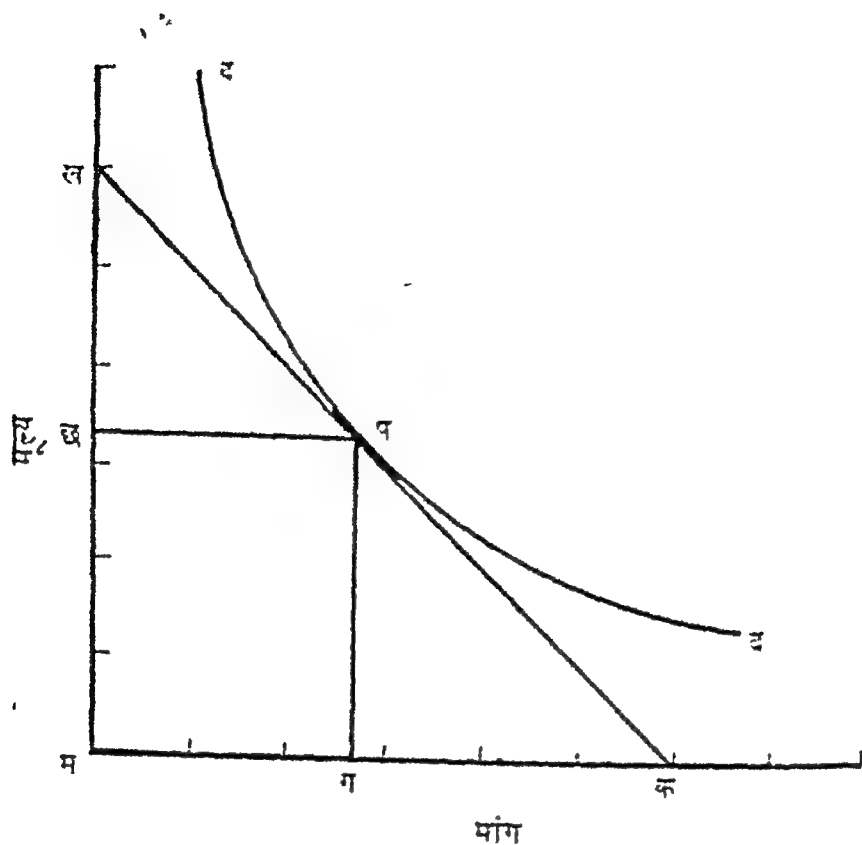
इस चित्रमें 'म, क' रेखा द्वारा मूल्य और 'म, ख' रेखा द्वारा मागका परिमाण दिखाया गया है। 'द, द' किसी वस्तुकी मागकी रेखा है। 'प' इस रेखापर एक बिन्दु है जो यह दिखलाता है कि 'म,छ' मूल्यपर 'म ग' माग है। 'क ख' रेखा 'प' बिन्दु पर स्पर्श-रेखा है। मागकी लोच 'प' बिन्दुपर 'प क': 'प ख' अनुपात द्वारा प्रकट कीजाती है। यदि 'प ख' = (२ × प क) तो मागकी लोच २ हुई, अर्थात् यदि मूल्यमें एक प्रतिशत कमीहो तो मागके परिमाणमें २ प्रतिशत वृद्धि होगी। इसी सम्बन्धको 'ग क': 'ग म' अथवा 'म छ': 'ख क' अनुपात द्वाराभी प्रकट कर सकते है।

माग की लोच मे भिन्नता

किसीभी वस्तुकी माग-लोच सभी मनुष्यो अथवा सभी मूल्योपर समान नही

होसकती है। फिरभी साधारणत: हम कह सकतेहै कि आवश्यकताकी वस्तुओकी माग कम लोचदार होतीहै और विलासिताकी वस्तुओकी माग अधिक लोचदार होती है। इसीप्रकार हम कह सकतेहै कि साधारणत: किसी वस्तुके ऊचे मूल्य-स्तरों पर माग अधिक लोचदार होती है और जैसे जैसे मूल्य गिरता जाता है, लोच भी कम होती जाती है। यहा तक कि बहुत कम मूल्य-स्तर पर लोच शून्य होसकती है। उदाहरणके लिए घडीकी मागसे गेहूकी माग कम लोचदार होगी और घडीकी मागमें भी ऊंचे मूल्यपर अधिक लोच और बहुत कम मूल्यपर कम लोचकी सम्भावना होगी। इस प्रकारके साधारण सम्बन्धोमें कठिनाई यह होतीहै कि कोई वस्तु एक मनुष्यके लिये आवश्यकताकी और दूसरेके लिए विलासिताकी वस्तु समझी जा सकती है। उदाहरणके लिए विश्वविद्यालयका छात्र फाउन्टेनपेन को आवश्यक वस्तु समझे परन्तु एक मजदूरके लिए तो वह विलासिताकी वस्तु ही समझी जायेगी। इसी प्रकार धनी व्यक्तिके लिए दो रुपये सेरके हिसाबसे चीनीका मूल्य भले ही ऊचा न हो परन्तु एक मध्यम श्रेणीके व्यक्तिके लिए तो यह मूल्य ऊचाही होगा।

मागकी लोचमें भिन्नता होनेके कुछ प्रमुख कारण नीचे दिये जाते है :

(१) यदि किसी वस्तुकी स्थानापन्न वस्तुए प्रचुरतासे प्राप्त हो और वह उस वस्तुका स्थान सुगमताके साथ ग्रहण कर सकें तो उस वस्तुकी माग अधिक लोचदार होगी। इसका कारण यहहै कि यदि उस वस्तुके मूल्यमें कमी होजाये तो लोग अन्य स्थानापन्न वस्तुओके बदले इस वस्तुको अधिक मात्रामें लेने लगेंगे और यदि उसके मूल्यमें वृद्धि होजाये तो इसको छोडकर अन्य स्थानापन्न वस्तुओको लेंगे जिससे इसकी मागमें अधिक कमी होजायेगी।

यदि किसी वस्तुकी कोई योग्य स्थानापन्न वस्तु न हो अथवा स्थानापन्न वस्तुओं की सख्यामें कमी होजाये तो उस वस्तुकी माग कम लोचदार हो जायेगी; क्योकि वस्तुओके चुनावका क्षेत्र इस प्रकार सकुचित होजाता है। उदाहरणके लिए बाजारमें अनेक प्रकारकी चाय बिकती है। यदि एक प्रकारकी चायके मूल्यमें वृद्धि होजाये तो अनेक लोग दूसरे प्रकारकी चाय खरीदने लगेंगे। अतएव पहिली चाय की मागमें बहुत कमीकी सम्भावना रहेगी। परन्तु यदि एकही प्रकारकी चाय होती तो चायके उपभोक्ताओको यह सुविधा प्राप्त न होती और मूल्य बढनेपर भी उनको यही चाय खरीदनी पडती अर्थात चायकी माग कम लोचदार होती।

(२) यदि किसी वस्तुका उपयोग अनेक कार्योंमें होसकता हो तो उसकी माग अधिक लोचदार होगी क्योंकि मूल्यके गिर जानेसे उस वस्तुका उपयोग उन कार्यों में भी होने लगेगा जिनमें ऊंचे मूल्यपर नही किया जाता था और मूल्यके बढ़जाने पर उस वस्तुका उपयोग अधिक आवश्यक कार्यों तक ही सीमित रहेगा।

(३) यदि किसी वस्तुके मूल्य बहुत ऊंचे स्तरसे गिरकर नीचे स्तरपर आजायें तो न केवल ऊंचे मूल्यपर खरीदनेवाले उपभोक्ता उस वस्तुको अधिक मात्रामें खरीदने लगेंगे वरन् निम्न आयवाले उपभोक्ताभी उसकी ओर अधिक संख्यामें आकर्षित होने लगेंगे। निम्न आयवाले उपभोक्ता अधिक संख्यामें पाये जाते है अतएव ऐसा होनेपर मागमें अधिक वृद्धि होजाती है। ऐसी अवस्थामें माग अधिक लोचदार होजाती है। परन्तु यदि किसी वस्तुका मूल्य आरम्भसे ही इतने नीचे स्तर पर हो कि न्यूनतम आयवाले उपभोक्ताभी उस मूल्यपर पर्याप्त मात्रामें उस वस्तुको खरीद लेतेहै तो ऐसी अवस्थामें मूल्य घटनेपर मागमें बहुत कम वृद्धि होगी। अर्थात् मागमें बहुत कम लोच रहेगी।

(४) यदि कुल व्ययकी तुलनामें किसी एक वस्तु पर नगण्य व्यय होता है तो उस वस्तु की मागमें कम लोच रहती है। उदाहरणके लिए किसी परिवारमें महीनेमें भोजनके पदार्थोंमें जितना व्यय होताहै उसकी तुलनामें नमक पर नगण्य ही व्यय होता है। अतएव यदि नमकके मूल्यमें वृद्धि होजाये तो भी उसकी मागमें अधिक कमी नही होगी। परन्तु यदि कुल व्ययका एक बडा भाग किसी एकही वस्तुके उपर होताहो तो ऐसी वस्तुके मूल्यमें वृद्धि होनेसे उसकी मागके परिमाणको अधिक घटानेकी प्रवृत्ति होगी।

यदि दो वस्तुओकी माग सम्मिलित हो तो जिस वस्तुपर कम व्यय होताहै, उस की मागमें कम लोच होती है। उदाहरणके लिए धूम्रपानके लिए सिगरेट और दियासलाईकी सम्मिलित माग रहतीहै और धूम्रपानके कुल व्ययमें दियासलाई पर किया गया व्यय बहुत कम रहता है। अतएव दियासलाईके मूल्यमें वृद्धि होने के कारण धूम्रपानमें अधिक प्रभाव नही पडेगा और दियासलाईकी मागमें भी अधिक कमी नही होगी।

(५) जो वस्तुएं टिकाऊ होतीहै और जो मरम्मत होनेपर कामके योग्य बन सकतीहै उनकी मागमें अधिक लोच होती है। उदाहरणके लिए यदि जूतोके

मूल्यमें वृद्धि होजाये तो हम कुछ समय तक मरम्मत करवा कर पुराने जूतोसे काम चला सकते है। नये जूतोके मूल्यकी तुलनामें मरम्मतमें बहुत कम पैसा लगता है।

इसप्रकार हम देखते है कि किसी वस्तुकी मागकी लोचका विषय पेचीला है। इसका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए कई बातोको साथ साथ ध्यानमें रखना पड़ता है।

मांग की लोच का महत्व

मागकी लोचका ज्ञान अनेक व्यावहारिक कार्योमें आवश्यक होता है। किसी भी उत्पादक अथवा विक्रेताको केवल इतनाही जान लेना पर्याप्त नही होता कि वह चालू मूल्यपर किसी वस्तुको किस परिमाणमें बेच सकता है। वह यहभी जानना चाहेगा कि यदि वह किसी वस्तुका मूल्य कम करे तो उसकी बिक्रीमें कितनी वृद्धि होगी। यदि मूल्यमें कमी करनेसे माग बहुत बढ जातीहै तो सम्भवत' मूल्य घटानेसे प्रति अदद जो क्षति उसको होतीहै, उससे अधिक लाभ उसको बिक्रीमें वृद्धिसे होसकता है। परन्तु यदि माग बहुत कम बढे तो उसको हानि होनेकी सम्भावना है। साधारणत. जिन वस्तुओमें बहुत कम लोच रहतीहै उनका मूल्य अधिक रहनेपर विक्रेताको अधिक लाभ होनेकी सम्भावना रहती है। प्रत्येक विक्रेता को, चाहे वह वस्तुओको बेचे अथवा अपना श्रम बेचे, यह बात ध्यानमें रखनी पडतीहै कि प्रत्येक अवस्थामें मूल्य अधिक रखनेसे ही अधिक आय नही होती है। एकाधिकारीको अपना मूल्य और उत्पत्तिकी मात्राका निर्धारण करनेमें विशेष रूप से मागकी लोचको ध्यानमें रखना पडता है; जैसाकि एकाधिकारी मूल्यके प्रकरण में बताया जायेगा।

राज्यको भी अपनी कर-नीतिके सम्बन्धमें मागकी लोचको ध्यानमे रखना पडता है। यदि किसी वस्तुपर राज्यको अपनी आय बढानेके लिये कर लगाना आवश्यकहो तो वह ऐसी वस्तुओ पर कर लगाताहै जिनकी मागमें कम लोच हो। यदि अधिक लोचवाली वस्तुओ पर कर लगाया जाये तो करके कारण मूल्यमें वृद्धि होने पर उनकी माग बहुत घट जायेगी और राज्यको अधिक आय नही होगी।

उपभोक्ता की बचत

कुछ समय पूर्व अर्थशास्त्र की पुस्तकोमें 'उपभोक्ताकी बचत' के विषयको बहुत

बडा महत्व दिया जाता था। क्रमागत उपयोगिता-ह्रास नियम और मांगकी तालिका पर इसको आधारित किया गया है। किसी भी उपभोक्ताको किसी भी वस्तुकी प्रारम्भिक इकाइयोंसे अधिक तृप्ति तथा क्रमागत बढ़ती हुई इकाइयोंसे कम तृप्ति मिलती है। अतः वह प्रारम्भिक इकाइयोंके लिये अधिक मूल्य देनेको तत्पर होगा और बढतीहुई इकाइयों पर कम मूल्य लगायेगा क्योंकि उसकी आवश्य-कताकी उग्रता कम होती जाती है। उदाहरणके लिए मान लीजिए एक रुमालके लिए कोई मनुष्य एक रुपया तक देनेको तैयार है, दूसरे रुमालके लिए बारह आना और तीसरेके लिए आठ आना क्योंकि एक रुमालसे वह एक रुपयेके बराबर तृप्ति की, दो रूमाल खरीदनेपर बारह आनेके बराबर तृप्तिमें वृद्धिकी अर्थात् १ रुपया १२ आनेके बराबर कुल तृप्तिकी और तीन रुमाल खरीदने पर आठ आनेके बराबर तृप्ति में वृद्धिकी अर्थात् २ रुपये ४ आनेके बराबर कुल तृप्तिकी आशा करता है। यदि बाजारमें प्रति रुमालका मूल्य आठ आना हो तो वह तीन रुमाल खरीदेगा, जिनका मूल्य डेढ रुपया हुआ। परन्तु उसको कुल तृप्ति सवादो रुपयेके बराबर हुई क्योकि वह तीन रुमालोंके लिए सवा दोरुपये तक देनेको तत्पर था। अतएव उसको (सवा दो-डेढ) अर्थात् १२ आनेकी बचत हुई। इस उदाहरणको रेखाचित्र द्वाराभी दिखाया जासकता है।

इस रेखाचित्रमें उपभोक्ता एक रुमालके लिये १ रुपया तक मूल्य देनेको तत्पर है। उपयोगिताके रूपमें हम कह सकतेहै कि वह एक रूमालसे 'म प' 'क य' उपयोगिता प्राप्त करनेकी आशा करता है। दूसरे रुमालसे १२ आने अथवा 'प फ' 'ख क' उपयोगिता और तीसरेसे ८ आने अथवा 'फ ब' 'ग ख' उपयोगिताकी आशा करता है। तीन रूमालो पर ८ आना प्रति रुमालकी दर अर्थात् 'म ल' मूल्य पर कुल व्यय डेढ रुपया अर्थात् 'म व' 'ग ल' हुआ। उपयोगिताके शब्दोंमें उसको डेढ रुपया देनेसे अपनेको 'म व ग ल' के बराबर उपयोगितासे वंचित करना पडा। परन्तु उसको तीन रूमालोसे १ रुपया + १२ आने + ८ आने = सवा दो रुपया अथवा 'म व ग क य' क्षेत्रफलके बराबर उपयोगिता प्राप्त हुई। अतएव सवा दो रुपया – डेढ रुपया = १२ आने अथवा 'म व ग क य' – 'म व ग ल' = 'य क ग ल' क्षेत्रफलके बराबर उपभोक्ता की बचत हुई।
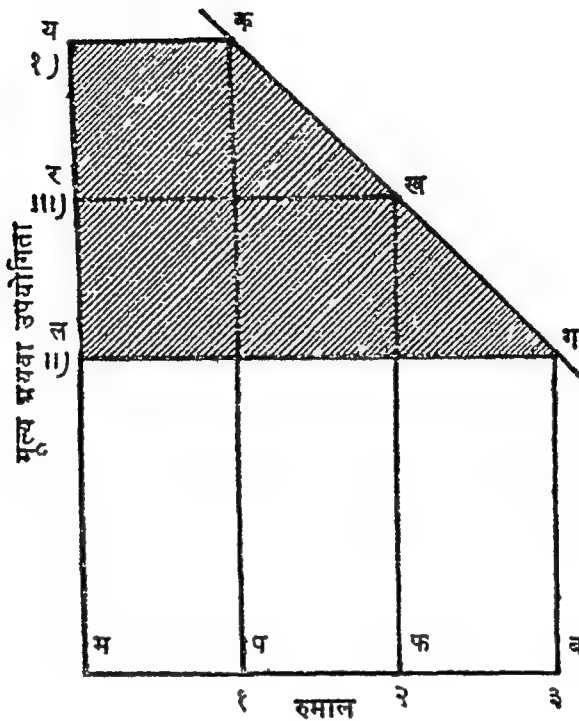
उपभोक्ताकी बचतको सख्याके रूपमें अथवा क्षेत्रफलके रूपमें प्रकट करनेमें कोई वास्तविकता नही है। हम जानतेहै कि उपयोगिताकी सख्यामें माप नही हो सकती है। यह कहना कि उपयोगिता कम या अधिक है; एक बातहै और यह कहना कि उपयोगिता १०० है अथवा ८० है, दूसरी बात है। इसी प्रकार उपयोगिताके आधारपर यह कहना कि वस्तुकी पहिली प्रतिके लिए कोई मनुष्य १० रुपये देनेको तत्पर है, दूसरीके लिए ९ रुपये इत्यादि औरभी भ्रम-मूलक है। समाजमें भिन्न भिन्न परिस्थिति, रुचि और आयके लोग रहते है, जिनके सम्बन्धमें किसीभी वस्तुकी भिन्न भिन्न प्रतियोकी उपयोगिताकी सख्यामें अथवा मूल्यके रूप में प्रकट करना असम्भव कार्य है। इसके अतिरिक्त किसी वस्तुके लिए कोई मनुष्य कितना द्रव्य देनेको तत्पर है, यह उस वस्तुकी स्थानापन्न वस्तुओकी उपस्थिति और उनके मूल्य परभी निर्भर रहता है। यदि भूखके निवारणके लिए केवल रोटीही एक वस्तुहो तो एक भूखा मनुष्य एक रोटीके लिए सब कुछ देनेके लिए तत्पर होसकता है। परन्तु पेट भरनेके लिए अन्य वस्तुओकी उपस्थिति में

उसकी यह भावना नही होगी। एक भूखा धनी मनुष्य एक रोटी के लिए १००० रुपये तक देनेको तयार होसकताहै परन्तु यदि रोटी १ आने को मिलती हो तो इस कथनको कि रोटीसे उसको ९९९ रुपये १५ आनेके बराबर उपभोक्ता की बचत हुई, व्यवहारिक ज्ञान माननेको हम तैयार नही होसकते है। इस प्रसंगमें हम यहभी बतला देना चाहतेहै कि हम मांगकी रेखाको उन मूल्योंके सम्बन्धमें नही बना सकतेहै जो व्यवहारमें कभी रहतो नही। अर्थात् यदि रोटीका मूल्य १००० रुपये प्रति रोटीहो तो कितनी माग होगी, यह अकांमें बतलाना असम्बद्ध बात है। जो चलते मूल्यहै उन्ही के सम्बन्धमें मागका परिमाण बतलाया जासकता है। इसीप्रकार एक भूखे आदमीको पहिली रोटीसे बेहिसाब उपयोगिता मिलती है। अतएव किसी वस्तुको मोल लेनेसे प्राप्त उपभोक्ताकी बचतको निर्धारित करना असम्भव होजाता है।

४

तटस्थ रेखाएं

उपयोगिता का दोष

उपयोगिताका उपयुक्त माप न होनेके कारण तटस्थ रेखाओ द्वारा माग और माग के नियमोका अध्ययन किया जाने लगा है। इन रेखाओके जन्मदाता तो एजवर्थ थे परन्तु अर्थशास्त्रमें इनका प्रयोग पैरेटो और हिक्सने किया है।

एजवर्थ ने इन रेखाओकी परिभाषा इस प्रकारकी है; तटस्थ रेखा वह पथहै जिसपर चलनेसे एक वस्तुके स्थानपर दूसरी वस्तुको किसीभी प्रकार और किसी भी मात्रामें प्रयोगमें लानेसे व्यक्ति विशेषको प्रत्येक स्थितिमें समान ही तृप्ति प्राप्त होती है। तटस्थ रेखा वनानेके लिए हमें तटस्थ तालिकाकी आवश्यकता पडती है। वह इसप्रकार बनायी जासकती है। मान लीजिए मेरे पास १०० आम और आपके पास कुछ केले है। आप मुझे अपने भन्डारमें से केले उठानेकी आज्ञा देते है, किन्तु एक प्रतिवन्ध लगाकर। आपके भन्डारसे मै केले तभी ले सकूगा जब उन्हें अपनेलिए उपयोगी समझूगा। आपका प्रतिबन्ध केवल इतना है; 'केले चाहे जितने उठालो परन्तु उनके समान उपयोगिता जितने आमोसे तुम्हें मिलती है, उतने आम मेरे भन्डार में रख दो।' मानलिया कि पहिला केला उठाकर मैंने २० आम रख दिये। दूसरा उठाकर १६, तीसरा उठाकर १०, फिर दो उठाकर १२ इत्यादि। स्पष्टहै कि इस प्रकारके जितनेभी विनिमय होगे उनके वाद प्रत्येकबार मेरेपास जितनेभी आम और केलोके समूह होगे, उनसे कुल मिलाकर मुझे समान ही तृप्ति प्राप्त होती रहेगी क्योकि आमोके रूपमें हम प्रत्येकबार जितनी उपयोगिता देते हैं, केलोके रूपमें ठीक उतनीही हमें मिलजाती है। पृष्ठपर एक तटस्थ तालिका दीगयी है:

१००	आम	+	०	केले
८०	,,	+	१	,,
६४	,,	+	२	,,
५४	,,	+	३	,,
४२	,,	+	५	,,
३३	,,	+	८	,,
२१	,,	+	१४	,,
१६	,,	+	१८	,,
१२	,,	+	२६	,,
६	,,	+	४४	,,
२	,,	+	५२	,,
१	,,	+	६०	,,

हर पक्तिमें दियेगये आमो और केलोके समूहसे हमें एकही जैसी तृप्ति प्राप्त होती हैं। इन समूहोको हम अपने ज्यामितिज्ञान द्वारा रेखाकित कागजपर इस प्रकार प्रदर्शित करसकते हे :
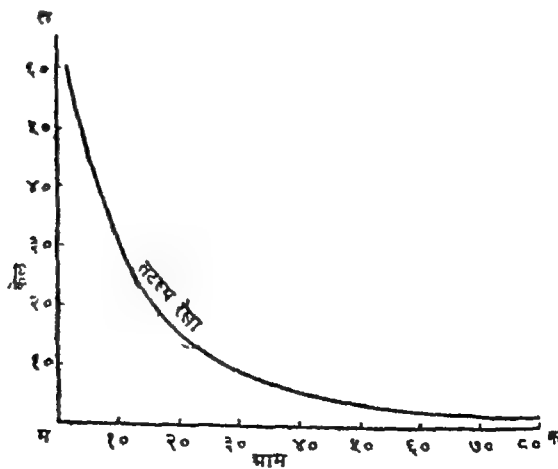
इस रेखाचित्रमें 'म,क' और 'म ख' प्रधान रेखायें है जोकि एक दूसरे पर 'म' बिन्दुपर समकोण बनाती है। 'म' बिन्दुको आरम्भ स्थान कहते है। और 'म, क' रेखापर आम दिखाये गयेहै और 'म, ख' रेखापर केले।

तटस्थ रेखा का आकार

इस प्रकार ऊपर दिखायेगये प्रत्येक समूहके लिए हमें एक बिन्दु प्राप्त होगा। इन सब विन्दुओ से होकर जानेवाली बक्ररेखा का नाम तटस्थरेखा है। आरम्भमें १०० आमोके हमारे पास होनेसे हमें एक तटस्थरेखा प्राप्त होती है। यदि आरम्भ में हमारेपास १०० आम न होकर ८० आमही होते तो दूसरी तटस्थरेखा बनती जो पहिली रेखाके बायीओर नीचे होती तथा १२० आम होनेसे तीसरी और पहिली से ऊची। इस प्रकार वहुतसी रेखाओके समूहसे हमें एक तटस्थ रेखाचित्र प्राप्त होता है। उसका आकार प्रकार निम्नाकित होगा :
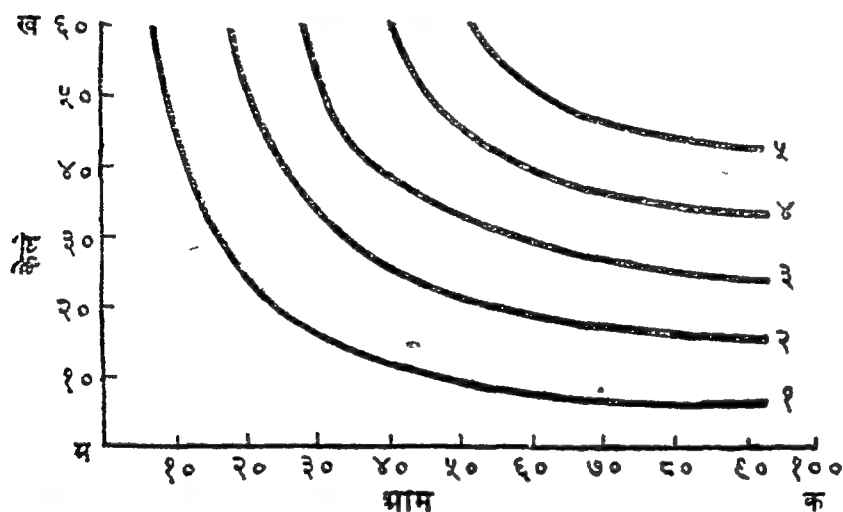
ये रेखाए आरम्भ स्थान 'म' की ओर उभरीहुई रहती है। ऊची और दायी ओरकी रेखाए उन समूहोकी द्योतक है जिनकी उपयोगिता नीची और बायी ओर की रेखाओ द्वारा द्योतक समूहोसे अधिक है।

नीची रेखासे चाहे हम दायी ओर वढें, चाहे ऊपरकी ओर, हम एक ऊची रेखापर पहुच जायेंगे, इसका अर्थ यहहुआ कि एकवस्तु तो हमारेपास वैसीकी वैसी रहे, परन्तु दूसरी हमें और मिलजाये तो हमें अधिक तृप्ति प्राप्त होगी। उदाहरणके लिए ऊपर दीगयी तालिकाके अनुसार ३३ आम और ८ केलोके समूह के स्थानपर यदि ३३ आम और १० केलेहो तो इस समूहसे हमें पहिले समूहकी

अपेक्षा अधिक तृप्ति प्राप्त होगी। इन रेखाओंका समानान्तर होना आवश्यक नही है।

पैरेटो का विचार था कि उपयोगिताको काममें लाये बिना तटस्थ रेखाओंकी सहायतासे मांगका पूरा सिद्धान्त बतलाया जा सकता है परन्तु आर्थिक सिद्धान्तकी व्याख्या करते समय वह स्वतः उपयोगिताको मापी जा सकने वाली वस्तु ही मानता रहा। हिक्सने पैरेटोके इन विचारको कार्यरूपमें परिणत करनेका प्रयत्न किया है।

स्थानापन्नता की दर

इतनातो कहनेमें आपत्ति नहीं कि उपभोक्ता वस्तुओंके एक समूहको दूसरे समूहसे वांछनीय समझता है। कितना वाछनीय समझता है, उससे हमारा प्रयोजन नहीं। इस सिद्धान्तके लिए इतनाही कहना पर्याप्तहै कि वह अधिक वाछनीय समझता है। वस्तुओके सग्रहकी सीमान्त इकाई वह होतीहै जिसकी प्राप्ति या हानिपर विचार किया जारहा हो। जब किसी समूहसे एक वस्तुकी इकाइयां निकालकर दूसरी वस्तुकी इकाइयोको रखा जारहा होताहै तबहम पहिली वस्तुके स्थानपर दूसरी वस्तुको स्थानापन्न करना चाहते है। स्थानापन्नताकी दरसे हमारा तात्पर्य पहिली वस्तुकी उतनी इकाइयोसे है जिनके स्थानपर दूसरी वस्तुकी एक इकाईको स्थानापन्न कियाजाता है। हमारी तटस्थ तालिकामें हमारेपास ८० आम और १ केला था। उसके उपरान्त हमें १६ आम देकर १ केला मिला। सीमान्त स्थानापन्नताकी दर १६–१ हुई तदनन्तर हमें १० आम देकर १ केला मिला तव सीमान्त आमोके स्थानापन्नताकी दर १०–१ हुई। फिर दो स्थानमें १२ केले मिले अतएव सीमान्त स्थानापन्नताकी दर ६–१ हुई। इसके वाद ३–१ इत्यादि।

इस दरका एकगुण यहहै कि यह ठीक उसीप्रकार घटती जातीहै जैसेकि सीमान्त उपयोगिताका क्रमशः ह्रास होता चला जाता है। यदि हम उपयोगिताको भली-प्रकार मापनेमें असमर्थ है तो सीमान्त उपयोगिताको मापनाभी हमारे सामर्थ्य में नही है। परन्तु दो वस्तुओकी सीमान्त उपयोगिताओको पृथक पृथक मापनेमें असमर्थ होने पर भी उनके पारस्परिक अनुपातको ठीक प्रकारसे मापनेका तटस्थ रेखाओद्वारा एक ढग है।

सीमान्त उपयोगिताओंका अनुपात

मानलीजिए हमारेपास 'क' और 'ख' दो वस्तुओका एक समूह है और इस समूह से हमें कुछ उपयोगिता मिलरही है। हम 'क' की कुछ इकाइयोके स्थानपर 'ख' की कुछ इकाइया लेनाभी चाहते है परन्तु इसप्रकार कि 'क' की इकाइया देकर हमें उपयोगिताकी जितनी हानिहुई वह सब 'ख' की इकाइयोसे पूरी होजायेगी अर्थात् हमें मिलनेवाली उपयोगितामें इस अदल-बदलके कारण हानि न हो या यो कहलीजिए कि इस अदल-बदलके होते हुएभी हम एकही तटस्थरेखा पर ऊपर नीचे होते रहे। इस लेनदेनमे हमें उपयोगिताका कुल लाभ 'ख' की कुल प्राप्त इकाइया × 'ख' की सीमान्त उपयोगिता होगी और उपयोगिताकी कुल हानि 'क' की कुल दीगयी इकाई × 'क' की सीमान्त उपयोगिता होगी। यह हानि-लाभ परस्पर बरावर होना चाहिए। इस सम्बन्धको नीचे दिये समीकरण द्वारा दिखाया गया है:

'ख' की प्राप्त इकाइया × 'ख' की सीमान्त उपयोगिता =
'क' की दीहुई इकाइया × 'क' की सीमान्त उपयोगिता

$$\text{अथवा} \quad \frac{\text{'क' की सीमान्त उपयोगिता}}{\text{'ख' की सीमान्त उपयोगिता}} = \frac{\text{'ख' की प्राप्त इकाइया}}{\text{'क' की दीगयी इकाइया}}$$

तटस्थ रेखा की स्पर्शरेखा और उसका ढलान

इसप्रकार सीमान्त उपयोगिताओके पारस्परिक अनुपातको ठीक प्रकारसे मापने का एक ढग हमें प्राप्त होजाता है। इस अनुपातको तटस्थरेखा द्वारा दिखानेका भी एक ढग है। मान लीजिए 'ल' 'व' एक तटस्थ रेखा है। इस रेखापर 'प' कोई विन्दु ले लीजिए। इस विन्दुसे मुख्य रेखाओपर 'प, च' और 'प, घ' दो लम्ब खीचिये। 'प, ल' रेखा इस प्रकार खीचिए कि वह तटस्थ रेखा को 'प' विन्दु पर केवल स्पर्शही करे, जैसाकि पृष्ठपर के चित्रमें दिखाया गया है:
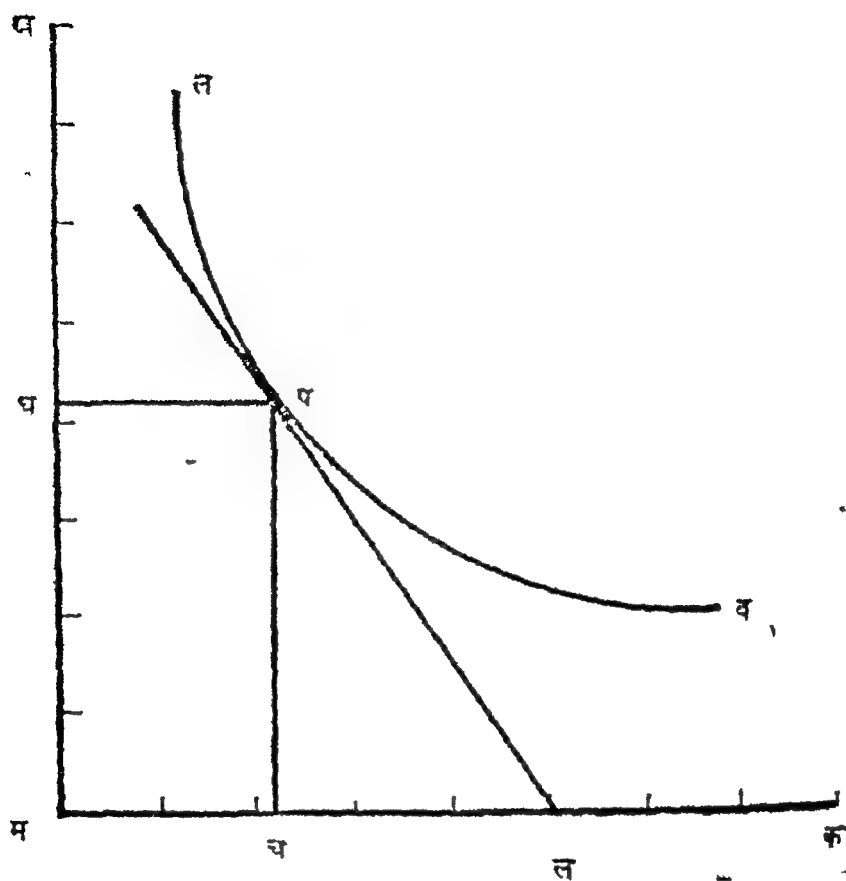
तब जिससमय किसी व्यक्तिके पास 'क' की 'प, घ' अथवा 'म, च' मात्रा और 'ख' की 'प, च' मात्रा हो तो:

$$\frac{\text{'क' की सीमान्त उपयोगिता}}{\text{'ख' की सीमान्त उपयोगिता}} = \frac{\text{'प, च'}}{\text{'म, च'}}$$

इस अनुपातको 'प, ल' रेखाकी ढलान कहाजाता है और यह ढलान ज्यामिति के नियमोके अनुसार भलीप्रकार मापा जासकता है। इससे सिद्धहुआ कि पृथक सीमान्त उपयोगिताके स्थानपर उन दोनोके अनुपातको केवल अनुमानसे ही नही प्रत्युत् गणित शास्त्रके नियमोके अनुसार भलीप्रकार मापा जासकता है।

इसप्रकार तटस्थ रेखा, किसी बिन्दुपर उसकी ढलान और सीमान्त स्थानापन्नता की दरकी सहायतासे उपयोगिता, सीमान्त उपयोगिता और सीमान्त उपयोगिता के ह्रास नियमके बिनाही मागके सिद्धान्त को खड़ा किया जासकता है।

आय रेखा

मान लीजिए कोई उपभोक्ता अपनी कुल आय केवल दो वस्तुओं 'क' और 'ख' पर व्यय करता है और निम्नलिखित बातोंसे परिचित है :

(१) तटस्थ रेखाचित्र, जो नीचे दिखाया गया है।

(२) कुल आय।

(३) 'क' और 'ख' का बाज़ार-मूल्य।

इस आयसे वह उपभोक्ता 'क' और 'ख' को किस मात्रामें खरीदेगा हम 'क' और 'ख' की उपयोगिताको जाने बिनाही मालूम करसकते हैं।
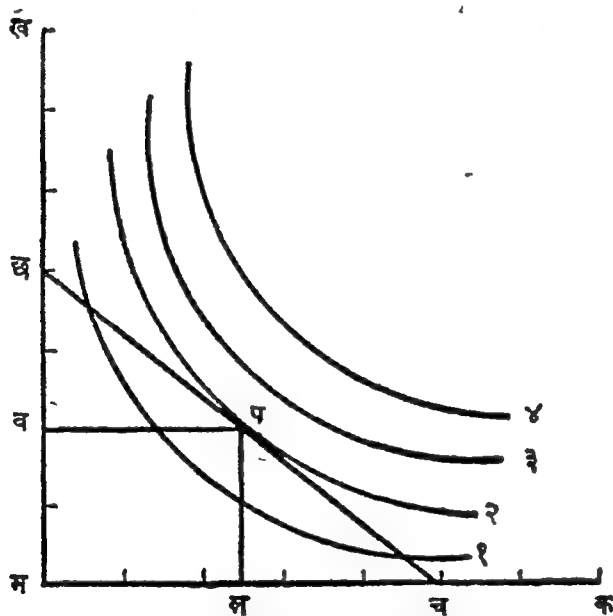
मान लीजिए उपभोक्ता अपनी कुल आयसे केवल 'क' की 'म, च' मात्रा खरीद सकता है और केवल 'ख' की 'म, छ' मात्रा। 'च', 'छ' को मिलानेसे जो रेखा प्राप्त होगी वह चित्रकी किसी एक तटस्थ रेखाको केवल स्पर्श ही करसकेगी। मान लीजिए 'च, छ' रेखा तटस्थ रेखा २ को 'प' पर स्पर्श करती है। 'प' से मुख्य रेखाओंपर 'प, ल' और 'प, व' लम्ब खींचिये। तब अधिकसे अधिक उपयोगिता प्राप्त करनेके लिए वह व्यक्ति 'क' की 'प, व' अथवा 'म, ल' मात्रा और 'ख' की 'प, ल' अथवा 'म, व' मात्रा ख़रीदेगा। 'च, छ' रेखाको आयरेखा कहा जाता है।

आय-उपभोग रेखा

अब मान लीजिए, उस व्यक्तिकी आयमें क्रमशः वृद्धि होती जारही है। यदि बाज़ार भाव वैसेही रहें तो 'प' बिन्दु क्रमशः ऊंची तटस्थ रेखाओंपर चला जायेगा। निम्न चित्रमें तटस्थ रेखा २ और ३ पर 'फ' और 'ब' इस प्रकारके बिन्दु हैं, जिनको मिलाने से 'प,फ,ब' जो रेखा प्राप्त होगी, उसे आय-उपभोग रेखा कहते हैं:
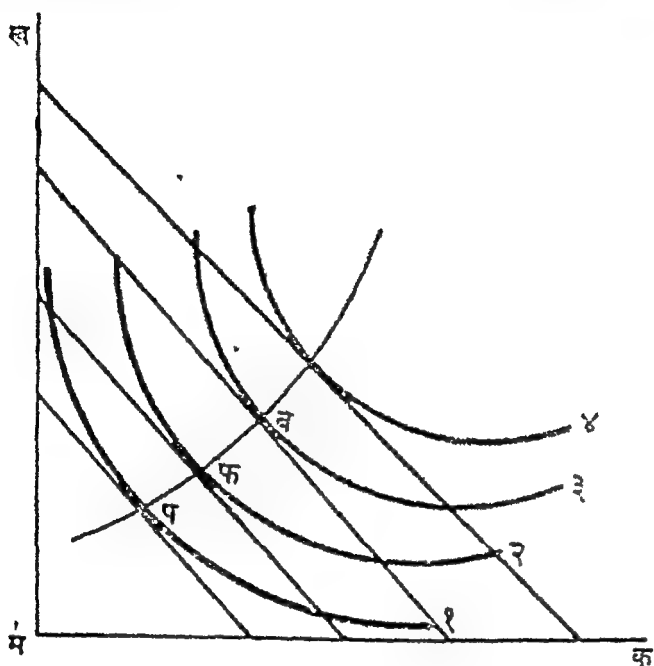
मूल्य-उपभोग रेखा

अब मान लीजिए कि उपभोक्ताकी आय और 'ख' वस्तुके बाज़ार भावमें कोई अन्तर नहीं हुआ है परन्तु 'क' वस्तुका बाजार भाव गिर गयाहै अब वह अपनी कुल आयसे 'ख' वस्तुकी तो पूर्ववत् मात्रा खरीद सकताहै पर 'क' वस्तुकी पहिले से अधिक। आय रेखा भी पहिलेसे अधिक ऊची तटस्थ रेखाको स्पर्श करेगी और जैसे जैसे 'क' का भाव गिरता जायेगा, वैसे वैसे आयरेखा ऊची ऊची तटस्थ रेखाओंको स्पर्श करती चली जायेगी। यही बात सामनेके चित्रमें दिखायी गयी है :
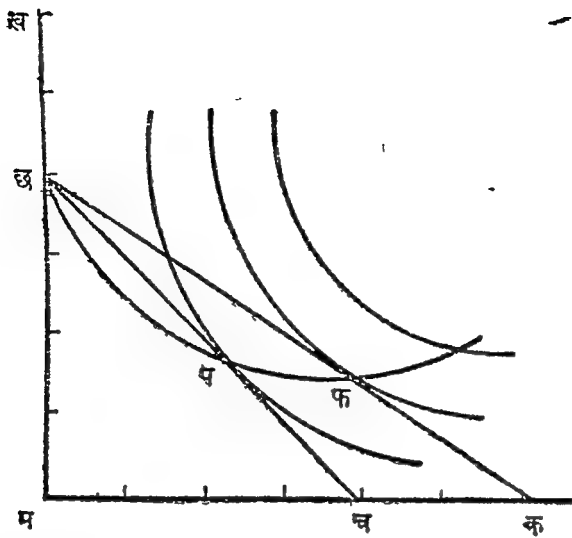
'छ,प,फ' इत्यादिको मिलानेसे प्राप्त होनेवाली रेखाको मूल्य-उपभोग रेखाके नामसे पुकारा जाता है। हमने अबतक केवल दो वस्तुओ 'क' और 'ख' पर विचार किया है। यदि 'क' के अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुओके बाजारभाव निश्चित रहें तो 'ख' वस्तु अन्य वस्तुओका प्रतिनिधित्व कर सकती है और 'ख' का स्थान सामान्य क्रय-शक्ति लेसकती है। तटस्थरेखा तब अन्य सब वस्तुओके स्थानपर 'क' की स्थानापन्नता दरकी द्योतक होजाती है और मूल्य-उपभोग रेखा 'क' की माग रेखाका रूप धारण करलेती है।

स्थानापन्नता की लोच

तटस्थ रेखाके प्रत्येक बिन्दुपर 'क' और 'ख' वस्तुओमें एक विशेष अनुपात होता है। जब हम 'क' की थोडी मात्राके स्थानपर 'ख' की थोडी मात्राको स्थानापन्न करते है तो इस अनुपातमें परिवर्तन आजाता है और स्थानापन्नताकी दरमें भी। वस्तुओके पारस्परिक अनुपातमें होनेवाले परिवर्तनकी मात्राको यदि हम सीमान्त स्थानापन्नताकी दरमें होनेवाले परिवर्तनकी मात्रासे भागदें तो हमें उस विशेष बिन्दुपर 'क' के स्थानपर 'ख' का प्रतिस्थापन करनेकी स्थानापन्नताकी लोच प्राप्त होती है। उदाहरणके लिए नीचे दीगयी तालिकाका पाचवा समूह देखिए। इसमें

४२ आम और पाच केले हैं। केले और आमोंका अनुपात ५:४२ हुआ और सीमान्त स्थानापन्नताकी दर १: ३ हुई। अब एक केलेके स्थानपर एक आम लीजिए। इस हिसाबसे नया अनुपात ४: ४३ होजाता है और नयी सीमान्त स्थानापन्नताकी दर १: ११ हुई।

इसप्रकार वस्तुओंके पारस्परिक अनुपातमें परिवर्तन

$$= \frac{५}{४२} - \frac{४}{४३} = \frac{४७}{१८०६}$$

सीमान्त स्थानापन्नताकी दरमें परिवर्तन

$$= \frac{१}{३} - \frac{१}{११} = \frac{८}{३३}$$

स्थानापन्नताकी लोच $= \frac{४७}{१८०६} \div \frac{८}{३३}$

$$= \frac{४७}{१८०६} \times \frac{३३}{८}$$

$$= \frac{५१७}{४८१६}$$

$= १$(लगभग)

५

बाज़ार

बाजारों के प्रकार

साधारण बोलचालमें बाज़ारसे हमारा अभिप्राय उस स्थानसे होताहै जिस स्थान पर किसी वस्तु अथवा वस्तुओके खरीदने तथा बेचनेवाले एकत्रित होतेहै जैसे फलबाज़ार' सब्जीमडी इत्यादि। अर्थशास्त्रमें बाज़ार किसी विशेष स्थानको नही कहते बल्कि कूर्मा के अनुसार, पृथ्वीका कोईभी छोटा या बडा भाग जिसपर खरीदने और बेचनेवाले इस प्रकार परस्पर व्यवहार कर सकतेहै कि एकही प्रकारकी वस्तुओके मूल्य एकसे ही होते चले जायें, बाज़ार कहा जासकता है। बाज़ारोका उनके विस्तारके अनुसार वर्गीकरण किया जासकता है, जैसे प्रान्तीय बाज़ार, राष्ट्रीय बाज़ार अथवा अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार। बाज़ारोमें जिन वस्तुओका क्रय-विक्रय होता है, उनके अनुसारभी वर्गीकरण किया जासकता है। जैसे गेहूंका बाज़ार, श्रमका बाजार, विदेशी मुद्रा विनिमय बाज़ार, पूजीका बाज़ार, जायदाद का बाज़ार इत्यादि।

बाज़ार शुद्ध अथवा अशुद्धभी होसकते है। शुद्ध बाजारसे हमारा अभिप्राय उस बाज़ारसे है जिसमें:

(१) प्रत्येक ग्राहक और विक्रेता बाज़ार भावसे भलीभाति परिचित होता है।

(२) कोई भी ग्राहक किसीभी विक्रेतासे वस्तु खरीद सकता है।

(३) कोईभी विक्रेता किसीभी ग्राहकको वस्तु बेच सकता है। ऐसी स्थिति में बाजारके पूरे विस्तारपर उस वस्तुका एकही मूल्य होनेकी प्रवृति होगी। कारण यहहै कि यदि कोईभी विक्रेता इससे कम मूल्यपर बेचनेके लिए तैयार हो तो सबके सब ग्राहक उसीसे खरीदेगे, जबतक कि उसका वस्तुसग्रह समाप्त नही होजाता अथवा वह फिर वस्तुका मूल्य नही बढा देता अथवा दूसरे विक्रेताभी मूल्य घटाकर उसके तुल्य नही कर देते। इसी प्रकार यदि कोई विक्रेता अधिक

मूल्य लेनेकी चेष्टा करताहै तो उसके पास कोई ग्राहक न आयेगा, जबतक कि दूसरे विक्रेताओंसे वस्तु कम मूल्यपर मिल सकती हो।

बाजारको अशुद्ध उससमय कहा जाताहै जबकि कतिपय ग्राहक या कतिपय विक्रेता या कतिपय ग्राहक तथा कतिपय विक्रेता बाजार भावसे अनभिज्ञ हो।

शुद्ध बाजार के लक्षण

शुद्ध बाजारके लिए आवश्यकहै कि उसमें क्रय-विक्रय किये जानेवाली वस्तुका भलीभाति वर्गीकरण किया जासके ताकि ग्राहको और विक्रेताओंको सुगमतासे पता चलसके कि वे क्या खरीद अथवा बेचरहे है। यदि एकही वस्तुके दो भिन्न भिन्न वर्ग पृथक पृथक मूल्योपर बिकें तो बाजार अशुद्ध नही होजाता वे दो नमूने वास्तवमें दो भिन्न वस्तुए है। उदाहरणके लिए यदि कैप्स्टन और गोल्डफ्लेक सिगरेटके मूल्य बाजारमें अलग अलग हो तो इससे परिणाम नही निकालना चाहिए कि सिगरेटका बाजार अशुद्धहै क्योकि ये दो प्रकारकी सिगरेटें वास्तवमें दो भिन्न वस्तुए है। वर्गीकरण ग्राहक और विक्रेता दोनोंके लिए लाभदायक होता है और बाजारको विस्तृत करनेमें सहायता देता है। वर्गीकरण द्वारा भविष्य के देन लेनके सौदे करनेमें भी सुगमता प्राप्त होती है। बाजारकी शुद्धताके लिए यातायात और पत्र-व्यवहार इत्यादिके समुचित साधन होनाभी अत्यन्त आवश्यक है। इससे बाजारकी स्थितिका ग्राहको और विक्रेताओंको पता चलता रहता है। टेलीफोन, तार, रेडिओ आदि आविष्कारोके कारण इन साधनोमें बहुत उन्नति हुई है। और इसी प्रकार मोटर, रेल, जहाज इत्यादि यातायातके साधनोमें उन्नतिके कारण बाजार विस्तृत होगये है। विशेपकर कच्चे माल, अनाज इत्यादिके बाजारो का अन्तर्राष्ट्रीय विस्तार होचुका है।

शुद्ध बाजारके लिए यहभी आवश्यक है कि मूल्य प्रतिस्पर्धा द्वारा निश्चित हो। अर्थात् वस्तुओको एक स्थानसे दूसरे स्थानको ले जानेकी पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। परन्तु यदि कर लगानेपर भी किसी वस्तुका कर लगानेवाले देश अथवा प्रान्तमें आयात होता रहे, तो वह देश अथवा प्रान्त उस वस्तुके बाजारका भाग बना रहता है। करके कारण ऐसे देश अथवा प्रान्तमें वस्तुका मूल्य अवश्य

अधिक होगा परन्तु यदि किसी कारणसे वस्तु भेजनेवाले देशमें उसका मूल्य गिर जाताहै तो कर लगानेवाले देशमें वह वस्तु अधिक मात्रामे आने लगेगी और इस कारण वहाभी उस वस्तुका मूल्य गिरने लगेगा। परन्तु यदि उस वस्तुकी सख्या अथवा परिमाणपर नियन्त्रण लगादिये जाये तो नियन्त्रण लगानेवाला देश अथवा प्रान्त बाजारका भाग नही रहता। वह एक स्वतन्त्र वाजार वन जाताहै क्योकि उस देश अथवा प्रान्तमे वस्तुके मूल्यका शेष ससारमें उसी वस्तुके मूल्यसे कोई सम्बन्ध नही रहता।

शुद्ध बाजारके लिए यहभी आवश्यक समझा जाताहै कि वस्तुकी माग अथवा पूर्तिपर किसीभी प्रकारके नियन्त्रण नही होने चाहिए। परन्तु इसका यह अर्थ नहीहै कि मूल्यके कम या अधिक होनेके कारण विक्रेता अथवा ग्राहक वस्तुको बेचने अथवा खरीदनेके लिए विवश किये जायें। वस्तुका मूल्य घटानेकी इच्छा से मागको दवाये रखना अथवा उसका मूल्य बढानेकी इच्छासे वस्तु को बेचने से इन्कार करना कृत्रिम साधन मानेजाते है।

शुद्ध बाजारके प्रत्येक भागमें वस्तुका एकमूल्य होनेसे अभिप्राय केवल वस्तु के वास्तविक मूल्यके एक होनेसे है। बाजारके विस्तृत होनेसे उत्पादनके स्थानसे उपभोगके स्थान तक ले जानेके लिये भाडा देना पडता है। उपभोगके स्थानोके समीप अथवा दूर होनेके कारण भाड़ेके न्यूनाधिक होनेसे मूल्यमें अन्तर होसकता है। वस्तुतः स्थान-भेद एव समय-भेदसे वस्तुही दूसरी होजाती है। स्थान-भेद होनेसे हमें उस वस्तुके मूल्यमें भाडा, बीमा, एक स्थानसे दूसरे स्थानतक ले जानेवाले आढतियाका लाभ इत्यादि जोडना पडता है और समय-भेद होनेसे सग्रहकर्ताका लाभ, सग्रह करने का व्यय इत्यादि जोडना पडता है।

वाजार का विस्तार

वाजारके विस्तृत एव अन्तर्राष्ट्रीय होनेके लिए यह आवश्यकहै कि उसमें वे सब गुण उपस्थित हो जो एक शुद्ध बाजारमें होने चाहिए। परन्तु इसके अतिरिक्त ऐसे बाजारके लिए कुछ औरभी बातोंकी आवश्यकता है। सबसे पहिले तो यह आवश्यकहै कि उस वस्तुका व्यापार बड़े पैमानेपर होता हो। वस्तुकी बनावट और

कोई दूसरीही वस्तु बना देते है। उदाहरणके लिए, जमा हुआ दूध या मांस, ताजे दूध या माससे सर्वथा भिन्न वस्तु है। बैंक तथा साखपत्रोंके विकाससे और तोल-मापके साधनोके प्रमाणीकरणसे भी बाज़ारके विस्तृत होनेमें सहायता प्राप्त हुई है।

श्रम-बाजार

श्रमके बाज़ारभी नाशवान् वस्तुओके बाजारके समान अत्यन्त सकुचित होते है। वस्तुत: भिन्न भिन्न प्रकारके श्रमके लिए भिन्न भिन्न बाजार होते है। विशेषकर कुशल श्रमके बाज़ार तो भिन्न होते ही है। अकुशल श्रमके लिए भलेही एक बाज़ार होता हो, परन्तु श्रमजीवी प्राय: एक स्थानसे दूसरे स्थानको जानेमें हिचकिचाते है। यद्यपि यातायातके साधनोमें उन्नति होनेके कारण श्रमजीवियोके स्थान परि-वर्तनके सम्बन्धमें गति शीलता बहुत बढचुकी है, फिरभी श्रमके बाज़ार बहुत विस्तृत नही होपाये है। श्रमके बाज़ारोके अशुद्ध होनेका कारण यहहै कि श्रम एक अत्यन्तही नाशवान् वस्तु है। यदि एक दिनभी श्रम नही कियाजाता तो वह सदैवके लिए नष्ट होजाता है। श्रमजीवीकी इस स्थितिके कारण एकही प्रकारके श्रमका एकही बाजारमें एकमूल्य नही होता और पहिले बताया जाचुका है कि शुद्ध बाजारके लिए एक वस्तुका एकही मूल्य होना अत्यन्त आवश्यक है।

बाजारों की व्यवस्था

बाजारोकी व्यवस्थाके विषयमें ध्यान देनेकी बातहै कि इस व्यवस्थामें दलालो और सट्टेवालोको बहुत महत्व प्राप्त है। वस्तुओकी निर्माण-विधिको कई भागोमें बाटा जासकता है। कृषि द्वारा अथवा खानोसे निकालकर कच्चामाल प्राप्त होता है। फिर उद्योग-धधों द्वारा इस कच्चे मालसे उपयोगके योग्य वस्तुए निर्माणकी जाती है। फिर इन निर्मित वस्तुओको उपभोक्ताओ तक पहुचानेका प्रबन्ध किया जाता है। प्राचीन कालमें जब वस्तुए कम मात्रामें तैयार होती थी, तो एकही मनुष्य स्वय ही कृषक, उद्योगपति और उपभोक्ता होसकता था। ऐसी परिस्थिति में उत्पादनके एक विभागसे दूसरे विभागमें जानेके लिए विशेष अडचनें न थी। श्रम-विभाजन तथा वस्तु-निर्माण-विधिमें उन्नति होनेके कारण ऐसे लोगोकी

गुणोमें भेद नही होना चाहिए। कारण यहहै कि ऐसा होनेपर वह वस्तु यद्यपि एकही आवश्यकताको सन्तुष्ट करती हो, परन्तु अपने विभिन्न स्वरूपोके कारण प्रत्येक देश एव प्रान्तमें उसका भिन्न भिन्न बाजार होगा। इसीलिए यदि एकही प्रकारकी वस्तुओमें उत्पादक किसीभी व्यापार-चिन्ह इत्यादि द्वारा उपभोक्ताओ के मनमें अन्तर उत्पन्न करनेमें सफल होजायें, तो आधुनिक अर्थशास्त्री उन्हें भिन्न वस्तुए मानेंगे। उनके अनुसार साबुन एक वस्तु नही है, जितनेभी प्रकारके साबुन बाजारमें मिलते है, वे भिन्न वस्तुए हैं। यही कारणहै कि कच्चे मालका विस्तार तो अतर्राष्ट्रीय होताहै परन्तु अर्धनिर्मित वस्तुओके बाजारका विस्तार उनसे कम और पूर्ण निर्मित वस्तुओका उनसेभी कम होता है। इसका कारण यहहै कि विक्रेता कच्चे मालकी अपेक्षा पूर्णनिर्मित अथवा अर्धनिर्मित वस्तुओके सम्बन्धमें ग्राहकोके मनमें विज्ञापन, व्यापार-चातुर्य, व्यापार-चिन्ह इत्यादि प्रकारोंसे पृथकत्वका भाव उत्पन्न करनेमें अधिक सफल होते है।

यदि वस्तुको एक स्थानसे दूसरे स्थानपर सुगमतासे लेजाया जासकता है तो भी उसका बाजार विस्तृत होता है। भारी बोझवाली और कम मूल्यवाली वस्तुओके बाजार प्राय: सकुचित होते है। उदाहरणके लिए कोयले और कच्चे लोहेका मूल्य उसकी तोलके हिसाबसे बहुत कम होता है। अतएव उनको दूर ले जानेके भाडेसे बचनेके लिए इनसे सम्बद्ध उद्योग धंधोको ही ऐसे स्थानोपर खोलते है, जहा इनकी खानें पायी जाती है। एक स्थानसे दूसरे स्थानपर ले जानेकी सुगमता वस्तु विशेष, कितना स्थान घेरती है, इस बात पर निर्भर है। मेज़-कुर्सियो आदिके बाजार प्राय: विस्तृत नही होते क्योकि ये वस्तुए रेलगाडी, जहाज आदि में बहुत जगह घेरती है। और इसकारण भाडा बहुत देना पडता है।

विस्तृत बाजारके लिए वस्तुका चिरस्थायी होनाभी आवश्यक है। फल, फूल, तरकारी इत्यादि वस्तुए बहुत शीघ्र सड-गल जाती है। अतएव साधारणत: उत्पादनके स्थानके आस-पासही इनका बाजार सीमित रहता है। परन्तु वैज्ञानिक साधनो द्वारा इस प्रकारकी नाशवान वस्तुओको सुरक्षित रखनेके ढग निकाले जा रहे है। फल, मास, मछली, दूध तथा दूधसे प्राप्त होनेवाली अन्य चीजोको इन साधनो द्वारा सुरक्षित करके दूरदूर तक भेजाजाता है। परन्तु यहा इतना कहदेना उचित होगा कि ये साधन इस प्रकारकी अनेक वस्तुओको उपभोक्ताओकी दृष्टिमें

कोई दूसरीही वस्तु बना देते हैं। उदाहरणके लिए, जमा हुआ दूध या मास, ताजे दूध या माससे सर्वथा भिन्न वस्तु है। बैंक तथा साखपत्रोके विकाससे और तोल-मापके साधनोके प्रमाणीकरणसे भी बाजारके विस्तृत होनेमें सहायता प्राप्त हुई है।

श्रम-बाजार

श्रमके बाजारभी नाशवान् वस्तुओके बाजारके समान अत्यन्त सकुचित होते हैं। वस्तुत: भिन्न भिन्न प्रकारके श्रमके लिए भिन्न भिन्न बाजार होते हैं। विशेषकर कुशल श्रमके बाजार तो भिन्न होते ही हैं। अकुशल श्रमके लिए भलेही एक बाजार होता हो, परन्तु श्रमजीवी प्राय: एक स्थानसे दूसरे स्थानको जानेमें हिचकिचाते हैं। यद्यपि यातायातके साधनोमें उन्नति होनेके कारण श्रमजीवियोके स्थान परि-वर्तनके सम्बन्धमें गति शीलता बहुत बढचुकी है, फिरभी श्रमके बाजार बहुत विस्तृत नही होपाये है। श्रमके बाजारोके अशुद्ध होनेका कारण यहहै कि श्रम एक अत्यन्तही नाशवान् वस्तु है। यदि एक-दिनभी श्रम नही कियाजाता तो वह सदैवके लिए नष्ट होजाता है। श्रमजीवीकी इस स्थितिके कारण एक्ही प्रकारके श्रमका एकही बाजारमें एकमूल्य नही होता और पहिले बताया जाचुका है कि शुद्ध बाज़ारके लिए एक वस्तुका एक्ही मूल्य होना अत्यन्त आवश्यक है।

बाजारों की व्यवस्था

बाज़ारोकी व्यवस्थाके विषयमें ध्यान देनेकी बातहै कि इस व्यवस्थामें दलालो और सट्टेवालोको बहुत महत्व प्राप्त है। वस्तुओकी निर्माण-विधिको कई भागोमें बाटा जासकता है। कृषि द्वारा अथवा खानोसे निकालकर कच्चामाल प्राप्त होता है। फिर उद्योग-धधो द्वारा इस कच्चे मालसे उपयोगके योग्य वस्तुए निर्माणकी जाती है। फिर इन निर्मित वस्तुओको उपभोक्ताओ तक पहुचानेका प्रबन्ध किया जाता है। प्राचीन कालमें जब वस्तुए कम मात्रामें तैयार होती थी, तो एकही मनुष्य स्वय ही कृषक, उद्योगपति और उपभोक्ता होसकता था। ऐसी परिस्थिति में उत्पादनके एक विभागसे दूसरे विभागमें जानेके लिए विशेष अडचनें न थी। श्रम-विभाजन तथा वस्तु-निर्माण-विधिमें उन्नति होनेके कारण ऐसे लोगोकी

आवश्यकता हुई जो वस्तुको उत्पादकसे उपभोक्ता तक पहुंचानेका प्रबन्ध करें। ये लोग व्यापारी, दलाल इत्यादि है। साधारणतः यह समझा जाताहै कि इस प्रकारके लोग अथवा संस्थाएं आर्थिक दृष्टिसे आवश्यक नही है। इनका काम केवल इतनाहै कि उत्पादकको मिलनेवाले मूल्य और उपभोक्ता द्वारा दियेगये मूल्यमें अधिकसे अधिक अन्तर डाल दें परन्तु इस प्रकारके विचारमें कोई सार नही है। ये व्यापारी और दलाल उत्पादन-पद्धतिके आवश्यक अंग है। उत्पादनके एक विभागसे दूसरे विभागमें वस्तुओंका पहुंचाना इनका विशेष कार्य है। इस कार्यके विशेषज्ञ होनेसे ये लोग इसको अधिक कुशलतासे कर पाते है। इनके न होनेपर बडे परिमाणमें उत्पत्तिका होना असम्भव होजाता है। सम्भव है बहुतसे व्यापारी और दलाल निरर्थक हो, उनके न होनेसे उत्पत्तिमें तनिकभी बाधा न पडतीहो और उनके होनेसे उपभोक्ताओंको अकारणही उपभोगकी वस्तुओंका अधिक मूल्य देना पडता हो, पर इस दोषका आरोपण उनके अस्तित्व पर नही, बाहुल्य पर किया जासकता है। आजकल बडी बडी संस्थाए कच्चे मालकी खरीद और निर्मित वस्तुओंकी बेचका कार्य इन लोगो द्वारा करानेके स्थानपर स्वयही करलेती है। परन्तु ऐसी सस्थाओंकी सख्या ससार भरमें बहुत थोड़ी है।

सट्टा

इसीप्रकार सट्टा करनेवालेभी इतने घृणाके पात्र नही जितना कि हम उन्हें समझते है। सच बाततो यह है कि आधुनिक उत्पादन-विधिकी नीवही सट्टा है। वस्तुओंकी मागके अनुमानके आधारपर उत्पादन-क्रिया प्रारम्भ होती हैं। उद्योगपति जनताकी आवश्यकताओ का अनुमान करके ही ऐसी वस्तुए निर्माण करता है, जो उसके विचारमें जनता द्वारा उपभोगकी जायेंगी। ऐसी वस्तुओंकी सख्या अथवा मात्राका भी पहिलेसे ही वह अनुमान करलेता है। कभी कभी तो वह नितान्त नयी वस्तुए इस आशासे निर्माण कर बैठताहै कि उनके बाजारमें आनेपर उनके लिए मांग पैदा होजायेगी। यह सब सट्टा नही तो और क्या है। परन्तु इस सट्टेकी जोखिम आज-कल केवल उत्पादकको ही नही उठानी पड़ती बलिक व्यापारी और सट्टेबाज लोग उसकी सहायता करते है।

सट्टेके कार्यका सर्वोत्तम लाभ यहहै कि इस क्रिया द्वारा वस्तुओंके मूल्यमें

स्थिरता बनी रहती है, अधिक अस्थिरता नही होने पाती। ये लोग जब किसी वस्तुकी पूर्तिमें न्यूनता और उसके कारण उसके मूल्य बढनेका अनुमान लगाते है तो उस वस्तुके पहिलेही भविष्यमें खरीदनेके सौदे करना आरम्भ कर देते हैं। इसप्रकार मागमें वृद्धि होनेके फलस्वरूप उस वस्तुका मूल्य वर्तमानमें ही बढना आरम्भ होजाता है और उसमें आकस्मिक वृद्धि नही होपाती। इसी प्रकार जब ये लोग किसी वस्तुके मूल्यके गिरनेका अनुमान लगातेहै तो उस वस्तुके भविष्यमें बेचनेके सौदे करलेते है। उनके इस कार्य द्वारा, पूर्तिमें वृद्धि होनेके कारण उस वस्तुका मूल्य वर्तमानमें ही गिरना आरम्भ होजाता है। उदाहरणके लिए मान लीजिये कि गेहूंका वर्तमान भाव १५ रुपये प्रतिमन है और सट्टा करनेवालो ने अपने अनुभव और निपुणताके आधारपर यह अनुमान किया कि ससारके प्रसिद्ध गेहू उत्पन्न करनेवाले प्रदेशोमें किसी प्राकृतिक सकटके कारण गेहूकी उत्पत्तिके परिमाणमें कमी आनेकी और फलस्वरूप उसका मूल्य १७ रुपये प्रतिमन होनेकी सम्भावना है। ऐसी परिस्थितिमें वे सट्टेवाले लोग जो चढते बाजारसे लाभ कमानेकी चेष्टा करतेहैं, गेहूके वर्तमान मूल्यपर भविष्यमें गेहू खरीदनेके लिए अपनेको समनुबद्ध करलेते है। इनकी इस प्रकारकी मागमें वृद्धिके कारण गेहूके मूल्यमें वर्तमान कालसे ही वृद्धि होने लगती है। यदि इन लोगोका अनुमान ठीक निकला और गेहूका मूल्य समनुबन्ध अवधिकी समाप्ति पर १७ रुपये प्रतिमन हो गया तो सट्टेवाले पूर्व निर्धारित मूल्य १५ रुपयेके भावसे गेहू मोल लेकर १७ रुपये प्रतिमनके हिसाबसे बेचकर २ रुपये प्रतिमन लाभ कमा लेते हैं। इस प्रकरणमें हम यहभी बता देना चाहतेहै कि यह आवश्यक नही कि वस्तुत गेहूका हस्तान्तरण हो। ऐसा होसकता है और प्राय होता भी है कि गेहूके बिना बाजारमें आयेही २ रुपये प्रतिमनके हिसाबसे इन सट्टेवालोको रुपये मिल जायें।

इसीप्रकार यदि गेहूंका भाव भविष्यमें १५ रुपयेसे गिरकर १३ रुपये प्रतिमन होनेकी सम्भावना हो तो इस प्रकारके सट्टेवाले जो गिरते भावसे लाभ कमानेकी चेष्टा करते है, वर्तमान मूल्यपर भविष्यमें गेहूं बेचनेके लिए अपनेको समनुबद्ध करलेते है। अवधि समाप्तिपर यदि भाव १३ रुपये प्रतिमन होगया तो वे इस भावपर गेहू मोल लेकर पूर्व-निर्धारित १५ रुपयेके हिसाबसे बेचलेते है और २ रुपये प्रतिमन लाभ कमा लेते है।

इस भावी क्रय-विक्रयसे उनका अभिप्राय तो होताहै मूल्यकी घट-बढ़से लाभ उठाना। परन्तु उनके इस स्वार्थ-सिद्धि के कारणसे मूल्योंमें स्थिरता आजाती है और सारे समाजका कल्याण होजाता है। उत्पादकोंकी तो विशेष रूपसे इन लोगो द्वारा सेवा होती है। मूल्योंकी स्थिरता तो उत्पत्तिके लिए परमावश्यक है ही, पर ये लोग उसकी बहुत कुछ जोखिम अपने ऊपर ले लेते है। थोक विक्रेता फुटकर विक्रेताओं द्वारा उपभोक्ताओंकी मागका अनुमान लगाताहै और उस अनुमानके आधारपर उत्पादकोंसे माल खरीदनेका सौदा करता है। इसीप्रकार उत्पादक इन लोगोसे भविष्यमें कच्चा माल खरीदनेका सौदा करलेते है, जिसके कारण उन्हे वस्तु-निर्माणकी सामग्रीके मूल्यमें आकस्मिक अस्थिरताका भय नही रहता।

सट्टेका कार्य सदा अच्छा नही होता, विशेषकर अनभिज्ञ सट्टे वालोका। सट्टे वालोमें मूल्योके घटने-बढनेका ठीक अनुमान करनेकी योग्यता होनी चाहिये। अन्यथा यदि उनके अनुमान सर्वथा उल्टे निकलेंगे तो मूल्योमें स्थिरताके स्थान पर और अधिक अस्थिरता आनेकी आशका होजायगी। सट्टे वालोके पास पर्याप्त पूजीका होना अत्यन्त आवश्यक है; क्योकि ऋणशोधनकी क्षमता न रहनेसे अन्य लोगो पर बुरा प्रभाव पडता है। सट्टेका कार्य जब केवल लाभ उठानेके उद्देश्यसे ही किया जाये, तो होसकता है वह समाजके लिए हानिकारक हो। कभी कभी ये लोग किसी वस्तुकी पूर्ति पर एकाधिकार जमानेके लिए उस वस्तुको खरीदते ही चले जाते है। इनकी इस कृत्रिम मागके कारण उस वस्तुके मूल्यमें कृत्रिम वृद्धि होती चली जाती है। यदि वह वस्तु जीवनके लिए आवश्यक वस्तुओमेंसे हो, तो इस कृत्रिम मूल्य-वृद्धि के कारण समाजको कष्ट सहन करना पडता है।

६

प्रतिस्पर्धा

प्रतिस्पर्धा का अर्थ

प्रतिस्पर्धाका वर्तमान आर्थिक जीवनमें अत्यधिक महत्व है। प्रतिस्पर्धा बाजार मूलक अर्थ-व्यवस्थासे सम्बन्ध रखती है। ऐसी अर्थ-व्यवस्थामें जिसमें उत्पादन केवल आवश्यकता-पूर्तिके लिए होता हो, प्रतिस्पर्धा का विकास असम्भव है। प्रतिस्पर्धाका अर्थ यहहै कि वस्तुओके क्रय-विक्रयमे प्रत्येक व्यक्तिको पूरा अधिकार और सुविधाहो कि वह चाहे जिससे सौदा निश्चित करे। पर प्रतिस्पर्धाकी यह व्याख्या केवल आर्थिक दृष्टिकोणसे कीगयी है। यह उस अवस्थाकी ओर सकेत करतीहै जिसमें प्रत्येक आर्थिक क्रियामें बहुतसे व्यक्ति हो और प्रत्येकको अपने उद्देश्यो को इच्छित रीतिसे पूर्ण करनेका उतनाही अधिकारहो जितना दूसरेको। इस प्रकार एक उत्पादक न होकर कई उत्पादक हो और प्रत्येकको अपनी इच्छानुसार मितव्ययी रीतिसे अपनी उत्पादन-योजनाको पूरी करनेका अधिकार और सुभीता हो। इसी प्रकार् बाजारमें बहुतसे विक्रेता और बहुतसे ग्राहक हो और वे जहाभी अपना सार्वजनिक लाभ देखें, वही क्रय-विक्रय करसकें। यही बात प्रतिस्पर्धा पद्धतिमें आय तथा उत्पादन सम्बन्धी सेवाओके उपयोगके विषयमे भी ठीक है। श्रमिक इच्छानुसार जहाभी चाहे, नौकरी कर सकताहै और उत्पादक अनेक श्रमिकोंमें से जिसको चाहे उत्पादनमें लगा सकता है। व्यक्तियोकी आयभी इसी पद्धतिपर निर्धारित होगी। कई प्रकारके उद्यमोमें से जो जहापर जितना उपार्जन करले, वही उसकी आय होगी अर्थात् आय व्यक्तियोकी श्रम-शक्ति तथा अन्य गुणोपर निर्भर होगी। लेकिन इस श्रम-शक्ति और गुणोका मूल्य बाजारमें सापेक्षिक माग और पूर्ति द्वारा निश्चित होगा।

अर्थशास्त्रमें पूर्ण और अपूर्ण दो प्रकारकी प्रतिस्पर्धा मानी जाती है। दो बातों के होनेसे प्रतिस्पर्धा पूर्ण मानी जाती है। पहिली यहहै कि प्रतिस्पर्धाका सिद्धान्त

वाजारपर आश्रितहै, इसलिए पूर्ण और स्वतन्त्र वाजार तो पूर्ण प्रतिस्पर्धा का अनिवार्य आधार है। उत्पादनके साधनों तथा अन्य आर्थिक उपकरणोंकी गतिपर किसी प्रकारका कोई प्रतिवन्ध न हो। दूसरी यह कि उद्योग संस्थाओंमें अथवा उपभोक्ता वर्गमें कोई इतना वडा या प्रभावशाली न हो कि क्रय-विक्रय सम्बन्धी केवल उसके निश्चयका कोई प्रभाव प्रचलित मूल्योंपर पडे।

पहिली शर्तका अभिप्राय यहहै कि गति स्वतन्त्र होनेके कारण प्रत्येक अपनी शक्ति और योग्यताके अनुसार अधिकसे अधिक आयवाला साधन प्राप्त कर सकता है। इसका यहभी अर्थहै कि प्रत्येक साधन निरन्तर विभाज्य हो नही तो उसका उपयोग अनेक प्रकारसे नही हो सकेगा। इसीलिए एक उपयोगसे दूसरे उपयोगमें उसका स्थानान्तरभी अत्यन्त कठिन होगा। गतिशीलता प्रतिवन्ध-रहित हो। यह पूर्ण प्रतिस्पर्धामें आवश्यक इसलिए है कि विना इसके सवको समान रूपसे साधन प्राप्तिके लिए प्रयत्न करनेका अवसर नही मिलेगा। पूर्ण प्रतिस्पर्धाके लिए यहभी आवश्यकहै कि आर्थिक लाभके अवसरोंके सम्वन्धमें सभी प्रतिस्पर्धियोंकी जानकारी वरावर हो और उस जानकारीको व्यवहारमें लानेके लिए आवश्यक है आर्थिक शक्तिका समान रूपसे वितरित होना।

दूसरी शर्तका अभिप्राय यहहै कि किसीभी प्रतिस्पर्धीके पास इतने अधिक साधन और अधिकार न हो कि या तो औरोको अपनी प्रतिस्पर्धामें आनेही न दे या उनके लिए प्रतिस्पर्धाकी दशाए वदल दे। इसका यह अर्थ नहीहै कि माग और पूर्तिका सिद्धान्त काम न करे। मूल्य, माग और पूर्ति परही आश्रित होगा और उपभोक्ता-ओकी मागमें परिवर्तनो तथा उद्योगपतियोकी प्रतिस्पर्धाके अनुरूप उसमें परिवर्तन भी होगे पर पूर्ण प्रतिस्पर्धामें किसी एक व्यक्तिकी माग या पूर्तिकी योग्यताके द्वारा उसपर कोई प्रभाव नही पडेगा क्योकि सवको समानरूपसे प्रयत्न करनेका अवसर मिल सकता है अन्यथा अन्य लोगोके लिए प्रतिस्पर्धाकी दशाए और उनकी योग्यताए वदल जायेंगी। इसका फल यह होगा कि पूर्ण प्रतिस्पर्धामें छोटे आकार की सस्थाए ही उचित होगी।

पूर्ण प्रतिस्पर्धाका यहभी अर्थ हुआ कि प्रत्येक आयवाला व्यक्ति और उद्योगपति अपनी आय तथा उत्पादनके साधनोका चाहे जिसप्रकार उपयोग करे अथवा न करे किन्तु इन निश्चयोपर यदि किसी प्रकारके प्रतिवन्ध है तो प्रतिस्पर्धा अपूर्ण है।

यदि उत्पादन पूर्ण प्रतिस्पर्धाके आधारपर होरहा है, तो उसका लक्षण यह होगा कि औसत व्यय और सीमान्त व्यय दोनो बराबर होगे। इसका कारण यह है कि यदि किसी सस्थाका सीमान्त व्यय औसत व्ययसे अधिकहै तो कुछ अन्य व्यापारी कम मूल्यपर बेचना आरम्भ करेंगे और फिर सबको वही मूल्य मानना पडेगा। अन्ततोगत्वा ऐसी उद्योग-संस्था या तो सीमान्त व्यय कम करेगी या नष्ट हो जायेगी। परन्तु यदि सीमान्त व्यय औसत व्ययसे कमहै तो उद्योग सस्थाका प्रसार होगा और प्रतिस्पर्धाका नियम है कि कोई सस्था बडी नही होसकती। यह नियम पूरा इसप्रकार होता है कि उत्पादन कार्य कम होनेके कारण उस उद्योगमें साधनो की माग बहुत अधिक होजाती है और इसप्रकार व्यय बढने लगता है। अन्तमें औसत व्यय सीमान्त व्ययके समान होनेपर ही पूर्ण आर्थिक व्यवस्था साम्यावस्था में होगी।

यहभी कहा जाताहै कि पूर्ण प्रतिस्पर्धा मूलक अर्थ-व्यवस्थामें उपभोक्ताका प्रभुत्व होता है। ऐसा कहनेका तात्पर्य यहहै कि प्रतिस्पर्धा मूलक व्यवस्थामें उत्पादन बाज़ारके लिए होता है। इसलिए उद्योगपतियोके सारे निश्चय उपभोक्ताओकी मागपर निर्भर रहते हैं। इसप्रकार अन्ततोगत्वा किस वस्तुका और किस परिमाणमें उत्पादन होगा, यह उपभोक्ताही निश्चित करताहै और इस विषयमें उसे पूर्ण स्वतन्त्रता है।

पूर्ण प्रतिस्पर्धा के फल

यदि औसत और सीमान्त आय बराबर हो तो पूर्ण प्रतिस्पर्धाका फल यह होगा कि सभी उद्योग-सस्थाए सर्वोत्तम आकारकी होगी। उत्पादक साधनोकी विभिन्न उपयोगोमें वितरणकी प्रवृत्तिभी सर्वोत्तमताकी ओर होगी। इसप्रकार पूर्ण प्रतिस्पर्धा में उत्पादन अधिक से अधिक होसकता है। इसीप्रकार व्यय और मूल्यकी कमसे कम होनेकी प्रवृत्ति होगी।

सर्वाधिक उत्पादन होनेका कारण यहहै कि उपभोक्ता पूर्ण प्रतिस्पर्धामें अपनी आयका वितरण समसीमान्त उपयोगिताके नियमानुसार करताहै, इसलिए उपभोग के आधारपर साधन वितरण होनेके कारण प्रत्येक साधनका उसी उद्योगमें उप-

योग किया जाताहै, जहा वह सबसे अधिक उत्पादक हो।

आधुनिक अर्थशास्त्री पूर्ण प्रतिस्पर्धाको कल्पनामात्र ही मानते है। व्यवहारमें पूर्ण प्रतिस्पर्धाका अभावहै, क्योंकि उसकी शर्तें ऐसीहै जो एकतो पूरीभी नही हो सकती और दूसरे वे परस्पर विरोधी है। सबको जानकारी पूरी हो, गतिशीलता पर कोई प्रतिबन्ध न हो, साधन निरन्तर विभाज्य हो तो उत्पादन विस्तृत क्षेत्रपर करनेके लिए प्रतिस्पर्धा हो ही नही सकती। साधनभी निरन्तर विभाज्य हो ही नही सकते।

पूर्ण प्रतिस्पर्धा और एकाधिकार

जब एकही व्यक्ति अथवा उद्योग-संस्था उत्पादन और पूर्ति सम्बन्धी अपने निश्चयों द्वारा मूल्यमें परिवर्तन कर सकतीहै अथवा मूल्य निर्धारित कर सकतीहै तो उसे एकाधिकारकी अवस्था कहते है। यदि इस प्रकारकी कई उद्योग संस्थाएं हो और प्रतिस्पर्धा उनके बीचमें हो तो उसे एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा कहेंगे। जब बाजार अशुद्ध हो, पूर्ण प्रतिस्पर्धा की शर्तें पूरी न होरही हो तब हम उसे अपूर्ण प्रतिस्पर्धा कहेंगे। एकाधिकारात्मक और अपूर्ण प्रतिस्पर्धा बहुत कुछ पर्यायवाची शब्दहै और विद्वानोने कुछ दिनोतक इन दो शब्दोको एकही अर्थमें प्रयुक्त किया है। यद्यपि मतभेदोके प्रवर्तक अब इनमें भेद करने लगे है।

एकाधिकार इस अर्थमें कि केवल एकही विक्रेता अथवा उत्पादक हो और वह मनमाना मूल्य निश्चित करे, बहुत कम पाया जाता है। पूर्ण एकाधिकार उस अवस्थामें हो सकता है, जब किसी वस्तु विशेषके स्थानापन्नोका पूर्णतया अभावहो तथा वह लोगोके लिये अत्यन्त आवश्यक हो, ऐसा सयोग अलभ्य-सा है। सभी वस्तुओ की प्राप्ति ससारके अनेक भागोमें है और यातायातके साधन सुलभ होनेके कारण एक भागकी वस्तुका मूल्य दूसरे भागके मूल्यसे स्वतन्त्र नही रखा जासकता। फिर प्रत्येक वस्तुका कोई न कोई स्थानापन्न मिलही जाता है। इसकारण प्राकृतिक एकाधिकार कठिन है। कुछ वस्तुए अवश्य ऐसीहै जो एकही स्थानपर या कुछ थोडे से स्थानो पर मिलती है पर उनकी स्थानापन्न वस्तुए है।

एकाधिकारके मार्गमें यही दो कठिनाइया है। एकतो वस्तुकी पूर्ण पूर्तिपर

अधिकार और दूसरी उसकी मागपर पूर्ण अधिकार। यहांपर हम फिर स्मरण करायेंगेकि अर्थशास्त्रमें एकाधिकार अथवा एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धाका महत्व मुख्यतया पूर्तिपर अधिक अधिकारकी दृष्टिसे नही है वरन् व्यापारीकी मूल्य पर शक्तिकी दृष्टिसे है। चूकि मूल्य निश्चित होनेमें पूर्तिका भी भाग होताहै, इस लिए पूर्तिके एक बडे भागपर अधिकारभी आवश्यक होजाता है। पर मूल्य केवल पूर्तिही नही निश्चित करती इसलिए माग परभी कुछ अधिकार होना आवश्यक है।

उत्पत्ति विभेदीकरण

पूर्ति पर एकाधिकार पानेके लिए जिस उपायका अधिकतर आश्रय लियाजाता है, उसे उत्पत्ति विभेदीकरण कहते है। इसके अतिरिक्त विक्रय सेवाए भी एक अच्छा उपाय है। कभीतो यह उपाय उत्पत्ति विभेदीकरणका एक अगमात्र होताहै पर उससे स्वतन्त्र भी इस उपायका प्रयोग होता है।

उत्पत्ति विभेदीकरणका तात्पर्य यहहै कि किसी वस्तुका नाम बदलकर उसे एक भिन्न वस्तु बनाकर बेचा जाय। उदाहरणके लिए सिगरेट अथवा चाय लीजिए। सिगरेट कई प्रकारकी मिलती है—कैप्सटेन, कैंची, गोल्डफ्लेक इत्यादि। इसी प्रकार लिप्टन, ब्रुकबौन्ड, नीलगिरी आदि अनेको प्रकारकी चाय बिकती है और इनमेंभी बहुतसे उपभेद होते है। अब खाद्य या पेय वस्तुकी दृष्टिसे इन अनेक प्रकारकी चायो अथवा सिगरेटोमें कोई विशेष अन्तर नहीहै पर नाम भिन्नहोनेके कारण ये भिन्न भिन्न वस्तुए मानी जाती है और इनके मूल्य पृथक पृथक होते है। अब यदि इनको अलग वस्तु मान लिया जाये तो पेटेंट और व्यापार चिह्न सम्बन्धी नियमोके अनुसार इन्हें बनानेवाली कम्पनिया एकाधिकारी हुई और इसप्रकार इन कम्पनियोमें परस्पर प्रतिस्पर्धा एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा होगी। यहा स्मरण रखना चाहिए कि उत्पत्ति वहीहै अथवा भिन्न। इसकी कसौटी स्थानापन्नताकी लोच है। यदि दो विभेदीकृत वस्तुओके मूल्योमें परिवर्तनके फलस्वरूप एक वस्तु दूसरे के स्थानपर ग्रहण करली जाय तो अर्थशास्त्रकी दृष्टिसे वे एक दूसरीसे भिन्न नही है। इनके गुण, नाम इत्यादिमें अन्तर हो अथवा न हो। पर यदि इस प्रति-स्थापनमें कठिनाईहै तो जितनी अधिक कठिनाई होगी, उसीके अनुसार वे वस्तुएं

एक दूसरे से उतनी भिन्न मानी जायेंगी। उत्पत्ति विभेदीकरण अधिकतर विज्ञापन द्वारा किया जाता है। उपभोक्ताओंकी मनोवृत्ति, इच्छाओं और रुचियोंका अध्ययन अथवा अनुमान करके उनके मनमें यह बैठा दिया जाता है कि विभिन्न नामोंसे बिकनेवाली वस्तुएं वास्तवमें एक दूसरेसे भिन्न हैं और उनके मूल्योंका अन्तर उनके गुणों अथवा उपयोगिताके अन्तरका परिचायक है। विज्ञापनके अतिरिक्त कुछ थोड़ेबहुत बहिरंग अन्तरभी पैदा किये जाते हैं। पर उद्देश्य यह होताहै कि ग्राहक यह विश्वास करले कि लिप्टन और ब्रुकबोंड चाय परस्पर इतनी भिन्न है कि एक के स्थानपर दूसरीका उपयोग हो ही नहीं सकता। यह काम अधिकतर कुशल और निरन्तर विज्ञापन द्वारा होताहै और जहा तक व्यापारीको इसमें सफलता मिलती है अर्थात् जहा तक वह स्थानापन्नताकी लोच घटा सकताहै, वहीं तक उत्पत्ति विभेदीकरण भी होपाता है।

वस्तुके साथ कुछ सेवाएं जोडकरके भी उन्हें दूसरी वस्तुओंसे भिन्न बनाया जाता है। बिना मूल्यके वस्तुको घरतक पहुचा देना अथवा मरम्मत करदेना इत्यादि इन सेवाओंके उदाहरण है। ग्राहकोंकी इच्छानुसार विक्रय-समय निश्चित करना तथा दूकानमें अनेक प्रकारकी सुविधाओंका उपलब्ध करना भी इस उद्देश्यको पूरा करसकते है। इस सम्बन्धमें सबसे सामान्य सिद्धान्त न्यूनतम विभेदीकरणका है। उद्योगी और व्यापारी अपनी वस्तुओंको इतनी अधिक भिन्न नही बनाते कि उन्हें उसके लिए नई माग उत्पन्न करनी पडे अथवा पूर्तिके लिए नये साधन सग्रह करने पड़ें। उनका उद्देश्य मागको अपनी ओर मोड लेना होता है। एकाधिकारका आधार सदैव उत्पादन सकुचन द्वारा मूल्यपर प्रभाव डालना होताहै और यह माग की दीहुई दशाओंमें ही सार्थक होसकता है। इसकारण प्रत्येक उत्पादकका यह उद्देश्य होगा कि उसकी वस्तु और उसके प्रतिस्पर्धियोंकी वस्तुमें कमसे कम अन्तर हो पर वह अन्तर ऐसा हो कि उपभोक्ता उसकी वस्तुको अधिक अच्छी समझे और उसी प्रकारकी अन्य वस्तुओंकी अपेक्षा उसे खरीदनेके लिए अधिक उत्सुक हो।

मूल्य-भेद

प्रतिस्पर्धामें एकाधिकार प्राप्त करनेका दूसरा उपाय मूल्य-भेद है। विभिन्न वर्गों,

आय और स्थानोके व्यक्तियोमें, माग की लोच विभिन्न होती है। कुछ लोग सस्ती वस्तु खरीदतेहै तो कुछ महगी। सबसे अधिक परिमाणमें बेचनेका उपाय यहहै कि वस्तुका मूल्य सदैव बाजारमें प्रचलित मांगके अनुसार हो। एकही वस्तुको कई मूल्योपर बेचनेका उद्देश्य विभिन्न मागोकी लोचका लाभ उठाना होता है। धनिक वर्गके लिए प्राय दूसरे दाम बताये जाते है। चूकि धनी लोग सस्ते बाजारोमें अधिकतर नही जाते इसलिए ऐसा कर सकना सम्भव होता है। रेलवे कम्पनिया प्राय. भिन्न भिन्न वस्तुओके लिए अलग अलग भाडेकी दर नियत करती है। कभी कभी भिन्न भिन्न वर्गोके लिए अलग अलग मूल्य नियत कर दिये जातेहै; क्योंकि इनमें वर्गगत अभिमानके कारण परस्पर प्रतिस्पर्धा नही होती। उसका लाभ उठाकर उत्पादक प्रत्येककी आर्थिक शक्तिके अनुसार मूल्य नियत करतेहै न कि सीमान्त ग्राहककी मागके आधार पर। उपयोग-भेदसे भी मूल्य-भेद स्थापित करके लाभ उठाया जासकता है। गृहकार्यके लिए कम विद्युत शक्तिकी आवश्यकता होती है। इसीलिए गृहस्थोसे उस शक्तिके लिए अधिक दर नियतकी जासकती है। औद्योगिक कार्योमें अधिक मात्रामें विद्युत् शक्ति व्यय होती है, इस कारण उद्योगी लोग अधिक दर माननेके लिए तैयार न होगे। इसलिए उनके लिए नीची दर नियतकी जाती है। इस प्रकार ऊचे नीचे दोनो दामोपर अधिकसे अधिक विक्रय-होसकता है। स्थान भेदसे भी मूल्यमें भेद होता है। ग्रामो और नगरोमें पृथक् पृथक् मूल्य उसी वस्तुके लिए बडी बड़ी उद्योग-सस्थाए रख सकती है। डम्पिगकी प्रथा स्थान-गत मूल्य-भेदका बहुतही प्रसिद्ध और चरम उदाहरण है। अपने देशमें तो किसी उद्योगपतिका उस उद्योगमें सर्वाधिक अधिकार हो पर अन्य देशोमें उसे कोई अधिकार न प्राप्त हो। इस स्थितिमें वह अपनी बिक्री अन्य देशोमें कमसे कम, उत्पादन-व्ययसे भी कम मूल्यपर बेचकर बढा सकता है। इस प्रकार उसे जो हानि होगी उसे अपने देशमें अत्यधिक मूल्य नियत करके पूरा करसकता है। इस मूल्यपर उसकी वस्तु कुछ कम बिकेगी पर बिक्रीकी यह कमी वह अन्य देशोमें बहुत अधिक बेचकर पूरी कर लेता है।

काल-गति मूल्य-भेदका सबसे उत्तम और प्रसिद्ध उदाहरण पुस्तकोके भिन्न सस्करणोके लिए पृथक् पृथक् मूल्य नियत करना है। जिस समय पुस्तक प्रकाशित होतीहै, उस समय नवीनताके कारण पहिले लेनेकी इच्छाके कारण बहुतसे व्यक्ति

एक दूसरे से उतनी भिन्न मानी जायेंगी। उत्पत्ति विभेदीकरण अधिकतर विज्ञापन द्वारा कियाजाता है। उपभोक्ताओंकी मनोवृत्ति, इच्छाओं और रुचियोंका अध्ययन अथवा अनुमान करके उनके मनमें यह बैठा दियाजाता है कि विभिन्न नामोंसे विकनेवाली वस्तुए वास्तवमें एक दूसरेसे भिन्न है और उनके मूल्योंका अन्तर उन के गुणों अथवा उपयोगिताके अन्तरका परिचायक है। विज्ञापनके अतिरिक्त कुछ थोडेबहुत वहिरंग अन्तरभी पैदा कियेजाते है। पर उद्देश्य यह होताहै कि ग्राहक यह विश्वास करले कि लिप्टन और ब्रुकबौंड चाय परस्पर इतनी भिन्न है कि एक के स्थानपर दूसरीका उपयोग हो ही नही सकता। यह काम अधिकतर कुशल और निरन्तर विज्ञापन द्वारा होताहै और जहा तक व्यापारीको इसमें सफलता मिलती है अर्थात् जहा तक वह स्थानापन्नताकी लोच घटा सकताहै, वही तक उत्पत्ति विभेदीकरण भी होपाता है।

वस्तुके साथ कुछ सेवाए जोडकरके भी उन्हें दूसरी वस्तुओंसे भिन्न वनाया जाता है। विना मूल्यके वस्तुको घरतक पहुचा देना अथवा मरम्मत करदेना इत्यादि इन सेवाओंके उदाहरण है। ग्राहकोंकी इच्छानुसार विक्रय-समय निश्चित करना तथा दूकानमें अनेक प्रकारकी सुविधाओंका उपलब्ध करना भी इस उद्देश्यको पूरा करसकते है। इस सम्वन्धमें सवसे सामान्य सिद्धान्त न्यूनतम विभेदीकरणका है। उद्योगी और व्यापारी अपनी वस्तुओंको इतनी अधिक भिन्न नही बनाते कि उन्हें उसके लिए नई माग उत्पन्न करनी पडे अथवा पूर्तिके लिए नये साधन संग्रह करने पड़ें। उनका उद्देश्य मागको अपनी ओर मोड लेना होता है। एकाधिकारका आधार सदैव उत्पादन सकुचन द्वारा मूल्यपर प्रभाव डालना होताहै और यह माग की दीहुई दशाओंमें ही सार्थक होसकता है। इसकारण प्रत्येक उत्पादकका यह उद्देश्य होगा कि उसकी वस्तु और उसके प्रतिस्पर्धियोंकी वस्तुमें कमसे कम अन्तर हो पर वह अन्तर ऐसा हो कि उपभोक्ता उसकी वस्तुको अधिक अच्छी समझे और उसी प्रकारकी अन्य वस्तुओंकी अपेक्षा उसे खरीदनेके लिए अधिक उत्सुक हो।

मूल्य-भेद

प्रतिस्पर्धामें एकाधिकार प्राप्त करनेका दूसरा उपाय मूल्य-भेद है। विभिन्न वर्गों,

आय और स्थानोके व्यक्तियोमें, माग की लोच विभिन्न होती है। कुछ लोग सस्ती वस्तु खरीदतेहै तो कुछ महगी। सबसे अधिक परिमाणमें बेचनेका उपाय यहहै कि वस्तुका मूल्य सदैव बाजारमें प्रचलित मागके अनुसार हो। एकही वस्तुको कई मूल्योपर बेचनेका उद्देश्य विभिन्न मागोकी लोचका लाभ उठाना होता है। धनिक वर्गके लिए प्राय. दूसरे दाम बताये जाते है। चूकि धनी लोग सस्ते बाजारोमे अधिकतर नही जाते इसलिए ऐसा कर सकना सम्भव होता है। रेलवे कम्पनिया प्राय भिन्न भिन्न वस्तुओके लिए अलग अलग भाडेकी दर नियत करती है। कभी कभी भिन्न भिन्न वर्गाके लिए अलग अलग मूल्य नियत कर दिये जातेहै, क्योकि इनमें वर्गगत अभिमानके कारण परस्पर प्रतिस्पर्धा नही होती। इसका लाभ उठाकर उत्पादक प्रत्येककी आर्थिक शक्तिके अनुसार मूल्य नियत करतेहै न कि सीमान्त ग्राहककी मागके आधार पर। उपयोग-भेदसे भी मूल्य-भेद स्थापित करके लाभ उठाया जासकता है। गृहकार्यके लिए कम विद्युत शक्तिकी आवश्यकता होती है। इसीलिए गृहस्थोसे उस शक्तिके लिए अधिक दर नियतकी जासकती है। औद्योगिक कार्योमें अधिक मात्रामें विद्युत् शक्ति व्यय होती है, इस कारण उद्योगी लोग अधिक दर माननेके लिए तैयार न होगे। इसलिए उनके लिए नीची दर नियतकी जाती है। इस प्रकार ऊचे नीचे दोनो दामोपर अधिकमे अधिक विक्रय-होसकता है। स्थान भेदसे भी मूल्यमें भेद होता है। ग्रामो और नगरोमें पृथक् पृथक् मूल्य उसी वस्तुके लिए वडी वड़ी उद्योग-सस्थाए रख सकती है। डम्पिगकी प्रथा स्थान-गत मूल्य-भेदका बहुतही प्रसिद्ध और चरम उदाहरण है। अपने देशमें तो किसी उद्योगपतिका उस उद्योगमें सर्वाधिक अधिकार हो पर अन्य देशोमें उसे कोई अधिकार न प्राप्त हो। इस स्थितिमें वह अपनी बिक्री अन्य देशोमे कमसे कम, उत्पादन-व्ययसे भी कम मूल्यपर बेचकर बढा सकता है। इस प्रकार उसे जो हानि होगी उसे अपने देशमें अत्यधिक मूल्य नियत करके पूरा करसकता है। इस मूल्यपर उसकी वस्तु कुछ कम बिकेगी पर बिक्रीकी यह कमी वह अन्य देशोमें बहुत अधिक बेचकर पूरी कर लेता है।

काल-गति मूल्य-भेदका सबसे उत्तम और प्रसिद्ध उदाहरण पुस्तकोके भिन्न सस्करणोके लिए पृथक् पृथक् मूल्य नियत करना है। जिस समय पुस्तक प्रकाशित होतीहै, उस समय नवीनताके कारण पहिले लेनेकी इच्छाके कारण बहुतसे व्यक्ति

अधिक मूल्यपर भी खरीद लेंगे। कुछ समय पश्चात् उसी पुस्तकका सस्ता संस्करण निकालकर बिक्री पर्याप्त मात्रामें की जासकती है क्योंकि बहुतसे लोग जो अधिक मूल्य होनेके कारण पहिले न लेसके थे, अब लेसकते है। इसके अतिरिक्त इस समय पुस्तककी सम्भावित माग और उसके प्रति जनता की रुचिका भली प्रकार अनुमान लगाया जासकता है। और इस आधारपर अधिक बिक्रीकी आशापर मूल्य कम किया जासकता है। यह आवश्यक नही कि पहिले सस्करणका ही मूल्य अधिक हो। दूसरे सस्करण अधिक मूल्यपर निकाले जासकते है। मूल्य-भेद पर आश्रित एकाधिकारके लिए आवश्यक है कि विभिन्न बाजारोकी मागकी लोचमें पर्याप्त अन्तर हो और वस्तु एक बाजारसे दूसरे बाजारमें फिर बेची न जासकती हो।

एकाधिकार तथा अपूर्ण प्रतिस्पर्धाका फल उत्पादन व्ययका बढ़ाना होता है। यदि पूर्ण प्रतिस्पर्धामें कमसे कम उत्पादन व्यय वाली कुशल उद्योग संस्थाएं मिलती है तो एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धामें उत्पादन कम कुशल और अधिक व्ययशील होजाता है। विज्ञापन और विक्रय व्यय अधिकतर व्यर्थही होते है। उपभोक्ताकी तो हर रूपमें हानिही होती है। उपभोक्ताकी बचतका नितान्त लोप करनेकी चेष्टा कीजाती है। मूल्य ऊचा रखनेके लिए वस्तुओको प्राय नष्टभी कर दिया जाता है।

एकाधिकार के आधार

एकाधिकारका एक आधार कुछ प्राकृतिक सुविधाएंहै जैसे संयुक्तराष्ट्रीय स्टील कौर्पोरेशनके पास निकेलकी लगभग सभी खानें है। इसी प्रकार हीरो की ससारमें बहुत कम खानें है और वें सब दो-तीन कम्पनियोके पास है।

कभी कभी एकाधिकार कुछ विशेष गुणो तथा परिस्थितियोपर आश्रित होता है। फिल्म-अभिनेता और अभिनेत्रिया, स्वास्थ्य तथा प्राकृतिक सौन्दर्यके स्थानोपर होटेल आदिका स्वामित्व इस प्रकारके एकाधिकारके उदाहरण है।

अधिकतर एकाधिकार कानूनी अधिकारोपर आश्रित होसकता है। कोई विशेष उत्पादन-विधि अथवा आविष्कार किसी विशेष कम्पनीके पास सुरक्षित होसकता है। उत्पत्ति विभेदीकरण भी इसी नियमपर आश्रित है। राजाज्ञासे कभी

कभी इस कम्पनीको किसी क्षेत्र विशेषमें व्यापार करनेका एकाधिकार दिया जाता है। सुप्रसिद्ध ईस्ट-इडिया कम्पनीका एकाधिकार इसी प्रकारका था। औद्योगिक क्रान्तिसे पूर्व इस प्रकारकी राजाज्ञासे सुरक्षित एकाधिकारके आश्रित बहुतसी सस्थाए थी। कभी कभी यह राजाज्ञा इस कारणभी दीजाती है कि कोई कोई उद्योग प्रतिस्पर्धा द्वारा कुशलतापूर्वक नही चलसकते अथवा प्रतिस्पर्धा होनेसे उप-भोक्ताओको कष्ट और हानि पहुचनेकी सम्भावना रहती है। स्वास्थ्य सम्बन्धी, यातायातकी तथा समाजके लिए अन्य अत्यन्त आवश्यक सेवाए प्राय' राजाज्ञा द्वारा प्रतिस्पर्धासे सुरक्षित रखी जाती है। किसी वस्तुकी अत्यन्त कमी होनेपर अथवा अत्यन्त आवश्यकता होनेपर भी राजाज्ञा द्वारा एकाधिकार दिया जाता है। कुछ ऐसे उद्योग होतेहै, जिनमें पूजीकी बहुत आवश्यकता होतीहै परन्तु लाभकी सम्भावना अनिश्चित होती है। ऐसे उद्योग जनताके लिए आवश्यक होनेपर राजाज्ञा द्वारा सुरक्षित करदिये जाते है। रेलमें प्रतिस्पर्धासे सामाजिक हानि होसकती है अतएव रेलवे कम्पनियोको भी राजाज्ञा द्वारा एकाधिकार प्राप्त होता है।

एकाधिकार बनानेका चौथा ढग यहहै कि कई उद्योग-सस्थाए मिलकर एक संघ बना लेती है। अमेरिका और जर्मनी में इस प्रकारकी बहुतसी एकाधिकारी सस्थाओकी नीव पडी थी। यह सघ एकही उद्योगकी कई सस्थाओका होसकता है अथवा एक उद्योगके कई विभागोका भी होसकता है। पहिलेको समतल सघ और दूसरेको लम्बरूप सघ कहते है। उदाहरणार्थ उत्तरप्रदेश तथा बिहार चीनी सघ कुछ चीनी बनानेवाली मिलोका एक सघ होनेके कारण समतल सघ है। परन्तु यदि ईख उगाने, चीनी बनाने और चीनी बेचनेसे सम्बन्धित सभी उद्योगोका एक सघ बनाया जावे तो वह लम्ब रूप सघ होगा। इगलैडमें छोटे छोटे फुटकर बेचने वाले व्यारियोने सघ बनाकर बाजारमें एकाधिकारकी स्थिति पैदा करली है।

इस प्रकारके सघ बनानेके विरुद्ध सरकार प्राय नियम बना देती है। पर उनसे बचनेका कोई न कोई ढंग व्यापारी लोग निकाल ही लेते है।

अपूर्ण प्रतिस्पर्धा और एकाधिकार की सीमा

अपूर्ण प्रतिस्पर्धा और एकाधिकारकी एक सीमा है। सम्भावित प्रतिस्पर्धा का

भय एकाधिकारीके लिए बहुत बडा अकुश है। नयी वस्तुओ और स्थानापन्नोंका आविष्कार सदैव सम्भव है। अधिक मूल्य रखनेसे अथवा जन-हितका मनमाना निरादर करनेसे सदिच्छा खो देनेका भय रहता है। एकाधिकारीको राज्य-हस्तक्षेपका भी डर रहता है। एकाधिकारीके अत्यधिक लाभ प्राप्ति करनेकी नीतिका अनुसरण करनेपर सामाजिक शान्ति बनाये रखनेके लिए सरकारको हस्तक्षेप करना पडताहै और एकाधिकारी पर कठिन प्रतिबन्ध लगाये जाते है। वर्तमान समयमें आर्थिक व्यवस्था इतनी अस्थिर और सकटमयी है कि अनेक प्रकारके सरकारी नियन्त्रण आवश्यक होगये है। इसके अतिरिक्त एकाधिकारीको मागपर बहुत कम अधिकार प्राप्त रहता है। इस कारण उसकी मूल्यको निर्धारित करनेकी शक्ति सदैव सीमित होतीहै और मागके क्षेत्रमें उपभोक्ता सहकारी समितिया तथा राज्य-क्रय द्वारा प्राप्त एकाधिकार इस शक्तिको और भी सीमित करते है।

उत्पादक साधनो की गतिशीलता

पूर्ण प्रतिस्पर्धाका विवेचन करते समय कहा गयाथा कि इसके लिए उत्पादक साधनो का गतिशील होना अत्यन्त आवश्यक है। साधारणतया गतिशीलताका अर्थ स्थान परिवर्तनसे लिया जाताहै परन्तु अर्थशास्त्रमें गतिशीलताका मुख्य तात्पर्य उपयोग परिवर्तनसे है। इस उपयोग परिवर्तनकी आवश्यकता साधनोके सीमित होनेके कारण पडती है। यदि प्रत्येक साधन इच्छित परिमाणमें मिलसकता तो इस परिवर्तनकी आवश्यकताही न पडती। ऐसा नहोने के कारण उत्पादक साधन सदैव एक उपयोगसे दूसरे उपयोगमें स्थान, कार्य और समयके अन्तर द्वारा परिवर्तित होते रहते है। कुछ साधनोकी गतिशीलता इसलिए कम होती है अथवा बिल्कुल नही होती क्योकि वे किसी और उपयोगमें आ ही नही सकते अथवा केवल कुछही उपयोगोमें आ सकतेहै जैसे भूमि। बीजरने ऐसे साधनोको विशिष्ट साधन कहा है। उन साधनोकी गतिशीलता अधिक होतीहै जिनका कई उपयोगोमें वितरण किया जासकता है। बीजरने ऐसे साधनोको अविशिष्ट साधन कहा है, जैसे श्रम।

गतिशीलता तीन प्रकारकी होती है। देशगत, कार्यगत और कालगत। देशगत गतिशीलतासे हमारा अभिप्राय उस गतिशीलतासे है, जिसके होनेसे साधनको एक

स्थानसे दूसरे स्थानपर लेजाया जासकता है। कार्यगत गतिशीलता दो प्रकारकी होसकती है। एकतो वह, जिसके होनेसे साधनको उसी उद्योगमें एक उपयोगसे दूसरे उपयोगमे लगाया जासकता है और दूसरी वह जिसके होनेसे साधन एक उद्योगसे हटाकर किसी अन्य उद्योगमें लगाया जासकता है। कालगत गतिशीलता का तात्पर्य यहहै कि साधनका प्रयोग वर्तमान समयमें न करके भविष्यके लिए स्थगित करदिया जाय।

भूमि की गतिशीलता

भूमिका एक स्थानसे दूसरे स्थानपर लेजाना तो सम्भव नही है परन्तु किसी विशेष भूमि-भागका एक उपयोगसे दूसरे उपयोगमें परिवर्तन करना सम्भव है। यद्यपि इस परिवर्तनके लिए पूजीकी न्यूनाधिक मात्रामें आवश्यकता पडती है। इस के अतिरिक्त गतिशीलता का सम्बन्ध भूमिके क्षेत्रफलसे नही परन्तु उसकी उत्पादन शीलतासे है। यहतो स्पष्टही है कि पूजीकी सहायतासे कम उपजाऊ भूमियो को अधिक उपजाऊ बनाया जासकता है। फिरभी किसीभी भूमि-भागके उसके प्राकृतिक गुणो तथा उस स्थानकी जलवायुके अनुसार थोडेही उपयोग हो सकते है, बहुत नही। इसीलिए भूमिको विशिष्ट साधन मानागया है। बहुतसे भूमि-भाग तो पूर्णतया विशिष्ट होते है। उदाहरणार्थ भारतवर्षकी उत्तरवर्ती पर्वतीय भूमियो पर वनोके अतिरिक्त और कुछ नही होसकता है।

श्रम की गतिशीलता

श्रमजीवीको एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जानेके लिए दो बातोकी आवश्यकता होती है। एक तो यातायातके साधनोकी और दूसरे परिवार अथवा ग्रामके लिए मोह न होने की। यातायातके साधनोकी कमी तथा घर परिवारसे सम्बन्ध बनाये रखनेमें बड़ा व्यय होताहै और इसकारण श्रमजीवियोकी देशगत गतिशीलता कम होती है। श्रमकी कार्यगत गतिशीलता विभिन्न व्यवसायो अथवा उद्योगो द्वारा प्राप्त होनेवाली आय तथा अन्य लाभोपर निर्भर करती है। अन्य लाभ

अधिक पारिश्रमिक द्वाराही नही मापे जाते है। उस उद्योगमें प्राप्त होनेवाली सभी सुविधाओंकी गणना कर लीजाती है। काम कितनाहै, छुट्टी कितनी मिलती है, उद्यम निश्चितहै अथवा नही, नौकरी सुरक्षाका कहातक प्रबन्ध है, मान-मर्यादा कैसीहै, इन सब बातोंपर विचार किया जाता है। कुछ कार्योंमें सीखनेकी सुविधाए, आवश्यक अभ्यास, शिक्षा और व्यय अधिक होताहै और कुछमें कम। कार्यगत गतिशीलता पर इसकाभी बहुत प्रभाव पडता है। उद्योग विशेषकी शिक्षामें जो व्यय होता है वह एक प्रकार से पूजी लगाना है। कभी कभी इसका प्रबन्ध उस उद्योग अथवा सरकारकी ओरसे होता है। पर अधिकतर यह व्यय श्रमिकको ही करना पडता है। कार्यगत गतिशीलता, श्रमजीवियोंके इस व्ययको करनेके सामर्थ्य तथा उससे प्राप्त होनेवाले लाभपर निर्भर रहती है। कुछ व्यवसाय ऐसे है, जिनके लिए विशिष्ट गुणो तथा दीर्घकालीन अभ्यासकी आवश्यकता होती है। इनमें गतिशीलता बहुतकम होती है। इसप्रकार समाजमें श्रम समुदाय होतेहै जिनमें प्रतिस्पर्धा नही होती।

समाजके व्यक्तियोकी जातीय और व्यक्तिगत विशेषताए तथा सामाजिक विशेषताए और परम्पराएभी गतिशीलतापर बहुत प्रभाव डालती है। उदाहरणार्थ भारतवर्षमें वर्ण और जाति तथा सयुक्त परिवार प्रथायें गतिशीलताका बहुत निरोध करती है। जातिके अनुसार आर्थिक और सामाजिक उन्नतिका न तो किसी व्यक्तिको अवसर मिलता है और न इस प्रकारकी वृत्तिको अच्छा समझा जाता है। घर और जन्मस्थानका मोह स्थानगत गतिशीलताके मार्गमें और पारिवारिक सम्बन्ध कार्यगत गतिशीलताके मार्गमें बाधक होते है।

पूंजी की गतिशीलता

स्थायी पूजी अल्पकालमें तो अगतिशीलही होगी। कुछ स्थायी पूजी तो केवल एकही व्यवहारमें आसकतीहै और इसकारण वह सदैवही अगतिशील होगी। जिन यन्त्रोके तैयार करनेमें अधिक व्यय होता है अथवा जो कठिनतासे और दीर्घ कालमें तैयार होतेहै उनकी गतिशीलता तो कम होगी। स्थायी पूजीकी दीर्घ कालीन गतिशीलतापर सबसे अधिक प्रभाव नवीनताओंका पड़ता है। यदि

नवीनताओंको उद्यममें अपनाने पर किसी प्रकारका प्रतिवन्ध न हो तो उनके द्वारा पूंजी बहुत गतिशील होसकती है। स्थायी पूजीका निरन्तर उपयोगसे नाश होता रहताहै और यह आवश्यक नही कि उद्योगी उसका पुरानेही रूपमें पुनर्निर्माण करें। इसके अतिरिक्त बहुतसी पूजी कच्चेमाल और अर्ध-निर्मित वस्तुओंके रूपमें होती है और उनका उपयोग विभिन्न उद्देश्योंके लिए होसकता है। इसकारण एक उपयोगसे दूसरे उपयोगमें इनका परिवर्तन सुलभ है। इसप्रकार की पूजीकी गतिशीलता अधिक होती है।

पूर्ण उद्यम और गतिशीलता

पूर्ण उद्यमका अर्थ यह होताहै कि उत्पादनके सभी साधन सर्वोत्तम रूपसे उपयोग में लाये जारहे हो और उनकी आय उनकी उत्पादन शीलता के बराबर हो। ऐसी स्थितिमें गतिशीलता व्यर्थ होगी परन्तु जबतक साधन गतिशील न होगे पूर्ण उद्यमकी नीतिका सफल होना सम्भव नही। गतिशीलता प्रगतिशील अर्थ-व्यवस्था का सिद्धान्त है और पूर्ण उद्यम स्थिर अर्थ-व्यवस्था का। दोनोमें बडा घनिष्ठ सम्बन्ध है।

७

मूल्य निर्धारण की विधि

मूल्य के प्रकार

किसी वस्तुका मूल्य तीन प्रकारका होता है। एक उस वस्तुका वास्तविक मूल्य; दूसरे उसका विनिमय साध्य मूल्य और तीसरे उसका मौद्रिक मूल्य।

वास्तविक मूल्य वस्तुके आन्तरिक गुणो पर निर्भर होताहै और स्वयं सिद्ध है। किसी वस्तुके उपयोगी होनेका मूल आधार यही वास्तविक मूल्य है।

विनिमिय साध्य मूल्यकी परिभाषा मार्शल ने इस प्रकारकी है 'किसी समय और स्थान पर किसी वस्तुका विनिमय साध्य मूल्य किसी दूसरी वस्तुकी उतनी मात्रा है जो पहिली वस्तुके विनिमयसे प्राप्तकी जासकती है'।

समाजमें अनेक वस्तुओके होनेके कारण किसी एक वस्तुके अनेक विनिमय साध्य मूल्य होजाते है। जिसके कारण आर्थिक गणित क्लिष्ट होजाती है। इस बाधाको मिटानेका एक साधन यहहै कि किसीभी वस्तु विशेषको अन्य वस्तुओके विनिमय साध्य मूल्यका मापदड मानलिया जाय। आधुनिक ससारके अधिकतर समाजोमें द्रव्य द्वारा वस्तुओके मूल्य निर्धारित करनेकी प्रणाली प्रचलित है। जब किसी वस्तुका मूल्य मुद्राओके रूपमें आका जाताहै तो उसे उस वस्तुका मौद्रिक मूल्य अथवा केवल मूल्य कहा जासकता है। 'द्रव्य' के अध्यायमें इस विषयका विशेष रूपसे विवेचन किया गया है।

मूल्य का महत्व

आधुनिक विनिमय प्रधान संसारमें उत्पत्ति और वितरणके सभी कार्य विनिमय द्वारा होते है। यह विनिमय वस्तुओ अथवा मानुषी सेवाओके मूल्यके आधारपर होता है। कृषकके पास अन्न है और उसे कपड़ेकी आवश्यकता है। जुलाहेके पास

कपड़ा है और उसे अन्नकी आवश्यकता है। कृषक अपने अन्नके मूल्यका अनुमान, उसे उत्पन्न करनेमें जो श्रम करना पडा था, उसके मूल्यके आधारपर करता है और कपडेके मूल्यका अनुमान उससे मिलनेवाली उपयोगिता के मूल्यके आधार पर। उसीप्रकार जुलाहा अपने कपडे और किसानके अन्नके मूल्योका अनुमान लगाता है। बहुतसे कृषको और जुलाहोके अनुमानोका बाजारमें एक दूसरेसे सम्पर्क होने पर अन्नका कपडेके रूपमें और कपडेका अन्नके रूपमें सर्वप्रिय मूल्य निर्धारित हो जाता है। वस्तुओंका परस्पर वस्तुओसे ही विनिमय कष्टसाध्य है क्योकि विनिमय कार्यके पूरा होनेके लिए यह आवश्यक है कि देनेवाले और लेनेवाले दोनोके पास ऐसी वस्तुए हो, जो एक दूसरेको चाहिए। केवल यही नही वे वस्तुए दोनोंके पास इच्छित मात्रा में होनी चाहिए। इसकारण प्रत्येक वस्तुका मूल्य द्रव्यके रूपं में प्रकट करलिया जाताहै और उसके आधारपर उनका पारस्परिक विनिमय होता रहता है।

मांग, पूर्ति और मूल्य

मूल्य स्वय माग और पूर्तिका एक अग है। वास्तवमें माग और पूर्तिकी मात्रायें किसी मूल्य विशेषसे सम्बन्धित करके प्रकट कीजाती है अर्थात् माग और पूर्ति दोनो मूल्यपर निर्भर है। मूल्यमें वृद्धि होनेपर माग कम होगी और पूर्ति अधिक। इसीप्रकार मूल्य कम होनेपर माग अधिक होगी और पूर्ति कम। दूसरी ओर मूल्य स्वय माग और पूर्तिपर निर्भर है। पूर्ति कम होनेपर मूल्य अधिक होगा और अधिक होनेपर कम। इसके विपरीत माग कम होनेपर मूल्य कम होगा और अधिक होनेपर अधिक। माग, पूर्ति और मूल्य परस्पर एक दूसरेपर निर्भर है। इनमेंसे प्रत्येक शेष दो को निर्धारित करनेमें सहायता देताहै और बाजारमें उनके पारस्परिक सम्पर्क से एक प्रकारका सन्तुलन सा स्थापित होनेकी सम्भावना बनी रहती है। पूर्ण सन्तुलनतो कभी स्थापित नहीं होपाता क्योकि यहतो उस समय स्थापित होगा जबकि किसी मूल्य विशेप पर सम्पूर्ण पूर्ति, सम्पूर्ण मागको पूरा करनेके लिए केवल पर्याप्त मात्रही हो। परन्तु ऐसा कभी नही होता। केवल इस सन्तुलनकी स्थितिसे इन तीनोमें से एकभी बहुत आगे पीछे नहीं रहने पाता। यदि

पूर्ति मागसे अधिक होतो विक्रेताओंकी प्रतिस्पर्धा द्वारा मूल्य कम होने लगेगा। इसके फलस्वरूप पूर्ति कम और माग अधिक होने लगेगी। इसीप्रकार जब माग पूर्तिसे अधिक होगी तो ग्राहकोकी प्रतिस्पर्धाके फलस्वरूप मूल्यका बढना आरम्भ होने लगेगा। इसके फलस्वरूप मागमें कमी और पूर्तिमें वृद्धि होने लगेगी। इस प्रकार हरसमय सन्तुलनके भग होनेपर स्वयही ऐसी शक्तियोका प्रादुर्भाव होता रहताहै जो फिर सन्तुलन स्थापित करनेकी चेष्टा करती रहती है। ये शक्तिया बाजारकी भिन्न भिन्न स्थितियोमें एकसा बल नही रखती। यदि विक्रेताओंमें और ग्राहकोंमें परस्पर पूर्ण प्रतिस्पर्धा हो तो ये शक्तियाभी पूरे बलसे कार्य करती है। यदि विक्रेताओका एकाधिकार हो तो वे पूर्ति अथवा मूल्यमें से एकपर इन शक्तियों का पूरा प्रभाव नही पडने देते अर्थात् पूर्तिकी मात्रा अथवा मूल्यमें से एकको अपनी इच्छानुसार घटा बढा सकते है। यदि ग्राहकोका एकाधिकार हो तो वे माग और मूल्यमें से एकका नियन्त्रण करसकते हैं। आधुनिक अर्थशास्त्रियोका विचारहै कि व्यवहार में न तो पूर्ण प्रतिस्पर्धा और न एकाधिकार ही होता है। जोन राबिन्सन के कथनानुसार अपूर्ण प्रतिस्पर्धाका ही प्रभुत्व है। चेम्बरलेनने तो एकाधिकार, पूर्ण प्रतिस्पर्धा इत्यादिका भी वर्गीकरण किया है।

काल-भेद और मूल्य

इसके अतिरिक्त कालकी गतिसे भी इस सन्तुलनपर प्रभाव पडताहै क्योकि पूर्ति, माग तथा मूल्यकी स्थितियोमें अन्तर पडजाता है। समय व्यतीत होनेसे उत्पत्तिकी मात्रा तथा जनताके स्वभाव, रुचि इत्यादिमें परिवर्तन होनेकी सम्भावना रहती है। फलस्वरूप पूर्ति और मागकी स्थिति वैसी नही रहती जैसीकि पहिले थी। इन शक्तियोके बदलनेसे सन्तुलनभी अपना पुराना स्थान बदललेता है।

अर्थशास्त्री कालके तीन भेद करते है। पहिला वहहै जिसमें केवल उन्ही वस्तुओं का लेनदेन होताहै जो उत्पन्नकी जाचुकी है और पहिलेसे ही बाजारमें उपस्थित है। दूसरा वह जिसमें पहिलेसे ही प्रस्तुत उत्पादक सामग्री द्वारा पैदाकी जा सकनेवाली वस्तुए बाजारमें लायी जा सकती है। तीसरा काल वहहै जिसमें नयी उत्पादक सामग्री द्वारा अथवा पुरानी सामग्रीकी उत्पादन शक्तिमें वृद्धि करके उत्पन्नकी जाने

वाली वस्तुएभी विनिमयके लिए उपलब्ध होजाती है। पहिलेको हम क्षणिक काल, दूसरेको अल्पकाल और तीसरेको दीर्घकाल कहेगे। स्पष्टहै कि क्षणिक कालमें मूल्य निर्धारण करनेमें प्रभुत्व मागका होगा, दीर्घकालमें पूर्तिका और अल्पकालमे कभी माग और कभी पूर्तिका अथवा दोनो का।

क्षणिक काल, पूर्ण प्रतिस्पर्धा और मूल्य

क्षणिककाल में पूर्तिकी मात्रातो वाजारमें घटायी और वढायी नही जासकती। अत: मूल्य-निर्धारण करनेमें सीमान्त ग्राहकका विशेष महत्व रहता है, उसकी मूल्य-निर्धारण करनेकी शक्तिपर विक्रेताका केवल इतना नियन्त्रणहै कि वह ग्राहकके लगायेहुए मूल्यपर वस्तुको न वेचे परन्तु उनका सग्रह करले। इस सम्वन्धमें यह कहदेना है कि प्रत्येक विक्रेता अपने मनमें किसी वस्तुका एक न्यूनतम मूल्य निश्चित करलेता है, जिसके नीचे वह उस वस्तुको नही वेचता। वस्तु यदि नश्वरहो तो यह न्यूनतम मूल्य वहुत ही कम होता है परन्तु यदि वस्तु सग्रहशील हो तो अधिक। यदि विक्रेताके विचारानुसार उसे भविष्यमें मिलनेवाला मूल्य वर्तमानमें मिलनेवाले मूल्य और सग्रहके व्ययसे अधिकहै तो वह वस्तु वेचने के स्थानपर वस्तुका सग्रह करना ही उचित समझेगा। भविष्यमें मिलनेवाले मूल्यका अनुमान भविष्यके लिए सौदा करनेवाले वाजारसे किया जासकता है। कृषि द्वारा उत्पन्न वहुतसी वस्तुओका मूल्य इसीप्रकार निर्धारित होता है।

अल्पकाल, पूर्ण प्रतिस्पर्धा और मूल्य

अल्पकालमें माग वढनेसे मूल्य वढना आरम्भ होजाय तो पूर्तिभी वढायी जासकती है। सन्तुलन उस स्थानपर स्थापित होताहै जिस स्थानपर कि किसी विशेष मूल्य पर माग और पूर्त्ति दोनो सम होजायें। मान लीजिए कि खाड़की माग और पूर्ति की तालिकाएं हमें मालूमहै अर्थात हम जानतेहै कि दिये गये मूल्यपर खाडकी अमुक मात्रामें मांग होगी और अमुक मात्रामें पूर्ति। इन तालिकाओ द्वारा सिद्ध किया जासकता है कि सन्तुलन उसीसमय स्थापित होसकता है जवकि किसी विशेष

मूल्य पर माग और पूर्तिकी मात्रा सम होगी। माग और पूर्तिके नियमोंकी सहायतासे तालिकाए इसप्रकार बनायी जासकती है कि मूल्यके कम होनेपर मांग बढनी चाहिए और पूर्ति घटनी चाहिए। मूल्यके अधिक होनेपर माग घटनी चाहिए और पूर्त्ति बढनी चाहिए।

खाउकी मांग और पूर्तिकी एकत्रित तालिका

मागकी मात्राए (मन)	मूल्य (रुपये)	पूर्तिकी मात्राए (मन)
२००	५०	४,०००
३००	४९	३,८००
५००	४८	३,५००
१,०००	४७	३,०००
१,६००	४६	२,५००
२,०००	४५	२,०००
२,५००	४४	१,६००
३,०००	४३	१,०००

मान लीजिए कि मूल्य ४७ रुपये मन है। इस मूल्यपर माग १,००० मनकी होगी और पूर्ति ३,००० मनकी। इस मूल्यपर मागके परिमाणसे पूर्तिका परिमाण अधिक होनेके कारण विक्रेताओंमें परस्पर प्रतिस्पर्धा होगी। अतएव वे मूल्य कम करके ग्राहकोको अपनी ओर आकर्षित करनेकी चेष्टा करेंगे। इस परिस्थितिमें ग्राहकलोग मूल्यके और भी गिरनेकी आशामें वस्तु खरीदना स्थगित करदेंगे परन्तु मूल्यकी हर कमीके साथ कुछ लोग खरीदनेके लिए उद्यतहो जायेंगे। दूसरीओर मूल्यके घटनेसे पूर्तिकी मात्रामें कमी होती जायेगी क्योकि मूल्य घटते घटते कुछ विक्रेताओंके पूर्वनिर्धारित न्यूनतम मूल्यसे कम हो जायेगा। यह क्रिया तब तक होती रहेगी जबतक मूल्य ४५ रुपये प्रतिमन नही होजाता। विक्रेता इससमर्मे सेल्य क न करेंगे क्योकि इस मूल्यपर जितना वे बेचना चाहते है, उसके लिए उन्हें ग्राहक मिल जायेंगे। इसीप्रकार यहभी प्रदर्शित किया जासकता है कि मूल्य ४५ रुपये प्रतिमनसे कम नही होसकता। मानलीजिए मूल्य ४३ रुपये मन है। इस मूल्य पर विक्रेता १,००० मन बेचना चाहते है और ग्राहक ३,००० मन लेना चाहते है।

इस मूल्य पर मागसे पूर्ति कम होनेके कारण ग्राहकोंकी प्रतिस्पर्धाके फलस्वरूप मूल्यमें ४३ रुपये मनसे अधिक होनेकी प्रवृत्ति हो जायेगी। मूल्य बढनेसे माग कम होती चली जायेगी और पूर्ति बढती चली जायेगी। यह क्रिया तबतक बन्द न होगी जबतक कि मूल्य ४५ रुपये मन नही होजाता। ग्राहकोंमें प्रतिस्पर्धा द्वारा मूल्य बढने और विक्रेताओंमें प्रतिस्पर्धाके कारण मूल्य घटनेकी प्रवृति होजाती है। सन्तुलन उस मूल्यपर स्थापित होताहै जिसपर कि सीमान्त विक्रेता बेचनेके लिए उद्यत होजाते है। सीमान्त विक्रेता वह विक्रेता है जो किसी विशेष मूल्य पर केवल बेचने मात्रके लिए तैयार हो पाता है और सीमान्त ग्राहक वह ग्राहक है जो किसी विशेष मूल्य पर खरीदने मात्रके लिए तैयार हो पाता है। इस प्रकार हर मूल्यके लिए सीमान्त विक्रेता और सीमान्त ग्राहक होगे। सन्तुलन उस मूल्य पर स्थापित होगा जो उस मूल्यके सीमान्त विक्रेताओ और सीमान्त ग्राहकोको अभीष्ट होगा। कारण यह है कि पूर्ण प्रतिस्पर्धाकी स्थितिमें एक बाजारमें एकही वस्तुका एकही मूल्य होना आवश्यक है।

ज्यामितिकी सहायतासे सन्तुलन क्रियाको निम्नलिखित ढगसे दर्शाया जा सकता है:
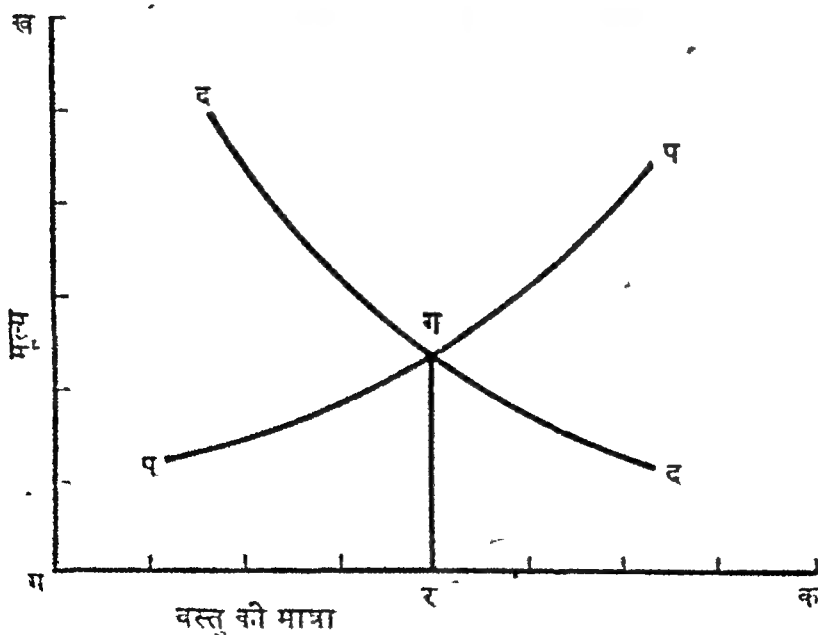
'म ख' रेखापर मूल्य दिखाया गयाहै और 'म क' रेखापर माग तथा पूर्ति। माग रेखाका आकार 'द, द' रेखाके समान होगा और पूर्ति रेखाका 'प, प' रेखाके समान क्योंकि मूल्यके घटनेसे माग बढ़ती जाती है और पूर्ति घटती है। सन्तुलन 'ग' स्थान पर स्थापित होगा, जिस स्थानपर ये दोनो रेखाए परस्पर एक दूसरेको काटती है। इस चित्रमें माग रेखा नीचेकी ओर गिर रही है और पूर्ति रेखा ऊपर की ओर चढ रही है। परन्तु ऐसीभी स्थिति होसकती है कि पूर्ति रेखाभी नीचेकी ओर गिर रही हो। ऐसा तब होताहै जब किसी वस्तुके उत्पादनमें व्ययका क्रमागत ह्रासनियम लाग होरहा हो। उससमय इन रेखाओंका आकार इसप्रकार होगा:
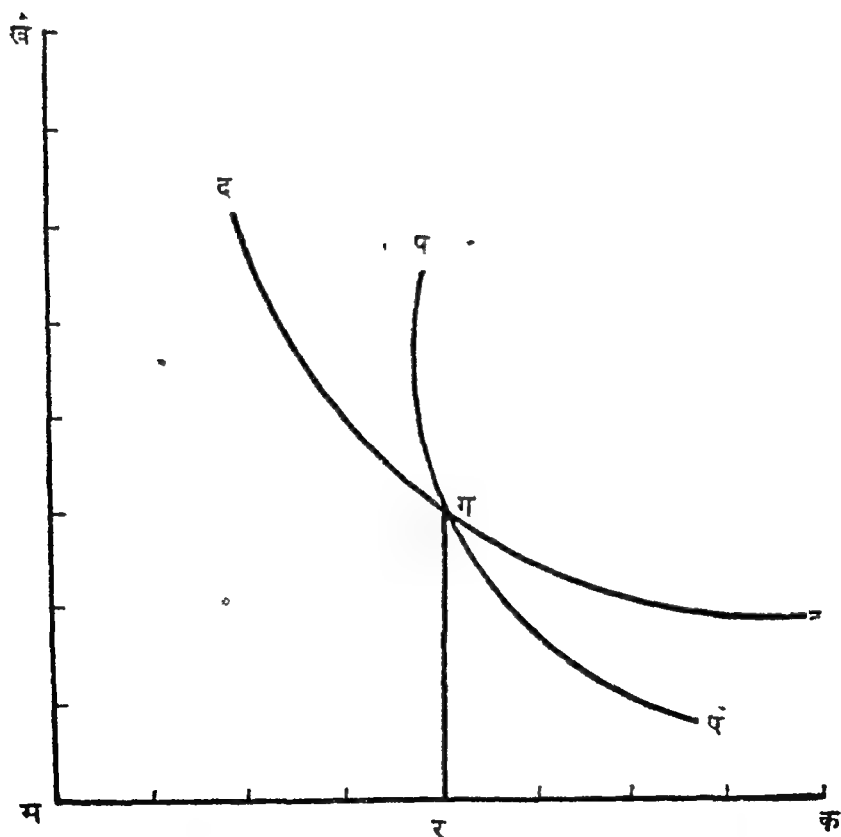
परन्तु अबभी सन्तुलन उसी स्थानपर स्थापित होगा जिसपर ये दोनो रेखाएं आपसमें एक दूसरेको काटती हो।

अल्पकाल, एकाधिकार और मूल्य

एकाधिकारसे हमारा अभिप्राय विक्रेताओके एकाधिकारसे है अर्थात् वस्तु-विशेष का बाज़ारमें केवल एकही विक्रेता हो। जब एकही वस्तुके दो विक्रेता हो तो उसे द्वयाधिकार कहते है और जब दो से अधिक थोडेसे विक्रेता हो तो उसे बहवाधिकार कहाजाता है।

एकाधिकारमें विक्रेता पूर्ति अथवा मूल्यमें से एकका नियन्त्रण करसकता है। यदि वह कृत्रिम नियन्त्रणो द्वारा पूर्तिमें कमी करता है तो वस्तुका मूल्य उस स्थितिसे अधिकही होगा जबकि वह पूर्ण पूर्तिको बाजारमें उपस्थित होने देता है। एकाधिकारी विक्रेताका उद्देश्य अधिकतम शुद्ध लाभ प्राप्त करना होता है। वह मांगकी लोच इत्यादिका अध्ययन करके मूल्य इसप्रकार निश्चित करताहै कि उसे अधिकतम शुद्ध लाभ मिलसके। मूल्य बढाने से मागमें कमीतो अवश्य होतीहै परन्तु जब तक मागकी इस कमीसे होनेवाली हानि अधिक मूल्यके कारण मिलनेवाले लाभसे कम रहती है तबतक मूल्य बढनेमें उसका क्षेम निहित है। यदि मूल्य वृद्धिके कारण मांगमें कमी आजानेसे होनेवाली हानि मूल्य-वृद्धिसे मिलनेवाले लाभके परिमाणसे अधिकहो तो ऐसी परिस्थितियो में एकाधिकारीके कुल शुद्ध लाभमें कमी आजायेगी। अतएव उसको अधिकतम शुद्ध लाभ उस मूल्यपर प्राप्त होगा जहापर मागकी कमी से होनेवाली हानि मूल्य वृद्धिसे होनेवाले लाभके सम हो। मानलीजिए किसी वस्तु की प्रत्येक इकाई पर एकाधिकारी की लागत ३ रुपए है और विविध मूल्योपर बिकनेवाली मात्राए इसप्रकार है :

मूल्य प्रत्येक इकाई	लागत प्रत्येक इकाई	लाभ प्रत्येक इकाई	बिक्री की मात्रा	कुल शुद्ध लाभ
१८)	३)	१५)	३००	४५००)
१६)	३)	१३।	५००	६,५००)
१४)	३।	११)	७००	७,७००)
१२)	३)	९)	९००	८,१००)
१०)	३)	७)	१,१००	७,७००)

८)	३)	५)	१,३००	६,५००)
६)	३)	३)	१,५००	४,५००)

जब मागकी तालिका उपरिलिखित प्रकारसे हो तो अधिकतम लाभकारी मूल्य १२ रुपये हैं क्योंकि इस मूल्यपर उसे अधिकतम शुद्ध लाभ प्राप्त होता है।

अपूर्ण प्रतिस्पर्धा और मूल्य

हम लिखचुके हैं कि प्रतिस्पर्धा उससमय अपूर्ण समझी जातीहै जब ग्राहक वस्तु विशेषको न्यूनतम मूल्यपर बेचनेवाले विक्रेतासे नही लेते है। कई ग्राहक किसी विशेष विक्रेतासे वस्तु अधिक मूल्य देकरभी लेनेको इसलिए उद्यत रहते है क्योकि वह विक्रेता वस्तुके साथ साथ कुछ ऐसी सेवाएभी ग्राहको को उपलब्ध करता है। जो उनको अभीष्ट है। इसके उदाहरण हम प्रतिस्पर्धाके अध्यायमें देचुके है। उसी अध्यायमें यहभी बताया जाचुका है कि बहुधा विक्रेता लोग विज्ञापन तथा व्यापार चिह्नो द्वारा ग्राहकोके मनमें वास्तविक या काल्पनिक गुणोके कारण अपनी वस्तुके लिए विशेष श्रद्धा उत्पन्न करनेमें समर्थ होजाते है। इस कारण भिन्न भिन्न चिह्नों वाली एकही वस्तुका न्यूनाधिक मूल्य लिया जासकता है। ऐसी विशेष चिह्नवाली वस्तुका विक्रेता एकाधिकारीके समान अपनी वस्तुका मूल्य निश्चित तो करसकता है परन्तु उस वस्तुका प्रतिस्थापन करनेवाली वस्तुओका अस्तित्व उसके द्वारा निश्चित मूल्यपर बिकनेवाली वस्तुकी मात्राको नियन्त्रित किये रहता है। यदि इस वस्तुको बेचनेवाले थोडेसे ही विक्रेता हो और उनमें से एक विक्रेता अधिक मात्रामें बेचने के लिए अपनी वस्तुका मूल्य कम करदे तो उसके प्रतिस्पर्धी भी अपने ग्राहक खोदेने के भय से अपना मूल्य कम करदेने की सोचेंगे। ऐसा होनेपर वह मूल्यको कम करके भी अपनी वस्तुकी मागमें अधिक मात्रामें वृद्धि करनेमें समर्थ न हो पायेगा। इसके अतिरिक्त अपूर्ण प्रतिस्पर्धाकी दशामें मागकी लोच पूर्ण पतिस्पर्धा की दशा की अपेक्षा बहुत कम होती है। अतएव वस्तुको पहिलेसे अधिक मात्रामें बेचनेके लिए मूल्यमें अधिक कमी करनी पडती है। इन कारणोसे ऐसी वस्तुका एक बार ऐसा मूल्य स्थापित होजानेसे जिसपर कि वह पर्याप्त मात्रामें बिक रहीहो विक्रेता लोग मूल्य परिवर्तनसे बहुत घबराते है अन्यथा विक्रेताओ में मूल्य घटानेकी प्रति-

स्पर्धा यहातक बढ सकती है कि अन्ततोगत्वा सभीको हानि उठानेके कारण पश्चा-त्ताप करना पड़े। इसलिए ऐसी वस्तुओके मूल्य प्राय: दीर्घकालके लिए स्थापित होजाते है।

बाजार-मूल्य और सामान्य-मूल्य

बाजार-मूल्य माग और पूर्तिके सन्तुलनसे स्थापित होता है। ऊपरकी पक्तियो में यह दिखलाया जाचुका है। परन्तु इस प्रकरणमें यह मानलिया गयाथा कि किसी निश्चित उपभोग कालके लिए पर्याप्त मात्रामें उपभोग वस्तुए उपलब्ध है। दीर्घ काल में स्थापित होनेवाले मूल्यको सामान्य मूल्य या प्राकृतिक मूल्य कहते है। यह केवल बाजारमें उपस्थित माग और पूर्तिके सन्तुलनसे नही परन्तु उत्पादन और उपभोगके सन्तुलनसे स्थापित होता है। उत्पादनका सम्बन्ध उत्पादन-व्यय से होनेके कारण इस सन्तुलनके अध्ययनके लिए हमें उत्पादन-व्ययको ध्यानमें रखना होगा। इसके अतिरिक्त उत्पादक उत्पादन कार्यमें लाभ प्राप्त करनेकी इच्छा से सलग्न होता है। इसलिए हमें उत्पत्तिसे प्राप्त होनेवाली उत्पादककी आयपर औरभी ध्यान देना होगा। इस सम्बन्धमें सीमान्त उत्पादन-व्यय तथा सीमान्त-आयकी परिभाषाओसे परिचय प्राप्त करना होगा। किसी वस्तुकी एक और इकाईके उत्पादनसे कुल व्ययमें जो वृद्धि होतीहै उसे सीमान्त व्यय और किसी वस्तुकी एक और इकाई बेचनेसे कुल आयमें जो वृद्धि होतीहै उसे सीमान्त आय कहते है। ये परिभाषाए नीचे दीहुई तालिकाओसे भलीप्रकार समझमें आजायेंगी :

उत्पत्ति की मात्रा इकाइया	उत्पादन-व्यय प्रत्येक इकाई (रुपये)	कुल उत्पादन व्यय (रुपये)	सीमान्त उत्पादन-व्यय (रुपये)
१	१०)	१०)	...
२	८)	१६)	६)
३	७।	२१)	५)

४	७।	२८)	७।
५	८)	४०)	१२)
६	९)	५४)	१४)
७	१०)	७०)	१६)
८	११)	८८)	१८)

एक इकाईके उत्पन्न करनेके अनन्तर दूसरी इकाई उत्पन्न करनेके लिए ६ रुपये अधिक व्यय करना पडते है। इसलिए ६ रुपया दूसरी इकाईका सीमान्त उत्पादन व्यय हुआ। इसीप्रकार अगली इकाइया उत्पन्न करनेके अनन्तर छठी इकाई उत्पन्न करनेके लिए हमें १४ रुपये अधिक व्यय करने पडते है। इसलिए १४ रुपया छठी इकाईका सीमान्त उत्पादन व्यय हुआ।

अब आयको ले लीजिए:

वस्तु की मात्रा इकाइया	मूल्य प्रत्येक इकाई (रुपये)	कुल आय (रुपये)	सीमान्त आय (रुपये)
१	१८)	१८)	...
२	१६)	३२)	१४)
३	१४)	४२)	१०)
४	१२)	४८)	६)
५	१०)	५०)	२)
६	९)	५४)	४)
७	८)	५६)	२)
८	७।।)	५८)	२)

तीन वस्तुओके अनन्तर चौथी वस्तु बेचनेसे उत्पादकको ६ रुपये अधिक प्राप्त होतेहै इसलिए ६ रुपये चौथी वस्तुकी सीमान्त आय हुई। इसीप्रकार ६ वस्तुओके बेचनेके उपरान्त सातवी वस्तु बेचनेसे २ रुपये अधिक आय हुई। इसलिए २ रुपये सातवी वस्तुकी सीमान्त आय हुई।

स्मरण रहे कि सीमान्त उत्पादन व्यय और सीमान्त आय वस्तुकी प्रत्येक इकाईके लिए निर्धारित किये जासकते हैं।

औसत उत्पादन-व्यय और औसत आय

औसत उत्पादन-व्यय निकालनेके लिए कुल व्ययको कुल उत्पन्न वस्तुओंकी मात्रासे और औसत आयको निकालने के लिए कुल आयको कुल वस्तुओंकी मात्रासे भाग देदिया जाता है। स्पष्ट है कि औसत आय और मूल्य एकही समान होंगे।

यदि किसी वस्तुके उत्पादनमें व्ययका क्रमागत-ह्रास-नियम लागू होरहा हो तो उस वस्तुकी अधिक मात्रामें उत्पत्ति किए जानेपर सीमान्त उत्पादन व्यय कम होता जायेगा और उस वस्तुके व्ययका क्रमागत-वृद्धि-नियम अनुपालन करनेपर अधिक मात्रामें उत्पति होने पर सीमान्त उत्पादन व्ययभी अधिक होता जायेगा।

यदि अल्पकाल मे निर्धारित मूल्य द्वारा उत्पादकको हानि होरही हो या यथेष्ट लाभ प्राप्त न होरहा हो, तो वह भविष्यमें होनेवाली पूर्तिकी मात्राको भविष्यकी मागके अनुसार न्यूनाधिक करनेका प्रयत्न करके अधिकसे अधिक लाभ उठानेकी चेष्टा करेगा।

दीर्घ कालमें मूल्यका सन्तुलन उससमय होगा जबकि सीमान्त उत्पादन व्यय और सीमान्त उपयोगिता सम होजाये अथवा जब सीमान्त उत्पादन व्यय और माग द्वारा निर्धारित मूल्य सम होजाये। प्रत्येक उत्पादकका चरम उद्देश्य अधिकसे अधिक लाभ प्राप्त करना अथवा अपनी हानिको न्यूनतम करना होता है। यह उसी समय होसकता है जबकि सीमान्त उत्पादन व्यय और सीमान्त आय सम होजायें क्योंकि जबतक सीमान्त आय सीमान्त उत्पादन व्ययसे अधिक रहेगी, उत्पादक अधिक मात्रामें उत्पन्न करके कुल लाभको बढानेमें अथवा कुल हानिको घटाने में समर्थ होसकेगा। ज्यामितिकी परिभाषामें कहा जासकता है कि उत्पादक उस बिन्दु तक उत्पन्न करता रहेगा जिसपर कि सीमान्त उत्पादन व्यय रेखा और सीमान्त आय रेखा परस्पर एक दूसरेको काटती है। पूर्ण प्रतिस्पर्धा, अपूर्ण प्रतिस्पर्धा और पूर्ण एकाधिकार तीनो स्थितियोमें दीर्घकालीन पूर्ति इस नियम द्वारा नियमित रहेगी।

यदि पूर्ण प्रतिस्पर्धा होगी तो उत्पादक बहुतसे होंगे और सबके सब एकही

मूल्यपर बेचेंगे। यह मूल्य सब उत्पादकोंकी कुल पूर्ति और सब ग्राहकोंकी कुल मांगसे निर्धारित होगा। यदि इस प्रकारसे निर्धारित मूल्य सीमान्त उत्पादन व्यय से अधिक होगा तो नये उत्पादक लाभ उठानेकी इच्छासे इस वस्तुको उत्पन्न करना आरम्भ करदेंगे अथवा पुराने उत्पादक अधिक मात्रामें वस्तु उत्पन्न करके अधिक लाभ उठानेकी चेष्टा करेंगे। इसप्रकार वस्तुकी अधिक मात्रामें पूर्ति होनेसे मूल्य कम होने लगेगा और सन्तुलन उससमय स्थापित होगा जब प्रत्येक उत्पादकका सीमान्त उत्पादन व्यय और वस्तुका मूल्य समान हो जायेगा। सीमान्त उत्पादन व्यय का सीमान्त आयके सम होना अनिवार्य है अतएव पूर्ण प्रतिस्पर्धाकी स्थितिमें मूल्यभी इन दोनोके बराबर होगा। इस सम्बन्धको नीचे दिये गये रेखाचित्र द्वारा दिखाया गया है :
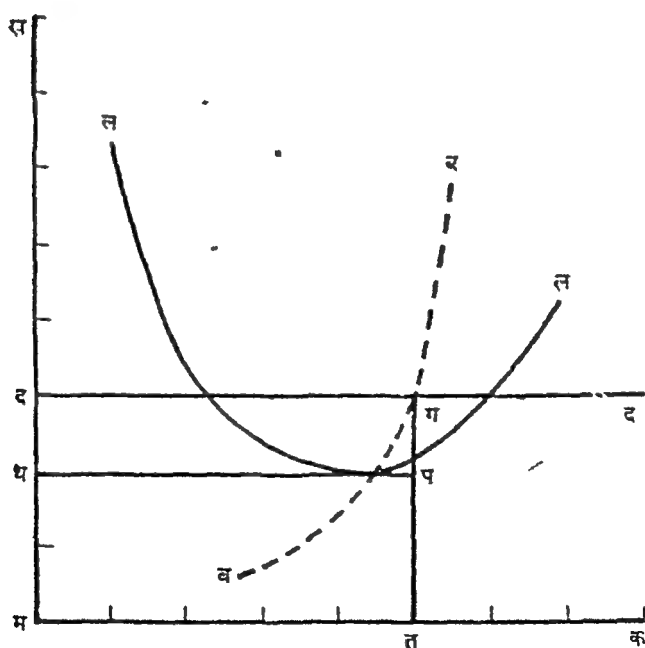
म क रेखा वस्तुका परिमाण बताती है और म ख रेखा पर उसका मूल्य, आय और व्यय सूचित किये गये है। द द रेखा मांगकी रेखा है। जैसाकि पहिले बताया जाचुका है पूर्ण प्रतिस्पर्धाकी स्थितिमें औसत आय वस्तुके मूल्यके बराबरही रहती है। प्रत्येक विक्रेताकी सीमान्त आयभी मूल्यके ही समान होगी क्योंकि वह अपनी

उत्पत्तिकी प्रत्येक इकाईसे मूल्यके समानही आय प्राप्त करता है। अतएव द द रेखा माग, सीमान्त आय और औसत आयकी द्योतक है। ल ल रेखा औसत व्ययकी रेखा है और व व रेखा तत्सम्बन्धी सीमान्त व्ययकी रेखा है। सीमान्त व्ययकी रेखा व व सीमान्त आयकी रेखा द द को ग बिन्दु पर काटती है। अतएव म त उत्पादनकी मात्रा होगी। इस परिस्थितिमें कुल उत्पादन व्यय म त प थ और कुल आय म त ग द होगी और प ग द थ अतिरिक्त लाभ होगा। पूर्ण प्रतिस्पर्धाकी परिस्थितिमें यह अवस्था स्थायी नही रहसकती क्योकि इसमें नये उत्पादको के आनेकी और पुराने उत्पादको के उत्पत्तिके परिमाणमें वृद्धि करनेकी प्रवृत्ति उत्पन्न हो जायेगी। इसके फलस्वरूप उस वस्तुका मूल्य गिरने लगेगा और तबतक गिरता जायेगा जबतककि अतिरिक्त लाभ लुप्त न होजाये। यह उसी दशामें होगा जहापर औसत आय रेखा द द औसत व्यय रेखा ल ल पर स्पर्श रेखा बन जाती है। स्पष्ट है कि यह बिन्दु ल ल रेखा पर सबसे नीचा बिन्दु होगा और यहीपर सीमान्त व्यय रेखा भी औसत व्यय रेखाको काटेगी। इस परिस्थितिमें रेखाचित्र इस प्रकार का होगा :
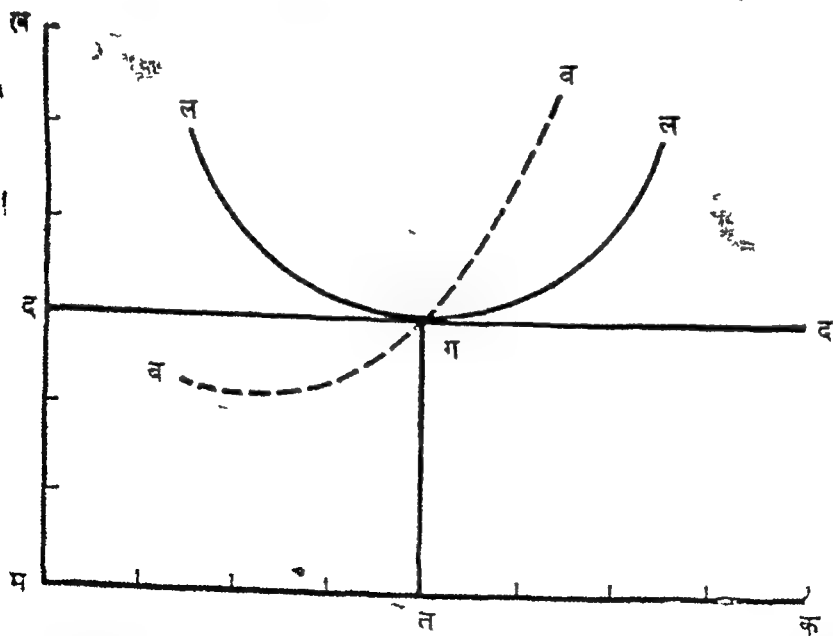
एकाधिकारी को यह सुविधा प्राप्तहै कि वह अधिकसे अधिक लाभ उठानेके लिए न केवल उत्पत्तिकी मात्राको न्यूनाधिक करके उत्पादन व्ययको न्यूनाधिक

करसकता है परन्तु मात्राको न्यूनाधिक करके वस्तुके मूल्य तथा अपनी औसत आयको भी न्यूनाधिक कर सकता है। वह उत्पादन तो उतनी मात्रा में करेगा कि सीमान्त उत्पादन व्यय और सीमान्त आय सम होजायें। परन्तु वह उस मूल्य पर बेच सकेगा जहांपर उसकी बिक्रीके लिए लायी गयी वस्तुका परिमाण मांगके परिमाणके सम हो। यदि वह अधिक मात्रामें बेचना चाहता हो तो उसको कम मूल्य प्राप्त होसकेगा और कम मात्रामें बेचनेपर वह अधिक मूल्य प्राप्तकर सकेगा। यह मूल्य सदैव सीमान्त उत्पादन व्ययसे और फलत: सीमान्त आयसे अधिक होगा। एकाधिकारीकी औसत आय सीमान्त आयसे सदैव अधिक होगी। ज्यामितिकी परिभाषामें एकाधिकारकी दशामें सीमान्त आयरेखा औसत आय रेखा से सदैव नीचे रहेगी क्योंकि एकाधिकारीको अधिक बेचनेके लिए अपने मूल्यको कम करना पडता है। स्मरण रहे कि पूर्ण प्रतिस्पर्धाकी अवस्थामें एक उत्पादक अधिक मात्रा को भी पूर्वनिर्धारित मूल्यपर बेच सकता है। इसीलिए उसकी औसत आय रेखा और सीमान्त आय रेखा एकही होती है। नीचे दिये गये रेखाचित्रमें एकाधिकार की अवस्थामें मूल्य निर्धारण क्रियाको दिखाया गया है :
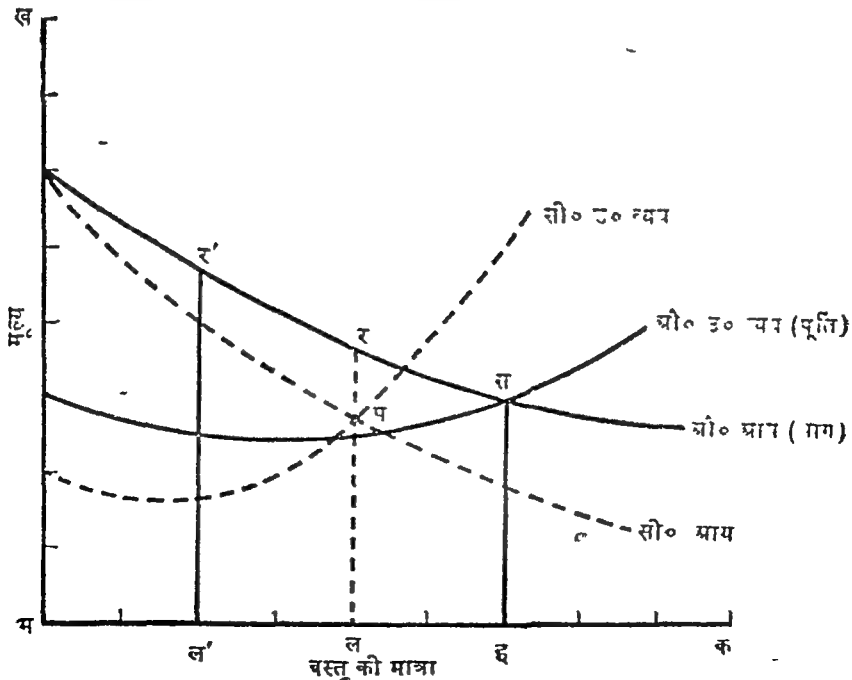
विविध रेखाए और उनके नाम ऊपर दियेगये है 'प' विन्दुपर सीमान्त उत्पादन व्यय रेखा और सीमान्त आय रेखा परस्पर एक दूसरे को काटती है। एकाधिकारीको लाभ उस वस्तुकी म ल मात्रा उत्पन्न करनेमे है और इस मात्रा पर उसका मूल्य ल र होगा जो माग द्वारा निर्धारित होगा। चित्रसे विदितहै कि एकाधिकारीका अधिकतम लाभ वस्तुको अधिकसे अधिक मूल्यपर बेचनेमें नही होता जैसा कि साधारणतया लोग समझते है। रेखाचित्र में मूल्यको ल र से ल' र' करने पर उसकी बिक्री म ल' रह जायेगी। यहा पर उसकी सीमान्त आय उसके सीमान्त व्यय से अधिक है। अतएव अपने कुल लाभको अधिकतम करनेके लिए एकाधिकारीकी प्रवृति अपनी उत्पत्तिकी मात्रा म ल' से बढानेकी होगी और यह वृद्धि करने की प्रवृत्ति उस परिमाण तक वनी रहेगी जहा पर सीमान्त आय और सीमान्त व्यय सम होजायें। रेखा-चित्रमे यह 'प' बिन्दु है।

स्पष्ट है कि मूल्य बढनेसे यद्यपि प्रत्येक इकाई पर लाभ अधिक होता है परन्तु कुल लाभ कम होजाता है। इसीप्रकार म ल' से अधिक मात्रा उत्पन्न करनेपर एकाधिकारीको तवतक लाभ मिलता रहेगा जबतक कि औसत आय या मूल्य औसत व्ययसे अधिक रहेगा। परन्तु उसे अधिक से अधिक कुल लाभ म ल मात्रा उत्पन्न करने पर ही मिलेगा। रेखाचित्रके अनुसार म ह परिमाण तक एकाधिकारी को लाभ होताहै परन्तु अधिकतम लाभ म ल परिमाण परही होगा। अतएव यदि एकाधिकारीने म ल से अधिक मात्रामें उत्पत्ति करली हो तो उसका क्षेम उसको कम करके म ल तक लानेमें होगा क्योकि इस परिमाणके बाद सीमान्त व्यय सीमान्त आयसे अधिक रहता है।

यदि यह मानलिया जाये कि एकाधिकारीकी पूर्ति रेखा प्रतिस्पर्धी उत्पादकोके औसत उत्पादन व्यय की सहायतासे वनायी हुई पूर्ति रेखाके समानहोगी तो प्रतिस्पर्धाकी दशामें उत्पत्तिकी मात्रा म ह और मूल्य स ह होगा। विदित है कि प्रतिस्पर्धाकी स्थितिमें एकाधिकार की स्थितिसे उत्पत्तिकी मात्रा अधिक होगी और मूल्य कम।

अपूर्ण प्रतिस्पर्धाकी स्थितिमें प्रत्येक उत्पादक या विक्रेता अपनी विशेष व्यापार चिह्नवाली वस्तुका अथवा वाजारके अपने भागमें एकाधिकारी सा होता है। इसलिए उसकी वस्तुके लिए मांग रेखाके पूर्ववत् रहने पर सन्तुलन उसी प्रकार

स्थापित होताहै जैसेकि एकाधिकारकी स्थिति में। अन्तर केवल इतना है कि इस स्थिति में नये उत्पादक उस वस्तुका प्रतिस्थापन करनेवाली वस्तुके निर्माणमें सलग्न होकर वस्तुकी पूर्ति पर प्रभाव डाल सकते हैं। एकाधिकारकी स्थितिमें ऐसा सम्भव नही है क्योंकि उस स्थितिमें स्थानापन्न वस्तुओंका अभाव मान लिया जाता है।

द्वयाधिकार तथा बहवाधिकारकी परिस्थितिमें वस्तुका मूल्य साधारणत: तबतक निर्धारित नही किया जासकता जब तक कि उत्पादक बाजारको भागोमें विभाजित करके अपने विशेष भागमें वस्तु बेचनेका अथवा वस्तुकी कुल उत्पत्तिमें से पहिलेसे ही निश्चित विशेष भागके उत्पन्न करनेका परस्पर समनुबन्ध न करले। इस स्थिति में प्राय: घातक प्रतिस्पर्धाके अनन्तर ऐसे उत्पादको को हानिसे बचनेके लिए ऐसा समनुबन्ध करनाही पडता है।

सम्मिलित उत्पत्ति और मूल्य

कई एक वस्तुए सम्मिलित रूपमें ही उत्पन्न की जासकती हैं; पृथक पृथक नही। जैसे गेहू और भूसा एकही साथ उत्पन्न होते हैं। ऐसी सम्मिलित उत्पतिकी दशामें प्रत्येक वस्तुका सीमान्त या औसत उत्पादन व्यय निकालना कठिन होजाता है। इस प्रकार सम्मिलित दशामें उत्पन्न होनेवाली वस्तुओंका सन्तुलन उस समय स्थापित होगा जबकि उन वस्तुओकी उत्पत्ति उस मात्रामें होगी कि उन वस्तुओसे मिलनेवाली सीमान्त आय मिलकर उनके सम्मिलित सीमान्त उत्पादन व्ययके सम होजाय। यदि उनमें किसीभी वस्तुकी मागमें परिवर्तन होता है तो उन सबकी उत्पत्तिकी मात्रामें परिवर्तन द्वारा नया सन्तुलन स्थापित होगा।

सम्मिलित मांग

कभी कभी दो या दो से अधिक वस्तुओकी माग साथ साथ घटती बढती है। ऐसी स्थितिमें उनके मूल्यभी साथ ही साथ घटते बढते है। परन्तु यदि उनमेंसे एक वस्तुका मूल्य उस वस्तुकी पूर्तिमें न्यूनता या आधिक्यके कारण बढ़े या घटे तो

दूसरीके मूल्यमें पहिलीसे विपरीत दिशामें परिवर्तन होगा। चाय की पूर्ति अधिक होने से चायका मूल्य कम होगा। परन्तु खाडकी पूर्ति पूर्ववत् रहने पर उसकी मांग बढनेसे उसका मूल्य अधिक होजायेगा। इसके अतिरिक्त यदि सम्मिलित माग वाली दो वस्तुओ में से पहिलीका केवल एकही प्रयोग हो और दूसरीके बहुतसे प्रयोग हो तो मागके परिवर्तनसे पहिली वस्तुके मूल्यपर दूसरी वस्तु के मूल्यसे अधिक प्रभाव पड़ेगा। ऐसी स्थिति प्राय: उस समय देखमेमें आतीहै जब उपभोग्य वस्तुकी मांग बढनेसे उसके उत्पादन में काम आने वाले साधनोंकी मांग भी बढती है। पावरोटी की माग बढने से गेहू और पावरोटी बनानेवालोकी मांग बढेगी। परन्तु गेहू के पावरोटी बनानेके अतिरिक्त औरभी बहुतसे प्रयोग होनेके कारण उसके मूल्यमें विशेष परिवर्तन न होगा। परन्तु रोटी बनानेवालो का श्रम विशिष्ट और कुशल होनेके कारण उसका मूल्य बहुत बढ जायेगा। अर्थात् उनकी मजूरी अधिक होजायेगी।

एक वस्तु के भिन्न भिन्न मूल्य

कभी कभी उत्पादक विशेषकर एकाधिकारी भिन्न भिन्न प्रकारके ग्राहकोसे या भिन्न भिन्न बाज़ारो में एकही वस्तुके भिन्न भिन्न प्रयोगोके लिए भिन्न भिन्न मूल्य लेते हैं। जैसे कई उत्पादक अपने देशमें वस्तु महगी और विदेशमें सस्ती बेचते है। बिजली का किराया रोशनीके लिए पृथक और औद्योगिक प्रयोगोके लिए पृथक दरसे लिया जाता है। उत्पादक का प्रयत्न यह रहता है कि जिस बाज़ारम मागकी लोच कम हो और सीमान्त आय बड़ी शीघ्रतासे गिरती चली जातीहो उस बाज़ारमें वस्तु कम मात्रामें बेचे। इसके विपरीत जिस बाज़ारमें माग तथा उसकी लोच अधिकहो उसमें सीमान्त आयभी अधिक होती है। उस बाजारमें वह वस्तुको अधिक मात्रामें बेचता है। दोनो बाज़ारो में वह अपनी बिक्रीको इसप्रकार विभाजित करेगा कि उसकी दोनो बाज़ारोमें सीमान्त आय उसके सीमान्त उत्पादन व्ययके सम होजाये।

८

प्रतिस्थापना

प्रतिस्थापना का महत्व

आधुनिक अर्थशास्त्रमें प्रतिस्थापनाको विशेष महत्व प्राप्त है। तटस्थ रेखाओं द्वारा अर्थशास्त्रीय समस्याओं का विश्लेषण प्रचलित होनेके कारण पुराने सीमान्त उपयोगिता विश्लेपण का लोपसा होता जारहा है। तटस्थ रेखाओंके अध्यायमें हम देखचुके हैं कि हिक्स इत्यादि अर्थशास्त्री सीमान्त उपयोगिताके स्थानपर सीमान्त स्थानापन्नताकी दरका प्रयोग करते हैं।

वास्तवमें प्रतिस्थापना और तटस्थ-स्थितिके नियम भिन्न भिन्न नही हैं; परन्तु एकही नियमके दो भिन्न भिन्न नाम हैं। तटस्थ-स्थितिका नियम सन्तुलनकी अवस्थामें लागू होताहै और प्रतिस्थापना का नियम सन्तुलनसे भिन्न अवस्थामें।

प्रतिस्थापना और तटस्थ-स्थिति

मनुष्यकी आवश्यकतायें बहुत हैं। परन्तु हर आवश्यकता को तृप्त करनेके लिए भिन्न भिन्न प्रकारके साधन भी हैं। इस प्रकारके साधन जो एकही आवश्यकताको तृप्त करनेमें एक दूसरेका प्रतिस्थापन कर सकतेहो, स्थानापन्न साधन कहे जासकते हैं। जब किसी आवश्यकताकी पूर्तिके लिए इस प्रकारके स्थानापन्न साधन उपलब्ध हो और उनमें से प्रत्येक साधन प्रचलित मूल्योपर एकही जैसी तृप्ति देनेवाला हो तब उनमेंसे किसी एकका भी प्रयोग करनेके लिए मनुष्य तटस्थसा रहता है। इनमें से किसी साधनका प्रयोग करनेकी ओर उसकी विशेष प्रवृति नही होती। यह तटस्थ स्थितिका नियम है। परन्तु ससारकी आर्थिक स्थिति सदैव एकसी नहीं रहती। समय समयपर उसमें परिवर्तन होते रहते है और उपलब्ध साधनोमें से कोईएक उसके सापेक्ष मूल्यमें कमीके कारण अन्य सबसे उत्तम होजाता है और

इस कारण वह अन्य सब साधनों का प्रतिस्थापन करने लगता है। यह प्रतिस्थापना का नियम है।

दो प्रकार की स्थानापन्न वस्तुएं

प्रतिस्थापन करनेवाली वस्तुएं या साधन दो प्रकारके होते हैं। मूल्यो को ध्यानमें रखते हुए कुछतो प्रयोग की जानेवाली वस्तुके समान अथवा उससे अधिक तृप्ति-दायक होती है। जैसे विद्युत-शक्ति और मिट्टीका तेल दोनो प्रकाशका गुण रखनेके कारण एक दूसरेका प्रतिस्थापन करसकते है परन्तु विद्युत-शक्ति, उसके मूल्यको ध्यानमें रखते हुए अधिक तृप्ति प्रदान करती है। कभी कभी एक वस्तु किसी विशेष उद्देश्यके लिए उत्तम होती है और उसका प्रतिस्थापन करनेवाली दूसरी वस्तु किसी दूसरे उद्देश्यके लिए; जैसे मनुष्य के लिए गेहू उत्तम है परन्तु घोडो के लिए चने।

मूल्योका ध्यान रखतेहुए कुछ वस्तुए प्रयोग कीजाने वाली वस्तुसे कम तृप्ति देती है। जैसे शुद्ध घी और बनस्पति घी। ऐसी वस्तुओ का प्रयोग मनुष्य विवश होकरही करता है स्वतन्त्रतासे नही। शुद्ध घी का मूल्य वहुत बढजाने के कारण लोग भलेही बनस्पति घी का प्रयोग प्रारम्भ करदें परन्तु जिनकी आय पर्याप्त है वह शुद्ध घी का ही प्रयोग करेंगे। अथवा उत्तम वस्तुकी पूर्तिमें कमीके कारण भी हीन वस्तुओ का प्रयोग आवश्यकसा होजाता है। जैसे हमारे देशमें अन्नकी न्यूनता के कारण वहुतसे लोग गेहूं के स्थान पर जौ, चने इत्यादि को प्रयोगमें लाने लग गये है। ऐसी घटिया वस्तुओकी एक उपयोगिता यहभी है कि वहुत से लोग जो उत्तम वस्तुके वहुमूल्य होनेके कारण उसका प्रयोग करनेमें असमर्थ थे, मूल्य कम होजाने से घटिया वस्तुका प्रयोग करसकते है। वहुतसे लोग जो घी का प्रयोग न कर सक्ते थे, वनस्पति घी का प्रयोग करने लग गये है।

प्रतिस्थापना और मूल्य

स्पष्ट है कि किसी वस्तुका प्रतिस्थापन करनेवाली वस्तुओ का अस्तित्व उस वस्तुके

मूल्य पर अपना प्रभाव अवश्य डालेगा। बाजार-मूल्य किसी वस्तुकी पूर्ति और मांगके पारस्परिक सन्तुलनसे निर्धारित होता है। पूर्तिसे हमारा अभिप्राय केवल उस वस्तुकी पूर्तिसे ही नहीं वरन् उन सभी वस्तुओंकी पूर्तिसे है जो उसी आवश्यकता को तृप्त करनेकी सामर्थ्य रखती हों जिसे वह वस्तु तृप्त कर रही हो अर्थात् उस वस्तुका प्रतिस्थापन कर सकती हों। इसप्रकार किसी वस्तुका प्रतिस्थापन करने वाली वस्तुओंका परिमाण उस वस्तुकी पूर्ति बढ़ाकर पूर्तिके नियमानुसार उस वस्तुका मूल्य कम कर देता है। किन्तु यह अनिवार्य नहीं है कि ऐसी स्थानापन्न वस्तुओंकी समस्त पूर्ति वस्तुविशेषकी पूर्तिपर प्रभाव डाले ही। हो सकताहै कि ऐसी स्थानापन्न वस्तुओंका प्रयोग अन्य आवश्यकताओं की तृप्तिके लिएभी होताहो अथवा पहिली वस्तुका प्रयोग करनेवाले उस वस्तुका अन्य वस्तुओं द्वारा प्रतिस्थापन हितकर न समझते हों और ऐसी स्थानापन्न वस्तुओंके होतेहुए भी पहिली ही वस्तुका प्रयोग करते रहें। अतएव ऐसी स्थानापन्न वस्तुओंकी पूर्तिका उस वस्तुकी पूर्तिपर केवल आंशिक प्रभावही पड़ेगा और उसी अंशके अनुपातमें उस वस्तुका मूल्यभी कम होगा।

सीमान्त स्थानापन्नता

जब हम आर्थिक उद्देश्योंके बाहुल्य और उन्हें सिद्ध करनेके साधनोंकी न्यूनताके सिद्धान्तको स्वीकार कर लेते हैं तो प्रतिस्थापना का महत्व औरभी अधिक होजाता है क्योंकि इसकी सहायतासे हम साधनोंकी न्यूनताको सापेक्ष रूपसे कम करसकते हैं। मनुष्य का उद्देश्य उपलब्ध साधनों द्वारा अधिकसे अधिक तृप्ति प्राप्त करना है और साधनोंके पारस्परिक प्रतिस्थापनसे हम ऐसी अवस्थाको प्राप्त करसकते हैं कि विविध साधनोंको इस अनुपातमें प्रयोग करें, जिससे हमें अधिकतम तृप्ति मिले। इस अनुपात में किसीभी प्रकारका परिवर्तन होनेपर हमें प्राप्त तृप्तिमें ह्रास ही होगा। यह सत्यहै कि किसी एकवस्तु अथवा साधनका उससे सर्वथा भिन्न वस्तु अथवा साधन द्वारा प्रतिस्थापन कियाजाना सम्भवसा प्रतीत नही होता विशेषकर उस अवस्थामें जबकि प्रतिस्थापन के अनन्तर भी हमें पहिलेके समानही तृप्ति पाने की इच्छा हो। परन्तु किसी वस्तु अथवा साधनकी सीमान्त वृद्धिका किसी सर्वथा

भिन्न वस्तु अथवा साधनकी सीमान्त वृद्धि द्वारा, सम तृप्ति की उपलब्धि का नियन्त्रण होतेहुए भी, प्रतिस्थापन कियाजाना असम्भव नही। ऐसातो सदैव होता ही रहता है।

प्रतिस्थापना और उपभोग

घरेलू आय-व्ययके सम्वन्धमें हम समसीमान्त उपयोगिता नियमका उल्लेख करही चुके है। मनुष्य अपनी सीमित आयको अपने उद्देश्योकी पूर्त्तिके लिए विविध प्रकार के साधनो अथवा वस्तुओपर व्यय करता रहता है। और इस व्ययसे उसे कुछ तृप्ति प्राप्त होती रहती है। परन्तु उसका लक्ष्य अपनी सीमित आयसे अधिकतम तृप्ति प्राप्त करना है। इस लक्ष्यकी सिद्धिके लिए वह एकवस्तु या साधनका दूसरी वस्तु या साधनके स्थानपर प्रतिस्थापन करता रहता है। एक समय आता है जबकि प्रत्येक वस्तु या साधनपर किये जानेवाले सीमान्त व्ययसे प्राप्त होनेवाली तृप्ति सम होजाती है। यह वह स्थितिहै जिसमें उसे अधिकतम तृप्ति प्राप्त होती है। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य तटस्थ अवस्थापर पहुचनेके लिए प्रतिस्थापना द्वारा अपने विविध प्रकारके व्यय न्यूनाधिक करता रहता है।

प्रतिस्थापना और उत्पादन

प्रतिस्थापना का सिद्धान्त केवल घरेलू आय-व्ययमे अधिकतम तृप्ति प्राप्त करने तक ही सीमित नही है वरन् हर प्रकारकी आर्थिक घटनाओका प्रतिस्थापना से घनिष्ट सम्वन्ध है। वस्तुओका पारस्परिक विनिमय प्रतिस्थापना का ही रूपान्तर है। उत्पादन और वितरणमें तो प्रतिस्थापनासे वहुतही काम पडताहै। इस स्थानपर इतना कहदेना आवश्यक है कि प्रतिस्थापनासे हमारा अभिप्राय प्राय: सीमान्त प्रतिस्थापना से ही होता है। उत्पादन को ले लीजिए। किसीभी उत्पादन के साधन का किसीभी उत्पादन की योजनासे पूर्णतया लोप करना सम्भव नहीं परन्तु उनमें से किसी एकके विशेष अंशका किसी दूसरेंके विशेष अशसे प्रतिस्थापन किया जा सकता है। जव किसी साधनकी पूर्ति न्यून होने लगतीहै तो उसका मूल्य वढ़ जाने

के कारण उसका प्रतिस्थापन करनेवाले साधन का प्रयोग आरम्भ होने लगता है। पहिले साधनोकी माग कम होनेसे उसका मूल्य गिरने लगताहै और स्थानापन्न साधनकी माग बढनेसे उसका मूल्य चढने लगता है और प्रतिस्थापन तबतक होता रहताहै जबतक कि उक्त साधनो द्वारा प्राप्त सीमान्त उत्पत्तिकी मात्राओ और उनके मूल्योमें एकसा अनुपात नही होजाता है।

वैसेभी उत्पादक अधिकतम उत्पत्ति करनेके लिए प्रयुक्त साधनोके पारस्परिक अनुपातमें परिवर्तन करतेही रहते है और इन परिवर्तनो के कारण उत्पादन विधिमें परिवर्तन होते रहते है। इन परिवर्तनोका आधार किसी साधन विशेषकी सीमान्त-वृद्धि द्वारा प्राप्त होनेवाली उत्पत्तिकी मात्रा है। जबतक किसी साधन विशेषसे सम्बन्धित सीमान्त उत्पत्तिकी मात्रा अन्य साधनो से सम्बन्धित सीमान्त उत्पत्ति की मात्रासे अधिक रहती है, उस साधन विशेषका अधिकाधिक मात्रामें प्रयोग किया जाताहै और अन्य साधनोका कम या उतना ही। यह क्रिया तबतक समाप्त नही होती जबतक हर साधनोके सीमान्त प्रयोगसे प्राप्त होनेवाली उत्पत्तिकी मात्रा सम नही होजाती।

प्रतिस्थापना और वितरण

यदि प्रतिस्थापना उत्पादनमें काम आनेवाले विविध साधनोकी मात्रापर प्रभाव डालती है तो इसप्रकार कीगयी उत्पत्तिके वितरण पर अवश्यही प्रभाव डालेगी। जिन साधनोका प्रयोग कम होता जारहा है, उनके भागमें कमी आती जायेगी। यदि श्रमके स्थानपर पूजीका प्रयोग अधिक होने लगेगा तो श्रमजीवियो को वेतन के रूपमें मिलनेवाला उत्पत्तिका भाग पहिलेसे कम होजायगा और पूजीपतियो को ब्याजके रूपमें मिलनेवाला भाग अधिक।

प्रतिस्थापना को एक अन्य दृष्टिसे इसप्रकार भी देखा जासकता है। किसीभी वस्तु अथवा साधनको भिन्न भिन्न प्रकारके प्रयोगो में लगाया जासकता है। इस वस्तु अथवा साधनकी मात्राका इन भिन्न भिन्न प्रयोगो में इसप्रकार वितरण किया जाताहै कि प्रत्येक प्रयोगसे प्राप्त होनेवाली सीमान्त तृप्ति या उत्पत्ति एकही जैसी होजाय। उदाहरणके लिए भूमिको अनेक कार्योमें लगाया जासकताहै। उसपर

खेतीकी जासकती है, मकान बनवाया जासकता है अथवा सडक बनवाई जासकयी है। इन भिन्न भिन्न प्रयोगोमें भूमि का वितरण इसप्रकार होगा कि हर प्रयोगसे प्राप्त होनेवाली सीमान्त तृप्ति एकसी होजाये।

प्रतिस्यापना की विरोधी शक्तियां

इसप्रकार तटस्थ स्थिति और प्रतिस्थापना द्वारा मनुष्यका आर्थिक जीवन संगठित होता रहता है। कभी कभी यह नियम स्वयही हमारे अनजाने में अपना कार्य करते रहते है। ऐसा प्राय: वस्तुओके उपयोगके सम्बन्धमें होताहै। कभी कभी हमें सोच समझकर इनका आश्रय लेना पडता है। ऐसा प्राय: वस्तुओके उत्पादनके सम्वन्धमें करना पडता है। परन्तु इसका यह अर्थ नही कि यह नियम सदैवही अपना कार्यकर पाते है। इनका विरोध करनेवाली शक्तियोका भी अभाव नही। मनष्यके स्वभावको ही ले लीजिए। यह सुगमतासे परिवर्तित होनेवाला वस्तु नही। मनुष्य जब किसी वस्तुका प्रयोग दीर्घकाल तक करता रहताहै तो उसके स्थानपर किसी दूसरी वस्तुका प्रयोग करना उसकेलिए बहुत कठिन होजाता है; चाहे दूसरी वस्तु के प्रयोगमें उसका लाभही क्यो न हो और ऐसाभी असम्भव नही कि समय समय पर उसके स्वभावमें जो स्वयं परिवर्तन होते रहते है, वे प्रतिस्थापना के कार्यका विरोध करने लगें। इसके अतिरिक्त सब मनुष्योकें स्वभावभी एकही जैसे नहीं होते। ऐसे मनुष्योकी भी कमी नही जो एक दूसरेका प्रतिस्थापन करनेवाली दो वस्तुओमें से किसी एकके प्रति विशेष श्रद्धा रखते हो और जबतक उनके मूल्योमें बडाभारी अन्तर न पड़जाय, उसका प्रयोग बन्द न करें। कभी कभी प्रतिस्थापना द्वारा थोडासा ही लाभ प्राप्त होनेके कारण लोग इस क्रियाको आलस्यवश टाल जाते है। इसीप्रकार उत्पादनमें भी प्रतिस्थापना पूर्णरूप से कार्य नही करपाती। बहुतसे उत्पादक साहससे वञ्चित होते है और अधिक कुशल उत्पादन विधियोको प्रयोगमें लानेसे हिचकिचाते है। अथवा यदि मूल्यमें वृद्धि होनेके कारण उत्पादक पर्याप्त लाभ उठा रहाहो तो प्रतिस्थापना से मिलनेवाले छोटे मोटे लाभोकी ओर ध्यानही नही जाता।

६

आर्थिक सन्तुलन

मूल्यों का पारस्परिक सम्बन्ध

समस्त आर्थिक पद्धतिका भलीभाति विश्लेषण करनेसे यह स्पष्ट रूपसे विदित होजाता है कि हर वस्तु या सेवाका मूल्य अन्य वस्तुओ या सेवाओके मूल्योंसे प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूपमें सम्बन्धित रहता है अर्थात् हमारी आर्थिक पद्धति परस्पर सम्बन्धित मूल्योकी पद्धति है और इन मूल्योका पारस्परिक सन्तुलन उपभोक्ताओ द्वारा स्थापित होता है। यह आवश्यक नही है कि क्रय-विक्रय की वस्तुए उपभोग्य पदार्थ ही हो। केवल इतना आवश्यक है कि जन-समुदाय को उनके लेनेकी चाहहो और विभिन्न वस्तुओ अथवा वस्तुसमूहो के लिए चाहके न्यूनाधिक होनेका निश्चय किया जासके। स्मरण रहे कि चाहकी न्यूनाधिकता वस्तुओके मूल्यपर निर्भर नही रहती अर्थात् किसी वस्तुके लिए चाहका उसके मूल्यसे कोईभी सम्बन्ध नही होता।

वस्तुओ के मूल्य उपभोक्ताओ की आयपर निर्भर रहते है और उपभोक्ताओ की आय उत्पादनके साधनोके मूल्य तथा उनके उत्पादन कार्यमें प्रयुक्त मात्रापर निर्भर रहती है। इसप्रकार न केवल उपभोग्य पदार्थोके मूल्योमें ही पारस्परिक सम्बन्ध होता है वरन् उत्पादनके साधनो द्वारा प्राप्त सेवाओके मूल्यभी इन मूल्योसे सम्बन्धित रहते हैं। वास्तवमें उत्पादनके साधनो द्वारा प्राप्त सेवाओके मूल्योका निर्धारणभी उसी प्रकार माग और पूर्तिके सन्तुलनसे होताहै जैसे कि अन्य वस्तुओं का। परन्तु उत्पादको द्वारा प्रयुक्त किये जानेवाले उत्पादनके साधनोकी माग और पूर्तिमें कुछ विशेषताए होती हैं। उत्पादककी उत्पादनके साधनोके लिए माग उसकी अपनी आवश्यकताओ की तृप्तिके लिए नही होती बल्कि इसलिए होती है कि वह इनके प्रयोग द्वारा कोई ऐसी वस्तु उत्पन्न करना चाहता है जो कि अन्य लोगोकी किसी

आवश्यकताको तृप्ति करेगी। वह उत्पन्न वस्तुको बेचकर प्राप्त आयसे अपनी आवश्यकताओ को तृप्त करेगा। यदि उत्पन्न वस्तुके लिए मांग बढ जातीहै तो उसकी उत्पादनके साधनोकी मागमें वृद्धि होना आवश्यक होजाता है। उत्पादक को उत्पादनके साधनोका मूल्य निर्धारित करते समय उनके द्वारा उत्पन्न वस्तुके मूल्यका ही सहारा लेना पडता है। उत्पन्न वस्तुके मूल्य जाने विना उत्पादकको उत्पादनके साधनोका क्या मूल्य देना चाहिए, यह निश्चय करना सम्भव नही। इसप्रकार यहा अन्य वस्तुओकी माग उनके लिए उपभोक्ताओंकी न्यूनाधिक चाहपर निर्भर है और इस चाहकी न्यूनाधिकता ही उन वस्तुओके सापेक्ष मूल्यो तथा मागकी मात्राको निर्धारित करती है। उत्पादनके साधनोके मूल्य तथा उनकी मागकी मात्राके निर्धारण करनेमें उनके द्वारा उत्पन्न कीगयी वस्तुके मूल्यको विशेष महत्व प्राप्त है। इसके अतिरिक्त विविध साधनोके मूल्योका परस्पर एक दूसरे पर निर्भर रहनाभी विशेष रूपसे ध्यानमें रखना चाहिए क्योकि किसीभी एक साधन विशेषका मूल्य अन्य साधनोके मूल्योसे इतने घनिष्ट रूपसे सम्बन्धित है कि उसका पृथक निर्धारण करना सम्भव नही।

मूल्यो का सन्तुलन

इसकारण सन्तुलनके विश्लेषण कार्यको तीन भागोमें विभाजित करनेकी प्रथा अर्थशास्त्रियो में चली आरही है:

(१) पहिले भागमें केवल वस्तुओके विनिमयके साधारण सन्तुलनका ही विश्लेषण किया जाता है।

(२) दूसरे भागमें किसी विशेष उत्पादन की सस्थाओका और:

(३) तीसरेमें उत्पादनके साधारण सन्तुलन का।

विनिमयके साधारण सन्तुलनके सिद्धान्तके प्रथम निर्माता प्रसिद्ध अर्थशास्त्री वालरेस थे। मान लीजिए कि विनिमय करनेके लिए हमारे पास केवल दो वस्तुएं क और ख है और प्रत्येक व्यक्ति द्वारा या तो क की पूर्ति और ख की माग या ख की पूर्ति और क की मागका होना ही सम्भव हो सकता है। पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थितिमें सन्तुलन उस मूल्यपर स्थापित होगा जबकि क की पूर्ति क की मांगके

सम और फलस्वरूप ख की पूर्ति ख की मागके सम होजायेगी। स्मरण रहे कि इन दो वस्तुओं में से एक (यहा ख ले लीजिए) को मूल्यके मापकके रूपमें माना जारहा है। इस प्रकार यदि दो वस्तुओमें विनिमय कार्य सम्पन्न होरहा हो तो हमें केवल एकही वस्तुका मूल्य, और यदि तीन में यह कार्य होरहा हो तो दो वस्तुओंका मूल्य, निकालना होगा। साधारणतया कहा जासकता है कि जितनी वस्तुओमें विनिमय-कार्य सम्पन्न होरहा हो उनसे एक कम मूल्योंका मालूम करना आवश्यक है क्योंकि मूल्य उन वस्तुओमें से एकको मापक मानकर ही निर्धारित किये जाते है। यदि विभिन्न वस्तुओके मूल्य हमें मालूमहो तो किसी व्यक्ति विशेपकी उनके लिए न्यूनाधिक चाहका आश्रय लेकर हम यह मालूम करसकते है कि जिन वस्तुओसे वह व्यक्ति वचित है, उनकी वह अमुक मात्रामें पूर्ति करनेके लिए तैयार है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्तिकी प्रत्येक वस्तुके लिए माग और पूर्ति निकालकर हम प्रत्येक वस्तुकी कुल माग और पूर्ति साधारण जोड द्वारा निकाल सकते है। यदि विभिन्न वस्तुओके मूल्य इसप्रकार स्थापित होजायें कि प्रत्येक वस्तुकी माग उसकी पूर्तिके सम होजाये तो ऐसी स्थितिको सन्तुलनकी स्थितिके नामसे पुकारा जाता है और जवतक हम इस स्थितिको प्राप्त नही करपाते, तव तक कुछ वस्तुओके मूल्य घटते और कुछके वढते रहते है। सन्तुलनकी स्थितिमें हमें प्रत्येक वस्तुकी माग और पूर्तिमें समता होनेके कारण इतनी सामग्री उपलब्ध होजाती है कि गणितशास्त्रकी सहायतासे हम प्रत्येक वस्तुके अज्ञात मूल्यको मालूम करनेकी सामर्थ्य प्राप्त करलेते है। यह सन्तुलन स्थायीभी हो सकता है और अस्थायी भी। इसके स्थायी होनेके लिए परमावश्यक है कि इसके भंग होतेही इसप्रकार की स्वयभू शक्तियों का प्रादुर्भाव हो जो इसके पुन: स्थापन की भरसक चेष्टा करें अर्थात् यदि मूल्य सन्तुलनाभीष्ट मूल्योसे अधिक होने लगे तो ये शक्तिया उन्हें कम करनेमें सलग्न होजायें। और यह कार्य तभी सम्पन्न हो सकताहै, जवकि पूर्ण प्रतिस्पर्धाकी दशामें मूल्योके वढतेही पूर्तिकी मात्रा मागसे अधिक होजाये। इसी प्रकार मूल्योके कम होनेसे मांगका पूर्ति की मात्रासे अधिक होना आवश्यक है। अर्थशास्त्री हिक्सने मूल्योमें परिवर्तन होनेवाले कारणो में माग अथवा पूर्तिपर पडनेवाले प्रभावोको आय-प्रभाव तथा स्थानापन्न-प्रभावमें विभाजित किया है। किसी वस्तुका मूल्य कम होनेके कारण लोग उसका अधिक प्रयोग करना आरम्भ कर देतेहै और दूसरी वस्तुओका कम।

यह हुआ मूल्यके कम होनेका स्थानापन्न प्रभाव। इस प्रभावसे उस वस्तुकी मांग अधिक और पूर्ति कम होती है। किसी वस्तुका मूल्य कम होनेका यह अर्थभी हो सकता है कि खरीदनेवालो की आयमें वृद्धि हुई और बेचनेवालो की आयमें न्यूनता। मान लीजिए कोई व्यक्ति उस वस्तुपर मूल्य कम होनेसे पहिले १० रुपये खर्च करसकता था। मूल्य कम होनेसे वह उस वस्तुकी उतनीही मात्रा अब १० रुपये से कम खर्च करके प्राप्तकर सकता है। मूल्य कम होनेसे पहिले और बादके व्ययके अन्तरको उसकी आय-वृद्धि मान लीजिए। यदि इस वृद्धिको वह उसी वस्तुकी अधिक मात्रा खरीदनेमें प्रयुक्त करना चाहता है तो उस वस्तुकी मागमें आय-प्रभाव द्वाराभी वृद्धिही होगी और बेचनेवाले भी अपनी आयकी कमीको पूरा करनेके लिए उसकी अधिक मात्रामें पूर्ति करेंगे। और यदि इस प्रभाव द्वारा मांग और पूर्तिमें एकही जैसी वृद्धिहो तो अन्ततोगत्वा केवल स्थानापन्न प्रभावही मागको बढानेका कारण होगा, आय-प्रभाव नही। किन्तु यदि वह वस्तु घटियाहै और उसका अधिक मात्रामें प्रयोग इस व्यक्तिको अभीष्ट नही; तो होसकता है कि वह आय-प्रभाव द्वारा प्राप्त आयकी वृद्धिको किसी दूसरी वस्तुके खरीदनेमें प्रयोग करे और इसप्रकार उस वस्तुकी मागमें आय-प्रभाव द्वारा तनिकभी वृद्धि न हो। हम देखते है कि आय-प्रभावसे पूर्तिमें तो वृद्धि होगी ही। इसकारण उस वस्तुका मूल्य और भी कम होजाने की सम्भावना है।

संस्था का सन्तुलन

मनुष्य केवल विनिमय द्वाराही उन वस्तुओको जो उसके पासहै, देकर अन्य वस्तुएं जो उसके पास नही है और जिन्हें प्राप्त करनेकी उसकी इच्छाहै, प्राप्त नहीं कर सकता। इस क्रियाको पूरा करनेके लिए दूसरा साधन उसके पास अपनी वस्तुओ को उत्पादन द्वारा नयी वस्तुओं में परिवर्तन करलेना है। स्पष्टहै कि ऐसा वह तभी करेगा जबकि उत्पादन द्वारा उसे साधारण विनिमयसे अधिक लाभ मिलने की आशाहो अर्थात् जब उत्पादन द्वारा परिवर्तित वस्तुओंका विनिमय-साध्य मूल्य परिवर्तनके पश्चात् अधिक होजाये। उत्पादनका कार्य आधुनिक संसारमें विशेष संस्थाओ द्वारा हुआ करता है। उनके चलानेवाले उद्योगपति होते हैं। वे उत्पादन के साधनोके प्रयोग द्वारा उत्पादन कार्यमें संलग्न होतेहै और इन साधनोसे प्राप्त

सेवाओंको नयी वस्तुओमें परिवर्तित करते हैं। इसलिए ऐसी उत्पादन-संस्था का मुख्य उद्देश्य उत्पादनके साधनोको एकत्रित करके उनके द्वारा प्राप्त वस्तुओ को वेच कर साधनो तथा उत्पन्न वस्तुओके कुल मूल्यमें अधिकसे अधिक अन्तर पैदा करना है। ऐसी सस्थाके सन्तुलनकी अवस्था प्राप्त करनेका विवेचन हिक्स इसप्रकार करता है। मान लीजिए कि एक उत्पादनके साधन 'क' को एक वस्तु 'ख' में परिवर्तित करनेके कार्यमें एक सस्या सलग्न है। पूर्ण प्रतिस्पर्धाकी स्थिति है और क साधन और 'ख' वस्तु दोनोके मूल्य निश्चित रूपसे ज्ञात है, उत्पादन कार्य सस्थाके लिए उससमय तक लाभदायक है जबतक कि 'ख' वस्तु द्वारा प्राप्त कुलमूल्य उसके उत्पादन में प्रयुक्त 'क' साधनपर व्यय कियेगये कुल मूल्यसे अधिक है। सस्थाका श्रेय 'ख' वस्तुकी उतनी मात्रा उत्पन्न करने में है जितनी वस्तुसे प्राप्त कुल मूल्य और साधनपर व्यय कियेगये कुल मूल्यमें अधिकतम अन्तर हो। रेखाशास्त्र की सहायतासे सन्तुलनकी स्थितिको इसप्रकार दिखाया जासकता है। मान लीजिए हम 'म,क' मुख्य रेखापर साधनकी प्रयुक्त मात्रा दिखाते है और 'म,ख' मुख्य रेखा पर इस मात्राके प्रयोगसे प्राप्त वस्तु की मात्रा दिखाते है। मान लीजिए प्रयुक्त साधनकी मात्रा 'म,स' है और उसके प्रयोगसे प्राप्त उत्पन्न वस्तुकी मात्रा 'स,व' है। 'म,ल' को 'स,व' के सम बनाकर उसमेंसे 'ल,र' इतना काट लीजिए जिससे कि 'ल,र' द्वारा वस्तुकी उतनी मात्रा दिखायी जारही हो, जिसका कि मूल्य प्रयुक्त साधन 'म,स' के मूल्यके सम हो। तब 'म,र' वस्तुकी उस मात्राका द्योतक है जो
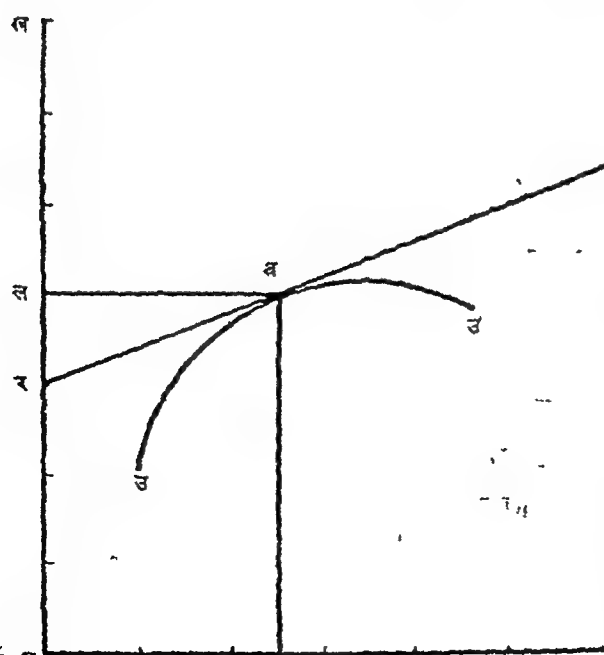
संस्था को अधिक प्राप्त होती है और इसका कुल मूल्य उत्पादन व्यय और कुल प्राप्त आयके अन्तर का द्योतक है।
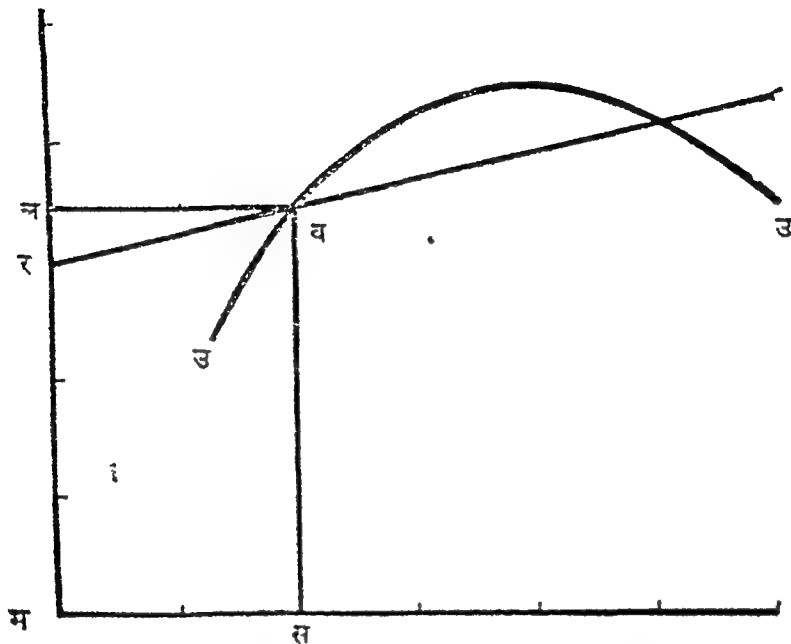
संस्थाके सन्तुलनके लिए आवश्यक है कि 'म,र' अधिकतम हो और सदा लाभ (न कि हानि) का द्योतक हो। यह अवस्था तभी प्राप्त होसकती है जब कि 'र,ब' रेखा उत्पादन रेखाको दो या अधिक स्थानोंमें काटनेके स्थानपर केवल एकही स्थान 'व' पर स्पर्श ही करे। गणितशास्त्र की सहायतासे यह सिद्ध किया जासकता है कि यह अवस्था केवल उस समय प्राप्त होसकती है जब कि उत्पादनके साधनका मूल्य उसके द्वारा प्राप्त सीमान्त उत्पत्तिके सम होजाये अथवा उत्पन्न वस्तुका मूल्य उसके सीमान्त उत्पादन व्ययके सम होजाये। इसके अतिरिक्त 'म,र' के अधिकतम होनेके लिए यहभी आवश्यकहै कि जिस स्थानपर 'र,व' रेखाका उत्पादन रेखासे सम्पर्क हो उस स्थानपर उत्पादन-रेखा 'म,स' मुख्य रेखाकी ओर उभरी हुईसी हो साधारण शब्दोंमें इसका अर्थ यह होगा कि सन्तुलनकी स्थिति उससमय प्राप्त होतीहै जबकि सीमान्त उत्पत्तिका क्रमशः कमहोना आरम्भ होजाये अथवा सीमान्त उत्पादन-व्ययकी क्रमशः वृद्धिहो। इसके अतिरिक्त सन्तुलनकी अवस्था प्राप्त होने

पर यहभी आवश्यक है कि औसत उत्पत्तिका ह्रास होरहा हो अथवा औसत उत्पादन-व्ययकी वृद्धि।

संस्थाके सन्तुलन प्राप्त करनेकी स्थितिको हिक्सके अनुसार दो प्रकारसे दर्शाया जासकता है। एक तो:

१. जिससमय साधनका मूल्य उसके द्वारा प्राप्त सीमान्त उत्पत्तिके मूल्य के सम होजाये।

२. सीमान्त उत्पत्तिका ह्रास होना आरम्भ होजाये।

३. औसत उत्पत्तिका ह्रास होना आरम्भ होजाये।

और दूसरे:

१. जब वस्तुका मूल्य उसके सीमान्त उत्पादन व्ययके सम होजाये।

२. सीमान्त उत्पादन-व्ययकी क्रमश: वृद्धि होना आरम्भ होजाये।

३. औसत उत्पादन-व्ययकी वृद्धि होना आरम्भ होजाये।

प्राय: उत्पादनके साधनो अथवा उत्पादन-विधियोके छोटे छोटे अंशोमें अविभाज्य होनेके कारण और अधिक मात्रामें उत्पत्ति करनेसे उत्पादन-व्ययमें वाह्य अथवा अभ्यान्तरिक बचतोके कारण उत्पत्ति की क्रमश: वृद्धि (अथवा उत्पादन-व्यय का क्रमश: ह्रास) होजाता है और जबतक उत्पत्तिकी वृद्धिसे उत्पादन-व्यय का ह्रास होता रहेगा, सस्थाका व्यवस्थापक उत्पत्तिकी मात्राको बढानेकी ही चेष्टा करता रहेगा। परन्तु ससारमें उत्पादनके साधनोका बाहुल्य नही; न्यूतना है और यदि हम वस्तु उत्पन्न करनेवाले साधनोमें से एक साधनका प्रयोग तो अधिकाधिक मात्रा में करते चले जायें परन्तु अन्य साधनोकी मात्रा में तनिकभी परिवर्तन न करें अथवा कम मात्रामें परिवर्तन करें तो उत्पादन का क्रमश: ह्रास अथवा उत्पादन-व्ययकी क्रमश: वृद्धि होना शुरू होजाती है। यदि यहभी मानलिया जाये कि किसी विशेष सस्थाको उत्पादनके सब साधन अधिकाधिक मात्रामें प्राप्त करनेमें कोईभी आपत्ति नही तो भी उत्पत्तिकी मात्रा बढ जानेपर संस्थाके प्रबन्ध-कार्यकी कठिनाइयोके कारण सीमान्त उत्पादन-व्ययमें वृद्धिका होना समय आनेपर अनिवार्यसा होजाता है। स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति आनेपर व्यवस्थापक उत्पत्तिकी मात्रामें वृद्धि करना बन्द करदेगा। परन्तु यदि सीमान्त उत्पादन-व्यय अपनी न्यूनतम अवस्थासे थोड़ाही अधिकहो तो हो सकताहै कि उस अवस्थामें सीमान्त-उत्पादन-व्यय औसत

उत्पादन-व्ययसे कमहो और यदि संस्था वस्तुको सीमान्त-उत्पादन-व्ययके सम मूल्य पर बेचेतो उसे हानि होगी। इसी कारण संस्थाके सन्तुलनके लिए न केवल सीमान्त-उत्पादन-व्ययका बढना आरम्भ होजाना ही आवश्यकहै बल्कि औसत उत्पादन-व्ययका भी।

उद्योग और उसका सन्तुलन

एकही प्रकारकी वस्तु उत्पन्न करनेवाली ऐसी बहुतसी संस्थाओके समूहको उद्योग कहते है। यदि किसी उद्योगमें सलग्न सस्थाओको उसके समानही उत्पत्तिकारक अन्य उद्योगमें सलग्न सस्थाओसे अधिक लाभ प्राप्त होरहा हो तो पूर्ण प्रतिस्पर्धाकी दशामें उस उद्योगमें नयी संस्थाएं स्थापित होनेकी सम्भावनाहै और इसके विपरीत यदि उसमें कम लाभ प्राप्त होरहा हो तो उसमें सलग्न कुछ सस्थाओके बन्द होजाने की सम्भावना है। इसकारण पूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशामें किसी उद्योग को सन्तुलन की अवस्था उससमय प्राप्तहोगी जबकि उस उद्योगमें सलग्न सस्थाओकी संख्यामें और प्रत्येक सस्थाकी उत्पत्तिकी मात्रामें वृद्धि अथवा ह्रासकी कोई भी सम्भावना न हो। स्मरण रहे कि एकाधिकारकी स्थितिमें औसत तथा सीमान्त उत्पादन व्यय का ह्रास होता रहनेपर भी सन्तुलनकी अवस्था प्राप्त होना सम्भव है। परन्तु इस स्थितिमें भी सस्था एकदम बढ़ती ही नही चलीजाती। कही न कही तो उसे अपनी उत्पादनकी मात्रा बढानेसे रुकनाही पडेगा। यदि इस सम्बन्धमें कि उसे अधिकसे अधिक कितनी मात्रामें उत्पादन करना चाहिए, बढतेहुए सीमान्त उत्पादन व्ययसे सहायता नही मिलपाती तो उत्पन्न वस्तुके बाजारके सीमित प्रसारसे तो मिल सकती है। वास्तवमें बाजारकी सीमा और सीमान्त उत्पादन व्यय दोनो साथ साथ कार्य-शील रहते हैं।

उत्पादन और उसका सन्तुलन

वास्तविक आर्थिक ससारमें साधारण मनुष्य और संस्थाओंके व्यवस्थापक दोनों प्रकारके व्यक्ति मिलते है। साधारण मनुष्य उपभोग्य वस्तुओ अथवा उत्पादनके

साधनो दोनोंका लेन-देन करतेहैं और इसीप्रकार व्यवस्थापक भी। साधारण मनुष्य उपभोग्य वस्तुए खरीदताहै तो निजी उत्पादनके साधनोंको वेचता है। सस्थाका व्यवस्थापक उत्पादनके साधन खरीदताहै तो उपभोग्य वस्तुओंको वेचता है। सेवाओं का लेन-देन केवल साधारण मनुष्यो द्वारा होता है और अर्धनिर्मित वस्तुओंका केवल सस्थाओ द्वारा। इन विभिन्न वस्तुओंके विभिन्न वाजार होतेहैं और सन्तुलन उस मूल्यपर स्थापित होताहै जिसपर कि प्रत्येक वस्तुकी माग और पूर्ति सम हो जाये। केवल उत्पादनके साधनोके मूल्योमें सन्तुलनके सम्बन्धमें कुछ कहना शेष है। सस्थाके सन्तुलन की विवेचना करते हुए हम देखही चुकेहैं कि किसी साधनके मूल्य का उस साधनकी सीमान्त उपयोगिता अथवा उत्पत्तिके मूल्यके सम होना आवश्यक है; क्योकि यदि सीमान्त उत्पत्तिका मूल्य साधनके मूल्यसे अधिक होगा तो उस साधनका अधिक प्रयोग करनेसे व्यवस्थापककी आयमें उत्पादन-व्ययसे अधिक वृद्धि होगी और इससे व्यवस्थापकको उसका प्रयोग वढानेकी प्रेरणा प्राप्त होगी। दूसरे सन्तुलन-प्राप्तिके लिए यहभी आवश्यकहै कि प्रत्येक साधनकी प्रत्येक इकाईका एकही जैसा मूल्यहो, अन्यथा व्यवस्थापक अधिक मूल्यवाली इकाइयोके स्थानपर कम मूल्यवाली इकाइयोका प्रयोग करना आरम्भ करदेगा और इसकारण उस साधनके वाज़ारका सन्तुलन भग होजायेगा। हम देखचुके है कि साधारण वस्तुओंके वाजारमें भी सन्तुलन प्राप्त करनेके लिए यह आवश्यकहै कि वस्तुकी प्रत्येक इकाई का एकही मूल्य हो।

इसके अतिरिक्त यहभी आवश्यकहै कि विभिन्न साधनोके मूल्य और उनके द्वारा प्राप्त सीमान्त उत्पादन शीलतामें एकही जैसा अनुपात होना चाहिए। अर्थात् यदि किसीभी साधनकी सीमान्त उत्पादन शीलता को उसके मूल्यसे भाग दियाजाये, तो फल हरबार एकही होना चाहिए चाहे साधन कोईभी हो। गणितशास्त्रकी भाषामें कहाजा सकताहै कि :

$$\frac{\text{साधन 'क' की सीमान्त उत्पादनशीलता}}{\text{साधन 'क' का मूल्य}} = \frac{\text{साधन 'ख' की सीमान्त उत्पादनशीलता}}{\text{साधन 'ख' का मूल्य}}$$

$$= \frac{\text{साधन 'क' की सीमान्त उत्पादनशीलता}}{\text{साधन 'ग' का मूल्य}}$$

= ....

इसीप्रकार जितनेभी साधनोंका प्रयोग किया जारहा हो। कारण यहहै कि एक साधनसे सम्बन्धित यह अनुपात अन्य साधनोंसे सम्बन्धित उसी प्रकारके अनुपातोंसे अधिक होजाता है तो व्यवस्थापकको उस साधनका और अधिक प्रयोग करनेसे लाभ प्राप्त होता है।

अन्तमें सन्तुलनके लिए यहभी आवश्यकहै कि किसीभी साधनकी उन समस्त इकाइयोंका जो बाजारभाव या उससे कम मूल्यपर प्राप्त होरही हो, उत्पादन कार्य में प्रयोग कियाजाये। क्योंकि यदि ऐसी इकाइयोंका प्रयोग न कियाजायेगा तो उन के स्वामी उनका मूल्य कमकरके स्थापित सन्तुलनको भंग करदेंगे।

१०

मूल्य और उसके सिद्धान्त

मूल्य का अर्थ

अर्थशास्त्रमें मूल्य एक महत्वपूर्ण विषय है। यदि हम उसे समस्त शास्त्रका आधार भी कहदें तो अत्युक्ति न होगी। पुस्तकोंमें इस शास्त्रके चार भाग मिलते है। उपभोग, विनिमय, उत्पादन और वितरण। इनमेंसे किसी एकको भी भलीभांति समझनेके लिए मूल्यका यथेष्ट ज्ञान अनिवार्य है।

अभाग्यवश बहुत समयतक अर्थशास्त्रियोंमें मूल्यके यथार्थ परही मतभेद रहा। सौभाग्यवश यह मतभेदतो अब मिटचुका है। अर्थशास्त्रकी परिभाषामें किसी वस्तुके मूल्यसे हमारा अभिप्राय उस वस्तुकी उस शक्तिसे है जिसके द्वारा हम उस वस्तुके बदलमे दूसरी वस्तुएं या सेवाएं प्राप्त करसकते है अर्थात् किसी वस्तुकी एक इकाईके बदलमें हमें किसी दूसरी वस्तुकी चार इकाइयां मिल सकतीहै या कोई मनुष्य हमारी दो दिनतक सेवा करनेके लिए उद्यत होजाता है तो हम कहते है कि पहिली वस्तुका मूल्य दूसरी वस्तुकी चार इकाइया अथवा उस मनुष्यकी दो दिन की सेवा है। इसका अर्थ यह हुआ कि किसी एक वस्तुके उतनेही मूल्य होंगे जितनी कि उसके बदलेमे मिलनेवाली वस्तुए अथवा सेवाए। इस कठिनाईका सुलझाव किसी वस्तु विशेषको माप मानकर कियाजाता है। अन्य सब वस्तुओंके मूल्य इस मापक वस्तुद्वारा आंके जाते है। यदि यह मापक वस्तु द्रव्यका रूप धारण करले तो मूल्यके शास्त्रीय और साधारण बोलचालके अर्थमे कोई भी अन्तर नहीं रहता। इसीलिए कईएक अर्थशास्त्रियोंके मतमे विशेषकर कैसल प्रभृतिके, साधारण मूल्य ही वास्तविक तत्व है। इसके आगे वास्तविक मूल्यकी खोज करना व्यर्थ है।

प्रश्न उठताहै कि प्रत्येक वस्तुकी विनिमय-शक्तिका कारण क्या है। एक ओर तो वस्तुए हमारी आवश्यकताओं को तृप्त करती है। दूसरी ओर, हमें वस्तुओंको

प्राप्त करनेके लिए कुछ न कुछ उद्योग करना पडता है। स्वाभाविक था कि वस्तुओं के मूल्य-तत्वकी खोजमे सर्वप्रथम इन्ही प्रत्यक्ष गुणोकी ओर दृष्टि जाती और आजतक मूल्यके जितनेभी सिद्धान्त निर्माण कियेगये है, उन सबमें केवल गणितप्रधान अर्थशास्त्रको छोडकर इन्ही दो में से किसी एकको मूल्यका मुख्य कारण निर्धारित करने की चेष्टा कीगयी है।

मूल्य का श्रम सिद्धान्त

पाश्चात्य अर्थशास्त्री, विशेषकर अंग्रेजी विद्वान, एडम स्मिथको अपने शास्त्रका जन्मदाता मानते है। परन्तु इस महापुरुषसे पहिलेभी आर्थिक समस्याएं हुआही करती थी और लोग उनपर विचार कियाही करते थे। मूल्यके सम्बन्धमे भी ऐसा ही हुआ है। पश्चिममें जबतक धर्म और धार्मिक संस्थाओका बोलबाला रहा, तबतक मूल्यको न्याय और औचित्यसे सम्बन्धित किया जाताथा अर्थात् यदि किसीभी वस्तुका मूल्य न्याय-युक्त और उचित नही तो ऐसा मूल्य पानेवाला व्यक्ति अपराधी समझा जाताथा और उसे उचित दंड दिया जाताथा। परन्तु न्यायाधीशोंके मनमें प्रश्न उठा कि मूल्यके उचित और न्याय-युक्त होनेकीभी तो कोई कसौटी होनी चाहिए। कुछ समयतक वे लोग परम्पराको कसौटी मानते रहे, परन्तु जब अपराधियोंने अपने बचावके लिए यह कहना आरम्भ किया कि अमुक वस्तुका मूल्य मैंने इसलिए अधिक लियाहै कि मुझे उसे प्राप्त करनेके लिए अधिक श्रम करना पडा था तो मूल्यके उस सिद्धान्तकी नीव पडी, जिसे हम श्रम-सिद्धान्तके नामसे पुकारते है। एडम स्मिथसे पूर्ववर्ती अर्थशास्त्रियोंमें इस सिद्धान्तके अनुयायी पेटी, लाक, कैंटीना आदि थे। तदनन्तर [illegible] और [illegible], [illegible] और [illegible] वस्तुओं [illegible] ही उनके [illegible] [illegible] स्मिथ [illegible] श्रम-सिद्धान्तका [illegible] [illegible] किया। यद्यपि [illegible] [illegible] [illegible] अर्थ- [illegible] सिद्धान्त [illegible] किया है।

'राष्ट्रो की सम्पत्ति' नामक अपनी पुस्तकमें वह लिखते हैं: किसी वस्तुके मूल्य से हमारा अभिप्राय दो प्रकारके मूल्यसे होता है। एकतो उस वस्तुका औपयोगिक मूल्य और दूसरे उसका विनिमय-साध्य मूल्य। व वस्तुएं जिनका औपयोगिक मूल्य अधिकतम होताहै उनका विनिमय-साध्य मूल्य प्राय. कुछभी नही होता। पानीसे अधिक उपयोगी वस्तु कठिनतासे ही मिलेगी परन्तु उसके बदलेमे किसी वस्तुका पाना असम्भवसा ही है। हीरे मनुष्य जीवनके लिए तनिक भी उपयोगी नही परन्तु उनकी विनिमय-साध्य शक्ति अपार है"।

इतना कहकर एडम स्मिथने औपयोगिक मूल्यको तो तिलाजलि दे दी और उसके उपरान्त विनिमय-साध्य मूल्यके तत्वानुसन्धान की ओर अपना ध्यान आकृष्ट किया। उनके मतानुसार किसी वस्तुके विनिमयसाध्य मूल्यका कारण श्रम तो है ही परन्तु कभीतो वह उस वस्तुके प्राप्त करनेमे जो श्रम करना पडताहै उसे मूल्य का कारण और माप मानते है जैसे इस दृष्टान्तसे विदितहै कि यदि एक पछीके शिकार करनेमें शिकारी लोगोको एक मृगके शिकार करनेसे दुगना श्रम करना पडे तो एक पछीके बदलेमें दो मृग मिलने चाहिए तथा कभी वह वस्तुके बदलेमें जितना श्रम प्राप्त किया जासके, इस अर्थमें श्रमका प्रयोग करतेहै अर्थात् वस्तु लेकर जितना श्रम कोई मनुष्य हमारे लिए करनेको उद्यत होजाता है, उसे उस वस्तुके मूल्यका कारण और माप मानते है। इस मापके अनुसार यदि एक मृग दस शिकारियोका पेट भर सकताहै और एक पछी केवल एक शिकारी का तो एक मृगके बदलेमे पाच पछी तो अवश्य ही मिलने चाहिए। कोई सा भी श्रम लेलीजिए, श्रम वस्तुओके वास्तविक मूल्यका कारण तो है ही। द्रव्य केवल नाममात्रके मूल्यका द्योतक है। इसमे तनिकभी सन्देह नही।

रिकार्डोने एडम स्मिथके प्रथम मापको ठीक माना है और माल्थसने द्वितीय मापको। रिकार्डोका मत था कि उपयोगिता मूल्यके लिए आवश्यक भलेही हो, पर वह मूल्यका माप नही है। विनिमय-साध्य मूल्यका केवल एक मापहै और वहहै वस्तुओमें खपा हुआ श्रम।

समाजवादके प्रवर्तक कार्ल मार्क्सने स्मिथ और रिकार्डो दोनोसे प्रेरणा लेकर मूल्यके श्रम-सिद्धान्तको औरभी पुष्ट करनेका प्रयत्न किया। वस्तुओ के वास्तविक मूल्यका कारण श्रम तो है ही। परन्तु उसके मतानुसार पूजीभी सचित श्रमके

अतिरिक्त और कुछ नहीं। मार्क्सने एक नये सिद्धान्तका प्रतिपादन किया जिसे 'अतिरिक्त-मूल्य' के नामसे पुकारा जाताहै। अतिरिक्त मूल्यका सृजन इसप्रकार होता है। किसी वस्तुका मूल्यतो उसके निर्माणमें जितना श्रम करना पड़ा हो, उससे निर्धारित होताहै पर श्रमजीवीको केवल उतनाही मूल्य मिलताहै जितना कि श्रमके सृजन अर्थात् श्रमिकके पालनपोषण और रहनसहन पर लगायेगये श्रमके बराबर हो। वस्तुके मूल्य और श्रमजीवीको दियेगये मूल्यमें जो अन्तर होताहै उसीका नाम अतिरिक्त मूल्य है। मूल्य उस श्रमसे निर्धारित कियाजाता है जो किसी समाजकी आर्थिक और औद्योगिक स्थितिके अनुसार आवश्यक हो।

उत्पादन-व्यय सिद्धान्त

श्रम सिद्धान्तके प्रतिपक्षियोंने यद्यपि श्रमको मूल्यका मुख्य कारण तथा माप ठहराया है परन्तु वे भी उत्पादनके अन्य साधनों भूमि, पूंजी इत्यादिके अस्तित्वको स्वीकार करतेही रहे। एडम स्मिथने तो यहभी मानलिया कि उनका श्रम-सिद्धान्त केवल अत्यन्तही असभ्य समाजों पर लागू होता है। सभ्यताके प्रादुर्भावके अनन्तर हमें भूमि तथा पूंजी द्वारा प्राप्त सेवाओंको भी मूल्यका ही अंग माननेका आदेश होता है। रिकार्डो का मतभी एडम स्मिथसे भिन्न नहीं है। यहां तो और पूंजीपतियोंके कट्टर विरोधी कार्लमार्क्सने भी पूंजी और भूमिके अस्तित्वको तो मानाही है परन्तु वह भूमिको प्रकृतिकी देन और पूंजीको संचित श्रम मानकर उन्हें श्रमद्वारा उत्पन्न कियेगये मूल्यमेंसे किसीभी भागका अधिकारी नहीं मानता।

श्रम सिद्धान्तके संशोधनकी चेष्टा करतेहुए सीनियरने विचार प्रकट किया कि भूमि और श्रमके अतिरिक्त एक तीसरा उत्पादनका साधन है जिसके द्वारा पूंजीका सृजन होता है। इस साधनका नाम उसने उपभोग-उपेक्षा रक्खा और उत्पादन-व्यय [illegible] उपभोग-उपेक्षा [illegible] परिभाषित किया। [illegible] उपभोग-उपेक्षा [illegible] उत्पादन-व्यय और मूल्यमें [illegible]। [illegible] भी उत्पादनका साधन माना है। मार्शलने उत्पादन-व्ययकी [illegible] एक और भी संशोधन किया। [illegible]

है कि इन विविध साधनों को व्यवस्थापक या उद्योगपति एकत्रित करता है। इन्हें एकत्रित करनेके लिए उसे भूमिपतिको कर, श्रमजीवीको मजूरी, पूंजीपतिको व्याज और अपने आप को लाभ देना पडताहै और वह इन्हे देता है द्रव्यके रूपमें परिणत करके। इसलिए उत्पादन-व्ययको मापते समय हमें कष्ट, वेदना, जोखिम इत्यादिके स्थान पर उनके मौद्रिक स्वरूपकी ओरही ध्यान देना चाहिए। अमेरिकन अर्थशास्त्री केयरी और बास्तियाने इस सिद्धान्त में यह संशोधन किया कि मूल्य उत्पादन-व्ययपर निर्भर नही बल्कि पुनरुत्पादन-व्ययपर निर्भर होता है।

श्रम और उत्पादन-व्यय सिद्धान्तो की त्रुटिया

१ विनिमय-साध्य मूल्यके सिद्धान्तका मुख्य कार्य यहहै कि वस्तुओके विशेष अनुपातमें पारस्परिक विनिमय और इस अनुपातमें समय समय पर होनेवाले परिवर्तनो को भलीप्रकार बुद्धिग्राह्य बना दे। स्पष्ट है, श्रम-सिद्धान्त इस कार्यमें सफल नही होपाता।

२ भिन्न भिन्न प्रकारके श्रममें भेद होता है। कुशल, अर्धकुशल और अकुशल श्रम एकही प्रकारके नही होते। श्रम-सिद्धान्तके माननेसे यह भेदभाव मिटजाता है।

३ ऐसी वस्तु जो मनुष्य जीवन के लिए तनिकभी उपयोगी नही, चाहे कितनेही श्रमसे उत्पन्न कीजाये, कभीभी मूल्यवान नही होपाती।

४ श्रम-सिद्धान्त केवल वस्तुओकी पूर्तिकी ओर ध्यान देता है। मागकी ओर नही।

५ किसी वस्तुकी न्यूनताभी उसके मूल्यका एक कारण मानीजाती है। इस कारणके अनुसार,तो श्रम उत्पत्ति द्वारा इस न्यूनताको कम करके मूल्य-सृजनके स्थानपर मूल्य-नाशका कारण बनता है।

६ यहभी माननाही पडता है कि श्रमके अतिरिक्तभी अन्य उत्पादनके साधनहै ही। इसलिए केवल श्रमही मूल्यका कारण और माप तो नही बनसकता।

उत्पादन-व्यय सिद्धान्त द्वारा इस त्रुटिको दूर करनेका प्रयत्न कियागया है। परन्तु यह सिद्धान्तभी श्रम-सिद्धान्तकी तरह उसकी अन्य त्रुटियोसे दूषित है। इसके

अनिश्चित श्रम, उपभोग-व्याक्षेप जोखिम इत्यादि अभिन्न वस्तुओंको परस्पर जोड़ना असम्भवहै। और यदि मार्शलका अनुसरण करतेहुए हम इनका द्रव्यके रूपमें मूल्य निर्धारित करनेका प्रयत्न करतेहैं तो मूल्य द्वाराही मूल्यके कारण और मापकी जिज्ञासा तर्कयुक्त नहीं अत. व्यर्थ है। इसके अतिरिक्त कईएक वस्तुएं साथ साथ उत्पन्न होतीं हैं इसलिए उनमेंसे प्रत्येकका उत्पादन-व्यय निर्धारित करना कठिन होजाता है।

सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्त

उन त्रुटियोंको दूर करनेके लिए जीवन्सने इंग्लैन्ड में, मैंगरने आस्ट्रियामें और वालरसने स्विटजरलैन्डमें मूल्यके सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्तको प्रचलित किया। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक वस्तुका मूल्य किसी कार्यके लिए उसकी सीमान्त उपयोगिताके तुल्य होता है। यह सिद्धान्त पूर्तिके स्थानपर मांग को अधिक महत्व प्रदान करता है। बोजन बामबावर्क और विकस्टीड इस सिद्धान्तके बड़े बड़े अनुयायियों में से हैं।

एडम स्मिथ ने औपयोगिक मूल्य और विनिमयसाध्य मूल्यमें पारस्परिक विरोध की शंका की थी। स्मिथके मतानुसार विनिमयसाध्य मूल्य औपयोगिक मूल्यसे अधिक नहीं होसकता क्योंकि कोईभी मनुष्य अधिक उपयोगी वस्तु देकर कम उपयोगी वस्तु लेने के लिए उद्यत न होगा। इसी तरह औपयोगिक मूल्य विनिमयसाध्य मूल्यसे कम भी नहीं होसकता क्योंकि देनेवाला उपयोगिताकी हानि सहन नहीं करता तो लेनेवालाभी नहीं करेगा। इसलिए इन दोनों मूल्योंमें समानताका होना आवश्यक है; परन्तु व्यवहारमें तो ऐसा होता नहीं। कारण यहहै कि प्रत्येक वस्तुकी उपयोगिता न केवल भिन्न पुरुषोंके लिएही भिन्न होती है बल्कि एकही पुरुषके लिए भिन्न भिन्न परिस्थितियों और भिन्न भिन्न समयोंमें भिन्न होसकती है। उपयोगिता घटती बढ़ती रहती है। विनिमयसाध्य मूल्य किसी [illegible] पर [illegible] नहीं है और इस [illegible] उपयोगिता के बराबर नहीं बल्कि उस वस्तुकी उस समयकी सीमान्त उपयोगिता के बराबर होता है। सीमान्त उपयोगिता हम देखते हैं, [illegible] और [illegible] से सम्बन्धित है। इसलिए इस सिद्धान्तके अनुसार [illegible] आवश्यक नहीं कि मूल्य न केवल उपयोगिता बल्कि उसके साथ

न्यूनतापर भी निर्भर है क्योंकि जिन वस्तुओंकी न्यूनता होगी उनकी सीमान्त उपयोगिता और फलतः मूल्यभी अधिक होगा और जिन वस्तुओंका बाहुल्य होगा, उनकी सीमान्त उपयोगिता और फलतः मूल्यभी कम होगा। इसीकारण हीरे बहुमूल्य है और पानीका कुछभी मूल्य नहीं।

मार्शलने इन सिद्धान्तोंके पारस्परिक विरोधको मिटाने की कोशिशकी। उनके मतानुसार न तो केवल उपयोगिता और न केवल उत्पादन-व्ययही परन्तु दोनो मिलकर किसी वस्तुका मूल्य निर्धारित करते है। मूल्य, माग तथा पूर्ति दोनो पर निर्भर है। मागपर सीमान्त उपयोगिताका प्रभाव पड़ता है और पूर्तिपर उत्पादन-व्यय का औरइ सलिए मूल्य निर्धारण कार्यमें हमें दोनोको एकही जैसा महत्व प्रदान करना चाहिए। इसके अतिरिक्त मार्शलने अल्पकालीन और दीर्घ कालीन मूल्यमें भेद किया, उनके मतानुसार अल्पकालमें तो सीमान्त उपयोगिताका प्रभाव प्रबल रहता है और दीर्घकालमें उत्पादन-व्ययका।

आधुनिक अर्थशास्त्रीभी मूल्यके लगभग इसी सिद्धान्तको मानते है। केवल उत्पादन-व्यय और सीमान्त उपयोगिताकी परिभाषामें संशोधन कियेगये है। प्राचीन कालमें हम देख चुकेहै, उत्पादन-व्ययको श्रम, उपभोग-आक्षेप, जोखिम आदि उत्पादनके साधनोसे होनेवाले कष्ट, वेदना इत्यादिसे सम्बन्धित करनेकी परिपाटी थी। आधुनिक अर्थशास्त्री इस परिपाटीमें विश्वास नही रखते। उनका कथनहै कि आर्थिक साधनोकी संसारमें न्यूनता है। उनके द्वारा सिद्ध किये जानेवाले मानुषी उद्देश्योका बाहुल्य है। जब किसी एक साधनको हम किसी विशेष उद्देश्यको पूरा करनेके लिए प्रयोगमें लातेहै तो उसके द्वारा सिद्ध होनेवाले दूसरे एक अथवा एकसे अधिक उद्देश्योकी पूर्ति नही होपाती। यदि हमारा उद्देश्य उस साधन द्वारा अपनी आवश्यकताओंको तृप्त करनेवाली वस्तुए उत्पन्न करना था तो उन वस्तुओका उत्पादन-व्यय उन वस्तुओ द्वारा निर्धारित कियाजाये जो हम उस साधन द्वारा उत्पन्न कर सकते थे परन्तु हमने नही की अर्थात् किसीभी साधनके अन्य प्रयोगोका त्याग उस साधनके किसी विशेष प्रयोगसे होनेवाले उत्पादनका उत्पादन-व्यय है। इन्हें अवसर-व्यय, तुलनात्मक-व्यय या वैकल्पिक-व्ययके नामोसे पुकारा जाता है। ये व्यय वस्तुओकी पूर्तिपर उनकी न्यूनता या आधिक्यको घटा बढाकर मूल्यपर प्रभाव डालते है। चूंकि किसी साधन विशेषका किसी वस्तु विशेषके उत्पादनमें प्रयोग उस

वस्तुकी माग देखकर ही किया जाताहै इसलिए पूर्ति और तुलनात्मक-व्ययभी परस्पर विरोधी मागो द्वाराही निर्धारित होता है।

उपयोगिताको मांगका मूल कारण तो मानाही जाता है परन्तु उपयोगिताका सम्बन्ध है मनोविज्ञानसे और मनोवैज्ञानिक इच्छाओ इत्यादिकी निर्बलता और प्रबलताको ठीक मापना सम्भव नही है। केवल इतनाही कहा जासकता है कि अमुक इच्छा किसी दूसरी इच्छासे न्यून या अधिक है। इससे लाभ उठाकर पैरेटो, हिक्स आदि अर्थशास्त्रियोने अपने शास्त्रमे इच्छाओकी निर्बलता और प्रबलताके तुलनात्मक परिमाण, वस्तुओ और साधनोके स्थानापन्नकी सज्ञाओंका प्रयोग किया है। इसका विवेचन हम पीछे करचुके है।

११

उत्पादन के साधन–भूमि

उत्पादन का अर्थ

साधारणतया उत्पादनका अर्थ किसी वस्तुको उत्पन्न करना होता है। परन्तु किसी वस्तुकी सर्वथा नवीन सृष्टि नही होसकती, उसके निर्माणके लिए जिन मूल उपादानोकी आवश्यकता पडतीहै वह सबकेसब हमको प्रकृतिद्वारा प्राप्त होते है। इस प्राकृतिक सामग्रीकी अनेक प्रकारसे क्रमव्यवस्था करके उसको इच्छित रूप देना उत्पादन कहलाता है। हम कह सकतेहै कि मनुष्य उत्पन्न नही करता, केवल वस्तुओ का व्यवस्थाक्रम इसप्रकार बदल देताहै कि वह उसकी तत्कालीन अथवा भविष्यगत इच्छाओके क्रमके अधिक अनुकूल होजाती है। अपने शारीरिक श्रम मस्तिष्क अथवा उपभोग-व्याक्षेपकी सहायतासे मनुष्य वस्तुए उत्पन्न नही करता, बल्कि उन वस्तुओमें पूर्वनिहित उपयोगिताको उत्पन्न करता है। इस स्थानपर यह कहदेना भी अनुचित न होगा कि आर्थिक दृष्टिसे उत्पादन क्रिया उस समयतक समाप्त नही होती जबतक कि वस्तु उसका प्रयोग करनेवाले के पास नही पहुच जाती। इस कारण उत्पादन क्रियाओमें केवल कृषि, उद्योग-धधे और खानो द्वारा वस्तुओका उत्पन्न करनाही नही वरन् ऐसी वस्तुओको उनके प्रयोग करनेवालो तक पहुचाने का प्रबन्ध करनाभी सम्मिलित है।

हम देखचुके है कि मनुष्य अपने श्रमद्वारा केवल वस्तुओ को अपनी इच्छाओके अनुकूल बना सकता है अर्थात आर्थिक दृष्टिसे उनकी उपयोगितामे वृद्धि करसकता है। यह उपयोगिता अनेक प्रकारसे बढायी जासकती है। अर्थशास्त्रियोने इस उपयोगिताकी वृद्धिको भिन्न भिन्न दृष्टियोसे देखा है। कुछ लोगोने उपयोगिताको रूप, स्थान तथा समय परिवर्तन द्वारा बढाना सम्भव माना है। रूप-परिवर्तन द्वारा, प्राकृतिक सामग्री को इसप्रकार का रूप देदिया जाता है जिससे वह मनुष्यकी,

इच्छाओंके अनुकूल होजाती है। जैसे कपासका रूप बदलकर सूत कातना, सूतका रूप बदलकर कपडा बनाना। स्थान-परिवर्तन द्वारा वस्तुओंको उस स्थानसे जहा पर उनकी उपयोगिता तनिक भी नही होती अथवा कम होतीहै, उस स्थानपर पहुचा दिया जाताहै जहा उनकी उपयोगिता होती है, जैसे कोयला खानसे नगर तक अथवा उपभावना तक पहुचा दियाजाता है। वास्तवमें यातायातका उद्देश्य स्थान-परिवर्तन द्वारा उपयोगितामें वृद्धि करना है। समय-परिवर्तन द्वारा वस्तुओंको उस समय उपलब्ध कियाजाता है जिस समय वास्तवमें उनकी आवश्यकता होती है। प्रत्येक पूंजीपति जिसने उपभोग-व्याक्षेप द्वारा धनका सचय किया है, वर्तमान कालमें उसे ऋणमें देकर समय-परिवर्तन द्वारा धनकी उपयोगिता बढाता है। लेनेवालेके लिए धनकी उपयोगिता वर्तमानमें है और देनेवालेके लिए भविष्य में। 'मिल'ने उपयोगिताके उत्पादनको तीन वर्गोंमें विभाजित किया है। एकतो ऐसी उपयोगिताका उत्पादन जो भौतिक वस्तुओंकी उपयोगितामें वृद्धि करता है, दूसरे जो मनुष्यकी शिक्षा द्वारा प्राणी मात्रके लिए उनकी उपयोगितामें स्थायी रूपसे वृद्धि और तीसरे व्यक्तिगत सेवाए जिनके कारण मनुष्यके कौशल इत्यादि में कोई स्थायी रूपसे वृद्धि तो नहीं होती किन्तु न्यूनाधिक कालके लिए तृप्ति मिलती है या दुःख का निवारण होजाता है। क्रीडा, विलास, मनोरंजनकी वस्तुएं [illegible] इस कोटिमें शामिल की जासकती है। इस दृष्टिसे कृषक उद्योगपति ही उत्पादक नहीं किन्तु नाचने गाने बजानेवाले भी उत्पादक मानेजाते हैं।

अन्य अर्थशास्त्री भौतिक तथा अभौतिक उपयोगिता केवल दो ही कोटियोंमें उपयोगिताका विभाजन करते हैं। प्रथम कोटिमें वस्तुएं और द्वितीय श्रेणीमें सेवाओंकी गणना कीजाती है।

उत्पादन के साधन

[illegible] प्राचीन अर्थशास्त्री [illegible] वस्तु [illegible]

दनका साधन नही माना है। तुर्गो, सीनियर और मिलने पूंजीको उत्पादन करनेका साधनतो मानलिया परन्तु भूमि और श्रमके समान स्वतन्त्र साधन नहीं। 'मिल'का कहनाथा कि वास्तवमें उत्पादनके साधन दो ही है—भूमि तथा श्रम। पूजी उत्पादनके लिए आवश्यकहै परन्तु वह भूमि और श्रमके समकक्ष नही। मार्शलने एक चौथा साधन व्यवस्था अथवा सचालन माना है। इस समय उत्पादनके पांच साधन वतलाये जाते है—भूमि, श्रम, पूजी, व्यवस्था और उद्योग-साहस। व्यवस्था और उद्योग-साहसमे कुछ विद्वान भेद करते है और कुछ नही।

कुछ विद्वानोने जिनमे वीजर नामक जर्मन विद्वानका नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है, विशिष्ट और अविशिष्ट केवल दो ही वर्गोमें उत्पादनके साधनोका विभाजन किया है। विशिष्ट साधन वे साधनहै जिनका प्रयोग केवल किसी विशेष उद्देश्य के लिएही कियाजाता है। वीजरके मतानुसार भूमि विशिष्ट साधनहै परन्तु श्रम और पूजी अविशिष्ट साधनहै क्योकि उनका प्रयोग अनेक उद्देश्यो के लिए किया जासकता है। इसकारण अविशिष्ट साधनो के सम्बन्धमे तो उद्देश्यो के बाहुल्य और उनको सिद्ध करनेके साधनोकी न्यूनता और उसके फलस्वरूप वैकल्पिक उत्पादन-व्ययका प्रश्न उठसकता है परन्तु विशिष्ट साधनोके सम्बन्धमें उनके द्वारा सिद्ध होने वाले उद्देश्यकी एकताके कारण वैकल्पिक उत्पादन-व्ययका प्रश्न उठना सम्भव नही है। साधारणतया यन्त्र, उपकरण तथा अर्धनिर्मित वस्तुए सापेक्ष रूपमें कच्ची सामग्रीसे अधिक अविशिष्ट हुआ करती है।

आधुनिक अर्थशास्त्री न पहिले वर्गीकरणमे विश्वास रखतेहै और न दूसरे में। उनके मतानुसार उद्योगपति ही उत्पादनका सक्रिय अभिकर्ता है। भूमि, श्रम, पूजी इत्यादि केवल उत्पादन-सामग्रीके रूपमें उसके सामने आतेहै और इनके प्रयोग द्वारा वह अपने कतिपय उद्देश्योकी सिद्धिका इसप्रकार प्रयत्न करताहै कि उसे न्यूनतम उत्पादन-व्यय उठाना पडे। इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिए वह एक साधनके स्थान पर दूसरेका परिस्थापन करता रहता है। हम पहिले देखही चुकेहै कि इन साधनो के विभिन्न जातीय होनेपर भी इनका सीमान्त प्रतिस्थापन किया जासकता है।

उत्पादनके साधनोके उपर्युक्त वर्गीकरणोके तर्क-सगत न होनेपर भी पाठय पुस्तकोमें भूमि, श्रम, पूंजी, व्यवस्था इत्यादिको पृथक पृथक माननेकी ही परम्परा

चली आती है। इसी परम्पराका अनुसरण करतेहुए इस स्थानपर भी उनका अलग अलग विवेचन किया जारहा है।

भूमि

भूमिसे उत्पादनमें प्राकृतिक सहयोगियोंका अर्थ लिया जाता है। इसप्रकार पृथ्वी, वनस्पति खनिज, समुद्र, पर्वत, नदी, झील, जलवायु आदि सभीको भूमिमें सम्मिलित किया जाता है। प्राकृतिक साधनों अथवा भूमिको अन्य साधनोंसे भिन्न श्रेणीका माना जाताहै क्योंकि भूमिमें कुछ ऐसे विशिष्ट गुणोंकी कल्पना कीगयी है जो अन्य साधनोंमें नहीं मिलते। उनमें से मुख्य गुण निम्नलिखित है:

(१) भूमिका क्षेत्रफल न्यूनाधिक नहीं किया जासकता अर्थात् वह सीमित है।

(२) भूमि अविनाशी है।

(३) वह अचल है।

(४) वह अनायास प्राप्य है।

आधुनिक अर्थशास्त्री भूमिके इन विशिष्ट गुणोंमें विश्वास नहीं करते। भूमिको सीमित कहना उतनाही उचित अथवा अनुचित है जितना कि अन्य भौतिक पदार्थों का। आर्थिक दृष्टि से भूमिको सीमित नहीं कहाजा सकता। बंजर भूमिको कृषि योग्य बनाया जासकता है। कम उत्पादक भूमिको उन्नत किया जासकता है। इसके अतिरिक्त किसी विशेष भूमि-भाग का महत्व केवल उसकी उत्पादक शक्ति पर ही नहीं बल्कि उस भूमि-भाग की स्थिति पर भी निर्भर है और यातायात के साधनोंमें उन्नति करके बुरीसे बुरी स्थितिको भी उत्तम बनाया जासकता है। इसकारण भूमिको सीमित मानना उचित नहीं। इसके अतिरिक्त भूमिके अन्तर्गत जिन पदार्थोंकी गणना कीजाती है वे भी कई प्रकार से उत्पन्न होसकते हैं और उन्हें एक स्थानसे हटाकर दूसरे स्थानमें लगाया जासकता है। इस कारण [illegible] सीमित [illegible] और न अचल [illegible]। इसीप्रकार [illegible] [illegible]

स्थानसे दूसरे स्थानतक लाना पडता है तथा एक रूपसे दूसरे रूपमें परिवर्तित करना पड़ता है। उन्हें अपनी आवश्यकताओंको तृप्त करनेके योग्य बनानेके लिए, मनुष्यको श्रम और पूजीकी सहायता लेनी पडती है।

उत्पत्ति का क्रमागत-ह्रास सिद्धान्त

रिकार्डोने भूमिको सीमित मानकर कृषिसे प्राप्त उत्पत्तिके सम्बन्धमें एक सिद्धान्तका विवेचन किया है जिसे उत्पत्तिका क्रमागत-ह्रास नियम कहते है। उसका विचारथा कि ससारकी जनसख्या में वृद्धि होनेसे कृषिसे प्राप्त उत्पत्ति की मागमें वृद्धि होगी, परन्तु ससारमे भूमिकी मात्रा सीमित होनेके कारण उससे प्राप्त उत्पत्तिमें मागकी वृद्धिके अनुसार वृद्धि नही की जासकती क्योकि जैसे जैसे कृषि करनेवालो की सख्या बढती जायेगी वैसे वैसे प्रत्येक व्यक्ति द्वारा प्राप्त उत्पत्तिकी मात्रामें न्यूनता आती जायेगी। रिकार्डोने उसके दो कारण बताये है। एकतो अधिक उत्पादक भूमिभागो पर काम करनेवालो की सख्यामें वृद्धि और दूसरे कम उत्पादक भूमि-भागोपर कृषि का किया जाना। वास्तवमें कम उत्पादक भूमि भागो पर कृषि उसीसमय प्रारम्भ कीजाती है जबकि अधिक उत्पादक भूमि भागोसे प्रत्येक व्यक्ति द्वारा प्राप्त उत्पत्ति की मात्रामे कमी आने लगतीहै जिसके कारण अधिक उत्पादक भूमि भागपर काम करनेवालो की सख्यामे वृद्धि करने अथवा किसी नये किन्तु कम उत्पादक भूमि भाग पर कृषि करने मे कोई अन्तर नही रहता। रिकार्डोका मत था कि नये देशो मे सबसे पहिले अधिकतम उत्पादक भूमि भाग परही कृषि कार्य आरम्भ किया जाता है। शनैः शनै. जनसख्यामें वृद्धि होनेके कारण कम उत्पादक भागोपर भी कृषि कीजाती है। इसप्रकार की कृषि को उन्होने वितत-कृषि का नाम दिया है। प्राचीन देशोमें कृषि योग्य भूमिकी न्यूनताके कारण पुरानीही भूमिपर अधिक पूजी तथा श्रमका व्यय करके उत्पत्तिकी मात्रा बढानेकी चेष्टा कीजाती है। इसप्रकार की कृषिको उन्होने प्रकृष्ट कृषि का नाम दिया है। यहतो स्पष्टहै कि कम उत्पादक भूमिपर अधिक उत्पादक भूमिके समानही श्रम तथा पूजी व्यय करनेसे कम उत्पत्ति प्राप्त होगी। परन्तु अनुभवसे यहभी भलीभाति विदित होचुका है कि अधिक उत्पादक भूमिपर भी श्रम तथा पूजीकी मात्रा दुगनी

करदेनेसे उत्पत्तिका दुगना होना सम्भव नहीं। उत्पत्ति दुगनेसे कम ही रहेगी। इस प्रवृत्तिका ज्ञान वृद्धि द्वारा कुछ समयके लिए निरोध किया जासकता है, परन्तु अन्ततोगत्वा श्रम तथा पूंजीके अधिकाधिक उपयोगसे प्राप्त उत्पत्ति की मात्रामें ह्रास अनिवार्य है। इसकारण प्राचीन अर्थशास्त्री विशेषकर माल्थस जीवन-स्तर को सुरक्षित रखनेके लिए सन्तान-निरोधके लिए विशेष आग्रह किया करते थे। माल्थसके जनसंख्या सिद्धान्तका विवेचन हम अगले अध्यायमें करेंगे।

वास्तविक जगतमें प्रत्येक व्यक्ति द्वारा प्राप्त उत्पत्ति की मात्रामें वृद्धिही होती चली जारही है और गत सौ डेढ़सौ वर्षमें तो इस मात्रामें आश्चर्यजनक वृद्धि हुई है। इस वृद्धिका कारण कृषि-सम्बन्धी अनुसन्धान तथा आविष्कार हैं जिनमें फसलोंका चक्रानुवर्तन, कृषिमें काम आनेवाले यन्त्रोंका निर्माण, नयी नयी खादोंका आविष्कार तथा अधिक उत्पादक बीजोंकी उपलब्धि है। रिकार्डोके मतानुसार इसप्रकार की उन्नतियां दो वर्गोंमें विभाजित की जासकती हैं। एकतो वे जो पृथ्वीकी उत्पादन शक्तिको बढ़ाती हैं, जिनमें फसलोंका चक्रानुवर्तन और उत्तम खादें सम्मिलित की जासकती हैं। दूसरे वे जो कृषिके यन्त्र इत्यादि को उन्नत करके श्रमके न्यून व्ययसे अधिक उत्पत्ति उपलब्ध करती हैं। इनमेंसे पहिले प्रकार की उन्नतियों द्वारा हम उत्पत्तिके क्रमागत ह्रास नियम के प्रभावसे सुरक्षित रहसकते हैं और यदि ये उन्नतियां नियमपूर्वक तथा निरन्तर हों तो कृषिसे प्राप्त उत्पत्तिमें क्रमागत वृद्धि होसकती है और इतिहास साक्षी है कि आजतक ऐसा होता रहा है। परन्तु कम उत्पादक भूमियों पर कृषिका किया जाना अथवा अधिक उत्पादक भूमियोंपर कम [illegible] होनेपर भी अधिकाधिक श्रम और पूंजीका लगाया जाना उत्पत्तिके क्रमागत ह्रास नियमके प्रभाव होनेकी गवाही है। इस सम्बन्धमें इतना कह देना आवश्यक है कि इस सिद्धान्तका केवल प्राप्त उत्पत्तिकी मात्रासे सम्बन्ध है। उसके मौद्रिक मूल्यसे कोई सम्बन्ध नहीं।

इस प्रकार की उन्नतियोंका परिणाम यह हुआ है कि [illegible]-राष्ट्रमें [illegible] [illegible] कमी होती नहीं जाती है। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] और [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] परन्तु [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

की संख्याके अनुपातमें कमी तथा नगरोंमें रहनेवालो की सख्यामे वृद्धिका होना स्वाभाविक है।

इस सिद्धान्तका विवेचन प्राय: कृषिसे प्राप्त उत्पत्तिके सम्बन्धमें ही किया जाता है। परन्तु उसका कार्यक्षेत्र कृषितक ही सीमित नही। खानों, जलाशयो, वनो इत्यादिसे प्राप्त उत्पत्तिकी मात्रामें भी अधिकाधिक श्रम और पूजीका व्यय करने पर क्रमागत ह्रासही होता चला जाता है। खानें भूमिकी तरह प्रकृति-प्रदत्त अवश्य हैं परन्तु दोनो समकक्ष नही। लगातार कृषिमे लुप्त होनेवाली भूमिकी उत्पादक शक्तिका प्राकृतिक कारणोही से पुनरुत्थान होता रहता है। खानोंमें स्थित सम्पत्तिको एकबार पूर्णतया समाप्त करदेने पर उसकी पुन: सृष्टि नही होती। खानोके सम्बन्धमें उत्पत्तिका क्रमागत ह्रास इसप्रकार कार्य करताहै कि अत्यन्त सुलभ सम्पत्तिके समाप्त होनेपर कष्टसे प्राप्त होनेवाली उत्पत्ति पर श्रम और पूजीका अधिक व्यय करना ही पडता है।

जलाशयोसे मछलिया प्राप्त कीजाती है। जलाशयो और भूमिमे यह अन्तर है कि मनुष्यने वर्षोंके अनुसन्धान और अनुभवके अनन्तर कृषिसे प्राप्त उत्पत्तिकी पूर्ति पर न्यूनाधिक नियन्त्रण प्राप्त करलिया है। परन्तु जलाशयोंसे प्राप्त मछलियोंके सम्बन्धमे वह अभी ऐसा नही करपाया है। नदी नालोसे प्राप्त मछलियोकी पूर्तिका तो थोडा बहुत नियन्त्रण कियाभी जासकता है परन्तु समुद्रोसे प्राप्त मछलियोंकी पूर्तिपर मनुष्यका तनिकभी वश नही। जलाशयो और खानोमें यह भेदहै कि खानो की सम्पत्ति एकबार निकाल लेनेपर वह सदैवके लिए समाप्त होजाती है परन्तु मछलिया पकडनेवाले स्थानोपर यदि कुछ समयके लिए मछलिया पकडना बन्द करदिया जाये तो वे स्थान फिर मछलियोसे भरपूर होजाते है।

परिवर्तनीय अनुपात का सिद्धान्त

आधुनिक अर्थशास्त्री उत्पत्तिके क्रमागत ह्रास सिद्धान्तको कुछ अन्य दृष्टिसे देखते है। किसीभी उत्पादन-क्रिया को चलानेके लिए हमे एकसे अधिक उत्पादनके साधनोकी आवश्यकता होती है। कृषिसे उत्पत्ति प्राप्त करनेके लिए हम केवल भूमि ही नही अपितु श्रमभी आवश्यक है। कपडा बुननेके लिए केवल श्रमही

बल्कि कपड़ा बुनने के यन्त्रादि भी जरूरी है। कभी कभीतो भिन्न भिन्न साधनोंको निश्चित अनुपातमें एकत्रित करना पड़ता है। परन्तु प्राय: इस अनुपातमें परिवर्तन किया जासकता है। आधुनिक अर्थशास्त्रियों का विचारहै कि यदि हम अन्य साधनोंको स्थायी रखकर किसी साधन विशेषकी मात्राको बढ़ाते चलेजायें तो एक समय ऐसा आताहै कि उस साधन द्वारा प्राप्त उत्पत्तिकी मात्रा क्रमागत ह्रास होने लगता है। उदाहरणके लिए हम पूंजीकी मात्रामें तो परिवर्तन करते चलेजायें परन्तु श्रम और भूमिको स्थायी रखें तो हमें उत्पत्तिमें क्रमिक ह्रास प्राप्त होगा। परन्तु कभी कभी साधन विशेषके अधिकाधिक प्रयोगसे प्राप्त उत्पत्तिमें ह्रास होनेसे पूर्व कुछ कालतक वृद्धिभी होती रहतीहै और फिर कुछ काल-तक न वृद्धि न ह्रास। आधुनिक अर्थशास्त्री इन तीनो नियमोंको केवल एकही सिद्धान्त का अंग मानतेहैं जिसे वे उत्पत्तिके परिवर्तनीय अनुपातके सिद्धान्तका नाम देते हैं।

जबकि उत्पादन कई साधनोंके परस्पर सहयोगसे सम्भव होता है तब उत्पादन के सभी साधन परिवर्तनीय होतेहैं। यदि उत्पादनके साधनोंमें किसी विशेष परिमाण को स्थायी मानलिया जावे, तो उस परिमाणके उपयोगसे प्राप्त उत्पत्तिको कुल उत्पत्ति कहाजाता है। इस उत्पत्तिको उन साधनोंकी संख्यासे भाग देनेपर औसत उत्पत्ति प्राप्त होती है। उत्पादन-साधनोंमें एक इकाईकी वृद्धि करनेके फलस्वरूप जो कुल उत्पत्तिमें वृद्धि होतीहै, उसे सीमान्त उत्पत्ति कहाजाता है। इसीप्रकार साधनोंके उस परिमाण का व्यय कुल व्यय होगा। उस कुल व्ययको साधनोंकी संख्यासे भाग देकर औसत व्यय प्राप्त होताहै और एक इकाईकी वृद्धि करनेके फलस्वरूप कुल व्ययमें होनेवाली वृद्धिसे सीमान्त-व्यय प्राप्त होता है। इस परिवर्तनशील [illegible] सीमान्त [illegible] किसी उद्योगमें [illegible] हो। [illegible] अर्थात किसी [illegible] उपयोगमें [illegible]। [illegible] सीमान्त उत्पत्ति [illegible]

[illegible]

बात स्पष्ट नहीं थी कि ह्रास औसत उत्पत्तिमें होताहै या सीमान्त उत्पत्तिमें। आधुनिक अर्थशास्त्री सीमान्त उत्पत्तिके ह्रास नियम को ही दृष्टिगत रखना अधिक समीचीन समझते है क्योंकि सीमान्त उत्पत्तिसे यह पता चलताहै कि औसत किस दरसे परिवर्तित होरहा है।

उत्पादनकी बहुतसी अवस्थाओंमें हम बहुतसी उत्पादक सेवाओंके परिमाणमें परिवर्तन करते रहते है परन्तु उनमेंसे एकके परिमाणको ज्यों का त्यों रहने देते है, स्पष्ट है कि फलभी समानुपातिक न होंगे। यदि कुछ उत्पादन-साधनोंको समान भागोंमें बढाया जाये और कुछको वैसाही रहने दियाजाये तो किसी बिन्दुके अनन्तर उत्पत्ति अनुपातत: कम होने लगेगी। उत्पत्तिके इस नियमको परिवर्तनीय अनुपातका नियम कहते है। रेखाचित्र की सहायतासे इस नियमको इसप्रकार दिखाया जासकता है:
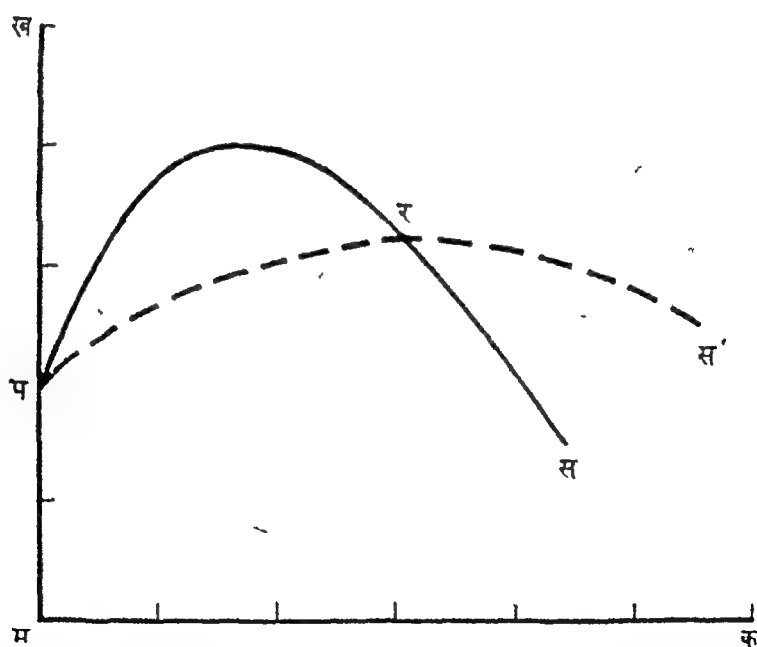
मान लीजिए किसी उद्योगमें अन्य सब उत्पादनके साधन स्थायीहै, केवल एकही साधन परिवर्तनीय है। 'म,क' रेखा पर उस साधनके परिमाणमें परिवर्तनोको और 'म,ख' रेखा पर उसके प्रयोगसे प्राप्त उत्पत्तिकी मात्राको दिखाकर 'प,स' और

'प,म" क्रमशः सीमान्त उत्पत्ति और औसत उत्पत्ति द्योतक रेखाए प्राप्त कीजाती है। रेखाओंके आकारसे विदितहै कि आरम्भमें तो सीमान्त तथा औसत उत्पत्ति बढ़ती है; उसके अनन्तर सीमान्त उत्पत्ति घटना आरम्भ कर देतीहै, परन्तु औसत उत्पत्ति बढ़तीही जाती है। फिर एक समय ऐसा आताहै जबकि सीमान्त और औसत उत्पत्ति सम होती है। चित्रमें यह बिन्दु 'र' से अंकित किया गया है। इस बिन्दुके अनन्तर सीमान्त उत्पत्ति और औसत उत्पत्ति दोनो लगातार गिरतीही चलीजाती है परन्तु सीमान्त उत्पत्ति अधिक वेगसे गिरतीहै. कुछ अर्थशास्त्रियोंमें 'र' बिन्दुको भी उत्पत्ति की मात्राके अनुपाततः कम होनेका प्रदर्शक माना है।

उत्पत्तिके परिवर्तनीय अनुपातके नियममें यह मानलिया जाताहै कि जिन उत्पादनके साधनोंका प्रयोग किया जारहा है वे सभी समरूप है। इसके अतिरिक्त यह नियम मूलतया यंत्र-विज्ञान का नियम है। और इसकारण अर्थशास्त्रके लिए इसका महत्व परोक्ष रूपसे ही है। यहतो विदित ही है कि इसके लागू होनेके लिए कम से कम एक साधन स्थायी होना चाहिए और उनके विनियोगका अनुपात बधा न होना चाहिए।

सर्वोत्तम विनियोग का सिद्धान्त

जब उत्पादनके सभी साधन परिवर्तनीय होतेहैं अर्थात् उनमें से प्रत्येकको घटाया बढ़ाया जासकता है तो सर्वोत्तम विनियोगका नियम लागू होता है। अर्थशास्त्रमें इस नियमका प्रयोग तीन प्रकारकी समस्याओंको सुलझानेके लिए किया जाता है :

(१) संयोगकी सन्तुलन व्यवस्था निर्धारित करनेके लिए।

(२) उत्पत्तिकी सर्वोत्तम मात्रा निर्धारित करनेके लिए।

(३) उत्पादनके साधनोंका विभिन्न उपयोगों तथा उद्योगोंमें वितरण करनेके लिए।

[illegible]

और यदि सीमान्त व्यय औसत व्ययसे नीचा है तो उसे बढ़ानेका प्रलोभन मिलता रहेगा। क्योंकि बढ़ानेसे औसत-व्यय कम होता जायेगा। प्रत्येक स्थितिमें संस्थाको विस्तृत अथवा संकुचित करनेकी आकांक्षा बनी रहती है। सन्तुलनकी अवस्था उसी समय प्राप्त होतीहै जब दोनो सम होजाते हैं और वही सर्वोत्तम स्थिति होती है, जैसाकि सन्तुलनके अध्यायमें विस्तृत रूपसे बताया गया है।

उत्पादनके साधनोंका विभिन्न उपयोगों और उद्योगोंमें सर्वोत्तम विभाजन उस समय होताहै जबकि प्रत्येक साधनकी प्रत्येक उपयोगमें सीमान्त उत्पत्ति बराबर होतीहै क्योंकि अन्यथा कुछ स्थानोंपर विभाजनमें अन्तर करनेसे उत्पत्ति बढ़ सकती है। परन्तु सर्वोत्तम विभाजनका अर्थ तो यहहै कि उसमें किसीभी प्रकारका परिवर्तन होनेसे लाभ प्राप्त होनेकी कोईभी आशा न हो। उत्पादनके साधनों का विनियोग इसप्रकार निर्धारित होताहै कि उनमें परस्पर प्रतिस्थापना उस समय तक चलती रहतीहै जबतक कि किसी दियेहुए विनियोगमें और परिवर्तन करनेसे कोई लाभकी आशा न रहे अर्थात् जब सब साधनोंकी सीमान्त उत्पत्ति सम होजाये। इसीप्रकार कितना और कौनसा साधन किस प्रयोग या उद्योगमें लगना चाहिए, इस बातसे निश्चित कियाजाता है कि उस साधनके सीमान्त प्रयोगसे विकल्प रूपमें जो उत्पत्ति होसकती थी उसका महत्व प्रस्तुत उपयोगसे अधिकहै अथवा कम, इसी कारण वोल्डिगने इस नियमको समान लाभका नियमभी कहा है। उसका कहना है कि प्रत्येक उत्पादनके साधन अथवा सेवाके लिए व्यवसाय विशेषमें कुछ लाभ प्राप्त होते रहते हैं। सम्पूर्ण लाभोंको दृष्टिगत रखतेहुए जिस विभाजन-द्वारा उत्पादन क्रियाके प्रत्येक सहयोगीको परस्पर समान लाभ मिले वही सर्वोत्तम विभाजन है।

साधनो की अविभाज्यता

उत्पादन क्षेत्रमें सबसे बड़ी कठिनाई अविभाज्यताओं द्वारा उत्पन्न होती है। अविभाज्यताए दो प्रकारसे पैदा होती है। एकतो कुछ साधन किसी विशेष कार्यके अतिरिक्त अन्य कार्यमें लगाए नही जासकते और कुछ एक विशेष अनुपातमें ही प्रयुक्त होसकते हैं। बहुतसी मशीनें किसी विशेष मात्रामें ही उत्पत्ति करसकती है अथवा किसी विशेष गतिसे ही चलसकती है। ऐसी स्थितिमें सर्वोत्तम विनियोगकी समस्या

बड़ी कठिन होजाती है। कुछ अविभाज्यताएं विज्ञापन और विक्रय सम्बन्धीभी है और बहुतसी अर्थसम्बन्धी भी। उनको इच्छानुसार घटाया बढ़ाया नही जासकता। वैज्ञानिक गवेषणा इत्यादि कुछ ऐसी वस्तुए नही कि उनपर जितना व्यय कीजिए उसी अनुपातमें फल प्राप्त हो। ऐसा नहीहै कि किसी बडे वैज्ञानिकके ज्ञानका लाभ उठानेके लिए जितना व्यय करना पडे, उससे कम लाभ मामूली वैज्ञानिककी सेवाओंके लिए व्यय करके उठाया जासके। अधिक सम्भव यही है कि मामूली वैज्ञानिकपर कियागया व्यय व्यर्थ ही हो।

अविभाज्यताए दो प्रकारसे कठिनाइया उपस्थित करती है। एकतो विनियोगकी समानुपातकता नष्ट करके, और दूसरे साधनोकी गतिशीलता नष्ट करके। गतिशीलता नष्ट होनेसे प्रतियोगिता अपूर्ण होने लगतीहै और सर्वोत्तम विनियोग अथवा विभाजनके लिए पूर्ण प्रतियोगिता और समानुपातकता दोनो आवश्यक है।

१२

आर्थिक साधन—श्रम

श्रम की परिभाषा

यह तो स्पष्ट ही है कि सारा उत्पादन मानव-प्रयास का फल है। यद्यपि तात्विक दृष्टिसे ऐसा सोचा जासकता है कि किसी प्रागैतिहासिक कालमें मानव आवश्यकताओंकी पूर्ति पूर्णतया प्रकृति द्वारा और अनायास ही होती रही होगी। परन्तु इतिहास किसी ऐसे कालका साक्षी नही है। प्रकृतिको अपनी आवश्यकताओं की पूर्तिका हेतु बनानेके लिए मनुष्यको प्रयास और परिश्रम करना ही पडता है। इसका प्रमाण हम प्रागैतिहासिक कालीन यन्त्र तन्त्र तथा कला कौशलके रूप में पाते है।

हमारी जितनी भी क्रियाए होती है, हम उन सभीको प्रयास अथवा श्रमके अन्तर्गत मान सकते है, फिरभी अर्थशास्त्र मे श्रमको इस विस्तृत अर्थमे स्वीकार नही किया जा सकता। अधिकतर अर्थशास्त्रियो ने उस प्रकारके प्रयासको श्रमकी कोटिमें रखा है जो किसी प्रकारके लाभकी आशासे किया जाये। उपयोगी और अनुपयोगी श्रमका भेद अर्थशास्त्रके इतिहासमे काफी पुराना है। फिजियोक्रैट्स ने केवल कृषिगत श्रमको सार्थक माना है। ऐडम स्मिथ ने उत्पादक और अनुत्पादक श्रमका भेद करतेहुए बतलाया है कि जिस श्रमके फलस्वरूप वस्तुओंकी उत्पत्ति हो, वह उत्पादक है, किसी अन्य प्रकारका श्रम व्यर्थ है। श्रमका यह भेद बहुत दिनोतक माना जाता रहा। परन्तु मिलके अनन्तर इसकी बडी आलोचना हुई क्योकि उत्पादक और अनुत्पादक श्रममें सेवाओका कोई स्थान नही रखाजाता था। परन्तु यह कहना कठिनहै कि सेवाए सुखकी उतनी साधक नही है जितनी कि वस्तुए। टॉसिग का मतहै कि वह सभी श्रम जिसके फलस्वरूप उपयोगिता की सृष्टि हो, उत्पादक है और उसकी परिभाषाके अनुसार उपयोगिता वहहै जिसके द्वारा हमारी इच्छाओ की तुष्टि हो

श्रमकी माग कई बातों पर निर्भर है। अन्य सहयोगी उत्पादन साधनों की उपलब्ध मात्रासे इनका घनिष्ट सम्बन्ध है। उत्पादन रीतियों में परिवर्तनके साथ साथ इसमें परिवर्तन होते रहते हैं। किसी विशेष उद्योग धंधे में श्रमकी मांग उस उद्योग धंधे की उत्पत्तिके लिए मागकी लोचसे सम्बन्धित है। श्रमकी पूर्ति श्रम-जीवियों की संख्या और फलस्वरूप कुल जनसंख्या, काम करनेके घंटों तथा श्रम-जीवियों की कुशलता पर निर्भर है।

जन-संख्या

यद्यपि माल्थसके पहिलेभी प्लैटो तथा गाडविन आदिने जन-संख्या तथा आर्थिक, सामाजिक व्यवस्थामें उसके प्रभावपर कुछ विचार कियाथा, पर विस्तृत रूपसे जन-संख्या का आर्थिक महत्व दर्शानेवाले पहिले व्यक्तियोंमें माल्थस का ही नाम अधिक प्रसिद्ध है। संक्षेपमें, उनका मत इसप्रकार है कि जन-संख्या की स्वाभाविक वृद्धि-दर बहुत तीव्र है। अनेक प्राकृतिक और मानुषी कारण उसे अपनी स्वाभाविक तीव्र गतिसे निरुद्ध करते हैं, फिरभी जिस दरसे मनुष्यके जीवन-निर्वाह की सामग्री बढ़ती है, उसकी अपेक्षा जन-संख्या की वृद्धि-दर अधिक ही रहती है। यदि जन-संख्या की वृद्धि-दर २, ४, ८, १६ इसप्रकार मानें तो उत्पादन-वृद्धि की दर १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, इसप्रकार होगी। यह नहीं जानपड़ता कि यहांतक माल्थस का अभिप्राय यह था कि जन-संख्या और उत्पादनकी सापेक्ष वृद्धि-दरोंमें ठीक और [illegible] सम्बन्ध है [illegible] उसने गणित का सहारा केवल इन दोनों दरोंके भारी अन्तरको स्पष्ट और प्रभावपूर्ण शब्दोंमें प्रकट करनेके लिए लिया। [illegible] इन दोनों दरोंका सम्बन्ध गणित-सूत्र [illegible] मानना [illegible] है। [illegible] जन-संख्या पर निबन्ध में [illegible] उसने [illegible] [illegible] किया है। [illegible] [illegible] किया है। [illegible] [illegible] सामग्री है।

[illegible] कि जन-संख्या और उत्पादन की वृद्धिके दरोंमें [illegible] [illegible] जन-संख्या [illegible]

जायेगी कि उसके लिए खाद्य सामग्रीका मिलना लगभग असम्भव ही होगा। माल्थसके अनुसार इस निष्कर्षमें कोई दोष नही। यदि वस्तुतः ऐसा नही हुआ तो उसका कारण मनुष्यका सौभाग्यहै कि महामारी, दुर्भिक्ष, भयंकर युद्ध, बाढ, आग इत्यादि आपत्तियोंसे मनुष्यका बचाव नही। जन-संख्या वृद्धिपर इसप्रकार के प्रतिबन्धोंको माल्थस प्राकृतिक प्रतिबन्ध कहता है। इसके अतिरिक्त कुछ निरोधात्मक प्रतिबन्धभी है। अधिक सन्तानोत्पत्ति पर नैतिक निरोध, सयम, ब्रह्मचर्य इत्यादि। माल्थस सततनि और गर्भनिरोधके कृत्रिम उपायो को बहुत बुरा समझता था। सम्भवतः इसीलिए उसने इनको प्राकृतिक प्रतिबन्धों की सूचीमें रखदिया है। इन दो प्रकारके प्रतिबन्धों का भेद हम दूसरे ढगसे भी करसकते है। प्राकृतिक प्रतिबन्ध वे है जो मृत्यु दर बढाकर जन-संख्याकी वृद्धि रोकते है और निरोधात्मक प्रतिबन्ध वे है जो जन्म-दर घटाकर जन-संख्या सकुचित करते है।

माल्थसके मतका आधार उत्पादनकी ह्रासशीलता का नियम है। जिसको उसने स्पष्टतया तो प्रस्तुत नही किया, पर वह उसके उत्पादन-दर-वृद्धिके उदाहरणमें निहित है। जब यह कहाजाता है कि उत्पादन १, २, ३, ४...इसप्रकार बढताहै तब इस कथनके विश्लेषणसे यहबात स्पष्टहै कि उत्पादनकी दरमें क्रमशः ह्रास होता जाता है। यदि यह नियम व्यापक एव अनिवार्य हो तो यहभी सत्यहै कि जन-सख्याकी अत्यधिक वृद्धिका भय सदैव बनाही रहेगा।

माल्थसके इस मतकी आलोचना उस समयसे आजतक होती आई है। सबसे प्रचलित आलोचना यहहै कि उत्पादनके साधनोंमें उन्नति होसकती है और इस उन्नतिके फलस्वरूप जन-सख्याकी वृद्धिको रोके बिनाभी जीवन-स्तर ऊंचा रखा जासकता है। दूसरा आक्षेप यह कियाजाता है कि क्रमागत उत्पत्ति ह्रासका नियम अनुपातिकता का एक पक्षहै और इसलिए उसके आधारपर आश्रित प्रवृत्ति सदैव चरितार्थ नही होसकती। इसीसे सम्बन्धित और सबसे महत्वपूर्ण युक्ति यहहै कि माल्थसने सापेक्ष और निरपेक्ष जन-सख्याका भेद नही किया। कोई देश अधिक जन-सख्यासे पीडित है अथवा नही, यह इस बातपर निर्भर होगा कि वहाका उससमय जीवन-स्तर क्याहै और कितने आर्थिक साधन उपलब्ध है। यहबात उत्पादन-प्रणाली, वितरण-प्रणाली और जन-सख्याके वितरण और घनत्व परभी निर्भर करेंगी। इसकारण महत्वपूर्ण बात सापेक्ष जन-सख्या आधिक्य है।

कुछ लोगोंने यहभी आपत्ति उठाई है कि जन-उत्पत्ति-वृद्धिकी दर जिस प्रकार माल्थस सिद्धान्तमें मापी जाती है, वह सदोष है। उनके अनुसार आवश्यक बात यहहै कि किस दरसे एक दीहुई जन-संख्या पुनर्जीवित रखी जातीहै और यह बात जनन-शक्तिपर निर्भर होगी।

अन्य विचारकों ने यह दिखलानेका प्रयत्न कियाहै कि जन-संख्याकी वृद्धि अथवा ह्रास जिन कारणोंसे होताहै, उनके आधारपर कहा जासकता है कि सदैव वृद्धिशील जन-संख्या का भय निर्मूल है। वातावरण, जीवन-स्तर, मजूरी की दर, ये सभी बातें जन-संख्याकी वृद्धि-दर निर्धारित करती है। कुछ अर्थशास्त्रियों का यहभी मत है कि जन-संख्याकी वृद्धि-दर धनिकोंमें कम और निर्धनो में अधिक होती है। सीनियरने यह दिखायाहै कि जब जन-संख्या बहुत बढने लगती है अथवा जब एक स्थानमें अधिक घनी होजाती है तो अपनेआप कुछ विरोधी शक्तियोंका प्रादुर्भाव होताहै जो जन-संख्याकी वृद्धिको रोकती है। इनमे उठते हुए जीवन-स्तर और नयी ग्रहणकी हुई इच्छाओंका बहुत महत्व है। प्रश्न यह नहीं कि किसी देशकी जन-संख्या घटायी जाये या बढायी जाये। समस्या यहहै कि अर्थ-व्यवस्था के अन्य अंगोंके साथ जन-संख्याका किसप्रकार सामञ्जस्य किया जाये कि आर्थिक सम्पन्नता सर्वोत्तम बिन्दुपर रहे। कहनेका अभिप्राय यहहै कि किसी दीहुई अर्थ-व्यवस्थामें एक विशेष परिमाणमें श्रमकी आवश्यकता होतीहै और एक विशेष आकारकी जन-संख्या सर्वोपयुक्त होसकती है। उससे छोटी जन-संख्या उतनीही व्यर्थ है जितनी उससे बड़ी। अर्थ-व्यवस्था और उत्पादनके साधन यदि बदलजायें तो उसीके अनुरूप जन-संख्याका आकारभी बदलना पड़ेगा। इस सामञ्जस्यमें जन-संख्याका केवल आकारही महत्वपूर्ण नहीं है वरन् जन-संख्या का घनत्व, व्यक्तियोंके गुण और उनका स्वरूप और संयोजन भी आवश्यक है।

जैसाकि सर्वोत्तमताके सिद्धान्तमें अनिवार्य है, जन-संख्याके इस सिद्धान्तका व्यवहार कोई सर्वोपरि उद्देश्य मान लेनेपर ही होता है। यह उद्देश्य प्रति व्यक्ति, सर्वाधिक आय माना जाता है। इसके अनुसार जिस बिन्दुपर जन-संख्या और अन्य उपादानोंके साधनोंका इस प्रकार सामञ्जस्य होजाये कि प्रत्येक व्यक्तिकी आय सर्वाधिक हो, वही उसका सर्वोत्तम बिन्दु है।

कुछ लोगोंने अन्य सिद्धान्तभी निर्धारित किये हैं। उनके अनुसार यदि जीवन

की दृष्टिसे देखें तो सर्वाधिक जीवनाशा, सामाजिक दृष्टिसे देखें तो सर्वाधिक अवकाश, और सामान्य हित एव सम्पन्नता, युद्धकी दृष्टिसे देखें तो सर्वाधिक सुरक्षा इत्यादि उद्देश्य सर्वोत्तम जन-सख्याके हो सकते है।

जन-सख्या मे परिवर्तनों का महत्व

माल्थस और अन्य विचारकोंके मतोकी जो विवेचना हमने की है, उससे मानव-हित और आर्थिक सम्पन्नताके लिए उचित जनसख्याका कितना महत्व है, यह बहुत कुछ स्पष्ट होगया है। माल्थसके अनुसार तो दरिद्रता-निवारण का उपायही यही है कि जन-सख्याको सकुचित करनेका भरसक प्रयत्न किया जाये, यद्यपि अन्य बहुतसे विचारको ने माल्थसके बताये उपायोका समर्थन नही कियाहै (उन्होने गर्भनिरोध के कृत्रिम उपायोकी ही अधिक उपयोगिता मानी है) पर उन्होने भी माल्थसके सिद्धान्तका महत्व स्वीकारही किया है। इस तथ्यसे इन्कार नही किया जासकता कि मतोका उद्भव और उनका प्रसार बहुत कुछ तत्कालीन परिस्थितियोसे प्रभावित होता है। जिस समय माल्थसने अपना मत प्रचलित कियाथा, जन-वृद्धिका भय अधिक था और इसप्रकार अर्थशास्त्रमें जनसख्या पर वृद्धि और आधिक्यकी दृष्टिसे अधिक विचार हुआ। परिस्थितियोमे परिवर्तन होनेपर स्थायी और ह्रासशील जन-सख्याकी ओर भी विचारकोका ध्यान गया। जन-सख्याकी पुरानी प्रवृत्ति श्रमजीवियोकी अवस्था तथा मजूरीकी दरके दृष्टिकोणसे करनेकी ओर थी। सामान्य रूपसे कहा जासकता है कि सामाजिक आय और सम्पत्तिके परिमाणके सम्बन्धमें ही जन-सख्या का महत्व अधिकतर देखागया है। आर्थिक परिवर्तन और प्रगति के सम्बन्धमें भी जन-सख्याको देखनेकी प्रथा प्रचलित रही है।

वृद्धिशील जनसख्या

कुछ लोगोके मतमें जनसख्या का सम्पूर्ण माग और पूजी लगानेके अवसरो पर प्रभाव सबसे महत्वपूर्ण है। इस दृष्टिसे वृद्धिशील जन-सख्याका प्रथम और स्पष्ट प्रभाव तो सम्पूर्ण माग और पूजी लगानेके अवसरो को बढाना है। वृद्धिशील जन-

सख्यामें व्यय और उपभोग प्रवृत्ति वढेगी और साथही भविष्यकी चिन्ताके कारण वचत और इसलिए पूजी निर्माण भी। यदि हम वितरण-रीतिकी अपूर्णताओंको छोड़दें, तो यह फल तभी प्राप्त होसकता है जब वृद्धिशील जन-सख्याके साथ साथ नवीनताओंकी गति और श्रमजीवियोकी उत्पादन-शक्ति वढे। पर जन-सख्या और नवीनताओंका सम्बन्ध सरल नहीं। एक ओर तो वढती हुई जनसख्याके कारण पूजी लगानेके अवसरोके वढजाने से उद्योगपतियोको नवीनताए अपनानेका अधिक लोभ होताहै पर दूसरी ओर ह्रासशील जनसख्याका भी यही प्रभाव होसकता है। मन्दी होनेके कारण उद्योगपतियोंको श्रमकी वचत करनेवाले उपाय ढूढने पडते है। इसके अतिरिक्त वृद्धिशील जनसख्याका एक प्रभाव श्रमका मूल्य घटादेना हो सकता है। और उस स्थितिमे मशीनरीके स्थानपर श्रमका उपयोग अधिक होने की सम्भावना है। साधारणतया कहा जासकता है कि यदि बेकार उत्पादनके साधन न हो, तो वृद्धिशील जन-सख्या सामाजिक और आर्थिक हितकी वाधक और इसकारण वड़े वडे आर्थिक और सामाजिक परिवर्तनोका मूल होगी।

ह्रासशील जन-सख्या

प्रोफेसर हेनसनके मतानुसार आर्थिक प्रगतिके मुख्य तीन कारण है—एक आविष्कार, दूसरा नवीन साधनो तथा भूभागोका पता लगना और तीसरा जन-सख्या। यदि जन-सख्या ह्रासशील हो, तो पूजीका निर्माण कम होगा और इसकारण आर्थिक प्रगति रुकेगी। प्रसारके अवसर जितनेही कम होगे, प्रगति उतनीही कम होगी। पर जैसा रिकार्डो ने पहिलेही कहाथा, प्रगतिशील सीमा केवल भौगोलिक अथवा जन-सख्या सम्बन्धी वस्तु नही है। आर्थिक अवस्थासे भी उसका घनिष्ट सम्बन्ध है। जैसा हमने अभी देखा है जनसख्याकी दर और आर्थिक प्रगति का सम्बन्ध वडा जटिल है। साधारण रूपसे यह कहसकते है कि यदि हम प्रगतिका मोह छोड़दें, तो जन-सख्याकी दर स्थायी रखनी होगी और वृद्धिशील जन-सख्याकी अपेक्षा ह्रासशील जनसख्या वाछनीय होगी। पर प्रगतिकी इच्छा रहतेहुए ह्रासशील जन-सख्याका प्रभाव बुरा ही है।

कुशलता

हम लिखचुके है कि श्रमकी पूर्ति श्रमजीवियोंकी कुशलता परभी निर्भर है। श्रमकी कुशलताके मुख्य मुख्य कारण निम्नलिखित है:

१ व्यक्तिगत। कुशलताके लिए दो गुणोंकी सर्वोपरि आवश्यकता होती है। एकतो अभ्यास और परिश्रमकी क्षमता और दूसरे समझदारी। जिस व्यक्ति अथवा जातिमें लगातार कामकरते चलेजाने का स्वभावहै, उसके अधिक कुशल होनेकी सम्भावना है और समझदारीकी कमसे कम उत्पादनके उन विभागोंके लिए जहा सयोजन और निर्णयका अधिक काम पडताहै, आवश्यकता है।

२ वातावरणगत। वातावरणसे हमारा तात्पर्य उन दशाओंसे है जिनमें श्रम-जीवी जीवन-यापन करताहै अथवा जिनमें वह उत्पादन-कार्य करता है। जीवन-यापनकी दशाए कुछ तो ऐसीहै जो उत्पादन प्रणालीही से सम्बन्धित है और कुछ उससे स्वतन्त्र है। जलवायुका प्रभाव एक ऐसा कारणहै जो स्वतन्त्र रूपसे श्रमकी कुशलता निश्चित करता है। प्रसिद्ध विद्वान हटिंग्टनने जलवायुका स्वास्थ्य और श्रम-कुशलतासे बडा घनिष्ट सम्बन्ध बतलाया है।

उत्पादन-प्रणालीसे सम्बन्धित दशाए दो प्रकारकी है—एकतो वेह जो श्रमिकोंके कार्य, स्थान इत्यादिसे और दूसरी वे जो श्रमिकोंके जीवन-यापनसे सम्बन्ध रखती है। पहिलीके अन्तर्गत कार्य स्थानमें रोशनी, तापमान, सफाई इत्यादिका उचित प्रबन्ध, काम करनेके घटे दीर्घ न होना, कामका उचित नियन्त्रणादि। यहातक उत्पादन-प्रणालीसे श्रमिकोके जीवन-यापनकी दशाए उत्पन्न होतीहै, मजूरीका कम होना, जिसके फलस्वरूप श्रमजीवियोके लिए उचित घरका न होना, उचित खाना न मिलना तथा अन्य असुविधाओका होना और उनके बच्चोके लिए उचित शिक्षा की कोई व्यवस्था न होना, ये बाते ध्यान देने योग्य है।

३ समाजगत। श्रमजीवियोंकी कुशलताका कारण मजूरीका कम होना तथा तद्जन्य अशिक्षा, अस्वास्थ्य-कर वातावरण एव व्यापक दरिद्रता है। इस सम्बन्धमें यह लिखदेना भी अनुचित न होगा कि कुछ लोगोका यहभी मतहै कि श्रमिकोंकी अकुशलताही उनके अल्प पारिश्रमिकका कारण है।

श्रमको विभाजन द्वाराभी अधिक कुशल बनाया जासकता है। श्रम विभाजनसे

हमारा तात्पर्य यहहै कि किसी वस्तुके बनानेमें जितने और जिस प्रकारके श्रमकी आवश्यकताहै, वह एकही व्यक्तिके ऊपर न छोडकर कई व्यक्तियो या वर्गोमे बाट दियाजाये। श्रमविभाजन कई प्रकारका होसकता है।

१ व्यक्तिगत। जब विशेष गुणोके आधारपर कुछ कार्य-विशेष केवल कुछ व्यक्तियोंके लिए सुरक्षित करदिये जातेहै तब हम उसे व्यक्तिगत श्रमविभाजन कहते हैं। यह सम्भव होसकता है कि एकही व्यक्ति अथवा परिवार कृषक, लुहार और बढईके कार्य करे, पर यदि ये व्यापार भिन्न भिन्न व्यक्तियोमे बाट दियेजाये तो श्रमकी बचत होगी। इसप्रकार का श्रमविभाजन वर्गगतभी होसकता है। जब समाजके आर्थिक कार्य विभिन्न जन-वर्गोमे बटजाते है तो उसे वर्गगत श्रमविभाजन कहतेहै, उदाहरणके लिए वर्तमान फैक्ट्री प्रणालीमे श्रमका विभाजन बहुत कुछ व्यक्तिगत है। मध्ययुगीन योरोपकी अर्थ व्यवस्थामें कला-कौशल विभिन्न वर्गोमें बटा हुआथा, जिन्हें गिल्ड या गोष्ठिया कहतेथे, उस प्रकारके श्रमविभाजनको वर्गगत कहेंगे।

२ प्रक्रियागत। एकही कार्यको जब कई छोटे-छोटे कार्योमें बाट दियाजाता है और प्रत्येक उपविभागको भिन्न भिन्न व्यक्ति सम्भालतेहै तो उसे हम प्रक्रियागत श्रमविभाजन कहते है। एडम स्मिथ इसीकी विशेष चर्चा करते है। उन्होंने पिन बनानेका उदाहरण दियाहै जिसमें २१ उपविभागो का वर्णन किया है। पिन पर टोपी लगानेका कार्य एक व्यक्ति-समूह करता है, उसपर नोक दूसरा बनाता है, उन्हें पालिश तीसरा करता है, पैक चौथा करता है। इसप्रकार अनेक उपविभागोमें बट कर अनेक मनुष्यो द्वारा पिनका निर्माण होता है। कोईभी कार्य कहातक विभाजित अथवा उपविभाजित होसकता है, इसकी कोई सीमा नही। उत्पादन-प्रक्रिया का अधिकाधिक भागो और उपविभागोमें बंटते चलेजाना वर्तमान उत्पादन प्रणाली की एक मुख्य विशेषता है।

३ भौगोलिक अथवा क्षेत्रगत। जब आर्थिक व्यापार कला कौशल, उद्योग धंधे विशेष विशेष क्षेत्रोमे बट जातेहै तो इन उद्योगोमें उपयोगी श्रमका भी इन्ही क्षेत्रो में विभाजन होजाता है। इस प्रकारके विभाजनको भौगोलिक अथवा क्षेत्रगत विभाजन कहते हैं। उदाहरणार्थ, भारतमें सूती कपडेके कारखाने अधिकतर दक्षिण में, चीनीके उत्तरमें और सनके उत्तर पूर्वमें हैं। इसप्रकार के श्रम विभाजनके

कई कारण होसकते है। मुख्यतः कुछ विशेष उद्योगोंमें दक्ष श्रमिकोंका किसी क्षेत्र विशेषमें रहना या उस उद्योगके लिए आवश्यक कच्ची सामग्रीका उस क्षेत्र या उसके निकट मिलना महत्वपूर्ण कारण है।

श्रमविभाजन के लाभ

१ समयकी वचत। श्रमविभाजन द्वारा समय बहुत बचाया जासकता है। इस के कई कारण है। एक कार्यके कई भागोंको जब एकही व्यक्ति करताहै तो उसे एक भागके अनन्तर दूसरे भागकी तैयारी करनेमें थोडा समय लगता है। श्रम विभाजन द्वारा यह समय बचजाता है। इसके अतिरिक्त यदि एकही आदमी पूरा कार्य करे तो कार्यकी बदलती आवश्यकताओंके अनुसार उसे विभिन्न प्रकार की सामग्री एकत्रित करनी पडेगी। इसमें कार्यकी निरन्तरता टूटतीहै और बहुत कुछ समयभी व्यर्थ जाता है। कार्यको अनेक भागोंमें बांटलेने से यह समय बचजाता है परन्तु समयकी बचतका सबसे बडा कारण यहहै कि एकही प्रकारके कार्यको करते रहनेसे अभ्यासकी अधिकताके कारण उस कार्यको करनेकी गति तीव्र होजाती है।

२ कौशलकी वृद्धि। यह तो ज्ञातही है कि श्रमविभाजनके द्वारा श्रम अधिक कुशल होजाता है। जब कार्य अनेक उपविभागोंमें बट जाताहै तो कार्यप्रणाली बहुत कुछ यन्त्रवत् होजाती है। ऐसी अवस्थामें अभ्यासके कारण गति तीव्र हो सकती है। परन्तु यदि कौशलका अर्थ कार्यको कम समयमें ही नही वरन् अधिक सुन्दर कर सकनेकी क्षमताहै तो इस क्षमतामें वृद्धि के स्थानपर ह्रास ही होगा।

३ नवीन आविष्कारो की सम्भावना। श्रमविभाजन द्वारा कार्य कई भागोंमें बट जाताहै, इसकारण कार्य करनेवाले को कार्यके उस विभागको अत्यन्त सूक्ष्मता पूर्वक देखने, समझनेका अवसर मिलताहै और इसप्रकार उसके सुधार अथवा उसमें नवीन अनुसन्धानकी सम्भावना बढजाती है। श्रमविभाजनसे उस प्रकारके आविष्कारोंकी सम्भावना अधिक होजाती है जो यान्त्रिक हो, क्योंकि इसके कारण उत्पादनमें श्रमके स्थानपर यन्त्रोंके प्रयोगमें सुविधा होतीहै और यही कारणहै कि पूंजीवादी उत्पादन व्यवस्थामें श्रमविभाजन बडा महत्वपूर्ण और अनिवार्य है। एकही कार्यको अथवा किसी कार्यके एक छोटेसे विभागको बारबार दुहरानेसे वह

कार्य यन्त्रवत् होजाता है और कुछतो उस बार बार के दुहरानेसे ऊबकर और कुछ बार बार देखनेसे यान्त्रिक सिद्धान्त अधिक स्पष्ट होजानेसे कार्य करनेवाला उस कार्यके यन्त्र द्वारा होसकने के उपाय सोचने लगता है। इसप्रकार एक नये यन्त्र का—अर्थात् श्रम बचानेके एक नये साधनका आविष्कार होजाता है।

श्रमविभाजन उसी अवस्थामें सम्भवहै, जब उत्पादनका क्षेत्र और परिमाण पर्याप्त विस्तृत हो। बहुत छोटे परिमाणमें उत्पादन होनेपर कार्य इतने अधिक नहीं होते कि उन्हें अनेक व्यक्तियोंमें बांटाजाये और दूसरे कार्यको अनेक भागों तथा उपविभागोंमें बांटनेसे समय श्रम और धन तीनोंकी अधिक आवश्यकता पड़ती है। इसकारण श्रमका अधिकाधिक विभाजन सदैव उत्तरोत्तर वृद्धिशील और बड़े पैमानेमें उत्पादनसे सम्बन्धित होता है।

श्रमविभाजनकी सीमारेखा बाजारका विस्तार है। इस कथनका आधार श्रम-विभाजन और उत्पादन-परिमाणका सम्बन्ध है। उत्पादन जितनेही विस्तृत परि-माणमें होगा, श्रमविभाजन उतनाही अधिक लाभप्रद होगा। परन्तु यदि उस उत्पादनकी खपतके लिए सुदूरव्यापी और विस्तृत बाजार न हो, तो उत्पादनको अनिवार्यतः सकुचित करना पड़ेगा और तदनुसार श्रमविभाजन क्रमशः कम लाभ-प्रद होनेके कारण संकुचित होता जायेगा। इस सम्बन्धमें यह कहदेना अनुचित न होगा कि जब उत्पादन मुख्यतया क्रय-विक्रयके लिए होताहै और मानवीय आवश्य-कताओं और उपयोगिताओंसे उसका सम्बन्ध नष्ट होजाता है, उसी समय से बाजार प्रत्यक्ष मानवजीवन और समाज-व्यवस्था पर सर्वोपरि होजाता है। और ऐसी ही अवस्थामें श्रमविभाजनका रूप और सीमारेखा बाजारके विस्तारसे निश्चित होते हैं।

१३

उत्पादन के साधन—पूंजी

अधिकतर विचारकोंने पूंजीको श्रमका एकरूप मानाहै और संचित श्रम, भूत श्रम इत्यादि नाम दिये है। कुछ लोगोंने इसे भूमि और श्रम दोनो का मिश्रित रूप माना है। प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने पूंजीको मुख्यतया श्रमिकों को काममें लगाये रखनेवाले कोषके रूपमें देखाहै, जिसमें उन्होंने मेशीनरी इत्यादिको भी सम्मिलित किया है।

उत्पादनका एक रूपतो वहहै जिसमें उत्पादन और उपभोगके बीचमें कमसेकम समयका अन्तर पडता है और इसकारण उस प्रणालीमें भूमि और श्रमके अतिरिक्त किसी अन्य साधनकी आवश्यकता नही पडती। स्पष्टहै कि इस प्रणालीमें भूमि और श्रमका सम्बन्ध एक दूसरेसे सीधा होगा। इस प्रणालीको हम अपरोक्ष प्रणाली कहेंगे। उदाहरणके लिए, मछुएको लीजिए जो हाथसे मछली पकड़ता है। उत्पादनकी यह प्रणाली होसकता है कठिनहो और मछलियां बहुत कम पकडी जासकें तथापि इसमें कमसेकम प्रतीक्षाकी आवश्यकता है और भूमि (नदी अथवा समुद्र) तथा श्रमके अतिरिक्त अन्य किसी साधनकी सहायता की आवश्यकता नही। थोडी देरके लिए कल्पना कीजिए कि कोई आदमी एक जालका आविष्कार करता है। अब यदि मछली पकडनेकी प्रणाली बदलती है और हाथके बजाय जालकी सहायता से मछली पकडनी है तो इसकेलिए यह आवश्यकहै कि या तो मछली पकडनेवाला स्वयम् मछली पकडनेका काम छोडकर जाल बुननेका कामकरे और जाल तैयार होनेपर मछली पकडना आरम्भ करे अथवा मछली पकडनेवाला किसी दूसरे आदमी से जाल बुनवाये और जाल तैयार होनेके समय तक उसके जीवन-निर्वाह का प्रबन्ध करे। दोनो अवस्थाओंमें यह आवश्यकहै कि जाल तैयार होनेतक प्रतीक्षा करनेकी क्षमता उत्पादक वर्गमे हो—अर्थात् कुछ अवकाश-काल उसे उपलब्ध हो। और आर्थिक दृष्टिसे अवकाश-काल का अर्थ हुआ वर्तमान आवश्यकताओ से अधिक उत्पत्ति। इस अवस्थामे श्रमविभाजन आवश्यक है। अवकाश-काल और श्रम-

विभाजनका सम्बन्ध इतना घनिष्टहै कि यह कहना कठिनहै कि इनमें कौन मुख्य है, कौन गौण पर अवकाश-कालके बिना श्रमविभाजन सम्भव नहीं दीखता।

इस उदाहरणमें जालको हम पूंजी कहेंगे और यदि जालके उत्पादन क्रमको ध्यानमें रखें तो कुछ बातें बहुत स्पष्ट समझमें आती हैं। पहिलीतो यह कि जाल स्वयं श्रम और भूमिसे निर्मित एक वस्तु है। इसप्रकार वह उत्पादनका प्राथमिक साधन नहीं होसकता। फिरभी वह मनुष्यकी कोई आवश्यकता प्रत्यक्षतः पूरी नहीं करता और इसकारण वह अन्य उत्पादित वस्तुओंसे भिन्न है। उसकी विशेषता यह है कि वह उत्पादन-कार्यमें सहायक है। दूसरी बात यहहै कि यह सहायता मुख्यतः इस रूपमें है कि वह श्रम और भूमि का सम्बन्ध बदल देताहै और उसे अपरोक्षसे परोक्ष बनादेता है। इसका फल यह होताहै कि उत्पादन-काल दीर्घ होजाता है। इस प्रकार हम इस निष्कर्षपर पहुंचते हैं किपूंजीमूलक उत्पादन प्रणाली वहहै जिसमें उत्पादन-काल विस्तृत होता चला जाता है। यह तथ्य श्रम विभाजनके कारण अधिकतर छिपा रहता है।

उत्पादनकाल और उसकी दीर्घता

उत्पादन-कालऔर उसकी दीर्घताका अभिप्राय समझलेना आवश्यक है। ऊपर कह आये हैं कि पूंजीसे [illegible] उत्पादन और उपभोगका अन्तर बढ़जाता है। [illegible] उत्पादन-काल का अर्थ हम भी समझाते हैं; वह काल जो किसी वस्तुके निर्मित होनेमें आरम्भसे [illegible] लगता है। उत्पादन-काल की यह [illegible] अर्थशास्त्रमें [illegible] और [illegible] पूंजीकी विवेचना भी की है। परन्तु इस व्याख्याकी कठिनाई यह है कि [illegible] और [illegible] होगी। [illegible] और उसकी [illegible] कठिन [illegible]। [illegible] वस्तु का [illegible] और [illegible] होगा। [illegible] और [illegible] परिभाषा दी है।

'किसी भी अवधि-विशेष में जितने भी उत्पादनके स्थायी उपकरणों की सेवाएं उपलब्ध है, उनकी सेवाओंके समूहको शुद्ध उत्पादन-सामग्री कहेंगे। जब स्थायी और अस्थायी दोनों प्रकारके उपकरणोंकी सेवा प्राप्त होतीहै तो उसे मिश्रित उत्पादन सामग्री कहेंगे।' इस अवधि विशेषमें उत्पादन सामग्रीके प्रयोगद्वारा उत्पत्ति प्राप्त करनेकी क्रियाको ही अर्थशास्त्र की परिभाषामें हम उत्पादन कहते हैं। उत्पत्तिसे अभिप्राय है उत्पादन सामग्रीके प्रयोगद्वारा उपभोक्ता को उपलब्ध सेवाओं धारासे। प्रत्येक उत्पादन क्रिया और उत्पत्तिके बीच जो काल बीतताहै उसेही उत्पादन-अवधि कहेंगे। ये अवधिया भिन्न भिन्न प्रकारके उत्पादनके अनुसार भिन्न होगी और इनमें एकरूपता अथवा समानताकी कल्पना व्यर्थ है। आदर्श रूपसे दो प्रकारकी परिस्थितिया होसकती है: एक तो ये कि किसी एक समयमें उत्पादनके उपकरणोका उपयोगहो और फिर बहुत कालतक सेवाए मिलती रहें, जैसे कोई मनुष्य पेडसे एक डाली तोड़ले और फिर बहुत दिनतक उसका प्रयोग छडीके रूपमें करता रहे। दूसरी ये कि बहुत कालतक उत्पादन-उपकरणोका उपयोग करते जायें और उनका फल एकसाथ ही एकक्षणमें उपलब्ध हो। पर जैसा हमने कहा ये आदर्श परिस्थितिया है और वास्तवमें इन्हीं दोनोंके बीचकी विभिन्न दशाए मिलती है।

हमने ऊपर कहा कि पूजी उत्पादन प्रणालीमें उत्पादन-अवधि बढ जाती है। अब प्रश्नहै कि इसप्रकार की प्रणाली क्यो अपनायी जाती है। आर्थिक दृष्टिसे इसका एकही उत्तर होसकता है और वह यहकि उत्पादन अवधिके बढनेके साथ साथ उत्पादनभी बढजाता है। ऊपरी तौरपर देखनेसे यह अयथार्थ सा लगसकता है कि आविष्कारो और नवीनताओंके द्वारा उत्पादन-काल घटनेके स्थानपर और बढ जाये। पर ध्यानपूर्वक देखनेसे इस मतकी यथार्थता स्पष्ट होजायेगी—जहातक आविष्कार (जिनका पदार्थगत रूप पूजी होती है) श्रम और भूमिका सम्बन्ध अपरोक्षसे परोक्ष करदेते है, वे अनिवार्यत: उत्पादन-अवधि बढा देते है। यहा यह बात समझ लेनेकी है कि जब हम उत्पादन-अवधिके बढजाने की बात कहतेहैं तो हमारी दृष्टिमें तुलनाके लिए उत्पादनकी वह प्रणाली है जिसको हमने ऊपर अपरोक्ष कहा है। यह सदैव सम्भवहै कि दो पूजीवादी प्रणालियो में से एक कम और दूसरी अधिक समय लेनेवाली हो।

उत्पादन अवधि और उत्पादनशीलता

उत्पादन अवधिके बढ़नेसे उत्पादनशीलता बढ़जानेके कुछ कारणहैं। अधिकतर ऐसा होताहै कि उत्पादनके कुछ उपकरण ऐसे होतेहैं, जिनका उपयोग प्रस्तुत काल में नहीं हो रहा होता। यदि हम उनका उपयोग करें तो उत्पादनमें वृद्धि अवश्य होगी। पर उनके उपयोगके लिए कुछ अन्य उत्पादक साधनों और सेवाओंकी आवश्यकता होगी, जिन्हें हमें अन्य उत्पादन कार्योंसे हटाकर प्रस्तुत उत्पादन कार्य में लाना पड़ेगा। इसका फल यही होगा कि उत्पादन काल बढ़ जायेगा। विकसेल ने इसी बातको इस ढंगसे कहाहै कि पूंजीमूलक उत्पादनके साधनोंकी दो कोटियां होतीहैं, प्रस्तुत श्रम और भूमि तथा संचित भूमि और श्रम। संचित भूमि और श्रमकी कुछ सेवाएं सदैव अमूल्य होतीहैं और इसकारण प्रस्तुत भूमि और श्रमका उपयोग जब उत्पादनके लिए किया जाताहै तो संचित श्रम और भूमिका सहयोग भी प्राप्त होने पर उत्पादन अवश्य अधिक होता है।

इसके अतिरिक्त दीर्घकालीन उत्पादन-प्रक्रियामें बहुतसे उन पूरक उपकरणों की सेवाएं उपलब्ध होसकती हैं जो अल्पकालीन उत्पादन प्रक्रियामें इसलिए अप्राप्य होंगी कि उनकी आवश्यकता अन्य वस्तुओंके उत्पादनमें होती है।

उत्पादन अवधि दीर्घता और उत्पादनशीलताके पारस्परिक सम्बन्धका वास्तविक रूप समझनेके लिए उत्पादन वृद्धि तथा उसमें आविष्कारोंका भाग समझना आवश्यक है। हमने ऊपर अपरोक्ष उत्पादन-प्रणालीका जो उदाहरण दिया था, उसमें दिखाया है कि मछलियां पकड़नेवाले उत्पादनकी वृद्धिका वास्तविक कारण जालका आविष्कार था। [illegible]

श्रमकी बचत अथवा प्रतिस्थापना दो प्रकारसे हो सकती है। एक तो उद्योग अपना निर्माण घटादे और प्रस्तुत श्रम और भूमि उतनीही रखे, दूसरे कुछ प्रस्तुत श्रम घटा दे। दूसरे शब्दोंमें या तो कम श्रमसे पहिलेही जितना उत्पादन करे अथवा उतने श्रममें पहिलेसे अधिक उत्पादन करे। इस विश्लेषणसे स्पष्ट है कि प्रत्येक दशामें पूजी (मशीनरीके रूपमें आविष्कार) केवल श्रमका प्रतिस्थापन करती है।

पूंजी की वैकल्पिक परिभाषा

हम देख चुके है कि पूजीके प्रयोगका अर्थ उत्पादन-काल को बढ़ा देना है। इसकारण इस बीचमें जब वस्तुए तैयार नही हुई है, श्रमिकोके जीवन-निर्वाहका प्रबन्ध होना आवश्यक है। पूजी मूलक उत्पादन प्रणालीमें इसीकारण प्राय: पूजीको श्रमजीवियोको अग्रिम पारिश्रमिक प्राप्त करानेवाला अथवा जीवन-निर्वाह कोष माना जाता है। इसी दृष्टिसे पूजीकी एक दूसरी परिभाषाभी दीजाती है। पूजी उत्पादक साधनो, सेवाओ और उपकरणो की वह कोटिहै जो अस्थायी और अनित्य हो। आर्थिक दृष्टिसे इसका यह अभिप्राय हुआ कि जिनके वर्तमान और भविष्य उपयोग में न्यूनाधिक लाभ होसकता हो और जिनके रक्षणके लिए श्रमकी आवश्यकता होती हो। पूजीकी पहिली और इस परिभाषामें कोई मौलिक भेद नहीहै, यद्यपि पूजीका उदभव अवकाश और आविष्कार द्वारा होताहै, फिरभी उत्पादनमें उसका रूप अनिवार्यत: कालवृद्धि का होताहै और इसप्रकार पूंजी कालाश्रित होजाती है। कालाश्रित होनेसे वह अवश्य अस्थायी होगी और अस्थायी वस्तुके होनेसे उसके सरक्षणकी भी आवश्यकता होगी।

विभिन्न प्रकार की पूजी

१. स्थायी और प्रत्यावर्तनशील। स्थायी पूजीकी परिभाषा इस प्रकार है . उत्पादन-प्रक्रियामें जिस पूजीका एकही रूपमें अधिक कालतक व्यवहार हो सके, वह स्थायी पूजी है। मैशीनरी, फैक्ट्रीकी इमारत, इत्यादि स्थायी पूजीके उदाहरण है। यद्यपि इनकेभी कई उपयोग होसकते है और पर्याप्त समय मिलनेपर इनको एक

४. उत्पादन तथा उपभोग-पूंजी। पहिली प्रकारकी पूंजीमें कच्ची सामग्री, मैशीनरी, उपकरण इत्यादि वस्तुओंको सम्मिलित किया जासकता है, जिनका कि उत्पादन-क्रियामें उपयोग होता है और दूसरी प्रकारकी पूंजीमें खाद्य पदार्थों, कपडों और मकानोंको जो प्रत्यक्ष रूपमें मनुष्य की आवश्यकताओं की तुष्टि करते हैं।

५. पारिश्रमिक पूंजी तथा सहायक पूंजी। पहिली प्रकार की पूंजीका प्रयोग श्रमजीवियोंको पारिश्रमिक देनेके लिए कियाजाता है और दूसरी प्रकारकी पूंजी उत्पादन कार्यमें उनकी सहायता करती है। मैशीनरी, कच्ची सामग्री, उपकरण इत्यादि इसके मुख्य उदाहरण हैं।

पूंजी और बचत

पूंजीका निर्माण उससमय होताहै जब उत्पादन उपभोगसे अधिक हो। दूसरे शब्दो में पूंजीका निर्माण और संग्रह बचत द्वारा होता है। बचतका अर्थ अर्थशास्त्रमें आयको वर्तमान व्ययमें हटाकर भविष्य व्ययमें लगाना है। बचत एकओर तो किसी व्यक्ति अथवा समाजकी बचत करनेकी शक्तिपर निर्भर रहती है और दूसरी ओर बचत करनेकी इच्छा पर। बचत करनेकी शक्ति उत्पादनमें वृद्धि अथवा उपयोगमें ह्रास होनेसे बढती है। उसका आधार किसी देश विशेषमें मिलने वाली प्राकृतिक सामग्री तथा अन्य उत्पादन-साधन है। बचत करनेकी इच्छा पूंजी के निर्माण द्वारा लाभ प्राप्त करनेकी आशा तथा भविष्यके लिए प्रबन्ध करनेकी चिन्तापर निर्भर है। सन्तानके लिए कुछ सम्पत्ति छोड जानकी लालसा भी इस इच्छाको पुष्ट करती है। आधुनिक विश्लेपणके अनुसार बचतका परिमाण समाजकी आयपर निर्भर रहता है और आयका परिमाण इस बातपर कि वस्तुत कितने मनुष्य उद्योग धंधोमें उचित पारिश्रमिकपर लगेहुए है और कितने बेकार अथवा अनुचित पारिश्रमिक पर काम कररहे है।

पूंजी का संरक्षण

पूंजीके संरक्षणसे हमारा तात्पर्य मुख्यतया उसके द्वारा पुनरुत्पादनके प्रबन्धसे है।

पूजीके पुनः स्थापन और संरक्षण का प्रबन्ध तीनप्रकार से होसकता है। प्रत्येक उपयोगमें एक कोष इस बातके लिए रखा जाताहै कि उसके द्वारा आवश्यकता पड़नेपर मशीनरी तथा अन्य स्थायी पूजीकी मरम्मत होसके। दूसरे समाजकी आय तथा प्रस्तुत परिश्रम और भूमिका उपयोग दो मुख्य भागोंमें बटा रहता है। एकतो उपभोग्य वस्तुएं बनानेमें और दूसरे उत्पादक वस्तुए अथवा स्थायी पूजी उत्पन्न करनेमें। उदाहरणके लिए, समाजको मछलियां प्राप्त होती रहें, इसीलिए यही आवश्यक नहीं कि कुछलोग मछलियां पकड़ते रहें परन्तु यहभी आवश्यक है कि कुछलोग जालभी बनाते रहें ताकि जब प्रस्तुत जाल व्यर्थ होजायें तो नये जाल बनकर उनका स्थान लेसकें। इसका यह अर्थ हुआ कि सामाजिक आयका विभाजन प्रस्तुत और भविष्य उपभोगके बीच किसी उचित अनुपातमें होना चाहिए। जो आय भविष्य उपभोगके लिए उपयुक्त होतीहै, उसेही हम बचत कहते हैं।

सामाजिक [illegible] भी [illegible] आधार माना जासकता है। इसीके द्वारा आविष्कार सम्भव है। आविष्कारों द्वारा न केवल पूंजीका संरक्षण ही होता है वरन् इसकी उत्पत्ति भी होती है। बचतके अभावमें वस्तुएंभी सम्भव न होतीं।

[illegible] पूंजीके सम्बन्धमें निम्नलिखित चार महत्त्वपूर्ण [illegible] किये हैं:

१. [illegible]

२. [illegible]

३. [illegible]

४. [illegible]

४ उत्पादन तथा उपभोग-पूजी। पहिली प्रकारकी पूजीमें कच्ची सामग्री, मैशीनरी, उपकरण इत्यादि वस्तुओंको सम्मिलित किया जासकता है, जिनका कि उत्पादन-क्रियामें उपयोग होता है और दूसरी प्रकार की पूजीमें खाद्य पदार्थों, कपड़ों और मकानों का जो प्रत्यक्ष रूपमें मनुष्य की आवश्यकताओं की तुष्टि करते हैं।

५ पारिश्रमिक पूजी तथा सहायक पूंजी। पहिली प्रकार की पूंजीका प्रयोग श्रमजीवियों को पारिश्रमिक देनेके लिए कियाजाता है और दूसरी प्रकारकी पूजी उत्पादन कार्यमें उनकी सहायता करती है। मैशीनरी, कच्ची सामग्री, उपकरण इत्यादि इसके मुख्य उदाहरण हैं।

पूंजी और बचत

पूजीका निर्माण उसीसमय होताहै जब उत्पादन उपभोगसे अधिक हो। दूसरे शब्दों में पूजीका निर्माण और सग्रह बचत द्वारा होता है। बचतका अर्थ अर्थशास्त्रमें आयको वर्तमान व्ययसे हटाकर भविष्य व्ययमें लगाना है। बचत एकओर तो किसी व्यक्ति अथवा समाजकी बचत करनेकी शक्तिपर निर्भर रहती है और दूसरी ओर बचत करनेकी इच्छा पर। बचत करनेकी शक्ति उत्पादनमें वृद्धि अथवा उपयोगमें ह्रास होनेसे बढती है। इसका आधार किसी देश विशेषमें मिलने वाली प्राकृतिक सामग्री तथा अन्य उत्पादन-साधन है। बचत करनेकी इच्छा पूजी के निर्माण द्वारा लाभ प्राप्त करनेकी आशा तथा भविष्यके लिए प्रबन्ध करनेकी चिन्तापर निर्भर है। सन्तानके लिए कुछ सम्पत्ति छोड जानकी लालसा भी इस इच्छाको पुष्ट करती है। आधुनिक विश्लेषणके अनुसार बचतका परिमाण समाजकी आयपर निर्भर रहता है और आयका परिमाण इस बातपर कि वस्तुत' कितने मनुष्य उद्योग धधोमें उचित पारिश्रमिकपर लगेहुए है और कितने बेकार अथवा अनुचित पारिश्रमिक पर काम कररहे है।

पूजी का सरक्षण

पूजीके सरक्षणसे हमारा तात्पर्य मुख्यतया उसके द्वारा पुनरुत्पादनके प्रबन्धसे है।

पूजीके पुन: स्थापन और सरक्षण का प्रबन्ध तीनप्रकार से होसक्ता है। प्रत्यक उपयोगमें एक कोष इस वातके लिए रखा जाताहै कि उसके द्वारा आवश्यकता पडनेपर मैशीनरी तथा अन्य स्थायी पूजीकी मरम्मत होसके। दूसरे समाजकी आय तथा प्रस्तुत परिश्रम और भूमिका उपयोग दो मुख्य भागोमे वटा रहता है। एकतो उपभोग्य वस्तुए वनानेमें और दूसरे उत्पादक वस्तुए अथवा स्थायी पूजी उत्पन्न करनेमें। उदाहरणके लिए समाजको मछलिया प्राप्त होती रहें, इसकेलिए यही आवश्यक नही कि कुछलोग मछलिया पकडते रहें परन्तु यहभी आवश्यक है कि कुछलोग जालभी वनाते रहें ताकि जब प्रस्तुत जाल व्यर्थ होजायें तो नये जाल वनकर उनका स्थान लेसकें। इसका यह अर्थ हुआ कि सामाजिक आयका विभाजन प्रस्तुत और भविष्य उपभोगके बीच किसी उचित अनुपातमें होना चाहिए। जो आय भविष्य उपभोगके लिए उपयुक्त होतीहै, उसेही हम वचत कहते हैं।

सामाजिक अवकाशको भी वचतका आधार माना जासकता है। इसीके द्वारा आविष्कार सम्भव है। आविष्कारो द्वारा न केवल पूजीका सरक्षण ही होता है वरन् उसकी उन्नति भी होती है। अवकाशके अभावमें वचतभी सम्भव न होगी।

प्रसिद्ध अर्थशास्त्री मिलने पूजीके सम्बन्धमें निम्नलिखित चार महत्वपूर्ण सिद्धान्त स्थापित किये है .

१ उद्योग सदैव पूजीके द्वारा सीमित होता है। इसका अभिप्राय यहहै कि समाज को कालविशेषमें जितनी पूजी उपलब्ध होगी, उद्योगका विस्तारभी वही तक होसकेगा।

२ पूजी वचतका परिणाम है। वचत और पूजीके सम्बन्धमें ऊपर विवेचन किया जाचुका है।

३ जो कुछभी उत्पादन द्वारा प्रस्तुत होताहै उस सभीका उपभोग होता है। इसप्रकार वचत और पूजीभी व्यय और उपभोगका रूप है।

४ वस्तुओके लिए माग श्रमके लिए माग नही है अर्थात् यदि किसी समयमें समाजको अधिक वस्तुओ की आवश्यकता हो तो इसका अर्थ यह नही कि उसे अधिक श्रमजीवियो की भी आवश्यकता होगी। इसप्रकार मिलके अनुसार अधिक माग और अधिक व्ययका परिणाम अनिवार्यत: यह नही होसकता कि समाजमें वेकारी की कमी हो।

१४

व्यवस्था

व्यवस्था की आवश्यकता

यद्यपि उत्पादनके चौथे साधन व्यवस्थाका, विकशेल आदि अनेक अर्थशास्त्रियोंने मार्शलसे मतभेद प्रकट करतेहुए, स्वतन्त्र रूप माननेसे इन्कार कियाहै परन्तु फिर भी वर्तमान समयकी उत्पादन-प्रणालीमें श्रम और पूजीको उत्पादन-क्रियाओंमें सयोजित करनेका कार्यभी महत्वपूर्ण होगया है। उत्पादनका क्षेत्र और परिमाण जितनाही विस्तृत होता जायेगा, श्रमकी उचित देखभाल, श्रमजीवियोंके पारस्परिक सम्वन्धका उचित प्रवन्ध, उनके कार्यकी जाच इत्यादि कार्य आवश्यक होते जायेंगे। व्यवस्थासे तात्पर्य उन प्रवन्धोंसे है जो उत्पादनार्थ भूमि, श्रम और पूजी के लाभकारी उपयोगके लिए आवश्यक है और पूजीमूलक उत्पादन प्रणालीमें व्यवस्थाको वहुत अधिक महत्व प्राप्त होजाता है। वास्तवमें उत्पादनमें भूमि, श्रम और पूजीको किसप्रकार सम्वन्धित किया जाये और किस प्रणालीसे एक दूसरेको सर्वोत्तम सहयोगी वनाया जाये, यही व्यवस्थाका अभिप्राय है। मार्शल व्यवस्थाके अन्तर्गत उद्योग-साहसको भी रखता है और उसका अनुसरण करतेहुए कुछलोग व्यवस्थासे उद्योगपतियोकी कार्यकुशलता, दृढता, दूरदर्शिता तथा अन्य आवश्यक गुणोका अर्थ लेते है। उद्योग-साहससे तात्पर्य उद्योगपतिकी उस विशेषतासे है जिस के फलस्वरूप वह उद्योगकी हानि लाभ तथा अनिश्चितताका सामना करनेको उद्यत होता है। इसप्रकार नवीन आविष्कारो तथा अन्य प्रकारकी नवीनताओका उत्पादन में उचित प्रयोग इसी साहस द्वारा सम्भव होता है। सक्षेपमें व्यवस्थापक अथवा उद्योगपतिके मुख्य कार्य ये है:

(१) उद्योगके आकार तथा परिमाणका निश्चय करना।

(२) श्रम और पूजीके सम्वन्धोको वनाये रखना।

(३) क्रय-विक्रय, पूजी तथा उत्पादन-परिमाणके सम्बन्धमें निश्चय करना।

(४) उत्पादन-साधन किस मात्रा और किस अनुपातमें प्रयुक्त होंगे, इसका निर्णय करना वास्तवमें व्यवस्थापकके सब कार्योका सार यहहै कि उसे निर्णय करना पडता है कि क्या, कितना और किस भाति उत्पादन करना है और किसप्रकार उसे बेचना है।

बडे परिमाण मे उत्पत्ति

हम लिखचुके है कि व्यवस्थापक अथवा उद्योगपतिका मुख्य कार्य उद्योगके आकार तथा परिमाण का निर्णय करना होता है। उत्पादनका परिमाण विस्तृत करदेने से उत्पादन-कौशलमें बहुत वृद्धि होसकती है और साधारणतया बडे बडे उद्योगोको छोटोसे कही अधिक लाभ प्राप्त होता है। इसीकारण पूजीमूलक उत्पादन-प्रणाली की प्रवृत्ति बडे बडे उद्योगोको स्थापित करनेकी ओर रहती है। बडे परिमाण में उत्पत्ति करनेसे दोप्रकार के लाभ प्राप्त होते है। मार्शल एकको आन्तरिक और दूसरेको वाह्य लाभ कहता है। आन्तरिक लाभ वे है जिनको केवल बडे परिमाणमें उत्पत्ति करनेवाले उद्योगविशेष ही उठासकते है। इसके अतिरिक्त-कुछ ऐसेभी लाभहै जो पूर्ण उत्पादन प्रणालीको प्राप्त होते है। वाह्य लाभ उद्योगधन्धो के स्थानविशेष में एकत्र होजाने से प्राप्त होनेवाली सुविधाए है। उद्योगधन्धो के एक स्थानपर एकत्र होनेसे पहिला लाभ तो यहहै कि उस स्थानकी उद्योग-कुशलता वशगत होजाती है। बहुतसी बातें बच्चे विना सिखाये सीखजाते है। हर एकको उस स्थानकी विशेष कला सीखनेके लिए सुविधाए प्राप्त रहती है क्योकि वहापर उस कलाके विशेषज्ञ रहते है। इस स्थानीकरणसे दूसरा लाभ यहहै कि उस स्थानपर बहुत से सहायक उद्योगोंके विकासका भी अवसर रहता है। प्राय: देखनेमें आयाहै कि जहा एक मुख्य उद्योग स्थापित हुआ वहा अथवा उसके आस पास उससे सम्बन्धित अनेक सहायक उद्योग विकसित होजाते है। तीसरा लाभ यहहै कि विशेषज्ञ श्रम-जीवियोको नौकरी मिलनेके अनेक अवसर प्राप्त होते रहते है। इसकारण उन्हें जीविकाके सम्बन्धमें चिन्ता नही रहती। एक उद्योगपतिके साथ न बननेपर विना किसी विशेष झंझटके दूसरे उद्योगमें स्थान मिलजाता है। इन लाभोंके अतिरिक्त

उद्योगोंके एकत्र होनेसे नये नये आविष्कारोंकी सम्भावना रहती है। कुछतो इस लिए कि उस स्थानपर बहुतसे विशेषज्ञ रहते हैं, इनका सहयोग और स्पर्द्धा दोनों ही आविष्कारोंके लिए सहायक होतेहैं और कुछ इसलिए कि उद्योगके एकत्र होने से मूल्यवान् और बहुतसी विशिष्ट प्रकारके यन्त्रोंका प्रयोग सम्भव होता है।

बडे परिमाणमें उद्योग होनेसे दो प्रधान आन्तरिक लाभ प्राप्त होते हैं। पहिला कच्चे माल तथा अन्य उपकरणोंकी बचत और दूसरा निपुणताका अधिक उपयोग। यद्यपि आरम्भमें अधिक परिमाणमें उत्पत्ति करनेमें अधिक माल, श्रमजीवियों और व्ययकी आवश्यकता होतीहै पर हर दृष्टिसे इन सबकी बचत होती है। अर्थात् इन का उपयोग कम मूल्यमें होना सम्भव होताहै। बहुतसा माल इकट्ठा मगवानेमें बडे उद्योगपतिको भाव करनेमें कुछ अधिक लाभप्रद स्थिति प्राप्त होजाती है। वह दूर से और अच्छेसे अच्छा माल मगवा सकता है। अधिक माल खरीदनेपर मूल्य कम देना पड़ता है। दूसरी बात यहहै कि वह विशिष्ट और मूल्यवान् यन्त्रोंका प्रयोग कर सकता है। छोटे उद्योगोंको स्थायी पूजी विस्तृत करनेका अवसर कठिनतासे मिलताहै क्योंकि स्थायी पूजी सदैव श्रमकी बचत करतीहै और इसकारण उत्पादक को स्थायी पूजी वढानेके लिए अपना उत्पादन वढाना पडता है। फिर कुछ ऐसे यन्त्रहैं जिनका प्रयोग किसी कार्यके एक छोटे भागके लिए होता है। ऐसे यन्त्रोका लाभ केवल वडे वडे उद्योग और कारखानेही उठासकते है। कारण यहहै कि श्रम-विभाजन और श्रमविशिष्टता और निपुणताका पूरा लाभ वडे वडे उद्योगोमें ही मिल सकता है। यह वात हम श्रमविभाजनकी चर्चा करतेहुए समझा चुके है। विशेषज्ञो का ज्ञान और सेवाओका लाभ उठानेके लिए उद्योगपतिको उन्हें अधिक वेतन देना पडता है। अधिक वेतन वडे वडे कारखानेही सुविधा और लाभपूर्वक देसकते है। इसकारण छोटे उद्योगधन्धे इन सेवाओसे वचितही रहजाते है। आधुनिक उत्पादन पद्धतिका एक वडा आधार आविष्कार और नवीनताए है। उत्पादन-प्रणालीमें नवीनताओका समावेश करनेकी क्षमताके अभावमें वर्तमान आर्थिक व्यवस्था जीवनहीन होने लगती है। वडे परिमाणमें उद्योग होताहै तो उसमें वैज्ञानिक अनु-सन्धान आदि करानेका अवसर मिलता है। वैज्ञानिक अनुसन्धान व्यय-साध्य काम है और जवतक छोटे उत्पादनका क्षेत्र वडा न हो, इसका कोई सुचारुरूप असम्भव है। यही नही, नये आविष्कारोका, नयी उत्पादन रीतियो और अच्छे यन्त्रोका उप-

योगभी छोटे छोटे उद्योगधन्धे नही करसकते। अधिक परिमाणमें उत्पादनकी कुछ अनिवार्य हानियाभी हैं। बडे उद्योगोका उत्पादन आवश्यकतासे बहुत अधिक होगा। इसकारण मन्दीके समय जब बिक्री बहुत कम होजाती है, ऐसे उद्योगोको बहुत हानिया सहनी पडती है। बहुत अधिक स्थायी पूजी लगे रहनेका अर्थ यहहै कि बहुत ऐसे व्यय जो स्थायीहैं बिना उद्योग बन्द किये घटाये नही जासकते। उत्पादन-परिमाण कम हो या अधिक, ऊचा वेतन पानेवाले पदाधिकारियोको अलग नही किया जासकता, यद्यपि उससमय उनकी सेवाओकी आवश्यकता न हो। इसके अतिरिक्त जहा बडे बडे उद्योग नये आविष्कारोसे लाभ उठासकते है वहा उन्हें हानिभी होसकती है, क्योकि आविष्कार शीघ्रतापूर्वक भी होसकते है और इस दशामे उनको अपनानेमें पुरानी स्थायी पूजीकी क्षति होगी। पर यह हानि सामाजिक दृष्टिसे अधिकहै, भिन्न भिन्न उद्योगोकी दृष्टिसे कम; क्योकि नये आविष्कारोका वे पेटेन्ट राइट खरीद सकतेहै और इसप्रकार वे उनका उपयोग स्थगित रखसकते है। फिर भी यह निर्विवादहै कि उद्योग अपनेही नियमोसे बद्ध होतेहै और उनमें परिवर्तन-शीलता तथा गत्यात्मकताका अपेक्षाकृत अभाव होता है। यहभी न भूलना चाहिए कि जहा बडे उद्योग प्रत्येक विभागका सुचारु वैज्ञानिक प्रबन्ध करसकते है, ऊचे वेतन देकर शिक्षा और अनुभव प्राप्त कुशल प्रबन्धक रखसकते है, वहा उत्पादन क्षेत्रके विस्तारके साथ प्रबन्ध और शासन-व्यय बढता चलाजाता है। तब फिर यहभी आवश्यक होजाता है कि छोटे पदाधिकारियो पर निर्णय और अन्य महत्व-पूर्ण उत्तरदायित्वके कार्य छोडेजायें। इसप्रकार उद्योगको बडी हानि होजाने की सम्भावना रहती है।

व्यवस्था के रूप

बडे परिमाणमें जब उत्पत्ति होतीहै तो उसका स्वामित्व और प्रबन्ध एक व्यक्तिके वशकी बात नही रहती। एक तो उत्पादन व्यवस्थाकी एकस्वामित्व रीतिमें पूजीकी सदैव कठिनता रहती है क्योकि इसप्रकारके उद्योगो को बैंक ऋण कठिनतासे देते है। दूसरे स्वामीका आर्थिक दायित्व असीमित होता है। इन कारणोसे बड़े बडे उद्योगो की व्यवस्था साझेदारी, सम्मिलित पूजी-कम्पनी और कारपोरेशनके रूपमें

अधिकतर होती है। सहकारी समितियां भी व्यवस्थाका एक रूप होसकती है। पर बहुत बड़े उद्योगोंमें यह रूप सफलतापूर्वक कम अपनाया गया है।

साझेदारीमें दो या दोसे अधिक व्यक्ति उद्योगके साथ साथ स्वामी होते हैं। उन दोनोंके बीच समनुबन्ध होजाता है, जिसके आधारपर यह निश्चित होताहै कि प्रत्येक साझीदार कितना रुपया अथवा पूंजी व्यापारमें लगायेगा, उसके और क्या क्या उत्तरदायित्व तथा अधिकार होंगे तथा लाभमें उसका कितना भाग रहेगा। साझीदारोंके बीच पूंजी, नकदी और सेवा तीनोंका विभाजन होसकता है। और ऐसाभी होसकताहै कि कुछ साझीदार केवल पूंजी लगायें और कुछ केवल सेवाएं। साझेके समनुबन्धमें अधिकतर साझीदारोंके दायित्वका मान निश्चित करदिया जाताहै और उद्योगके लाभ और उनकी स्थायी पूंजीमें उनका भाग उनकी पूंजीके अनुपातमें बांट दिया जाता है। साथही अधिकतर समनुबन्धोंमें यह स्पष्ट तथा निश्चित करदिया जाता है कि उद्योगमें हानि होनेपर किस साझीदारको हानिका कितना भाग भरना पड़ेगा। अधिकतर राजनियमों द्वारा सरकार समनुबन्धों का पालन कराती है। पर यदि कोई साझीदार अपना भाग न चुका सके तो राजनियम द्वारा हर साझीदार अपनी सारी व्यक्तिगत सम्पत्तिके मूल्यके बराबर हानि पूरी करनेके लिए उत्तरदायी ठहराये जायेंगे।

साझेदारीमें प्रत्येक साझीदार उद्योग सम्बन्धित कार्यके लिए उत्तरदायी होता है। यदि एक साझीदार कोई वस्तु किसी मूल्यपर खरीद लेताहै तो मूल्य देनेके लिए सभी साझीदार उत्तरदायी होंगे, चाहे यह खरीद उन्हें पसन्द हो अथवा नहीं। यह दूसरी बातहै कि उद्योगके नामपर कोई व्यापारिक बातचीत करनेसे पहिले सभी साझीदार एक दूसरेसे राय लेलें। पर यदि वे ऐसा न करसके अथवा यदि उनमें परस्पर मतभेदहो तो इसके कारण दूसरो तथा जनताके प्रति उनके उत्तरदायित्व में कोई भेद नही पड़ता। साझेदारी का एक औरभी रूप होता है। इससे ऐसा होताहै कि कुछ साझीदार सीमित उत्तरदायित्वके साथ उद्योगमें भागीदार होसकते हैं। घाटा होने पर ऐसे साझीदारो को उनके भागके अनुपातमें ही हानि भरनी पड़ती है। ऐसी अवस्थामें प्राय: तीन शर्तें लगाई जाती है। (१) उद्योगमें उसका भाग नकदके ही रूपमें हो, सेवाओके रूपमें नही (२) उद्योगके नाममें उसका नाम न आवे और (३) वह उद्योगके नामपर किसी प्रकारका लेनदेन न करे।

साझेदारीसे कई लाभ हैं। इस व्यवस्था द्वारा अधिक पूजी उपलब्ध होसकती है। सभी साझीदार कुछ न कुछ पूजी लगाते है और इसके अतिरिक्त बैंकोसे भी सुगमतासे ऋण मिलजाता है। दूसरी बात यहहै कि इसप्रकार उद्योग,को विभिन्न प्रकारकी योग्यताओका लाभ मिलता है। इसके साथ इसप्रकार की व्यवस्थामें व्यक्तिगत व्यापारका बहुत कुछ स्वरूप बना रहता है।

साझेदारी प्रथाकी कुछ हानिया भी है। इसमें पूजी प्राप्त करनेकी क्षमता अपेक्षाकृत कम रहती है। साधारणतया यह होताहै कि उद्योग बढनेपर और फलतः पूजीकी अधिक आवश्यकता होनेपर साझीदारोकी सख्या बढानी पडती है। इस दशामें प्रबन्धमें भी कठिनाई होतीहै और अधिक सख्या होनेके कारण आपसमें मत-भेद भी बहुधा हुआ करता है। मतभेदोंका यदि निपटारा न होसका तो साझेदारी ही समाप्त करनी पड़ती है। इसके अतिरिक्त किसीभी साझीदारको यह अधिकार नही होता कि उद्योगमें वह अपना भाग बिना साझीदारोकी सहमतिके अन्य किसी को बेच दे। इसकारण अलग होनेके लिए या तो वह अन्य साझीदारोके भागोको खरीदले या स्वय अपने भागोको उनके हाथ उनके इच्छित मूल्यपर बेचदे अथवा साझेदारी ही समाप्त कर दीजाये। इसके अतिरिक्त साझीदारोकी एक दूसरेके कार्यके लिए सहमति तथा उनका असीमित ऋणदायित्व भी इस व्यवस्थाको दोष पूर्ण बनाते हैं।

सम्मिलित पूजी कम्पनीसाझेदारी और कारपोरेशनके मध्यकी अवस्था है। इसमें दोनो प्रकारकी व्यवस्थाओकी विशेषताए मिलती है। सम्मिलित कम्पनीके स्वामीके ऊपर ऋण तथा अन्य दायित्व उतनेही होतेहैं, जितने साझीदारीमें। भेद इतनाहै कि साझेदारीमें स्वामित्वका अधिकार एक समनुबन्धके आधार पर होता है और सम्मिलित पूजी कम्पनीमें स्वामित्व पूजी बाजारमें खरीदे जासकनेवाले हिस्सो द्वारा प्राप्त कियाजाता है। जिन लोगोके पास हिस्सा है, उनके द्वारा निर्वाचित सचालकोकी समितिके हाथमें प्रबन्ध और शासनका कार्य होता है। इस प्रकारकी व्यवस्थाको सीमित ऋण-दायित्वको छोडकर और वे सारे लाभ होतेहैं जो कारपोरेशन द्वारा प्राप्त होसकते है।

कारपोरेशन राजनियम द्वारा कुछ विशेष उद्देश्योकी पूर्तिके लिए निर्माणित संस्था होती है। आरम्भिक कारपोरेशन व्यापारी नही थे। वे धार्मिक दानपुण्यके

अथवा शिक्षा सम्बन्धी थे। ये राजाज्ञा अथवा सरकारी दानपत्र द्वारा स्थापित कियेजाते थे और राजन्द्वारा उन्हें कुछ विशेषाधिकार और संरक्षा मिलती थी। मध्ययुगके शिल्प-संघ सबसे प्रथम कारपोरेशनोंमें से है जिनकी गणना व्यापारिक कारपोरेशनोंमें की जासकती है। इसप्रकार की व्यवस्थामें यह होताहै कि कुछ मनुष्य राज्यको एक प्रार्थना पत्र भेजते है जिसमें एक राजाज्ञाकी प्रार्थना कीजाती है, जिसके द्वारा उन्हें कारपोरेशनके रूपमें व्यापार करनेकी आज्ञा दीजाये। अगर प्रार्थना स्वीकृत होजाती है तो व्यापार चालू करदिया जाता है। कारपोरेशन की विशेषता यहहै कि यद्यपि वह कई व्यक्तियोंसे मिलकर बनता है और अनेक प्रकारके बाँड, स्टाक, शेयर तथा अन्य प्रकारके ऋण-साधनोंके द्वारा पूजी इकट्ठा करता है, फिरभी उसका दायित्व सीमित रहता है। शासनकी दृष्टिमें वह एक व्यक्ति माना जाता है।

कारपोरेशन पूजीकी दृष्टिसे व्यवस्थाका अत्यन्त उत्तम रूप है। पर इस रूपमें धोका करनेके अवसर बहुत रहते है। कारपोरेशनके अधिकतर दोष डाइरेक्टर या अन्य कर्मचारियोकी कपट-नीतिके कारण होते है। बहुत बडी होजानेपर कारपोरेशन के चलानेका व्यय आवश्यकतासे अधिक बढ़जाता है। और फिर बडे बडे कारपोरेशनोसे वे हानिया तो है ही जिनकी चर्चा हम बडे परिमाणमें उत्पादन के सम्बन्धमें करआये है।

उत्पादन-व्यय

उत्तम व्यवस्था का उद्देश्य न्यूनतम उत्पादन-व्ययसे अधिकतम उत्पत्ति प्राप्त करना होता है। उत्पादन-व्ययकी प्राचीन तथा आधुनिक परिभाषाओका विवेचन हम इस पुस्तकमें भिन्न भिन्न स्थानोपर करचुके है। विषय महत्वपूर्ण है इसकारण पुनरुक्ति का दोष होनेपर भी उत्पादन-व्ययका एकत्रित विवरण आवश्यक प्रतीत होता है। जो कुछभी उत्पादनमें काममें आये उसे हम लागत कहते है और उसके फलस्वरूप जिन वस्तुओका उत्पादन हो उन्हें हम उत्पत्ति कहेंगे। जो मूल्य हमें लागतके लिए देना पडे वह उत्पादन-व्यय है। व्यय की आवश्यकता इसकारण होतीहै कि सारी वस्तुए, सारे उत्पादनके साधन मनुष्यको प्रकृति द्वारा अनायास

ही नही मिल जाते। इसप्रकार उत्पादन-व्यय अन्ततोगत्वा इस बातसे निश्चित होताहै कि इच्छित वस्तुके निर्माणमे जो श्रम करना पडा है, उसका क्या मूल्य है। उत्पादन केवल रूप-परिवर्तन मात्र करता है। श्रम और अन्य सामग्रीके एकरूप की जो उपयोगिता हम समझते है यदि उसके किसी दूसरे रूपकी उपयोगिता हमारी समझमें अधिक है तो पहिले रूपको हम दूसरे रूपमें परिवर्तित करनेका प्रयत्न करेंगे। इस प्रयत्न का अर्थ यह होगा कि हम पहिले रूपका नाश करदें और इसका कारण स्पष्ट है कि एक उपयोगिताका वलिदान करकेही हम दूसरी उपयोगिता प्राप्त करसकते है। जवतक कुछ वस्तुए अपने प्राप्त रूपमें विल्कुल ही उपयोगिता हीन न हो, उत्पादन सदैव व्यय-साध्य होगा। वलिदानकी हुई उपयोगिताको मापनेकी कई रीतिया होसकती है। इन्ही रीतियोको लेकर अर्थशास्त्रियोमें कुछ मतभेद है; व्ययके स्वरूपके सम्वन्धमें कोई मौलिक मतभेद नही है। एक रीतिके अनुसार उत्पादन-व्ययके मापनेके लिए पहिले हमे देखना चाहिए कि उनके निर्माणके लिए उत्तरदायी व्यक्ति अथवा वर्गको किन किन वस्तुओको खरीदना पडताहै और किन किन मूल्यो पर। इन सव मूल्योका जोडही उत्पादन-व्यय होगा। इस रीतिमें दो प्रकारकी कठिनाइया है, एकतो यहकि इस वातका निर्णय कठिनहै कि कौनसी वस्तुए उत्पादक गिनी जायें। कुछ लोगोने भूमि, श्रम और पूजी, कुछने व्यवस्था और उद्योग-साहसभी और अन्यने केवल श्रमको उत्पादक मानाहै और इन्हीके मूल्यको वास्तविक उत्पादन-व्यय माना है। कुछलोग इस सूचीमें यातायात, वीमा, घिसावट आदिके व्ययको भी सम्मिलित करते है। दूसरी कठिनाई यहहै कि कुछ उत्पादक सेवाए भी है और उनका मूल्य निश्चित नही हो पाता। इसप्रकार लाभ इत्यादि भी व्ययमें सम्मिलित करना पडता है और यह कुछ तर्कके विरुद्ध है।

मार्शलने वास्तविक और मौद्रिक व्ययका भेद किया है। उनकी परिभाषाके अनुसार सभी प्रकारके श्रम जो प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूपसे किसी वस्तुके निर्माणमें आवश्यकहै तथा आवश्यक पूजीके लिए कीगयी प्रतीक्षा—ये दोनो साथ साथ उस वस्तुके निर्माणका यथार्थ व्यय होंगे। हरप्रकार का श्रम और पूजी उपलब्ध करने के लिए जितने द्रव्यकी आवश्यकताहै उनको उत्पादन व्ययका मौद्रिक माप कहेंगे। अव कठिनाई यहहै कि विभिन्न कारखानोके उत्पादन व्ययमें अन्तर पडसकता है।

ऐसी अवस्थामें किसका व्यय मूल्यका निर्धारक माना जावे। मार्शलने इस कठिनाईका समाधान प्रतिनिधि उद्योग सस्थाकी कल्पना द्वारा किया है। प्रतिनिधि उद्योग सस्था वहहै जिसकी व्यवस्था न बहुत अच्छी और न बहुत बुरी हो। इस प्रतिनिधि सस्थाका जो व्ययहो उसीको उत्पादन-व्यय माना जासकता है। परन्तु वास्तविक व्ययकी कल्पनाही व्यर्थ है। किसी वस्तुके निर्माणमें कितना कष्ट उठाना पडा उसका कोई सर्वमान्य मापदण्ड नही होसकता। मापनेकी दूसरी रीति यहहै कि उत्पादनके लिए उठायेगये कष्टोंको न मापकर उन वस्तुओंको मापनेकी चेष्टा कीजाये जो उसी उत्पादन साधनसे बनसकती थी, पर बनायी नही गयी। इस मतका आधार यहहै कि एकही उत्पादन-साधनसे कई वस्तुए बनसकती थी। इसप्रकार किसी सेवा अथवा साधनको उत्पादनके लिए उपयोगमें लाकर बहुतसी वस्तुओका बलिदान करना पडता है। जब हम एक सेवाको किसी उपयोगमें लातेहै तो उसका अर्थ यही हुआ कि अन्य उपयोगोमें लानेका अवसर जाता रहा। इसप्रकार कोई वस्तु बनाकर जिन वस्तुओंके निर्माणका त्याग कियागया, इन्ही अन्य वस्तुओका मूल्य उस वस्तुका उत्पादन-व्यय हुआ। उत्पादन-व्ययके मापनेका यह सिद्धान्त अवसर अथवा वैकल्पिक व्यय कहलाता है। यद्यपि वैकल्पिक व्ययका सिद्धान्त आज प्राय: सभी लोग मानतेहै परन्तु यह निश्चित करना कठिनसा है कि एक उत्पादन के साधन या उत्पादनके साधनोके सहयोगसे दूसरी कितनी वस्तुए बनसकती है। फिर इन विभिन्न वस्तुओंके मूल्यको द्रव्यमें परिवर्तित करनेपर मौद्रिक व्ययही वास्तविक वस्तु रहजायेगी, वैकल्पिक वस्तुए और अवसर केवल निरर्थक कल्पना मात्र होगे। इसप्रकार मार्शलके वास्तविक व्यय और आधुनिक वैकल्पिक व्ययमें कोई अन्तर नही रह जायेगा।

उत्पादन-व्ययके सम्बन्धमें सामाजिक व्ययका विवेचन करदेना भी आवश्यक है। बहुतसे ऐसे व्यय है जो किसी विशेष उत्पादन सस्थाको नही करने पडते। वरन् इनका भार सम्पूर्ण समाजको सहना पडता है। उदाहरणके लिए यदि कोई सस्था कुछ श्रमजीवियोको हटादे तो उनके जीवन-निर्वाहका व्यय किसी उद्योग सस्थाको भले ही न देनापडे, पर समाजको अवश्य देनापडता है। इसीप्रकार उद्योगोमें दुर्घटना बढजाने से, गन्दगी और धुएसे, नकली चीजोके बनानेसे और अत्यधिक विज्ञापन बाजीसे जो हानिया होतीहै, होसकताहै कि वे किसी उद्योग विशेषको न सहनीपड़ें

पर समाज इनसे नही बचसकता। यह सामाजिक व्यय है। —

व्ययका विश्लेषण करतेहुए अर्थशास्त्रियोने कई प्रकारके व्यय माने है। प्रत्येक वस्तुके बनानेमें जितना व्यय हुआ, उसकी जितनी वस्तुए बनीहै उनसे गुणा करेंतो गुणनफल कुल व्यय होगा। दूसरी रीतिसे यही बात इसप्रकार कही जासकती है कि प्रत्येक उत्पादनके साधन और सेवाका उपयोग करनेमे जितना व्यय हुआ है, उसे यदि प्रयुक्त साधनो और सेवाओकी कुल सख्यासे गुणा करदे तो गुणनफल कुल व्यय होगा। कुल व्यय उत्पत्तिके अनुसार घटता वढता रहेगा परन्तु उत्पत्तिके शून्य होनेपर भी कुल व्यय शून्य न होगा।

उत्पत्तिकी सख्यासे यदि कुल व्ययको भाग दियाजाये तो भागफल औसत व्यय होगा। औसत-व्ययभी उत्पत्तिके अनुसार घटता वढता रहता है।

कुल उत्पत्तिमें यदि वृद्धि करें तो उस वृद्धिके अनुसार कुल व्ययमें वृद्धि होती है। व्यय-वृद्धिको यदि उत्पत्ति-वृद्धिसे भागदें तो भागफल सीमान्त व्यय होगा। मानलीजिए उत्पत्ति पच्चीससे तीस इकाई होगयी और कुल व्यय पचाससे पचपन रुपया होगया तो ५/५ = १ रु० सीमान्त व्यय होगा।

ऐसे व्यय जो उत्पत्तिके साथ नही घटते वढते, स्थायी व्यय कहलाते है। मशीनो और इमारतोकी देखरेख, मैनेजरो और कुछ अन्य श्रमजीवियोपर व्यय उत्पत्तिका परिमाण घटानेसे परिवर्तित नही होता। परिवर्तनशील व्यय वहहै जो उत्पत्तिके परिमाणके साथ घटता वढता रहता है। अविभाज्य व्यय कुछ ऐसे व्ययहै जो यदि सस्था बन्दही करदेने का निश्चय न कर लियाजाये, तो सस्थाको हर दशामें करने पडेंगे। अविभाज्य व्ययको छोडकर अन्य व्यय पूरक व्यय कहलाते है।

हमने सीमान्त व्ययकी परिभाषा करतेहुए कहाहै कि यह व्यय उत्पत्तिमें वृद्धि करनेका व्यय है। इसकारण केवल परिवर्तनशील व्ययसे सम्बन्धित है। स्थायी और परिवर्तनशील व्ययका विभेद केवल अल्पकालकी दृष्टिसे कियाजाता है। दीर्घकाल में उत्पत्ति वढाने या घटानेसे स्थायी व्ययमें भी अन्तर आयेगाही।

१५

उद्योग धन्धों का अभिनवीकरण

अभिनवीकरण का अभिप्राय

अखिल विश्व आर्थिक सम्मेलन १६२७ म उद्योग धन्धोंके अभिनवीकरण की परिभाषा इसप्रकार कीगयी थी:

'यह वह साधनहै जिसके द्वारा उद्योग धन्धोंकी उत्पादन विधि और सगठनमें श्रम तथा सामग्रीका न्यूनतम अपव्यय होता है। इसमें श्रमका वैज्ञानिक सगठन, उत्पादन-सामग्री तथा उत्पन्न वस्तुओंका माननयन, उत्पादन की क्रियाओंका सरल बनाना और यातायात तथा विक्रय प्रणालीको उन्नत करना इत्यादि सम्मिलित है।'

वर्तमान शताब्दीमें औद्योगिक सगठनको निर्धारित करनेवाली शक्तियोंमें महान् परिवर्तन हुए है। इनमेंसे मुख्य बाजारोका विस्तार, उद्योग धधोमें विज्ञानका प्रयोग, श्रमजीवियोकी शक्तिका वर्धन, प्रवन्धको तथा स्वामियोका पार्थक्य और यदभाव्य नीतिका पतनोन्मुख होना है। अभिनवीकरणका अभिप्राय इन परिवर्तनोंसे समझ बूझकर कियेगये नियन्त्रण द्वारा समन्वय प्राप्त करना है। अभिनवीकरण के दो पक्ष है। एकतो स्वतन्त्र तथा परस्पर प्रतिस्पर्धी उद्यमोको एक दूसरेसे सम्वन्धित करके उनमें आवश्यक एकता स्थापित करना और दूसरे प्रत्येक उद्यमकी उत्पत्ति, अर्थवहन, कर्मचारी मडल और वितरण इत्यादिको कुशलतापूर्वक सगठित करना।

अभिनवीकरण के मुख्य अंग

निर्धारित कार्यक्रम, पुर्नव्यवस्था तथा विकास, ये तीन अभिनवीकरणके प्रधान अग है। कार्यक्रम को निर्धारित करनेमें प्रथम स्थान वर्तमान तथा भावी बाजारो की जाच को दियाजाता है और उपभोक्ताओके स्वभाव, रुचि इत्यादि पर निर्भर माग

की लोचका ज्ञान प्राप्त कियाजाता है क्योंकि इसीके आधारपर वस्तुका मूल्य न्यूनाधिक कियाजाता है। बाजारोंकी जाचसे किसप्रकार की वस्तुको किस मात्रामें उत्पन्न करना चाहिए, उत्पादनविधि मे कौन कौनसे परिवर्तनोंकी आवश्यकता है, भिन्न भिन्न कौशलवाले श्रमजीवियोंकी कितनी सख्यामें नियुक्ति कीजाये, कितने कच्चे माल तथा पूजीकी आवश्यकता होगी, आदि उत्पादनसे सम्बन्ध रखनेवाली समस्याओका निर्णय करनेमें सहायता मिलती है। आय-व्यय-लेखे (बजट) द्वारा नियन्त्रण पद्धतिसे यह निर्णय अत्यन्त सरल होजाता है ; क्योंकि व्यक्तिगत नियन्त्रण के स्थानपर अब आकडो द्वारा नियन्त्रण होताहै। इस नियन्त्रण पद्धतिके कई लाभ है :

(१) अत्यधिक उत्पत्तिके करनेकी सम्भावना कम रहती है। क्योकि उत्पत्तिका प्रत्याशित बिक्रीसे समन्वय किया जासकता है।

(२) उत्पादनके प्रत्येक विभागके उत्पादन-व्यय, कार्यक्रमका अनुमानित तथा वास्तविक खर्चो और कार्योकी तुलना द्वारा नियन्त्रण किया जासकता है।

(३) इसके द्वारा विकेन्द्रीकरणमें सहायता मिलती है, क्योकि प्रत्येक विभागको आर्थिक क्षेत्रमें स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करनेकी अवधि निश्चितकर दीजाती है।

(४) इसके द्वारा विभिन्न भागोमें पारस्परिक सहयोग स्थापित किया जासकता है।

बिक्री की मात्राका भलीप्रकार अनुमान करलेनेसे उत्पादनके लिए आवश्यक कच्ची सामग्री तथा उससे वस्तु निर्माण करनेके लिए उचित सस्थाकी स्थापना और उसके लिए आवश्यक श्रम, अर्थ, निरीक्षण, नियन्त्रण इत्यादि का अनुमान करना कठिन नही होता। यहतो निश्चितही है कि अधिक मात्रामें उत्पत्ति करनेसे उत्पादन व्ययमें कमी की जासकती है परन्तु यह कमी केवल वर्तमान सस्थाओके एकीकरण से नही वरन् उत्पत्तिका कुशलतम सस्थाओमें समाहार करनेसे प्राप्त होसकती है। अभिनवीकरण द्वारा इस समाहार को प्राप्त करनेकी चेष्टा कीजाती है। इसकारण वर्तमान सस्थाओंके पुनः संगठनके लिए निम्नलिखित सुधारोंकी आवश्यकता होती है :

(१) अकुशल संस्थाओंको बन्दकरके उत्पादन कार्यको कुशलतम सस्थाओं द्वारा करवाना: क्योंकि इसप्रकार उन सस्थाओंकी पूर्ण उत्पादन शक्तिका प्रयोग होसकेगा।

(२) उत्पादन-व्यय को कम करनेके लिए नवीनतम यन्त्रो अथवा उपकरणोंका प्रयोग करना।

(३) वैज्ञानिक अनुसन्धान विभागोंका स्थापित करना।

(४) वस्तुओंके आधुनिक यातायात द्वारा उत्पादन व्यय कम करना।

(५) नियन्त्रण पद्धतिमें परिवर्तन करके उपयुक्त नियन्त्रकों का चुनाव करना। अभिनवीकरण नवयुवकों द्वाराही सुचारुरूप से किया जासकता है। वृद्धावस्थामें नये औद्योगिक वातावरणका भलीप्रकार से अध्ययन करनेका उत्साह नही रहता परन्तु अभिमानी होनेके कारण वृद्ध प्रबन्धक लोग नवयुवकों को उत्तरदायित्वपूर्ण स्थानोंपर नियुक्त नही करते, अभिनवीकरणकी दृष्टिसे यह उचित नही। तीस से चालीस वर्षकी आयुके लोगोंको अपनी योग्यता दिखानेके लिए अधिक अवसर मिलने चाहिए।

अभिनवीकरण के लाभ तथा हानिया

भय प्रकट कियाजाता है कि अभिनवीकरणके कारण एकाधिकारोंका सृजन होगा और एकाधिकारी मनमाने मूल्य लेकर उपभोक्ताओं का अहित करेंगे। परन्तु अभिनवीकरणका उद्देश्य तो कुशलतापूर्वक उत्पादन द्वारा मूल्योंका कम करनाहै न कि अधिक। आंशिक अभिनवीकरणके कारण कई लोगोंकी हानि अवश्य होती है। यदि एक उद्योग धन्धे द्वारा उत्पन्न वस्तुए किसी दूसरे अभिनवीकृत उद्योग धन्धेमें कच्चे मालके रूपमें प्रयुक्त होतीहैं तो दूसरे उद्योग धन्धे वालोंको पहिले उद्योग धन्धे वालो की वस्तुए खरीदनेका एकाधिकार प्राप्त होजायेगा और वह इस अधिकार का दुरुपयोग करके पहिले उद्योग धन्धे वालोंकी हानि करसकते है।

अभिनवीकरण द्वारा बेकारी फैलनेकी सम्भावना है। अकुशल संस्थाओंके बन्द करदेने से और उत्पत्तिके नियन्त्रण तथा यन्त्रोंके नवीकरणसे कुछ लोगोंका अनावश्यक होजाना अनिवार्य है। अभिनवीकरण द्वारा अन्ततोगत्वा उत्पादन-व्यय और फलस्वरूप मूल्यमें कमी होनेसे मांगमें वृद्धि होगी और इसकारण उत्पत्तिकी मात्रा बढानेके लिए अधिक लोगोंको नियुक्त करनेकी आवश्यकता होगी। परन्तु आरम्भमें तो कुछ लोगोंको बेकारीकी पीड़ा सहन करनी ही पडेगी। इस समस्याको सुलझानेके

लिए बेकारीकी वृत्ति देनी होगी या श्रमके समयको कमकरके लोगोको बेकारीसे बचाना होगा। इसीप्रकार पूजीपतियो को भी आरम्भमे हानि होगी।

एक प्रसिद्ध विशेषज्ञ मिस्टर वाबी ने अभिनवीकरणके लाभ और हानियां इसप्रकार एकत्रित की है। पुनरुक्तिके दोषकी चिन्ता न करतेहुए उनका उल्लेख किया जारहा है:

लाभ :

(१) उत्पत्तिका कुशलतम संस्थाओमें समाहार।
(२) वस्तुनिर्माण का विकेन्द्रीकरण।
(३) वस्तुनिर्माण का माननयन।
(४) यन्त्रोका नवीकरण।
(५) शक्तिका मितव्यय।
(६) प्रबन्ध विषयक व्ययकी कमी।
(७) अत्यधिक मात्रामें उत्पत्तिका अभाव।
(८) बिक्रीका समाहार।
(९) निरर्थक भाडा इत्यादिकी बचत।
(१०) पूजी-उपलब्धिका सौकर्य।
(११) अधिक अनुसन्धान।
(१२) अधिक मात्रामें वस्तुका क्रय।
(१३) पूर्ति और मागका समन्वय इत्यादि।

हानियां :

(१) अकुशल संस्थाओका अधिक मूल्यपर क्रय।
(२) अतिरिक्त उत्पादन शक्तिका नाश।
(३) अधिक मात्रामें उत्पत्ति करनेके कारण भूलसे होनेवाली हानि।
(४) आरम्भिक व्ययकी अधिकता।
(५) सगठनकी कठिन समस्याए।
(६) योग्य प्रबन्धका अभाव।
(७) सरकारी हस्तक्षेपकी सम्भावना।
(८) बेकारीमें वृद्धि।

(९) पूंजीका प्रभुत्व।
(१०) अर्थसम्बन्धी छल-कपट।
(११) एकाधिकारोंकी स्थापना।
(१२) [illegible] श्रमिकों [illegible] शोषण।
(१३) अन्तर्निगम नियन्त्रण इत्यादि।

वैज्ञानिक प्रबन्ध का अर्थ तथा उद्देश्य

उन्नीसवी शताब्दीमें व्यवस्थापक उत्पादन-व्ययमें कमी करनेकी इच्छासे उद्योग-शालाओंकी इमारतों, यन्त्रों इत्यादिपर होनेवाले व्ययकी ओरही केवल ध्यान देते थे। परन्तु वर्तमान शताब्दीके आरम्भमें ही श्रमजीवीके कौशलमें वृद्धि करके उत्पादन-व्यय कम करनेकी चेष्टा कीजाने लगी। श्रमजीवीकी उत्पादनशक्ति में वृद्धिकरके उत्पादन-व्यय को कम करनेवाली पद्धतिको वैज्ञानिक प्रबन्धका नाम दियाजाता है। टेलरके मतानुसार श्रमजीवीकी क्षमता बढानेके लिए निम्नलिखित प्रयत्नोका कियाजाना आवश्यक है:

(१) प्रत्येक कार्यको करनेके लिए वैज्ञानिक ढगोंका निकालना।
(२) प्रत्येक श्रमजीवीकी योग्यताके अनुसार उसे उपयुक्त कार्यमें लगाना।
(३) श्रमजीवियोंका उत्पादन-कार्य में पूर्ण सहयोग प्राप्त करना।

वैज्ञानिक प्रबन्धका सबसे महत्वपूर्ण अग कार्यक्रम को पहिले से ही निर्धारित करदेना है। इस कार्यको चलानेके लिए एक पृथक विभाग स्थापित करनेकी आवश्यकता है। प्रतिदिन श्रमजीवीको उसके द्वारा किये जानेवाले काम तथा उस कामको करनेके लिए उपयुक्त विधि तथा लगनेवाले समयका काम आरम्भ होनेसे पहिलेही पता लगजाना चाहिए। कार्यक्षमतामें वृद्धिकी दृष्टिसे सर्वप्रथम श्रमजीवीके स्वास्थ्यकी ओर ध्यान देना चाहिए। थकावटके कारण मालूम करके उन्हें दूर करनेका प्रयत्न करना आवश्यक है। थकावट अधिक श्रम करनेके कारण कार्यक्षमता में अवनतिके रूपमें प्रकट होती है। इसके कारण उत्पत्तिकी मात्रामें न्यूनताही नही आती बल्कि दुर्घटनाओ के होनेकी सम्भावनाभी बढजाती है। थकावट अधिक समयतक अविरत श्रमके कारण तथा विश्रामके अभावके कारण होती है। इसके

अतिरिक्त श्रमजीवीकी शारीरिक अवस्था तथा उसके खानपान से इसका घनिष्ट सम्वन्ध है। इसलिए श्रमजीवीके विश्रामके लिए समय समय पर प्रबन्ध करदेना चाहिए। उद्योगशालामें वातावरणको आरोग्यविज्ञान के नियमोके अनुसार शुद्ध एवं पवित्र वनानेका प्रयत्न करना चाहिए ताकि श्रमजीवी स्वस्थ रहें और उनके शारीरिक वलमें वृद्धि हो। कार्यकी नीरसताको भी दूर करनेकी आवश्यकता है। समय समय पर श्रमजीवीके कार्यमें परिवर्तन करदेना चाहिए। कार्य करनेके समयमें कमी करदेनी चाहिए। किसीभी कार्यको करनेके लिए श्रमजीवीका चुनाव उसके शारीरिक तथा मानसिक वलके आधारपर करना चाहिए। कुछ लोगोको एकरूपता और पुनरावृत्ति प्रिय होतीहै और कुछको नही। इसकारण कुछतो नीरसतासे पीडित होते हे और कुछ उसीमें आनन्दका आस्वादन करते है।

उद्योगशालाके वातावरणके माननयनके पश्चात् वस्तु-निर्माण विधिका माननयन आवश्यक है। वस्तुका माननयनभी अधिक मात्रामें कम उत्पादन-व्ययसे उत्पत्ति करनेके लिए आवश्यक सा ही समझा जाताहै परन्तु यह कार्य वैज्ञानिक प्रवन्धसे सम्बन्धित नही। वैज्ञानिक प्रवन्धका क्षेत्र वस्तु-निर्माण-विधिके माननयन तकही सीमित समझा जाता है। वस्तु-निर्माण-विधिके माननयनमें उस विधि में प्रयोग किये जानेवाले यन्त्रो, उपकरणो इत्यादिका माननयनभी सम्मिलित है। माननयन गत्याध्ययन तथा समयाध्ययन द्वारा किया जाता है। गत्याध्ययनमें श्रमजीवीकी गतियोको सरल वनानेका प्रयत्न कियाजाता है। उसके उठने वैठनेके ढग में परिवर्तन कियेजाते हे। सामग्री रखनेके स्थानोको ऊचा नीचा कियाजाता है। इस सम्बन्धमें टेलरका फावड़ोपर और गिल्वर्थका ईंटोपर अध्ययन प्रसिद्ध है। टेलर ने फावडेकी सहायतासे अधिकतम कौशल द्वारा अधिकतम वोझ उठानेकी मात्रा निश्चितकी थी और फिर भिन्न भिन्न प्रकारकी सामग्री उठानेके लिए फावडोके आकारको निर्धारित किया था। इसीप्रकार गिल्वर्थने ईंटें लगानेवालो को ईंटें पहचाने, उनके रखने तथा लगानेकी विधिमें परिवर्तन प्रस्तुत किये थे। परिणाम यह हुआ कि टेलरके परिवर्तनोके कारण प्रत्येक श्रमजीवीकी वोझ उठानेकी दैनिक शक्तिमें ४३ टनकी वृद्धि हुई अर्थात् वह अब १६ टनके स्थानपर ५६ टन वोझ दिन भरमें उठाने लगा। इसीप्रकार गिल्वर्थके परिवर्तनोके अनन्तर प्रत्येक कार्यकर्ता ६५० ईंटे प्रतिघंटा लगाने लगा जवकि वह पहिले केवल १२० ईंटें प्रतिघंटा लगा

पाता था। कहाजाता है कि गिलब्रेथने एकसमय एक लड़की को गोल डिब्बोंपर कागज चिपकाते देखा। वह सर्वोत्तम कार्य करनेवाली लड़की बतायी जातीथी और ४० सैकिण्डोंमें २४ डिब्बे तैयार करलेती थी। गिलब्रेथ ने उस लड़कीके सामग्री रखनेके स्थान और नकशे की कार्यशैलीमें कुछ परिवर्तन सूचित करनेका साहस किया और इन परिवर्तनोंके कारण वही लड़की २० सैकिण्डोंमें २४ डिब्बे पहिलेके समान श्रमसे ही तैयार करनेमें सफल हुई।

इसप्रकार गत्याध्ययन करके किसी कार्यको करनेके लिए एक प्रामाणिक विधि निश्चित करली जातीहै और तदनन्तर इस विधिके प्रत्येक अंगको कमसे कम समय में पूरा करनेके लिए समयका अध्ययन किया जाता है। प्रत्येक कार्यको कमसे कम समयमें करनेके समयोंको एकत्रित करके कुल कार्यको करनेके लिए कमसे कम समय निकाल लियाजाता है।

कार्य-कौशलमें वृद्धिके लिए श्रमजीवीको मजूरी देनेके ढगोंमें इसप्रकार के परिवर्तन करना कि श्रमजीवीको तन मनसे कार्य करनेमें तत्पर होनेके लिए प्रोत्साहन मिले, वैज्ञानिक प्रबन्धकी दृष्टिसे आवश्यक समझा जाता है। इन विविध ढगोंका विवरण मजूरीके अध्यायमें किया जायेगा।

वैज्ञानिक प्रबन्ध के दोष

इसमें सन्देह नही कि कार्य करनेकी विधिको उत्तम बनानेसे कार्य करना सुगम होजाता है और उत्पत्तिकी मात्रामें वृद्धि की जासकती है। परन्तु समयाध्ययन और गत्याध्ययन द्वारा श्रमजीवीको यन्त्रके रूपमें ही परिणत करदिया जाता है। इसकारण वस्तुनिर्माण में उसके व्यक्तिगत स्वातन्त्र्यको पूर्णतया नष्ट करदिया जाता है। हम देख चुकेहै कि उत्पादन-विधिके माननयनके लिए वस्तुका माननयनभी आवश्यक है। बहुतसे लोगोका विचारहै कि यद्यपि इस माननयन द्वारा वस्तुकी उत्पत्तिकी मात्रा में वृद्धि की जासकती है परन्तु उसके गुणोमें अवनति होजाती है। वैज्ञानिक प्रबन्ध के प्रतिपादकोकी धारणाहै कि इन आलोचनाओमें कुछ सत्य भलेही हो परन्तु व्यक्तिगत स्वातन्त्र्यका नाश किये बिनाभी वैज्ञानिक प्रबन्ध सम्भवहै और यह अवश्य करना चाहिए क्योकि इसके द्वारा श्रम और शक्तिके व्ययमें बचत और श्रम-

जीवीके कौशल एव उपार्जन शक्तिमें वृद्धि होसकती है। इसीप्रकार बहुतसे लोगं
के मतानुसार वस्तुकी मात्रामें माननयन द्वारा वृद्धिकरके भी उसके गुणोमें वृ
करना सम्भव है। कार्यकौशलमें अत्यधिक वृद्धि होनेसे बेकारी फैल सकती है। इ
प्रकार श्रमजीवी वैज्ञानिक प्रबन्धको शकाकी दृष्टिसे देखते है। परन्तु उत्पादन
व्ययमें कमी होनेसे वस्तुके मूल्यमें कमी होजाती और फलस्वरूप कालान्तरमें मा
में वृद्धि होनेसे बेकारी फैलनेकी सम्भावना नही रहती।

वैज्ञानिक प्रबन्धके कारण श्रमके विशिष्टीकरणसे श्रमजीवियोकी पराधीनत
औरभी अधिक होजातीहै और इसकारण उत्पादक उत्पत्तिका अधिकतर भाग स्व
लाभके रूपमें ले सकते हैं। इसके विरुद्ध वैज्ञानिक प्रबन्धकोका कहनाहै कि मजूरी
अन्यcraययुक्त कमी न होनेदेना उनके कार्यक्रमका एक अग है। इसके अतिरिक्
सामूहिक सौदा करनेकी शक्तिका श्रमिक सघोके सगठनो द्वारा पैदा करना वैज्ञानि
प्रबन्धके प्रतिकूल नही। वैज्ञानिक प्रबन्धक केवल श्रमजीवियो और व्यवस्थापक
के मध्य सामजस्य स्थापित करनेके इच्छुक है।

श्रमजीवीको एक नही बहुतसे निरीक्षकोके आधीन होकर कार्य करना पडता है
वैज्ञानिक प्रबन्धके अनुसार निरीक्षकमें किसी विशेष योग्यताका होना आवश्यक है
इसकारण श्रमजीवी प्रत्येक निरीक्षकको शिक्षक समझकर उससे अपने कार्य
विविध अगोके सम्बन्धमें शिक्षा प्राप्त करसकता है। वैज्ञानिक प्रबन्धका उद्देश
उत्तम वस्तु उत्तम विधिसे अधिकतम मात्रामें पैदा करना है और अकुशलता क
राष्ट्रीय अपराध समझ लेनेपर वैज्ञानिक प्रबन्धको प्रचलित करना ही प्रत्ये
उत्पादकका परम कर्तव्य है।

१६

आर्थिक पद्धतियां

पूंजीवाद, मार्क्सवाद और समाजवाद

पूंजीवाद का अर्थ

पूंजीवादका उद्भव सामन्तवादके विरुद्ध प्रतिक्रियाके रूपमें हुआ था। पांचवी शताब्दी ईसवी में रोमका साम्राज्य भ्रष्ट होनेके कारण योरोपकी व्यापारिक तथा राजनैतिक एकता भंग होचुकी थी। केन्द्रीय शासनका अभाव था और समाजका संगठन सामन्तिक ढंगसे होचुका था। प्रत्येक व्यक्तिका समाजमें स्थान निश्चित था। शिक्षार्थीके द्वारा शिक्षककी, कमियेके द्वारा ग्रामाधीश की, ग्रामाधीशके द्वारा प्रान्ताधीश की और प्रान्ताधीशके द्वारा राजाकी कीजानेवाली सेवाओं और उनके स्थानपर मिलनेवाले पुरस्कार उनमेंसे प्रत्येकको भलीप्रकार से विदित होतेथे और उनमें परिवर्तन असम्भव था। उत्पादन प्रायः तात्कालिक उपभोग अथवा वस्तु विनिमयके लिएही कियाजाता था। वस्तुका निर्माण और व्यापार प्राय. शिल्प संस्थाके हाथमें था, जिनके स्वामियोंको श्रम-पूर्ति, कच्चे मालका प्रयोग और वस्तुओं के मूल्य निश्चित करनेके पूर्णाधिकार प्राप्त थे। यातायातका सुप्रबन्ध न होनेके कारण तथा चोर डाकुओंके भयसे व्यापार अधिक न होपाता था। तेरहवीं शताब्दी ईसवी के लगभग व्यापारके पुनरुज्जीवन से सामन्तवादको भारी धक्का लगा। व्यापार का पुनरुत्थान होनेके साथ साथ व्यापारियों और अर्थाध्यक्षोंका प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने सामन्त कुलीन तन्त्र और सामन्त प्रणाली द्वारा वस्तु निर्माण तथा वस्तु-व्यापार पर लगाये गये प्रतिबन्धोंका विरोध करनेके लिए एक नये वाद की नींव डाली और इस वादको उदारवादके नामसे पुकारा गया। इस वादके अनुसार समाजका कल्याण व्यक्तिगत स्वतन्त्रतामें ही निहित है। आर्थिक क्षेत्रमें व्यक्ति-गत स्वतन्त्रता का अर्थ जन-समुदायकी उत्पादन सम्बन्धी तथा व्यापारिक योजनाओंमें सरकारी हस्तक्षेपका अभाव था। क्योंकि आर्थिक सिद्धान्तोंके पूर्ण

रूपेण कार्यान्वित होनेपर अधिकतम उत्पत्ति और न्याययुक्त वितरणका होना प्राकृतिक समझा जाता था। ऐसा विश्वास कियाजाता था कि उद्योग स्वातन्त्र्यके प्राप्त होनेपर प्रत्येक व्यक्तिको अपने भौतिक कल्याणके लिए अधिकतम प्रयत्न करनेका प्रोत्साहन मिलेगा और पूर्ण प्रतिस्पर्धासे माग और पूर्तिकी शक्तियो द्वारा उत्पत्ति और मूल्य निश्चित होगे। आधुनिक पूजीवाद उदारवादके इन्ही सिद्धान्तों पर अवलम्बित है। पूजीवाद वह आर्थिक प्रणाली है जिसके अनुसार उद्योगी पूर्ण प्रतिस्पर्धाकी स्थितिमें अधिकतम लाभ कमानेके लिए बिना रोक टोक अग्रसर हो सकता है।

पूजीवाद के लक्षण

पूजीवादियोका विश्वासहै कि व्यक्तिगत कल्याणमें ही सामाजिक कल्याण निहित है। इनके मतानुसार प्रत्येक व्यक्तिको प्रकृतिकी ओर से कुछ अधिकार प्राप्त है जिनका प्रयोग करनेके लिए उसका पूर्णतया स्वतन्त्र होना आवश्यक है। इन अधिकारोमें मुख्य मुख्य निम्नलिखित हैं :

(१) निजी सम्पत्तिपर स्वामित्वाधिकार—निजी सम्पत्ति दो प्रकारकी होसकती है। एकतो उपभोग्य वस्तुओकी और दूसरी उत्पादक वस्तुओकी। उत्पादक वस्तुओ को अर्थशास्त्रीय परिभाषामें उत्पादनके साधनोके नामसे पुकारा जाता है। इन्ही उत्पादनके साधनोका स्वामित्व व्यक्तिगत रूपमें लोगोको प्राप्त होना पूजीवादके अनुसार आवश्यक है। उपभोग्य वस्तुओमें स्वामित्वाधिकार तो समाजवादके अनुसार भी व्यक्तिगत रूपमें ही जन-समुदायको प्राप्त होगे परन्तु उत्पादनके साधनो पर प्रभुत्व पूरे समाजका होगा।

(२) उद्योग-स्वातन्त्र्य—उद्योगी लोग अपनी निजी सम्पत्तिका प्रयोग किसीभी क्षेत्रमें, लाभ कमानेकी इच्छासे करते है। इसप्रकार के प्रयोगसे हानि होनेकी सम्भावनाका भयभी उन्हेंही उठाना पडता है। अपना उत्पादन-कार्य चलानेके लिए उन्हें न्यून अथवा अधिक मात्रामें उत्पत्ति करनेकी और अपनी वस्तुओंके मूल्य निश्चित करनेकी पूरी स्वतन्त्रता होती है। इसीप्रकार प्रत्येक व्यक्ति जो चाहे वह विक्रेताहो अथवा ग्राहक, व्यवस्थापक हो अथवा श्रमजीवी अपने आपको किसीभी

प्रकारके समनुबन्धमें बद्ध करनेके लिए कोईभी नहीं रोक सकता जबतक कि वह समनुबन्ध प्रचलित विधानके विरुद्ध न हो।

(३) लाभ प्राप्ति का उद्देश्य—केवल निर्वाह मात्रके लिए पर्याप्त मात्रासे अधिक लाभ प्राप्त करने की इच्छा पूंजीवादके अनुसार मनुष्यमें स्वाभाविक रूपसे वर्तमान है, सम्पत्ति प्राप्त करने की इच्छा उत्पादनके लिए श्रेष्ठतम प्रोत्साहन है। लाभ प्राप्त करनेके लिए उत्पादक अधिकतम प्रयत्न करेगा और अत्यन्त सावधानीसे काम लेकर अपने उद्यमको सफल बनानेकी चेष्टा करेगा।

(४) पूर्ण प्रतिस्पर्धा द्वारा स्वतन्त्र बाजारमें मूल्य, लाभ और उत्पादन-व्यय स्थिरता प्राप्त करते हैं—व्यवस्थापकोंमें परस्पर प्रतिस्पर्धा द्वारा मूल्य कम होतेहैं परन्तु उपभोक्ताओंमें परस्पर प्रतिस्पर्धा द्वारा मूल्य बढ़ते हैं। इसीप्रकार श्रमजीवियों में परस्पर प्रतिस्पर्धाके कारण मजूरी घटती है और पूंजीपतियोंमें परस्पर प्रतिस्पर्धा के कारण मजूरी बढ़ती है। परन्तु स्मरण रहे कि ऐसी स्थिति तभी प्राप्त होसकती है जबकि पूंजी और श्रम गतिशील हों, सब लोगोंमें सौदा करनेकी शक्ति सम हो और एकाधिकार का अभाव हो।

(५) मजूरी भुगतान प्रणाली—पूंजीपति उद्यम की जोखिम उठाते है और इस कारण अपने आपको प्राप्त लाभका अधिकारी मानते है। वे श्रमको केवल उत्पादन व्ययका एक अग मानते है और इसकारण इस व्ययको न्यूनतम रखनेकी इच्छासे श्रमजीवी को कमसे कम मजूरी देना चाहते है। परन्तु श्रमजीवी अपने जीवन-स्तर को उत्कृष्ट करनेके लिए अधिकतम मजूरी लेनेका इच्छुक रहता है। इसकारण श्रमजीवियो और पूजीपतियोमें एक विरोध सा खडा होजाता है।

(६) विनिमय विधि—विनिमयके लिए वस्तुओके मूल्य द्रव्यके रूपमें परिणत करदिये जाते है। धातु मुद्राओके अतिरिक्त सरकारी अथवा बैकोके नोटो और हुडियो इत्यादि का प्रयोग कियाजाता है। बैक साख-सृजन द्वारा उद्योग धन्धोका अधिक अर्थवाहन करते है।

(७) अभिनवीकरण तथा वैज्ञानिक प्रबन्ध—पूजीपति अपने मुख्य उद्देश्यकी उपलब्धिके लिए उत्पत्तिकी मात्रा वढाने और उत्पादन-व्यय कम करनेमें निरन्तर तत्पर रहते है। वैज्ञानिक प्रबन्धके नियमो द्वारा सस्थाओका प्रबन्ध, उत्पादन विधिका अभिनवीकरण, कच्चे मालका अधिक मात्रामें और फलत: सस्ते मूल्यपर

क्रय और वस्तु विक्रयके लिए नये नये बाजारोकी खोज इत्यादि उनके उद्देश्योके साक्षात्कारमें सहायता देते है।

पूजीवाद का विकास

पूजीवादका भी अन्य वादोकी तरह क्रमशः विकास हुआहै, यह हम देखही चुकेहै कि पूजीवादका श्रीगणेश करनेवाले योरोपके व्यापारी थे। अठारहवीं शताब्दी ईसवीके मध्यसे लेकर वडी वडी कर्मशालाओंकी स्थापना प्रारम्भ हुई। नये नये यन्त्र निकाले गये। वडे परिमाणमें उत्पत्ति कीजाने लगी। यातायातके साधनोमें आश्चर्यजनक उन्नति हुई। बाजारोके प्रसारमे इतनी वृद्धि हुई कि वह ससारव्यापी होगये। यह काल औद्योगिक पूजीवादका था। गत महायुद्धके कालसे अभिनवीकरण और वैज्ञानिक प्रवन्धके सिद्धान्तोके प्रयोग द्वारा उत्पत्तिकी मात्रामे गगनचुम्वी वृद्धि हुई परन्तु इसके साथ ही प्रतिस्पर्धा और बाजारोकी स्वतन्त्रतामें न्यूनता आने लगी। छोटी सस्थाओको मिलाकर वृहत् सस्थाओका सगठन होनेलगा और इन सस्थाओका अर्थवाहन करनेवाली सस्थाओको विशेष महत्व प्राप्त होनेलगा। इसकारण इस युगको अर्थवाहन पूंजीवादका युग कहते है। अब इस युगकी प्रवृत्ति सरकारी पूजीवादकी ओर है। व्यापारिक अपकर्षो की रोकथाम, युद्धकालमे राष्ट्रीय उत्पत्तिका नियन्त्रण श्रमजीवी सघोके वढतेहुए प्रभावके कारण सरकार का मूल्य, मजूरी और सामाजिक सुरक्षा इत्यादिके विषयमें उत्तरदायित्व स्वीकार करना, सरकारद्वारा ऐसे उद्योग धन्धोकी स्थापना जिनका निजी उद्यम द्वारा स्थापित होना असम्भव है, उपभोक्ताओके हितका वडे वडे एकाधिकारो से सरक्षण इत्यादि इस प्रवृत्तिके मुख्य कारण है। सरकारी पूजीवादमें सरकार यातायातके साधनो, वैंकों मुख्य मुख्य प्राकृतिक सामग्रियो इत्यादिमें स्वामित्त्वके अधिकार ग्रहण करलेती है। कईएक वस्तुओके उत्पादनमें विशेषकर मादक वस्तुओ और युद्ध सामग्रीमें सरकार को एकाधिकार प्राप्त होजाता है और अन्य उत्पादनके क्षेत्रोमें सरकार भी अपनी राजस्व नीति द्वारा हस्तक्षेप करती रहती है। सरकारी पूजीवाद और सरकारी समाजवाद का प्रायः एकही अर्थमें प्रयोग कियाजाता है। कई लेखक सरकारी समाजवादकी यह विशेषता वतलाते है कि सरकारी समाजवादमें उद्योग धन्धोका

राष्ट्रीकरणही मुख्य तथा अन्तिम उद्देश्य होताहै और इसी उद्देश्यकी उपलब्धि के लिए आरम्भमें थोड़ेसे उद्योग धन्धोंमें स्वामित्व तथा नियन्त्रण के अधिकार सरकार ग्रहण करलेती है।

मार्क्सवाद

मार्क्सवादका मुख्य उद्देश्य पूजीवादी उत्पादन पद्धतिकी कड़ी आलोचना करना, पूजी-पतियों द्वारा श्रमजीवियोंका शोषण और इस पद्धतिका अन्तर्निहित कारणों द्वारा नाश सिद्ध करना है। मार्क्सके अनुसार सम्पत्ति-सृजन पद्धतिमें नये आविष्कारो द्वारा हरसमय परिवर्तन होते रहतेहै और उन परिवर्तनोंके कारण सामाजिक सम्बन्धोमे भी परिवर्तन होते रहते है। इस उत्पादन कार्यमें भाग लेनेवाले लोग भिन्न भिन्न वर्गोंमें विभाजित होजाते है। प्राचीनकालमें स्वामियो तथा सेवको और आधुनिक कालमें पूजीपतियो और श्रमजीवियोके पृथक पृथक वर्ग देखनेमें आते है। वर्गके प्रत्येक सदस्यके हितोमें एकता इस वर्गीकरणकी जड है। प्रत्येक वर्ग उत्पन्न आयका अधिकतम अंश प्राप्त करनेकी चेष्टा करताहै और इसकारणसे ही बलवान तथा दीन वर्गमें सघर्ष होताहै जिसमें दीन वर्ग बलवान वर्गकी शक्ति और सम्पत्ति को नष्ट करनेकी ताकमें रहता है। समाजका इतिहास इसप्रकार के सघर्षोंसे परि-पूर्ण है। पूजीवादके प्रभुत्वकालमें उत्पादनके साधनोका स्वामित्व तो थोडेसे पूजी पतियोको प्राप्त होताहै और सर्वसाधारण समाजका अधिकांश श्रमजीवियोके रूप में अपना श्रम बेचकर जीविका पाता रहता है। श्रमजीवी वर्गका पूजीपतियो द्वारा शोषण सिद्ध करनेके लिए मार्क्सने अतिरिक्त मूल्यके सिद्धान्तकी रचना की। मूल्यके श्रम-सिद्धान्तके अनुसार किसी वस्तुका मूल्य उसे उत्पन्न करनेके लिए आवश्यक श्रम से निर्धारित होता है। पूजीपति श्रमजीवियोको केवल निर्वाह-मात्रके लिए मजूरी देकर उनसे इतना श्रम करवातेहै कि उसके द्वारा उत्पन्न वस्तुओका बाजार मूल्य उनकी मजूरीसे अधिक होता है। इन अतिरिक्त मूल्यको पूजीपति हडप करलेते है। परन्तु इसप्रकार अनुचित आय का वे लोग प्रायः उपभोग नही करपाते है। श्रम जीवियोके हाथमें क्रय-शक्तिकी न्यूनताके कारण अत्यधिक उत्पत्तिका सकट विद्य-मान होनेलगता है। आरम्भमें तो नये बाजारोकी उत्पत्ति, भोगविलासकी वस्तुओका

उत्पादन और उधारपर वस्तुओकी बिक्री इत्यादि ढगोसे इस सकटको स्थगित करने का प्रयत्न कियाजाता है। परन्तु अन्तमें श्रमजीवियोके स्थानपर यन्त्रोके प्रयोग, एकाधिकारोकी स्थापना और विदेशी बाजारोकी खोजके कारण न केवल पूजीपति शक्तियोमें युद्ध छिड़ जाताहै वरन् मुट्ठीभर पूजीपतियो और अगणित श्रमजीवियो में सघर्ष उत्पन्न होजाता है। मार्क्सका विश्वासथा कि इस सघर्षमें अन्ततोगत्वा विजय श्रमजीवियोको ही प्राप्त होती है। पूजीपतियोकी पराजय होनेपर उत्पादन के साधनोका स्वामित्व समाजको प्राप्त होजाता है और उत्पादन, लाभ प्राप्तिके लिए नही परन्तु लोकहितके लिए कियाजाता है।

मार्क्सवाद की शाखाएं

मार्क्सवाद जिसे वैज्ञानिक समाजवादका भी नाम दियाजाता है, कई शाखाओंमें विभाजित है। उनमें से दो मुख्य शाखाए विकासवादी समाजवाद और क्रान्तिकारी समाजवादके नामोसे प्रसिद्ध है।

समाजवाद

विकासवादी समाजवादी वर्गोमें सघर्षके अस्तित्वको तो स्वीकार करतेहै परन्तु इसे विशेष महत्व प्रदान नही करते। मार्क्सवादियोंके समान ये लोगभी श्रमको ही मूल्य-सृजनका चरम कारण स्वीकार करतेहै और भूमि-कर ब्याज और लाभमें सृष्ट मूल्यका विभाजन न्याययुक्त नही मानते। लाभप्राप्तिके उद्देश्यसे उत्पादन इनलोगो की दृष्टिमें सर्वथा त्याज्यहै क्योकि उत्पादक लोग प्राय. थोडी मात्रामें उत्पत्ति करके अधिक मूल्यपर बेचतेहै नकि अधिक मात्रामें उत्पत्ति करके कम मूल्य पर। इसका समर्थन समाजवादी पर्याप्त भूमि, श्रम इत्यादिके होतेहुए भी उपभोग के लिए अपर्याप्त मात्राकी उपलब्धि और मूल्य उच्च रखनेके लिए वस्तुओको जान-बूझकर कियेगये नाशके उदाहरणो द्वारा करते है। इनके मतानुसार तो उत्पादन विधिको उन्नत करनेवाले ऐसे आविष्कार जिनके कारण लाभकी मात्रामें कमी होने की सम्भावनाहो प्रचलित होनेसे पहिलेही रोकलिये जाते है। समाजवादी प्रतिस्पर्धा

सेभी विश्वास नही रखते। उनका विचार है कि प्रतिस्पर्धाके कारण उत्पादन तथा वितरणमे भारी अपव्यय होता है जिसके कारण प्रतिस्पर्धा केवल अनावश्यकही नही किन्तु स्पष्टतया हानिकारक है। इसके अतिरिक्त एकाधिकारियोंके प्रभुत्वने प्रतिस्पर्धा के रहे सहे लाभोंको तो वैसेभी नष्ट भ्रष्ट करदिया है। बाजारपर एकाधिकारियोका पूर्णरूपसे नियन्त्रण होनेसे मूल्योका पूर्ति और माग द्वारा निर्धारित होना अब स्वप्न सा ही प्रतीत होता है। उद्योग धन्धोके वास्तविक स्वामी अब उद्योगपति नही किन्तु अर्थ वहन करनेवाली बडी बडी सस्थाए है और स्वतन्त्र उद्यम केवल घोषवाक्य मात्र रहगया है। इसकारण शनैः शनैः उत्पादन कार्य सरकारको अपने हाथमें लेलेना चाहिए। राष्ट्रीय उत्पादन सामग्री और मुख्य मुख्य उद्योग धन्धो का स्वामित्व प्राप्त करलेना चाहिए। विशेष कर यातायातके साधनो, युद्ध-सामग्री, बैंको, प्राकृतिक सामग्री तथा उत्पादक वस्तुओका सचालन अथवा उत्पादन-कार्य सम्हालना सरकार का प्रथम कर्तव्य है। छोटे परिमाण में उत्पत्ति तथा कृषि इत्यादिका प्रबन्धभी सहयोग समितियो द्वारा होना आवश्यक समझाजाता है। इन लोगोका विश्वास स्वामित्व और सचालन कार्यके सर्वथा केन्द्रीकरणमें नही परन्तु उसके स्थानीय, प्रान्तीय और केन्द्रीय सार्वजनिक सस्थाओ में विभाजित करनेमें है। इन सबके कार्यको परस्पर सम्बन्धित करनेके लिए राष्ट्रीय योजना समितिकी स्थापना आवश्यक है। यह समिति उपभोक्ताओ तथा उत्पादकोकी आवश्यतात्रोका अनुमान करके विभिन्न प्रकारकी वस्तुओका विभिन्न मात्रामें उत्पन्न करनेका निश्चय करेगी। उत्पादक सस्थाओंके पारस्परिक सहयोग तथा न्याययुक्त वितरण द्वारा समाजवादी व्यापारिक अपकर्षो तथा उत्कर्षोका अन्त करके उनके कारण होनेवाले सकटोसे समाजकी रक्षा करनेकी आशा बाधते है। उत्पत्तिकी वृद्धि करना समाजवादियोको पूजीवादियोसे भी अधिक प्रिय है।

साम्यवाद

क्रान्तिकारी जिन्हे प्राय. साम्यवादी भी कहतेहै और विकासवादी समाजवादियोके आर्थिक सिद्धान्तोमें तो विशेष अन्तर भी नही परन्तु साम्यवादी अनुक्रमिक समाज सुधारमें विश्वास नही रखते। वे हिसक क्रान्ति द्वारा पूजीपतियोसे शक्ति तथा

सम्पत्ति छीन लेनेके पक्षपाती है। साम्यवादी व्यक्तिगत स्वतन्त्रताको महत्व देना इतना आवश्यक नही समझते जितना कि समाजवादी। राजनैतिक दृष्टिसे समाजवादी लोकतन्त्रवादके और साम्यवादी अधिनायकवादके समर्थक है।

आर्थिक उन्नति और पूर्वनिर्धारित कार्यक्रम

आर्थिक उन्नतिको पूर्वनिर्धारित कार्यक्रमके अनुसार प्राप्त करनेकी चेष्टा करनेवाली आर्थिक पद्धतिको प्रसिद्ध अर्थशास्त्री रौबिन्सने अपनी पुस्तक 'बडा अपकर्ष' में समाजवादका ही रूपान्तर माना है। हम देखचुके है कि समाजवादी इस पद्धतिके प्रतिपक्षी है परन्तु दोनोको एक मानना बडी भूल है। समाजके आर्थिक जीवनके नियन्त्रणमें विश्वास पुरातनकालसे चलाआता है। पुराने नीतिशास्त्रोमें तत्कालीन समाजके आर्थिक जीवनका जो विवरण मिलताहै, उसके आधारपर यह कहना अत्युक्ति न होगी कि उस समयभी जीवन नियमबद्ध था। इसीप्रकार समय समय पर बुद्धिमान लोगोने वास्तविक समाजोमें नियन्त्रणके अभावके दोषोको सुधारनेके लिए नियन्त्रित काल्पनिक समाजोका निर्माण कियाहै। आधुनिक राष्ट्रो में संरक्षण नीतिके अनुकरणकी प्रथा आर्थिक जीवनका नियन्त्रण नही तो और क्या है? अर्वाचीन कालमें पूर्ण प्रतिस्पर्धा और यदभाव्य नीतिके विरुद्ध प्रतिक्रियाके रूपमें नियन्त्रण नीतिका पुनर्जन्म हुआ है। मनुष्य जीवनको सुखी बनानेके लिए उसके भौतिक आधारको विज्ञानकी सहायतासे विस्तृत करना आवश्यक है और उत्पत्तिकी मात्राको अधिकतम करना, आर्थिक पद्धतिको स्थिर बनाना तथा राष्ट्रीय आयके न्याययुक्त वितरण द्वारा आयमें साम्याभावको दूरकरना इस विस्तारको प्राप्त करनेके साधनहै. परन्तु इन साधनोंका प्रयोग उसी अवस्थामें सम्भवहै जब जन समुदायके आर्थिक जीवनका नियन्त्रण करके निर्धारित कार्यक्रमके अनुसार उसे उन्नत करनेका प्रयत्न किया जाय। इस कार्यक्रमके अनुसार राष्ट्रकी प्रत्येक संस्था, उद्यम अथवा उद्योग धन्धेको जन समुदायकी आवश्यकताओंकी अधिकतम तृप्तिके तात्पर्य उपलब्ध सामग्री द्वारा अधिकतम उत्पादन करनेवाली पूर्ण पद्धतिका भिन्न सहयोगी अवयव मानाजाता है। उत्पादन और उपभोग का सन्तुलन स्थापित कियाजाता है। भिन्न भिन्न संस्थाओंके कार्यक्रमको परस्पर सम्बन्धित करनेके लिए तथा

आवश्यक सन्तुलन स्थापित करनेके लिए एक केन्द्रीय संस्थाका होना आवश्यक है। संक्षेपमें कुशल उत्पादन स्थिर आर्थिक जीवन और न्याययुक्त वितरण इस कार्य-क्रमके मुख्य उद्देश्य हैं :

कुशल उत्पादन करनेके लिए उपयुक्त उद्योग धन्धोंका चुनाव, उनका उपयुक्त स्थानीकरण, कच्चे माल, श्रम, पूंजी इत्यादिकी आवश्यक पूर्ति इन साधनोंका कुशलतम संस्थाओंमें विभाजन और फिर इन संस्थाओंका मितव्ययिता की दृष्टिसे संगठन करना आवश्यक होता है। उद्योग धन्धोंके स्थानीकरणके सिद्धान्तोंका तथा अभिनवीकरण और वैज्ञानिक प्रबन्ध द्वारा संस्थाओंके संगठनका विवेचन इस पुस्तकके अन्य अध्यायोंमें मिलता है।

आर्थिक जीवनमें स्थिरता वस्तुओंके मूल्योंमें स्थिरता आनेसे उपलब्ध होसकती है। उसे प्राप्त करनेके साधनोंका विवेचन द्रव्यकी क्रयशक्ति वाले अध्यायमें किया गया है। इस स्थानपर केवल इतना उल्लेख करदेना पर्याप्त है कि वस्तुओंके मूल्यो में उतारचढाव को न्यूनतम करना राष्ट्रोंकी द्रव्य-नीतिका मुख्य उद्देश्य होना चाहिए और इस कार्यमें तभी सफलता प्राप्त होसकती है जब इसकेलिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त हो।

न्याययुक्त वितरण

वितरणके न्याययुक्त होनेसे हमारा अभिप्राय श्रमजीवियो को प्राप्त होनेवाले राष्ट्रीय आयके भागकी मात्रामें वृद्धि करनेसे है। यह वृद्धि एकतो श्रमजीवियो की उत्पादन शक्तिमें उचित शिक्षा द्वारा वृद्धि करके प्राप्त होसकती है। इसके अतिरिक्त नौकरीमें नैरन्तर्य देकर, श्रमजीवीके सामाजिक स्थान, मजूरी तथा गतिशीलता में वृद्धि करके, कार्य करनेके समयको कम करके तथा कार्य-स्थानके वातावरणको उन्नत करके भी यह अवस्था प्राप्तकी जासकती है। नौकरीमें नैरन्तर्य अत्यन्त आवश्यक है। उत्पादन कार्यमें श्रमकी उतनीही आवश्यकताहै जितनी अन्य साधनोकी। इसकारण श्रमजीवीको भी समाजमें वही स्थान मिलना चाहिए जो अन्य साधनोके स्वामियोको मिलता है। इसके लिए श्रमजीवियो की सौदा करनेकी शक्तिमें श्रमिक सघो की स्थापना द्वारा वृद्धि करना आवश्यक है। इसके

अतिरिक्त उद्योग-धन्धोके सचालन कार्यमें श्रमजीवियो का भी हाथ होना चाहिए। उत्पत्तिकी मात्रामें वृद्धि होनेके साथ साथ श्रमजीवीकी मजूरीमें वृद्धि होनी चाहिए। यन्त्रोके अधिकाधिक उपयोगके कारण श्रम करनेके स्थानका वातावरण उन्नत अवश्य हुआहै परन्तु श्रमके कारण होनेवाली थकावटमें वृद्धि हुई है। उत्पादन विधिमें उन्नति होनेके कारण श्रम करनेके घटोको उत्पत्तिकी मात्रामें कमी किये विनाही कमकिया जासकता है। श्रमकी गतिशीलता बढानेके उद्देश्यसे न केवल एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जानेके लिए वरन् एक व्यवसायसे दूसरे व्यवसायको अपनाने के लिए सुगमता प्राप्त होनी चाहिए।

उत्पादन विधिमें परिवर्तनोके कारण माग और पूर्तिका पूर्ण समन्वय न होनेसे थोडी बहुत बेकारीका किसीभी समाजमें रहना अनिवार्य है। यदि समाज किसी व्यक्तिको श्रम करनेका अवसर देकर आजीविका कमानेके योग्य नही बनाता तो समाजका यह प्रथम कर्तव्यहै कि उस व्यक्ति को निर्वाह मात्रके लिए जीवन सामग्री दे। इसके लिए बेकारी बीमा करवाना आवश्यक है।

अब प्रश्न यह उठताहै कि इस कार्यक्रमको व्यावहारिक रूपमें परिणत करने और इसकी सफलताके लिए उचित वातावरण उत्पन्न करनेका उत्तरदायित्व किसे सौपना चाहिए। सरकारको समाजके प्रतिनिधिके रूपमें इस कार्यको अपने हाथमें लेलेना चाहिए। सरकार इस उत्तरदायित्वका विकेन्द्रीकरण स्थानीय और प्रान्तीय सस्थाओके सृजन द्वारा करसकती है। केन्द्रीय सस्था योजनाको तैयार करने, इसको कार्य रूपमें परिणत करनेका प्रबन्ध करने, स्थानीय तथा प्रान्तीय सस्थाओके कार्यमें परस्पर सहयोग स्थापित करने इत्यादिका उत्तरदायित्व लेसकती है। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय और स्थानीय सस्थाओंमें श्रमविभाजन समाजवादियोंके मतानुसार किसप्रकार होना चाहिए, इसका विवेचन पहिले होचुका है। व्यक्तिगत प्रयत्नमें विश्वास रखनेवाले सुधारकी पूंजीवादी सस्थाओंका सरकार द्वारा इसप्रकार नियन्त्रण करनेका मत प्रकट करते हैं कि वे स्वार्थसिद्धि के लिए प्रतिस्पर्धा द्वारा अन्य सस्थाओंको हानि न पहुंचा सकें किन्तु सहयोग द्वारा अपना तथा जनसाधारणका उपकार करनेके लिए विवश होजावें।

१७

राष्ट्रीय आय

राष्ट्रीय आय का अर्थ

किसी देशके निवासियोंके हितार्थ किसी निश्चित समयके भीतर उत्पन्न कीगयी वस्तुओं तथा सेवाओंको उस देशकी राष्ट्रीय आयके नामसे पुकारा जाता है। मार्शलने राष्ट्रीय आयकी परिभाषा इसप्रकार की है। 'किसी देशमें प्राप्त श्रम तथा पूजीद्वारा वर्षभर में उसकी प्राकृतिक सामग्रीसे विविध प्रकारकी स्थूल तथा सूक्ष्म वस्तुए, जिनके अन्तर्गत विविध प्रकारकी सेवाए भी आती है, उत्पन्न कीजाती हैं। इन उत्पन्न वस्तुओं तथा सेवाओंकी मात्राका नामही उस देशकी राष्ट्रीय आय हैं। आयको प्राय' द्रव्यके रूपमें परिणत करके दिखानेकी प्रथा प्रचलित है। स्मरण रहे कि उत्पादन सामग्रीके व्यवहारमें आनेके कारण प्रतिवर्ष उसके मूल्यमें जो ह्रास हो जाताहै उसको उस वर्षमें उत्पन्न वस्तुओं तथा सेवाओंके कुल मूल्यसे निकालकर शेष बचेहुए मूल्यको ही राष्ट्रीय आय मानाजाता है।

ऐसाभी होसकता है कि एक देशके वासियोंने किसी अन्य देशमें भूमि, उत्पादन संस्थाओं अथवा अन्य उत्पादनके साधनोंपर स्वामित्व प्राप्त करलिया हो और इस कारण विदेशमें उत्पन्न कीगयी वस्तुओं तथा सेवाओंपर उनका अधिकार हो। इस प्रकारकी उत्पत्तिको भी पहिले देशकी आयमें गणना करनेकी प्रथा है। इसीप्रकार पहिले देशमें उन साधनो द्वारा प्राप्त उत्पत्तिको जिनके स्वामी अन्य देशके वासी हो, उस देशकी राष्ट्रीय आयसे निकाल देना चाहिए।

इस सम्बन्धमें यह कहदेना भी आवश्यकहै कि फिशर राष्ट्रीय आयकी मार्शल द्वारा दीगयी परिभाषासे मतभेद प्रकट करता है। मार्शलके अनुसारतो एकओर वर्षभर में उत्पन्न कीगयी वस्तुओं और कृत सेवाओंकी सूची बना लीजिए और दूसरी ओर सग्रहीत पूजीमें होनेवाले ह्रासकी सूची। इन दोनोंका अन्तरही राष्ट्रीय आयका

परिमाण है। परन्तु फिशरके मतानुसार राष्ट्रीय आयमें केवल उन वस्तुओ और सेवाओंकी गणना होनी चाहिए जिनका कि वर्षभर में उपभोग कियाजाता है। इस प्रकार यदि हम किसी वर्षमें एक मकान बनवाये तो मार्शलके मतानुसार उस मकान का कुल मूल्य उस वर्षकी राष्ट्रीय आयमें शामिल करना चाहिए। परन्तु फिशरके मतानुसार मकानके केवल उस अशका मूल्य शामिल करना चाहिए जिसका कि वर्षभर में प्रयोग कियागया है। तर्ककी दृष्टिसे फिशरकी परिभाषा अधिक सराहनीय प्रतीत होती है, परन्तु इसके व्यावहारिक प्रयोगमे इतनी कठिनाइया है कि राष्ट्रीय आयका परिमाण मालूम करनेके लिए प्राय: मार्शलकी ही परिभाषा काममें लायीजाती है।

राष्ट्रीय आय की माप-विधि

राष्ट्रीय आयका परिमाण मापते समय इस बातका विशेष ध्यान रखना चाहिए कि कही वस्तुके मूल्यकी दो या दो से अधिक बार गणना न होजाये। ऐसा होनेकी सम्भावना इसकारण रहतीहै कि एक उद्योग धन्धे द्वारा उत्पन्न वस्तुए किसी दूसरे उद्योग धन्धेमें कच्चे मालकी तरह काम आती है। सूत कातनेवाली सस्थाओ द्वारा उत्पन्न कियाहुआ सूत कपडा बुननेवाली सस्थाओंके लिए कच्चा मालही तो है। यदि एक वर्षमें उत्पन्न सूत उसी वर्षमें उत्पन्न कपडेमें परिणत होजाता है तो राष्ट्रीय आय में कपडेके मूल्यकी गणना करलेने पर सूतके मूल्यकी गणना नही करनी चाहिए।

पीगूके मतानुसार राष्ट्रीय आयको आकते समय केवल उन वस्तुओ और सेवाओ की गणना करनी चाहिए जिनका कि द्रव्यके रूपमें मूल्य निकालकर लेन देन होता है। परन्तु उन्होने स्वय स्वीकार करलिया है कि उनके मतमें बहुतसी त्रुटिया है। क्रय-विक्रय कीजानेवाली और न कीजानेवाली वस्तुओ और सेवाओंमें कोई स्वभावजनित अन्तर नही होता और प्राय: एक प्रकारकी वस्तुओ और सेवाओंका दूसरे प्रकार मे परिणत होना असम्भव नही। यदि कोई मनुष्य किरायेके मकानमें रहता है तो उस मकानसे प्राप्त होनेवाली सेवाओंका राष्ट्रीय आयमें समावेश होता है परन्तु यदि वह मकान उसका अपना हो तो नही। इसीप्रकार यदि कोई मनुष्य [illegible] स्वयं या अपने कुटुम्बियोंकी सेवा करता है तो उसके मूल्यकी राष्ट्रीय आयमें गणना

नही होती परन्तु यदि वही सेवा वेतन लेकर किसी दूसरेकी कीजाये तो उसकी राष्ट्रीय आयमें गणना होगी। बिना वेतन प्राप्त किये लोक-सेवाके लिए कियेगये राजनीति, ज्ञान-विज्ञान इत्यादिसे सम्बन्ध रखनेवाली सेवाओंको भी राष्ट्रीय आयमें सम्मिलित नही किया जाता। कारण यहहै कि इसप्रकार की सेवाओंके मौद्रिक मूल्यका अनुमान करना कठिन है। कृषिद्वारा उत्पन्न उन वस्तुओंका जिनको कृषक अपने उपभोगके लिए रखकर मण्डीमें नही बेचता, राष्ट्रीय आयमें सम्मिलित करना ही उचित समझा जाता है। परन्तु आवश्यक आंकड़े न मिलनेके कारण कृषि प्रधान देशोकी राष्ट्रीय आयको ठीक ठीक आंकना सुलभ नही। कमसेकम वास्तविक आयका आंकीहुई आयसे अधिक होनातो निश्चितही है।

सरकार द्वारा प्राप्त सेवाओंकी गणनाभी कठिनाइयोसे खाली नही। शान्तिके समयमें भी यह निश्चित करना कठिनहै कि उन सेवाओंका कितना अंश देशके उत्पादन कार्यको सुचारु रीतिसे चलानेके लिए आवश्यक था और इसलिए उसका मूल्य उत्पन्न वस्तुओंके मूल्यमें आंका जा चुकनेके कारण दोबारा न आंकना चाहिए। युद्ध-सामग्रीको राष्ट्रीय आयमें सम्मिलित करलेना ही अबतक उचित समझाजाता है। राष्ट्रीय आय प्रायः वर्षभर के लिए आंकने की प्रथा है। वस्तुओका यदि वर्ष भरमें क्रय-विक्रय हुआहो तो उनका विक्रय-मूल्य अन्यथा उनका उत्पादन-व्यय उनके मौद्रिक मूल्यका द्योतक है।

वैकल्पिक माप-विधिया

उत्पादन कार्य उत्पादनके साधनोसे सम्पन्न होता है। उत्पादन कार्यमे साधनोकी नियुक्ति उन साधनोके स्वामियोको भूमि-कर, वेतन, व्याज, लाभ इत्यादि देकर कीजाती है। साधनोके स्वामियोको इसप्रकार प्राप्त कुल आय उन साधनो द्वारा उत्पन्न कुल उत्पत्तिके मूल्यके सम होती है। किसीभी सस्था द्वारा उत्पन्न वस्तुओ का मूल्य या तो उपभोक्ताओसे मिलताहै या दूसरी सस्थाओसे। और इसप्रकार प्राप्त कुलमूल्य एकतो भूमि-कर, वेतन, व्याज, लाभ आदि देनेमें, दूसरे अन्य सस्थाओ से वस्तुए खरीदनेमें और तीसरे पूजीके ह्रासको पूरा करनेमे व्यय कियाजाता है। इसप्रकार प्राप्त कुल मूल्यका उपरिलिखित तीन व्ययोके समान होना आवश्यक

है। हिसाब किताबके बहीखातोंमें इस आय व्ययको सम दिखाया जाता है। यदि व्यय आयसे अधिकहै तो दोनोंका अन्तर हानिके रूपमें दिखाकर आय व्ययको सम करदिया जाताहै। वस्तुओं और सेवाओंके मूल्य तथा उत्पादनके साधनोंके स्वा-मियोंको दियेगये भुगतानमें समता होनेके कारण किसी देशके वासियोंकी मौद्रिक आय मालूम करनेसे भी उस देशकी राष्ट्रीय आय मालूम की जासकती है। बल्कि इस प्रकार राष्ट्रीय आयकी गणना करनेमें भूलचूक की कम सम्भावना है। यह आयभी दो ढगसे मालूमकी जासकती है। एक ढगतो यहहै कि आय-कर देनेवाले और आयकर न देनेवाले लोगोंकी आयको जोडलिया जाय और दूसरा ढग यहहै कि विभिन्न प्रकारके उत्पादन सम्बन्धी कार्योंमें भाग लेनेवालो की सख्या तथा आय मालूम कर लीजाये। परन्तु यह ध्यान रखना आवश्यकहै कि विना सेवाकिये प्राप्त आय, वृद्धावस्थाके कारण प्राप्त सरकारी वृत्ति, युद्ध-ऋणसे प्राप्त व्याज और छल कपट से पायीहुई आय इत्यादिकी गणना नही करनी चाहिए।

राष्ट्रीय आयको आकनेका एक ढग यहभी होसकता है कि प्रत्येक सस्था या उद्योग धन्धे द्वारा उत्पन्न कीगयी वस्तुओंकी मात्राके मूल्यमें से उन वस्तुओंकी मात्राका मूल्य निकाल दियाजाये जिनका कि उस सस्था या उद्योग धन्धोंमें प्रयोग कियागया है। परन्तु यह ढग आजतक व्यावहारिक दृष्टिसे असफलसा रहा है।

राष्ट्रीय आय और भौतिक कल्याण

राष्ट्रीय आय किसी राष्ट्रकी उत्पत्तिका परिमाण होनेके कारण उस राष्ट्रके भौतिक कल्याणकी द्योतक होसकती है परन्तु इसके द्रव्यके रूपमें परिणत करदेने से ऐसा होनेकी भी सम्भावनाहै कि वस्तुओंकी उत्पत्तिकी मात्रामें तो तनिकभी वृद्धि न हो, फिरभी उनके मूल्यमें वृद्धिके कारण राष्ट्रीय आयके मौद्रिक रूपमें वृद्धि होजाये। इसकारण एक वर्ष या राष्ट्रकी आयकी किसी दूसरे वर्ष या राष्ट्रकी आयसे तुलना करतेसमय इस बातका ध्यान रखना चाहिए कि वस्तुओंके मूल्यमें होनेवाले परि-वर्तनोंके प्रभावको निकाल दियागया है। ऐसा तभी होसकता है जबकि हम दूसरे वर्ष या राष्ट्रमें उत्पन्न वस्तुओंको द्रव्यके रूपमें परिणत करते समय उन्ही मूल्योंका प्रयोग करें जो पहिले वर्ष या राष्ट्रमें प्रचलित थे। दो राष्ट्रोंकी राष्ट्रीय आयकी

तुलना तो औरभी कठिनहै क्योंकि प्रत्येक राष्ट्र राष्ट्रीय आयको मौद्रिक रूपमें निकालते समय अपने निजी द्रव्यका प्रयोग करता है। एक राष्ट्रके द्रव्यको विदेशी विनिमयकी दरकी सहायतासे दूसरे देशके द्रव्यमें परिणत करनेसे भी तुलना सम्भव नही क्योंकि विदेशी विनिमयकी दरपर राष्ट्रकी उत्पत्तिके केवल उस थोडेसे अशका प्रभाव पडताहै जिसका कि आयात-निर्यातके लिए क्रय-विक्रय होता है। इसके अति-रिक्त भिन्न भिन्न राष्ट्रोके लोगोकी रुचियोमें अन्तर होनेके कारण उनमें उत्पन्न वस्तुओंकी मात्रा एव गुणोमें भी अन्तर होनेकी सम्भावना है। इसीप्रकार एकही राष्ट्रके लोगोकी रुचियोमें समय समयपर परिवर्तन होसकता है और यदि यहभी मानलिया जाये कि उपभोक्ताओंकी रुचिया तथा आवश्यकताए दोनों राष्ट्रो या वर्षो में एकसी ही थी तोभी इनके द्वारा उपभोग कीजाने वाली वस्तुओंके समूहमें मूल्य-परिवर्तनोके कारण परिवर्तन होनेकी सम्भावना है। किसी वस्तुका मूल्य न्यूनाधिक होनेसे आय तथा स्थानापन्न प्रभावो द्वारा उन वस्तुओंके समूहमें उस वस्तुकी मात्रा के न्यूनाधिक होनेका विवेचन पहिले किया जाचुका है।

राष्ट्रीय आय द्वारा हम यहतो मालूम करसकते है कि अमुक राष्ट्र या वर्षमें उत्पत्तिकी मात्रा अमुकथी परन्तु इस मात्राको उत्पन्न करनेके लिए कितना परिश्रम करना पडा, इस बातका ज्ञान राष्ट्रीय आयके आकडोसे नही होता। दो राष्ट्रोमें राष्ट्रीय आयकी मात्रा एकसी होनेपर भी उसके द्वारा प्राप्त भौतिक कल्याणमें भिन्नताका होना असम्भव नही क्योकि होसकता है कि उस मात्राकी प्राप्तिके लिए उनमें से एकको दूसरेसे अधिक श्रम अथवा समयका व्यय करना पडाहो। अथवा एक राष्ट्रमें किसी वस्तुके प्राकृतिक बाहुल्यके कारण उस वस्तुकी प्राप्ति बिना मूल्य दिये सम्भव होनेसे लोगोके भौतिक कल्याणमें तो वृद्धि होगी, यद्यपि उस वस्तुकी राष्ट्रीय आयमें गणना करना सम्भव नही।

राष्ट्रीय आयकी वृद्धिकी मात्राको भौतिक कल्याणकी वृद्धिकी मात्राका द्योतक मानने में एक औरभी अड़चन है। जैसे जैसे राष्ट्रीय आयकी मात्रा बढतीजाती है, वैसे वैसे उसकी वृद्धिसे प्राप्त होनेवाले भौतिक कल्याणकी मात्रामें सीमान्त उपयो-गिता के क्रमश ह्रासका नियम लागू होनेके कारण कमी होती चलीजाती है। राष्ट्रीय आय यदि १०० करोड रुपये से बढकर १५० करोड रुपये होजाये तो भौतिक कल्याण में वृद्धि अवश्य होगी परन्तु जब राष्ट्रीय आय १५० करोड रुपये से बढकर

२०० करोड रुपये होजाये तो इस ५० करोड रुपये की वृद्धिसे भौतिक कल्याणमें उतनी वृद्धि न होगी जितनी कि उस ५० करोड रुपये की वृद्धिसे हुईथी, जब आय १०० करोड से १५० करोड रुपये हुईथी।

राष्ट्रीय आयकी गणना करनेके लिए विभिन्न प्रकारकी पूजीका वर्षके आरम्भ तथा अन्तमें मूल्य आकना पडता है। मूल्य आकनेके लिए कोई एक निश्चित विधि नहीं है। इसकारण विविध प्रकारकी विधियोका प्रयोग करनेसे राष्ट्रीय आयकी गणनामें भारी अन्तर होना असम्भव नही।

राष्ट्रीय आय मापने के लाभ

इन सब त्रुटियोके होतेहुए भी राष्ट्रीय आयकी गणना नितान्त निष्फल नही। इसके द्वारा निरपेक्ष उत्पत्तिकी मात्राका नही तो कमसेकम सापेक्ष उत्पत्तिकी मात्राका तो पता चलसकता है और इसकारण दो राष्ट्रो या वर्षोमें तुलनाकी जासकती है। राष्ट्रीय आयके मौद्रिक रूपका निकालनाभी कई कारणोसे आवश्यकसा है। इससे हम यह मालूम करसकते है कि राष्ट्रीय आयका कितना अश उपभोग्य पदार्थोंकी उत्पत्तिके रूपमें था और कितना उत्पादन-सामग्रीके रूपमें। मौद्रिक रूप द्वारा हम यहभी ज्ञान प्राप्त करसकते है कि राष्ट्रीय आयका कितना अश व्यवस्थापकोको, कितना पूजीपतियो को, कितना भूमि-स्वामियोको और कितना श्रमजीवियोको मिला—अर्थात् इस आयका वितरण किसप्रकार से हुआ? भूमि-कर, मजूरी, व्याज तथा लाभ इत्यादि उत्पादनके साधनोको मिलनेवाले राष्ट्रीय आयके भागोकी मात्रा निश्चित करनेके लिए समय समयपर भिन्न भिन्न सिद्धान्तोका सृजन होतारहा है। उनका विवेचन आगामी अध्यायोमें कियाजायेगा। इस स्थानपर केवल इतना कह देना आवश्यकहै कि अन्य वस्तुओके समानही उत्पादनके साधनोका भी मूल्य होता है और यह मूल्य उसीप्रकार निर्धारित होताहै, जैसे अन्य वस्तुओका मूल्य। इनके निर्धारणकी विशद हम किसी अन्य स्थानपर सविस्तार विवेचन करचुके है। हम देखचुके है कि पूर्तिकी ओरसे वस्तुके सीमान्त उत्पादन-व्ययको और मागकी ओरसे सीमान्त उपयोगिताको महत्व दियाजाता है। इसीप्रकार उत्पादनके साधनो के स्वामियोको भी साधन-विशेषके उत्पादनके लिए भिन्न भिन्न प्रकारका व्यय करना

पडताहै और वह अपने साधनको उसके सीमान्त-उत्पादन-व्ययसे कम मूल्यपर देने के लिए उद्यत नही होसकते। इसलिए पूर्तिकी ओरसे उस साधनका सीमान्त उत्पादन-व्ययही उसके मूल्यको निर्धारित करता है। आगे चलकर हम देखेंगे कि भिन्न भिन्न सिद्धान्त उस उत्पादन व्ययकी भिन्न साधनोके लिए भिन्न भिन्न प्रकारसे गणना करते हैं। परन्तु गणना चाहे किसीभी ढगसे हो, इसमें सन्देह नही कि साधन विशेपके मूल्यको निर्धारित करनेमें उसके सीमान्त उत्पादन-व्ययसे सहायता लेनी पडती है। हम यहभी देख चुकेहैं कि मूल्यके सीमान्त-उत्पादन व्यय सिद्धान्तमें यह दोषथा कि यह सिद्धान्त केवल वस्तुओंकी पूर्तिको महत्व प्रदान करताथा, मागको नही। मागको मूल्य निर्धारणकी क्रियामें स्थान देनेके लिए उपयोगिताके क्रमशः ह्रास नियमसे सहायता लेकर सीमान्त उपयोगिताको वस्तुओंके मूल्यका कारण और माप ठहराया गयाथा। वस्तुओंकी माग इसलिए होतीहै कि उनसे उपयोगिता प्राप्त होती है। उत्पादनके साधनोकी माग इसलिए होतीहै कि उनके नियोगसे उत्पादन होता है। अन्य साधनोकी मात्रामें परिवर्तन कियेविना किसी साधन विशेपकी मात्रामें वृद्धि करते रहनेसे उसके द्वारा प्राप्त उत्पत्तिकी मात्रामें क्रमश. ह्रास होने लगता है। कोईभी व्यवस्थापक उस साधनकी मात्रामें तवतक वृद्धि करता रहेगा जवतक कि उसके द्वारा प्राप्त उत्पत्तिका मूल्य उस साधनकी वृद्धिकी मात्रापर कियेगये व्ययके सम नही होजाता। साधनकी उस इकाईको जिसे कोई व्यवस्थापक किसी विशेष मूल्यपर उत्पादन कार्यमें नियुक्त करनेके लिए केवल उद्यतमात्र ही होपाता है, सीमान्त इकाई कहतेहैं और इस इकाई द्वारा प्राप्त उत्पत्ति की मात्राके मूल्यको उस साधनकी सीमान्त उत्पत्ति कहते है। अन्य साधनोको ज्योका त्यो रखकर साधन विशेपकी मात्रामें एक और इकाईकी वृद्धि करनेसे उत्पत्तिकी मात्रामें जो वृद्धि प्राप्त होतीहै, उसके मूल्यको भी उस साधनकी सीमान्त उत्पत्ति कहा जासकता है। जिसप्रकार वस्तुकी सब इकाइयोका मूल्य सीमान्त इकाईसे प्राप्त होनेवाली उपयोगिताके सम होता है, उसीप्रकार साधनकी सब इकाइयोका मूल्य उसकी सीमान्त इकाईसे मिलनेवाली उत्पत्तिके मूल्यके भी सम होता है।

हम देखचुके है कि वस्तुओके मूल्यके सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्तमें कईएक दोष थे। साधनोके मूल्यके सीमान्त उत्पत्ति सिद्धान्तमे उससेभी अधिक दोष है। उत्पादन के लिए चारो साधनोका सहयोग आवश्यक है। किसी एकही साधन द्वारा वस्तुओ

का उत्पादन सम्भव नही। इसकारण साधन विशेषकी मात्रामे वृद्धिसे प्राप्त होने वाली अधिक उत्पत्तिको उसी साधनकी उत्पत्ति मानना तर्कयुक्त नही क्योकि उसमे अन्य साधनोका सहयोगभी वर्तमान है, उत्पत्ति अधिकतम प्राप्त करनेके लिए साधनोको विशेष अनुपातमें एकत्रित करना आवश्यक है। ऐसी दशामे एकही साधनेकी मात्रामे वृद्धि करनेसे इस अनुपातको भग करनेके कारण उत्पत्तिकी मात्रा में वृद्धिके स्थानमें ह्रास होनेकी भी सम्भावना है। इसकारण कईएक अर्थशास्त्रियोके विचारमें साधन विशेषकी मात्राको न्यूनाधिक करना सम्भवही नही, क्योकि किसी कालमें प्रचलित उत्पादन-विधिके अनुसार चारो साधनोको विशेष अनुपातमें एकत्रित करनेसे ही प्राप्त होसकता है अन्यथा नही। इसकारण साधन-विशेषकी मात्रा को न्यूनाधिक करके उसकी सीमान्त उत्पत्ति मालूम करना सम्भवही नही। ऐसाभी होसकताहै कि साधनविशेष की किसी विशेष सस्थामे सीमान्त उत्पत्ति तो कमहो किन्तु पूरे उद्योगमें अधिक मात्रामें उत्पत्ति करनेसे प्राप्त होनेवाली मितव्ययिताके कारण अधिक। इसकारण जबतक उत्पत्तिकी क्रमश. वृद्धिका नियम लागू होता रहताहै तबतक सीमान्त उत्पत्तिका निश्चित रूपसे मालूम करना कठिन है। साधनो के मूल्यका सीमान्त उत्पत्ति सिद्धान्त केवल उनकी मागकी ओर ध्यान देताहै, पूर्ति की ओर नही। मूल्यको सम्यक रीतिसे निश्चित करनेके लिए हमें माग और पूर्ति दोनोको एकही सा महत्त्व देना होगा। किसी उत्पादनके साधनका मूल्य किसी अन्य वस्तुके मूल्यके समानही उससमय सन्तुलनकी अवस्था प्राप्त करेगा जबकि उस मूल्यपर उत्पादन-व्यय द्वारा निश्चित उस साधनकी पूर्ति, सीमान्त उत्पत्ति द्वारा निश्चित उस साधनकी मागके सम होजायेगी।

१८

भूमि-कर

रिकार्डो का भूमि-कर सिद्धान्त

अर्थशास्त्रकी भाषामें भूमि-कर उस पुरस्कारको कहाजाता है जो भूमि तथा अन्य प्राकृतिक साधनोंके स्वामियोंको इन साधनोंके उत्पादन-कार्यमें सहायता देनेके फलस्वरूप प्राप्त होताहै। रिकार्डोके मतानुसार भूमि-कर भूमिद्वारा प्राप्त उत्पत्ति-की उस मात्राको कहतेहैं जो भूमिपतियोंको भूमिकी प्राकृतिक तथा सनातन शक्तियो का उपयोग करनेकी अनुमति प्रदान करनेके बदले दीजाती है। रिकार्डो और उसके अनुयायियोंका विश्वासथा कि किसी देशमें कुल उपलब्ध भूमिका कृषिके उपयोगमें लायाजाना आवश्यक नहीं है। आरम्भमें तो केवल अधिक उत्पादन भूमि पर खेती कीजाती है क्योंकि उससे प्राप्त उत्पत्तिकी मात्रा जन-समुदायकी आवश्यकता-ओंको तृप्त करनेके लिए पर्याप्त होती है। परन्तु जनसंख्यामें वृद्धि होनेपर अधिक उत्पादक भूमि अपर्याप्त मात्रामें उपलब्ध होनेके कारण, अधिक मात्रामें उत्पत्ति प्राप्त करनेके लिए अधिक उत्पादक भूमि परही अधिकाधिक मात्रामें श्रम और पूजीका व्यय करना होगा, अथवा कम उत्पादक भूमिके भागोंपर कृषि करनी होगी। दोनो स्थितियोंमें पहिलेके समानही श्रम और पूजी लगानेपर प्राप्त उत्पत्तिकी मात्रामें कमी आने लगेगी अर्थात् सीमान्त उत्पादन व्ययमें वृद्धि होने लगेगी। हम देख चुके है कि उत्पत्ति का मूल्य उसके सीमान्त उत्पादन व्ययसे निर्धारित होता है, इसलिए कृषिकी उत्पत्तिका मूल्यभी उस उत्पादन व्यय द्वारा निर्धारित होगा जो न्यूनतम उत्पादक भूमिपर कृषि करनेके लिए उठाना पडताहै अथवा श्रम तथा पूजी-के निम्नतम प्रयोगपर कियेगये व्ययके सम होगा। सीमान्त कृषक अन्य कृषकोंकी प्रतिस्पर्धाके कारण अपने सीमान्त उत्पादन व्ययसे अधिक मूल्य नहीं लेसकता और इसकारण सीमान्त भूमि या श्रम और पूजीके सीमान्त प्रयोगपर कोई कर नहीं

मिलता। इसीकारण रिकार्डोने उत्पादन व्ययमें भूमि-कर का समावेश न होनेके सिद्धान्तकी रचना की। मूल्य तो निर्धारित होताहै सीमान्त भूमि अथवा श्रम और पूंजीके सीमान्त प्रयोगमें जिस पर कोई कर नही मिलता। इसकारण अधिक उत्पादक भूमिभागों पर अथवा पूंजी और श्रमके अधिक लाभदायक प्रयोगो पर कर मिलताहै क्योंकि उनके उत्पादन व्यय तो सीमान्त उत्पादन व्ययकी अपेक्षा कम होते है परन्तु बाजारभाव सीमान्त उत्पादन व्ययके सम होते है। फलत: भूमि-कर उत्पादकोंकी बचतहै और यह मूल्य द्वारा निर्धारित होताहै न कि वह स्वयं मूल्यको निर्धारित करता है। रेखाशास्त्रकी सहायतासे भूमि-कर उसीप्रकार
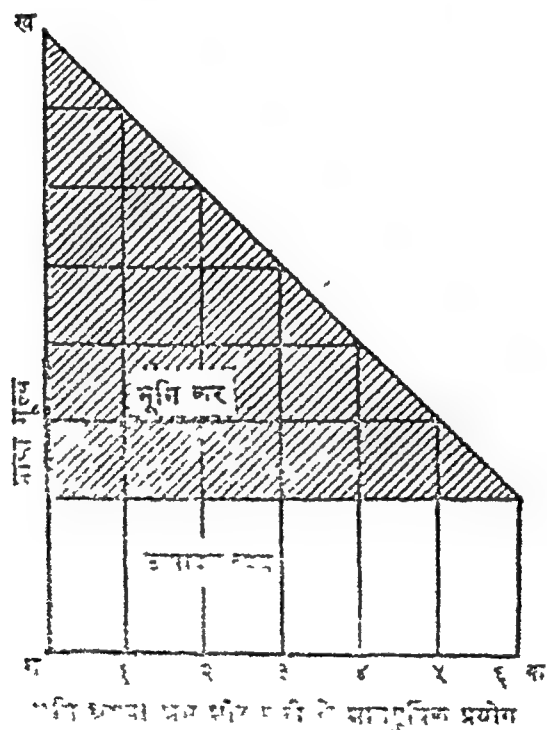
भूमि अथवा श्रम और पूंजी के आनुक्रमिक प्रयोग

दिखाया जा सकता है जैसे कि उपभोक्ताकी बचत। ऊपर [illegible] रेखापर भिन्न प्रयोगों [illegible] भूमि अथवा पूंजी और श्रमकी क्रमश: [illegible] मात्राएं दिखाई [illegible] और [illegible] रेखापर प्राप्त उत्पत्तिका मूल्य। उत्पत्तिकी [illegible] भागमें [illegible] होता जाता है जैसे कि उपभोक्ताकी बचतमें [illegible]

क्रमश: ह्रास होता जाता था। प्रत्येक प्रकारकी भूमि अथवा श्रम और पूंजीके प्रयोगपर व्यय तो एकसा होताहै परन्तु उपलब्ध उत्पत्तिकी मात्रामें अन्तर होनेके कारण कुल प्राप्त मूल्यमें अन्तर होता है, जिस भागको रेखाओं द्वारा अंकित कियागया है वह प्राप्त भूमि-कर का द्योतक है।

भूमि-करके अस्तित्वकी व्याख्या इसप्रकार भी की जासकती है। मानलीजिए किसी भूमिपतिके पास भिन्न भिन्न उत्पादन शक्तिवाले भिन्न भिन्न भागहै और वह उनपर स्वयंतो कृषि नहीं करता परन्तु उन सबको आसामियोंको कृषि करनेके लिए देता है। अधिक उत्पादक भूमि भागोंपर अधिक उत्पत्ति होगी और कम उत्पादक भूमि भागोंपर कम यद्यपि उन सबपर एकसा ही श्रम तथा पूंजीका प्रयोग कियाजाता है। अथवा कम उत्पादक भूमिभागोंपर अधिक श्रम और पूंजीका प्रयोग करके भी सबपर एकसी ही उत्पत्तिकी मात्रा उत्पन्नकी जासकती है। इसकारण अधिक उपजाऊ भूमिवाले आसामी न्यूनतम उत्पादक भूमिसे अधिक प्राप्त होनेवाली उत्पत्तिकी मात्राको भूमिपतिको भूमि-करके रूपमें देनेके लिए उद्यत् होजायेंगे क्योंकि इसमें उनकी कुछ भी हानि नहीं। मान लीजिए कि अधिकतम उत्पादक भूमिपर ८० मन गेहूं उत्पन्न होताहै और अन्य भागोंपर क्रमश: ७०, ६०, ५०, ४० मन। विभिन्न भूमि-भागोंसे इस अवस्थामें भूमिपतिको ४०, ३०, २०, १० मन गेहूं भूमि-करके रूपमें प्राप्त होगा।

इससे स्पष्टहै कि किसी विशेष आसामीके हानि लाभके व्योरेमें भूमि-करको व्ययके रूपमें दिखाना ही पडेगा। अर्थात् उसके उत्पादन व्ययमें भूमि-करभी एक अंगके रूपमें शामिल होगा और इसकारण उसकेलिए मूल्यका एक अंग होगा। परन्तु उपभोक्ताओंसे लिया जानेवाला मूल्य सीमान्त उत्पादन व्यय द्वारा निर्धारित होता है और हम देखचुके है कि सीमान्त उत्पादन व्यय उस भूमि अथवा श्रम और पूंजी के उस प्रयोगपर होनेवाले व्ययको कहते है जिससे कोई भूमि-कर प्राप्त नही होता। इसकारण भूमि-कर भिन्न भिन्न उत्पादन शक्तिवाली भूमियों अथवा श्रम और पूंजीकी मात्राओंके भिन्न भिन्न प्रयोगोंपर होनेवाले व्ययको एकसा बनादेता है अर्थात् भूमि-करके कारण प्रत्येक आसामीको एकसा ही उत्पादन व्यय उठाना पडता है यद्यपि भिन्न भिन्न आसामियोंको मिलनेवाली भूमियोंकी उत्पादनशक्ति एकसी नहीं होती।

रिकार्डो के सिद्धान्त की आलोचना

रिकार्डोके भूमि-कर सिद्धान्तकी कई आलोचनाए कीगयी है। इस सिद्धान्तके मुख्य अग दो है। एकतो यहहै कि भूमि-कर किसी भूमिकी प्राकृतिक स्थिति अथवा सनातन उत्पादन शक्तिके कारण प्राप्त होनेवाला सापेक्ष अतिरिक्त लाभहै और दूसरे ऐसी भूमियोका अस्तित्व जिनसे भूमि-कर प्राप्त नही होता।

कई लोगोका विचारहै कि भूमिकी उत्पादन शक्ति सनातन नही। उसमें ह्रास होना रहताहै और श्रम तथा पूजीके प्रयोगसे उसका पुनर्नवीकरण कियाजाता है। इसप्रकार श्रम और पूजीके व्ययसे प्राप्त भूमिकी स्थायी उन्नतिका उसकी प्राकृतिक शक्तियोंसे भेद करना असम्भव होजाता है। भूमिकी उत्पादन शक्ति सनातन हो अथवा न हो परन्तु भूमिमें कुछ गुण ऐसे अवश्य होतेहै जो अन्य साधनोंमें नही होते। रिकार्डोका सकेत इन गुणोंकी ओर था। स्थायी उन्नतिके लिए कियेगये भुगतानको रिकार्डोने भी भूमि-करमें सम्मिलित करना स्वीकार करलिया है। इस दृष्टिसे एडम स्मिथने भूमि-करकी रिकार्डोसे अधिक उपयुक्त परिभाषा की है। उसके मतानुसार भूमि-कर कुछतो किसी समाजकी सामान्य परिस्थितिपर निर्भर है और कुछ भूमिकी प्राकृतिक एव कृत्रिम उत्पादन शक्तिपर। कृत्रिम उत्पादन शक्तिमे स्थायी उन्नति द्वारा और समाजकी सामान्य परिस्थितिसे जन-सख्यामें वृद्धि द्वारा भूमि-करपर पडनेवाले प्रभावकी ओर सकेत है।

कुछ लोगोंके विचारानुसार यह सत्य नही कि सर्वप्रथम अधिकतम उत्पादक भूमि परही कृषि-कार्य प्रारम्भ किया जाताहै और फिर शनै. शनै; क्रमश: कम उत्पादक भूमियोपर। बल्कि वास्तवमें प्राय: कम उत्पादक भूमिभागोंका उपयोग पहिले किया जाताहै और अधिक उत्पादक भूमिभागोंका उनके बाद। सिद्धान्तकी सिद्धिके लिए इस अन्तरका कोई महत्व नही है। केवल भूमिभागोंकी उत्पादन शक्ति में भिन्नताके अस्तित्वकी आवश्यकता है। जबतक यह भिन्नता विद्यमानहै तबतक अधिक उत्पादक भागोंको भूमि-कर प्राप्त होता रहेगा।

ऐसाभी कहाजाता है कि ससारमें कोईभी भूमिभाग उपलब्ध नही जिसके प्रयोग के लिए कुछ न कुछ भूमि-कर प्राप्त न होता हो। मिलके अनुसार इसका कारण यह होसकताहै कि भूमि-कर प्राप्त न करनेवाले भागोंका भूमि-कर प्राप्त करने

वाले भागोंसे सम्मिश्रण होनेके कारण प्राप्त आगत भूमि-करमें न्यूनता आजाती है। यहभी सम्भवहै कि भूमि-करके रूपमे किया जानेवाला भुगतान केवल उस भूमिकी श्रम और पूजी द्वारा कीगयी उन्नतिका ही पुरस्कार मात्र हो। इसके अतिरिक्त यदि यहभी मानलिया जाये कि भूमि चाहे किसीभी प्रकारकी हो उसको उपयोगमें लानेके लिए आसामी भूमिपतिको कुछ न कुछ करके रूपमे देताहै तो भूमि-कर वचित भूमिसे रिकार्डोका अभिप्राय उस भूमिसे था, जिससे प्राप्त उत्पत्ति केवल उत्पादन व्ययको पूरा करनेके लिए पर्याप्तभर हो। उत्पादन-व्ययमें भूमिपतिको दिया जानेवाला करभी सम्मिलित करलिया जाताहै परन्तु ऐसी भूमिसे ऐसी कोई भी प्राप्ति नही होती जिसे अर्थशास्त्रकी परिभाषामें भूमि-कर कहाजाता है और इस दृष्टिसे उसे हम भूमि-कर वचित भूमि कहसकते है।

किसी विशेष भूमि भागका भूमि-कर ज्ञात करनेके लिए भूमि-कर वचित भूमि की उत्पत्ति आवश्यक नही। उस भूमि भागपर श्रम और पूजीके सीमान्त प्रयोग द्वारा प्राप्त उत्पत्ति भूमि-कर वचित भूमिसे प्राप्त उत्पत्तिके सम है। कुल उत्पादन व्यय मालूम करनेके लिए श्रम और पूजीकी सीमान्त मात्रासे प्राप्त उत्पत्तिको सीमान्त मात्राके सम लगायीगयी कुल मात्राओंसे गुणा करदेना चाहिए। क्योंकि प्रत्येक मात्रापर कियागया व्यय सीमान्त मात्रासे प्राप्त उत्पत्तिके सम होता है। इस उत्पादन व्ययमें कृषककी मजूरीभी सम्मिलित है। उत्पत्तिकी कुल उपलब्ध मात्रा इस उत्पादन व्ययसे अवश्यही अधिक होगी क्योंकि सीमान्त मात्रासे पहिले प्रयोगकी जानेवाली श्रम और पूजीकी मात्राओंसे क्रमश. अधिक उत्पत्ति प्राप्त होती है। उत्पत्तिकी कुल उपलब्ध मात्रा और कुल उत्पादन व्ययमे अन्तरकी मात्रा भूमिपति को भूमि-करके रूपमें दी जासकती है। कृषकको इसमें कोई आपत्ति न होगी क्योंकि वह श्रम और पूजीके सीमान्त प्रयोगसे मिलनेवाली मजूरीसे सन्तुष्टहै और इसकारण वह सीमान्त प्रयोगसे पहिलेके प्रयोगोंके लिएभी उतनीही मजूरीपर श्रम करता रहेगा। इसके अतिरिक्त भूमिके वैकल्पिक प्रयोग होसकते है। एक प्रयोगके लिए वही भूमिभाग भूमि-कर वचित भूमि होसकता है और दूसरे प्रयोगके लिए भूमि-कर प्राप्त करनेवाली भूमि। इसकारण यहभी होसकता है कि प्रत्येक भूमिभागको उस प्रयोगमें लाया जारहा हो जिसके कारण कि उससे भूमि-कर प्राप्त होता हो। इस सम्वन्धमें यह उल्लेखनीयहै कि एक कृषिफलके लिए प्राप्त भूमि-कर दूसरे कृषिफलके

मूल्यपर प्रभाव डालसकता है। गेहूंकी माग बढनेसे गेहू उत्पन्न करनेवाली भूमि का भूमि-कर बढने लगेगा और इसकारण गन्ना उत्पन्न करनेवाली भूमिका गेहू उत्पन्न करनेमें प्रयोग किया जाने लगेगा। गन्नेकी पूर्तिको स्थित रखनेके लिए गन्ना उत्पन्न करनेके लिए कम उत्पादक भूमिभागोंको प्रयुक्त किया जायेगा और इसकारण गन्नेके मूल्यमें भी वृद्धि होगी। इसप्रकार गेहू उत्पन्न करनेवाली भूमिके भूमि-करमें वृद्धिका गन्नेके मूल्यमें समावेश होता है। यही कारण है कि भिन्न भिन्न फसलोंमें प्रतिस्पर्धाके कारण हरप्रकार की भूमिसे भूमि-कर प्राप्त होता रहता है।

भूमि-कर का आधुनिक सिद्धान्त

आधुनिक अर्थशास्त्री भूमि-कर का सापेक्ष लाभके रूपमें अस्तित्व मानतेहै परन्तु उनका विचारहै कि सापेक्षताके सिद्धान्त द्वारा हम केवल इतना कहसकते है कि अधिक उत्पादक भूमिका कम उत्पादक भूमिसे भूमि-कर अधिक होना चाहिए। अर्थात् रिकार्डो का सिद्धान्त केवल इतना सिद्ध करताहै कि उत्तम वस्तुका मूल्य निम्न वस्तुसे अधिक होना चाहिए। मूल्य क्यों अधिक होना चाहिए इसका उत्तर इस सिद्धान्तसे नहीं मिलता क्योंकि यदि सब भूमि भागोंकी उत्पादन शक्ति समान ही होतीतो रिकार्डोके मतानुसार किसीभी भूमि भागके प्रयोगके लिए भूमि-कर न देना पडता। आधुनिक सिद्धान्तके अनुसार भूमि भागोंके समान रूपमें उत्पादक होनेपर भी भूमि-कर का अस्तित्व सम्भव है क्योंकि भूमि-कर अधिक उत्पादक भूमि भागोंकी सापेक्ष न्यूनताका नहीं बल्कि भूमिसे प्राप्त होनेवाली वस्तु विशेषकी सापेक्ष न्यूनताका परिणाम स्वरूप है। भूमि-कर तबतक सनातन रूपमें विद्यमान रहेगा जबतक कि भूमिसे उत्पन्न होनेवाली किसी वस्तुकी माग उस वस्तुकी पूर्तिसे अधिक है क्योंकि मागमें आधिक्यके कारण वस्तुके मूल्यमें वृद्धि होगी और भूमि-पतियोंको मूल्यमें वृद्धिके कारण पहिलेसे अधिक आय भूमि-करके रूपमें प्राप्त होगी। मूल्यमें वृद्धिके कारण पूर्ण प्रतिस्पर्धाकी स्थितिमें अप्रयुक्त भूमिभागों को प्रयोगमें लाकर या प्रयुक्त भूमिभागोंमें श्रम और पूंजीकी अधिक मात्रा लगाकर पूर्ति बढ़ाने की चेष्टा कीजावेगी और पूर्ति बढ़ने पर भूमि-करकी प्राप्ति बन्द हो जायेगी। इस सिद्धान्तमें कम उत्पादक भूमियोंको केवल इतना महत्व प्राप्त है कि उनमें कम

उत्पत्ति मिलनेके कारण पूर्तिमें कमी आजाती है और इसकारण प्राप्त भूमि-कर की मात्रामें वृद्धि होजाती है।

भूमि-करको इस दृष्टिसे देखनेसे उसे केवल भूमि तथा अन्य प्राकृतिक देनसे सम्बन्धित करनेकी आवश्यकता नही रहती क्योकि इसप्रकार के अतिरिक्त लाभ अन्य उत्पत्तिके साधनोंको भी उनके द्वारा उत्पन्न वस्तुओंकी पूर्तिमें सापेक्ष न्यूनताके कारण प्राप्त होते रहते है। मार्शलने ऐसे अतिरिक्त लाभको आभास करोकी उपाधिदी थी। हम पहिले देखचुके है कि भूमि-करको इस दृष्टिसे देखने पर भूमिके वैकल्पिक प्रयोगोंके अस्तित्वके कारण भूमि-करके मूल्यमें समावेश होने की तनिकभी शका नही रहती।

कहा जाता है कि भूमि-करका आधुनिक सिद्धान्त सामान्य उत्पादन-व्यय और अतिरिक्त लाभमें भेदभाव पर आधारित है। सामान्य उत्पादन-व्यय उत्पादनके साधनोंके उस सामान्य मूल्यपर निर्भरहै जो साधन विशेष की आवश्यक मात्रामें पूर्ति करदे। साधारणतया यह मूल्य उस साधनकी कार्यक्षमताको पूर्णरूपेण स्थिर रखनेके लिए पर्याप्त होना चाहिए। उस साधन विशेष द्वारा उससे अधिक प्राप्त होनेवाली आयको अर्थशास्त्र की परिभाषामें 'कर' कहा जासकता है चाहे यह अधिक आय प्राकृतिक गुणो अथवा स्थितिके कारण प्राप्तहो, चाहे किसी आकस्मिक लाभ के रूपमें और चाहे एकाधिकारके लाभके रूप में।

भूमि-करको इस दृष्टिसे देखनेसे आभास-करो की कल्पनाभी व्यर्थही सिद्ध होती है। आभास-करका प्रयोग मार्शलने उत्पादनके साधनोकी उस आयको दिखानेके लिए कियाथा जो उनको उनकी पूर्ति अस्थायी रूपमें सीमित होनेके कारण होती है। मार्शलका कहनाथा कि भूमिको प्राप्त होनेवाले अतिरिक्त लाभ तथा अन्य साधनोको प्राप्त होनेवाले अतिरिक्त लाभमें भेदहै क्योकि भूमिकी पूर्ति प्रकृतिकी देन होनेके कारण निश्चितहै और अन्य साधनोकी पूर्ति मनुष्य द्वारा न्यूनाधिक की जासकती है। परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्री भूमिकी पूर्तिको अन्य साधनोकी पूर्तिसे अधिक सीमित नही स्वीकार करते। उनके मतानुसार यदि किसी विशेष समय और स्थानपर अन्य साधनोकी पूर्तिमें वृद्धि सुगम रीतिसे होसकती है तो अन्य समय और स्थानपर भूमि की। इस भेदभाव को मिटा देनेसे भूमि-कर तथा आभास करोमें केवल इतना भेद है कि भूमि-कर अन्य करोसे अधिक स्थायी है।

कृषि-सम्बन्धी समुन्नति और भूमि-कर

कृषिसे सम्बन्ध रखनेवाली समुन्नतिका भूमि-कर पर क्या प्रभाव पडता है, इसका उत्तर रिकार्डोके सिद्धान्तके अनुसार दो प्रकारसे दिया जासकता है। यदि अधिक उत्पादक भूमिको औरभी उन्नत कियाजाये तो भूमि-करमें वृद्धि होगी और यदि निम्न कोटिकी भूमिको उन्नत कियाजाये तो भूमि-करमें कमी होगी। परन्तु आधुनिक सिद्धान्तके अनुसार दोनो अवस्थाओंमें भूमि-करमें न्यूनताही रहेगी क्योंकि किसीभी प्रकारकी भूमिको उन्नत करनेका अर्थ उत्पत्तिकी मात्रामें वृद्धि द्वारा पूर्तिको बढाना होगा। पूर्ति बढनेसे मूल्य कम होंगे और मूल्य कम होनेसे भूमि-करभी कम होगा। केवल अधिक उत्पादक भूमियोको उन्नत करनेसे उत्पत्तिकी मात्रामें अधिक वृद्धि होगी और इसकारण भूमि-कर अधिक गिरेगा और कम उत्पादक भूमियोको उन्नत करनेकी चेष्टासे उत्पत्तिकी मात्रामें कम वृद्धि होगी और इसकारण भूमि-करमें भी अधिक न्यूनता न होगी।

अबतक भूमि-करको भूमिके सम्बन्धमें ही प्रयुक्त किया जारहा था। इस शब्दका प्रयोग इमारतोंके सम्बन्धमें भी कियाजाता है। जिस भूमिपर इमारत खडीहै उसके कारण प्राप्त होनेवाला करतो पारिभाषिक भूमि-कर है जो उस भूमिकी भली बुरी स्थितिके कारण प्राप्त होता है। नगरोंके उस भागमें जहां कि व्यापार होता है, इन करोंकी मात्रा अधिक होतीहै परन्तु इमारतसे प्राप्त होनेवाला कर इमारत बनाने या खरीदनेके लिए व्यय कीगयी पूंजीका ब्याज है, भूमि-कर नहीं। इसीप्रकार खानोंसे प्राप्त कर में भूमि-कर के अतिरिक्त भी कुछ अंश होताहै कारण कि खनिज पदार्थको एकबार निकाल लेनेपर खानके मूल्यमें स्थायी रूपमें ह्रास हो जाता है। इसकारण खानोंके करमें उनकी स्थिति तथा समृद्धिके लिए प्राप्त कर के अतिरिक्त खनिज पदार्थको निकाल लेनेके लिए भी कुछ भुगतान सम्मिलित होता है। कई भूमिभागोंसे एकही समयमें दो अथवा दो से अधिक प्रकारके कर प्राप्त होजाते हैं। ऐसा सम्भव है कि कोई भूमिभाग अधिक उत्पादक भी हो, उसकी स्थिति भी सुन्दर हो और वहां इमारतें भी सरलतासे बनसकती हों। इसप्रकार भी भूमिसे उत्पादन शक्ति, स्थिति और अवस्थिति [illegible] लिए तीन प्रकारके कर प्राप्त हो सकेंगे।

१६

मजूरी (पारिश्रमिक) और उसके सिद्धान्त

मजूरी की परिभाषा

मजूरी श्रमजीवी द्वारा कियेगये श्रमका मूल्यहै और इसकारण मजूरीका निर्धारणभी श्रमकी पूर्ति और मांगके सन्तुलनसे उसीप्रकार होताहै जैसे कि अन्य वस्तुओंके मूल्यका। केवल श्रमबाजारकी उन विशेषताओंको ध्यानमें रखनेकी आवश्यकता है जिनका विवेचन हम बाजारके अध्यायमें करचुके है।

मजूरीके विभिन्न सिद्धान्तोंका उल्लेख करनेके पूर्व यह स्पष्ट करदेना आवश्यक है कि अर्थशास्त्री इस शब्दका प्रयोग विभिन्न अर्थोंमें करते है। मौद्रिक मजूरीसे उनका अभिप्राय द्रव्यकी उस मात्रासे है जो श्रमजीवीको किसी निश्चित समयतक श्रम करनेके पारिश्रमिकके रूपमें मिलतीहै और वास्तविक मजूरीसे वस्तुओं और सेवाओंकी उस मात्राका जो उसे मिलेहुए द्रव्य द्वारा खरीदी जासकती है। इसके अतिरिक्त श्रमजीवीको किसी विशेष उद्योग धन्धेमें काम करनेसे कुछ ऐसी सुविधाए और असुविधाएभी प्राप्त होतीहै जो केवल उसी उद्योग धन्धेसे सम्बन्धित होती है। श्रमजीवीकी वास्तविक आयको आंकते समय इन सुविधाओं और असुविधाओंकी गणनाभी अवश्य करलेनी चाहिए क्योंकि होसकताहै कि एक उद्योग धन्धेमें दैनिक मजूरी तो अधिक हो परन्तु काम वर्षमें केवल छैमासतक ही मिलता हो और दूसरेमें दैनिक मजूरी तो कमहो परन्तु काम वर्षभर मिलता रहता हो। इसकारण पहिले उद्योग धन्धेमें काम करनेवाले की वार्षिक आय दूसरे उद्योग धन्धेमें काम करनेवाले मजूरकी वार्षिक आयसे कम होसकती है। इसीप्रकार कुछ उद्योग-धन्धोंके स्वामी अपने श्रमजीवियोंके रहनेका तथा उनकी सन्तानके सुचारु शिक्षण इत्यादिका भी प्रबन्ध कर देते है। ऐसे उद्योग-धन्धोंमें मौद्रिक मजूरी कम होनेपर भी वास्तविक आय अधिक होसकती है।

मजूरी का लोह सिद्धान्त

मजूरीके लोह सिद्धान्तके जन्मदाता फ्रांसके अधिभूतवादी अर्थशास्त्री थे। तत्कालीन फ़्रांसमें कृषक लोगोंकी दशा अत्यन्त शोचनीय थी। उनके परिश्रम द्वारा उत्पन्न सम्पत्तिकी मात्रामें उतनी उनके पास शेष छोडी जातीथी जो केवल उनके जीवित रहनेके लिए पर्याप्त मात्र होतीथी बाकी मात्राको सरकार कर लगाकर लेलेती थी। अधिभूतवादी अर्थशास्त्रियोंने समझा कि प्रकृतिका नियमही है कि बेचारे कृषकों को जीवित मात्र रहनेके लिएही वृत्ति प्राप्त हो। यदि सरकार करभी न लगाये तोभी कृषकोंको प्राप्त उनकी उपजके भागमें वृद्धि तो अवश्य होगी परन्तु इसके फलस्वरूप उनकी जन्मदर में भी वृद्धि होगी। इसके कारण कृषकोंकी जन-सख्या बढ जायेगी और प्रत्येक कृषकको प्राप्त होनेवाला भाग फिर पहिलेके समानही होजायगा। जर्मनीके समाजवादी अर्थशास्त्रियोंने इस नियमकी क्रियान्विति को पूंजीमूलक आर्थिक पद्धतिमें भी सिद्ध करनेका प्रयत्न किया। उनके मतानुसार जब तक मूल्य, माग और पूर्ति द्वारा निश्चित होतेरहेंगे, तबतक पूंजी तथा भूमिपति कुल उत्पत्तिकी मात्रामें श्रमजीवियोंको केवल क्षुधानिवारणके लिए देकर शेष मात्रा को स्वयं ग्रहण करते चलेजायेंगे। उनमें से कुछके मतानुसार मजूरीका केवल शारीरिक जीवनको मृत्युसे बचानेके लिए पर्याप्त मात्रामें होना आवश्यक है। उन्होंने अपने सिद्धान्तको लोह सिद्धान्तका नाम दिया। कुछका विचार था कि मजूरी नैतिक अथवा रूढ़िसे सम्बन्ध रखनेवाली धारणाओं द्वारा जो लोगोंकी रुचियों तथा रीतिरिवाजोंपर निर्भर हैं, निश्चित होती है। उन्होंने अपने सिद्धान्तको वास्तव-सिद्धान्त कहना उचित समझा। प्रसिद्ध अंग्रेज अर्थशास्त्री एडम स्मिथका मजूरीके लोह अथवा अन्न-सिद्धान्तसे मतभेद था। उनके अनुसार मजूरीका केवल जीवित मात्र रखनेके लिए पर्याप्त होना आवश्यक नहीं है। वह अधिकभी होसकती है परन्तु स्थायी रूप में उसका जीवितमात्र रखनेके लिए अपर्याप्त होना सम्भव नहीं क्योंकि श्रमजीवी और उसके कुटुम्बका जीवित रहना भविष्यकी पूर्तिके लिए आवश्यकही है। इसप्रकार, मजूरों और बेकारोंकी उस भागको जिसके द्वारा श्रमजीवी केवल अपने आपको और अपने कुटुम्बको क्षुधा-मरणसे सुरक्षित रखसके, एक सीमा मानलेना चाहिए जिससे कम मजूरीका होना रहनेके लिए सम्भव नहीं।

मजूरी कोप सिद्धान्त

भारतवर्में मजूरी दो बातोंपर निर्भर है। एकतो श्रमजीवीकी उत्पादन-शक्तिपर और दूसरे उस कोपपर जो श्रमजीवियोंके पालनार्थ लभ्य है। हम देखचुके है कि पूजी दो प्रकारकी होती है। एकतो स्थायी पूजी और दूसरे प्रत्यावर्तनशील पूजी। हम यह भी देखचुके है कि पूजीकी सहायतासे उत्पादन करनेमें समय लगता है। श्रमजीवी के पास इतनी पूजी तो होती नही कि वह वस्तुओंके तैयार होनेसे लेकर बिकनेके समय तक प्रतीक्षा करले। इसकारण व्यवस्थापकको उत्पादनके लिए केवल स्थायी पूजीका ही प्रबन्ध नहीं करना पडताहै परन्तु श्रमजीवियोंको अपनी दिन प्रतिदिनकी आवश्यकताओंको पूरा करनेके लिए भुगतानभी देना पडता है। यह भुगतान वह अपनी प्रत्यावर्तनशील पूजीमें से करता है। इसकारण प्राचीन अर्थशास्त्रियोंने समझा कि मजूरी पूजीकी उस मात्रासे सीमित है जो व्यवस्थापकको श्रमजीवियोका भुगतान करनेके लिए उपलब्ध है। इस उपलब्ध मात्राका नाम उन्होंने मजूरीकोप रखा। इस कोपकी मात्रामें परिवर्तन न होनेपर मजूरी श्रमकी पूर्तिपर निर्भर रहती है। यदि श्रमजीवियोंकी सख्यामें वृद्धि होजाये तो मजूरी कम होजायेगी और यदि उन की सख्यामें कमी होजाये तो अधिक। परन्तु मजूरी कोप सिद्धान्तके प्रतिपक्षियोंके मतमें भी मजूरीका जीवित मात्र रहनेसे अधिक होना तबतक सम्भव नही जबतक कि पूंजीकी वृद्धि जन-सख्या में वृद्धिसे अधिक न हो। परन्तु माल्थसके जन-सख्या सिद्धान्तके अनुसार पूजीमें वृद्धिका जन-सख्यामें वृद्धिसे अधिक होना तो दूर रहा सदैव न्यून रहनाही निश्चित था। इसकारण श्रमजीवियोंकी मजूरीका केवल जीवित रहनेके लिए पर्याप्त मात्रासे अधिक होना प्राय: असम्भवसा ही मानाजाता था। अन्ततोगत्वा लोह-सिद्धान्त और मजूरी कोप सिद्धान्त दोनो मजूरीको श्रमजीवी और उसके कुटुम्बके पालन पोषणके व्ययसे सम्बन्धित करते थे।

सीमान्त उत्पत्ति सिद्धान्त

एडम स्मिथने मजूरीके श्रमजीवी द्वारा उत्पत्तिपर निर्भर होनेकी ओरभी सकेत किया था। श्रमजीवीको मजूरी इसलिए मिलतीहै क्योंकि वह ऐसी वस्तुओंके उत्पा-

दनमें सहायता देताहै जिनका मौद्रिक मूल्य होता है। कोईभी व्यवस्थापक किसी विशेष श्रमजीवीको उसके नियोगके कारण प्राप्त उत्पत्तिसे अधिक मजूरी नही देता। हम यहभी जानतेहैं कि यदि अन्य उत्पादनके साधनोंमें परिवर्तन किये विना श्रमजीवियोंका अधिकाधिक मात्रामें नियोग करते चलेजायेंगे तो उनके नियोग द्वारा प्राप्त उत्पत्तिकी मात्रामें क्रमश: ह्रास होता चलाजाता है। इसप्रकार व्यवस्थापक सीमान्त श्रमजीवीको उसके नियोगके कारण प्राप्त उत्पत्तिकी मात्राके मूल्यसे अधिक मजूरी तो देगा नहीं। परन्तु हम यहभी जानतेहैं कि एकही बाजारमें एकही समय पर एकही वस्तुका एक मूल्य होनाभी आवश्यक है। इसकारण सब श्रमजीवियोंको वही मजूरी मिलेगी जो सीमान्त श्रमजीवी को। इसप्रकार सीमान्त श्रमजीवी द्वारा प्राप्त उत्पत्तिकी मात्राके मूल्यसे मजूरी निर्धारित करनेवाले सिद्धान्तको मजूरीका सीमान्त उत्पत्ति सिद्धान्त कहते है। पूर्ण प्रतिस्पर्धाकी स्थितिमें मजूरी सीमान्त श्रम द्वारा उत्पत्तिके मूल्यसे न अधिक होसकती है और न न्यून। यदि सीमान्त श्रमजीवी द्वारा प्राप्त उत्पत्तिकी मात्राका मूल्य मजूरीसे अधिकहो तो व्यवस्थापकके दृष्टिकोणसे एक और श्रमजीवीको नियुक्त करनेमें लाभ होगा। यदि मजूरी सीमान्त श्रमजीवीकी उत्पत्तिकी मात्राके मूल्यसे अधिकहो तो एक श्रमजीवीकी उत्सृष्टिसे व्यवस्थापक उसके नियोगसे होनेवाली हानिको बचासकता है।

इन सब सिद्धान्तोंमें गुणभी है और दोषभी। मजूरीके केवल जीवित मात्र रहने के लिए पर्याप्त मात्र होनेका सिद्धान्त तभी पूर्णतया लागू होसकता है जब पूर्ण प्रतिस्पर्धा हो, भूमिकी अत्यन्त न्यूनता हो और जनसंख्या पूरे वेगसे बढ़तीचली जा रही हो। परन्तु व्यवहारमें इन तीनोंमें से एकभी पूर्णरूपेण अपना प्रभाव नहीं दिखला पाता है परन्तु इस सिद्धान्तमें इतना सत्य अवश्य है कि उत्पादन कार्यमें अन्य साधनोंकी अपेक्षा जनसंख्याकी न्यूनताको मजूरी निर्धारित करनेमें विशेष महत्व प्राप्त है। मजूरी कोष सिद्धान्त हमारा ध्यान इस सत्यकी ओर आकृष्ट करता है कि वास्तविक मजूरी अर्थात् वह वस्तुए और सेवाए जिनका श्रमजीवियों द्वारा उपभोग होताहै वर्तमान समयमें किये गये श्रम द्वारा नहीं परन्तु भूतकालमें किये गये श्रमसे ही उत्पन्न कीगयी थी। इस सिद्धान्त द्वारा मजूरीके श्रमजीवियोंको प्राप्त होनेमें विलम्ब से भी हम परिचित होजाते हैं। परन्तु वास्तविक मजूरीपर प्रत्यक्ष तथा परोक्षरूप से प्रभाव डालनेवाले कारणोंका इस सिद्धान्तसे हमें कुछभी ज्ञान प्राप्त नहीं होता।

इसीप्रकार मजूरी कोषको सदैवके लिए स्थिर माननाभी भूलहै। राष्ट्रीय आयमें परिवर्तन होनेसे इसमें परिवर्तन होतेरहते है। इसका समर्थन इस बातसे होताहै कि आर्थिक दृष्टिसे उन्नतिशील देशोमें प्राय: मजूरी बढ़तीही रहतीहै क्योंकि श्रमजीवियोंके नियोगके लिए उपलब्ध पूजीमें वृद्धि होती रहती है। बहुतसे अर्थशास्त्री तो सीमान्त उत्पत्ति सिद्धान्त और मजूरी कोष सिद्धान्तमें एकता सिद्ध करनेका प्रयत्न करतेहै क्योकि दोनोंके अनुसार श्रमजीवियोंकी संख्यामें वृद्धि होनेके कारण उनकी मजूरीमें कमी होनेकी सम्भावना है। सीमान्त उत्पत्तिके सिद्धान्तका विवेचन हम अन्य स्थानपर करचुके है। इस स्थानपर केवल इतना कहदेना पर्याप्त होगा कि श्रमजीवी द्वारा प्राप्त उत्पत्ति केवल श्रमजीवीकी कुशलता परही नही परन्तु अन्य साधनोके कुशल प्रयोग परभी निर्भर रहती है। इन साधनोमें परिवर्तनके कारणभी श्रमजीवीकी उत्पादन शक्तिमें परिवर्तन होसकता है। कई एक अर्थशास्त्रियोंने श्रमजीवी वर्गको राष्ट्रीय उत्पत्तिका केवल शेषाधिकारी मात्र ठहराया है। उनके कथनानुसार अन्य साधनोके अधिकार पहिलेसे ही निश्चित तथा अग्रिम है। उनका भुगतान दिये जानेके अनन्तर जो शेष रहताहै वह श्रमजीवी वर्गका भाग है और कुशलतामें वृद्धिका सम्पूर्ण लाभ इसी वर्गको मिलता है। इस सिद्धान्तको मजूरीका शेषाधिकार सिद्धान्त कहते है।

मजूरी का आधुनिक सिद्धान्त

आधुनिक अर्थशास्त्री श्रमकी पूर्ति, माग तथा मूल्योमें सन्तुलनके स्थापित होनेको ही मजूरी का पूर्ण सिद्धान्त मानते है। किसी विशेष समय पर अन्य साधनोंकी मात्राको परिवर्तनरहित रखनेसे किसी विशेष मूल्य पर श्रमकी सम्पूर्ण पूर्तिका नियोग सम्भव होसकता है। इस मूल्यको सन्तुलन मूल्य कहते है। इस मूल्यपर श्रमकी माग और पूर्ति सम होजाती है। इस माग और पूर्तिमें समय समय पर परिवर्तन होते रहतेहैं और इनके कारण नये नये सन्तुलन स्थापित होते रहते है।

पूर्तिकी दृष्टिसे किसी उद्योगधन्धेमें किये जानेवाले प्रयास तथा श्रमको और श्रमजीवीके जीवन स्तरको विशेष महत्व प्राप्त है। श्रम कार्य करने की अवधि, कार्यकी आकृष्टता तथा मात्रा, कार्यस्थानके वातावरण, शिक्षण-व्यय

और नौकरीके नैरन्तर्यसे न्यूनाधिक रोचक होसकता है। जीवन स्तर प्रचलित रूढियोसे निर्धारित होता है। इसीप्रकार मागकी दृष्टिसे उत्पत्ति महत्वपूर्ण है और उत्पत्ति कार्य कौशल पर निर्भर है। इन सबका उचित स्थानपर विवेचन करदेने से पूर्व यह कह देना आवश्यकहै कि माग और पूर्तिके द्वारा निर्धारित मूल्योका एकसा होनाभी पीगूके मतानुसार आवश्यक नही। मजूरीकी प्रवृति किसी विशेष विन्दुकी ओर नही होती। परन्तु वह दो विन्दुओके मध्यवर्ती प्रदेशमें अनिश्चित भी रहती है। सीमान्त उत्पत्ति द्वारा निर्धारित व्यवस्थापकोका विन्दु उस अधिकतम मजूरीका द्योतकहै जो व्यवस्थापक देसकते है श्रमकी न्यूनाधिक रोचकता तथा जीवनस्तर श्रमिक द्वारा स्वीकृत न्यूनतम मजूरीकी विन्दुके द्योतक है। सन्तुलनका विन्दु इन दो विन्दुओके मध्यमें कहीपर होगा। उसका स्थान व्यवस्थापकों और श्रमजीवियो की सापेक्ष सौदा करनेकी शक्ति पर निर्भर रहता है। श्रमजीवियोके अधिक शक्तिशाली होनेपर मजूरी उनकी सीमान्त उत्पत्तिके लगभग होगी और व्यवस्थापकोके अधिक शक्तिशाली होनेपर उनके जीवन स्तरपर होनेवाले व्ययके आसपास। अल्पकालमें मजूरी ऊपर कहेगये प्रकारसे निश्चित होतीहै परन्तु दीर्घकाल में माग और पूर्तिमें परिवर्तनोके कारण श्रमकी कार्य कुशलतामें और फलस्वरूप मजूरीमें भी परिवर्तन होनेकी सम्भावना रहती है।

प्राचीन अर्थशास्त्री विशेषकर रिकार्डो और उसके अनुयायी ऐसा विश्वास प्रकट करतेथे कि मजूरीमें स्थायी रूपसे वृद्धि होना असम्भवहै क्योंकि इस वृद्धिके कारण जनसख्या और फलतः श्रमकी पूर्तिमें वृद्धि होनेके कारण मजूरी फिर मौलिक स्तरको प्राप्त करलेती है। परन्तु श्रमजीवियो की कार्य-कुशलताके फलस्वरूप उनके मजूरी-स्तर में भी वृद्धि होसकती है। मजूरीमें वृद्धि होनेसे जीवन-स्तर में भी स्थायी रूपमें उत्कृष्टता आसकती है और इसके कारण कार्य कुशलतामें औरभी वृद्धि होसकती है। उनके मतसे ऊची मजूरी द्वारा उपलब्ध मितव्ययिताके सिद्धान्तका आविष्कार हुआ। इस सिद्धान्तके अनुसार अधिक मजूरी देनेसे किसी वस्तुके उत्पादन-व्ययमें श्रमके व्ययको कम किया जासकता है क्योंकि अधिक मजूरी देनेसे श्रमजीवियोंकी कार्य-कुशलतामें सापेक्ष रूपमें अधिक उन्नति होनेसे उत्पत्तिकी मात्रामें वृद्धि होगी और इसकारण मजूरी अधिक होतेहुए भी वस्तुकी प्रत्येक इकाईपर होनेवाले व्यय में कमी होगी। मार्शलके विचारमें तो किसीभी व्यवसायमें मजूरी कौशल [illegible]

कारण। व्यवहारमें भी देखनेमें आताहै कि कई व्यवसायोमें मजूरी इसकारण अधिक होतीहै कि उनमें काम करनेवाले श्रमजीवियो का जीवन-स्तर और फलस्वरूप कार्यक्षमता अधिक है। परन्तु अन्य व्यवसायोमें विशेषकर सार्वजनिक पदाधिकारियो को मजूरी इसलिए अधिक दीजाती हैं कि उनका जीवन-स्तर उच्च हो। परन्तु वे विद्वान भी जो जीवन-स्तरको उत्पादन शक्ति फलत मजूरीका फल मानते है, स्वीकार करतेहै कि दीर्घकालमें जीवन-स्तर जनसख्या पर प्रभाव डालकर श्रमकी पूर्तिमें परिवर्तनो द्वारा मजूरीके न्यूनाधिक होनेका कारण होसकता है। यदि जीवन-स्तरको सुरक्षित रखनेके लिए श्रमजीवी सन्तति निरोध आदि उपायोसे श्रमकी पूर्तिमे न्यूनता उत्पन्न करनेमें सफल होसकें तो श्रमद्वारा प्राप्त सीमान्त उत्पत्तिमें वृद्धि होनेके कारण मजूरीमें भी वृद्धि होसकती है। पाश्चात्य देशोके श्रमजीवियो ने कुटुम्बको सीमित रखकर जीवन-स्तर पतनकी प्रवृत्तिको रोकनेका प्रयत्न किया है।

अपूर्ण प्रतिस्पर्धा और मजूरी

उपरिलिखित सिद्धान्तोकी केवल पूर्ण प्रतिस्पर्धाकी स्थितिमे क्रियान्विति सम्भवहै परन्तु श्रम-बाजारमें इस स्थितिको प्राप्त करनेके पथमें अनेक बाधाए है। सबसे पहिले गतिशीलता को ही लेलीजिए। श्रमजीवीको एकस्थानसे दूसरे स्थानपर जानेके लिए, विशेषत: विवाहित श्रमजीवीको, प्राय. उसकी मजूरीमें आशातीत वृद्धिका प्रलोभनभी उद्यत करनेमे असमर्थ सिद्ध होता है। यातायातके साधनोमें आश्चर्य-जनक उन्नतिके कारण गतिशीलता बढनेपर भी प्रतिस्पर्धाकी मजूरी समीकरण शक्ति पूर्णतया कार्य नही करपाती, एक व्यवसायको छोडकर दूसरेको अपनाना तो और भी कठिन है। इसीकारण केरनस ने अप्रतिस्पर्धी यूथोके सिद्धान्तकी रचना की थी। उनके मतानुसार उत्पादक वर्गको इसप्रकार यूथोमे विभाजित किया जासकता है कि प्रत्येक यूथके सदस्योमे परस्पर तो प्रतिस्पर्धा सम्भवहै परन्तु एक यूथ की दूसरे यूथसे नही। सत्यभी है कि अशिक्षित श्रमजीवियो [illegible] [illegible] स्पर्धा होसकती है जब वह स्वयं शिक्षित होजाए। परन्तु शिक्षा प्राप्त [illegible] सुविधाएं बढ जानेपर भी यह कार्य उतना सरल नही।

[illegible] श्रमोमे भी कार्यकौशल [illegible] [illegible] सम्भव नही। कुछ

उस समय तक कम होतीहै जबतक कि मजूरीमें वृद्धि करनेसे कार्य कौशल में सापेक्ष रूपसे अधिक उन्नति होती रहती है। यह उन्नति कम मजूरी पानेवाले श्रमजीवियो की मजूरीमें वृद्धि करनेसे तो अवश्यम्भावी है, क्योंकि उस वृद्धिका आहार, वस्त्र और निवासस्थान आदिको श्रेष्ठ बनानेके लिए प्रयोगमें लायाजाना निश्चितसा ही है। परन्तु श्रमजीवियोकी सामाजिक स्थितिमें उन्नति होनेके अनन्तर कीगयी मजूरीमें वृद्धि पूर्ववत् लाभदायक नही होती क्योंकि अब इस वृद्धिका अधिकांश भोगविलास पर खर्च होनेकी सम्भावना है। इसप्रकारका व्यय कमसे कम पहिलेके समान प्रत्यक्ष रूपमें उत्पादन शक्तिपर प्रभाव नहीं डालता। स्मरण रहे कि मजूरीमें वृद्धिसे हमारा अभिप्राय मौद्रिक मजूरीमें वृद्धिसे नही किन्तु श्रमिक की वास्तविक आयमें वृद्धिसे है और यह कई प्रकारसे की जासकती है, केवल मौद्रिक मजूरीमें वृद्धि करनेसे नही। मौद्रिक मजूरी पूर्ववत् रहने देकर भी श्रमजीवीके लिए अधिक अवकाश, श्रेष्ठ आहार तथा निवासस्थान, उत्तम शिक्षा और इसीप्रकारकी अन्य सुविधाओंका जो उसकी कार्य-क्षमता बढानेमें सहायता दें, प्रबन्ध करदेनेका अर्थभी उस आयमें वृद्धि करदेना ही होगा।

इस स्थानपर हम यह उल्लेख करदेना आवश्यक समझते है कि पूर्तिकी दृष्टिसे मजूरी स्तरके उस समय उच्चतम होनेकी सम्भावनाहै जबकि किसी विशेष समय पर श्रमकी पूर्ति केवल उतनीहो जितनी उस समय उपलब्ध उत्पादनके अन्य साधनोंसे अधिकतम उत्पत्ति प्राप्त करनेके लिए आवश्यक है। जबतक श्रमकी पूर्ति इस मात्रासे कम होगी तो उसकी मात्रामें वृद्धि होनेपर भी मजूरोकी वृद्धि होनेकी सम्भावना है।

जीवन-स्तर और मजूरी

जीवन-स्तर और मजूरीमें परस्पर कार्य कारणके सम्बन्धको सभी अर्थशास्त्री स्वीकार करते है परन्तु इनमेंसे कौनसा कार्य और कौनसा कारण है उसपर मतैक्य नही। हम देखही चुकेहै कि जीवन-स्तर को कार्यकुशलता का कारण भी माना जासकता है और फल भी। इसकारण मजूरी जो उत्पादन शक्तिपर निर्भर रहती है, किसी समयपर जीवन-स्तर का फल होसकती है और किसी अन्य समयपर

कारण। व्यवहारमें भी देखनेमें आताहै कि कई व्यवसायोमें मजूरी इसकारण अधिक होतीहै कि उनमे काम करनेवाले श्रमजीवियो का जीवन-स्तर और फलस्वरूप कार्यक्षमता अधिक है। परन्तु अन्य व्यवसायोमें विशेषकर सार्वजनिक पदाधिकारियो को मजूरी इसलिए अधिक दीजाती है कि उनका जीवन-स्तर उच्च हो। परन्तु वे विद्वान भी जो जीवन-स्तरको उत्पादन शक्ति फलत मजूरीका फल मानते है, स्वीकार करतेहै कि दीर्घकालमें जीवन-स्तर जनसख्या पर प्रभाव डालकर श्रमकी पूर्तिमे परिवर्तनो द्वारा मजूरीके न्यूनाधिक होनेका कारण होसकता है। यदि जीवन-स्तरको सुरक्षित रखनेके लिए श्रमजीवी सन्तति निरोध आदि उपायोसे श्रमकी पूर्तिमें न्यूनता उत्पन्न करनेमें सफल होसकें तो श्रमद्वारा प्राप्त सीमान्त उत्पत्तिमें वृद्धि होनेके कारण मजूरीमें भी वृद्धि होसकती है। पाश्चात्य देशोके श्रमजीवियो ने कुटुम्बको सीमित रखकर जीवन-स्तर पतनकी प्रवृत्तिको रोकनेका प्रयत्न किया है।

अपूर्ण प्रतिस्पर्धा और मजूरी

उपरिलिखित सिद्धान्तोकी केवल पूर्ण प्रतिस्पर्धाकी स्थितिमे क्रियान्विति सम्भवहै परन्तु श्रम-बाजारमें इस स्थितिको प्राप्त करनेके पथमे अनेक बाधाए है। सबसे पहिले गतिशीलता को ही लेलीजिए। श्रमजीवीको एकस्थानसे दूसरे स्थानपर जानेके लिए, विशेषत. विवाहित श्रमजीवीको, प्राय: उसकी मजूरीमें आशातीत वृद्धिका प्रलोभनभी उद्यत करनेमे असमर्थ सिद्ध होता है। यातायातके साधनोमें आश्चर्य-जनक उन्नतिके कारण गतिशीलता बढनेपर भी प्रतिस्पर्धाकी मजूरी समीकरण शक्ति पूर्णतया कार्य नही करपाती, एक व्यवसायको छोड़कर दूसरेको अपनाना तो और भी कठिन है। इसीकारण केरनस ने अप्रतिस्पर्धी यूथोके सिद्धान्तकी रचना की थी। उनके मतानुसार उत्पादक वर्गको इसप्रकार यूथोमें विभाजित किया जासकता है कि प्रत्येक यूथके सदस्योमें परस्पर तो प्रतिस्पर्धा सम्भवहै परन्तु एक यूथ की दूसरे यूथसे नही। सत्यभी है कि अशिक्षित श्रमजीवियोकी शिक्षित श्रमजीवियोसे [illegible] प्रतिस्पर्धा होसकती है जब तक इनमें [illegible] होजाय। परन्तु शिक्षा प्राप्त [illegible] सुविधाएं बढ जानेपर भी यह कार्य इतना सहज नही।

[illegible] यूथके सदस्योमें भी सार्वभौमिक [illegible] हो होना सम्भव नहीं। [illegible]

सदस्य दूसरोंसे अधिक कुशल होंगे। यदि सबको एकसी मजूरी दीजाय तो अधिक कुशल श्रमजीवियोंको उनके द्वारा प्राप्त सीमान्त उत्पत्तिके मूल्यसे कम मजूरी मिलेगी और कम कुशल श्रमजीवियोंको उनकी सीमान्त उत्पत्तिके मूल्यसे अधिक। अधिक कुशल लोग कार्यत्यागकी धमकी देकर अपनी मजूरी सीमान्त उत्पत्तिके मूल्यके सम करवा लेंगे और कम कुशल लोगोंको व्यवस्थापक उन्मूष्टिका भय देकर मजूरी उनकी सीमान्त उत्पत्तिके मूल्यके सम करदेगा और इसप्रकार एकही यूथके सदस्योंकी भिन्न भिन्न मजूरी होगी। इस भिन्नताकी व्याख्या अर्थशास्त्रियोंने इस प्रकार की है कि प्रतिस्पर्धाके कारण अकुशलतम श्रमजीवियों को तो एकसी मजूरी मिलती है। यदि इस मजूरीको प्रमाण मान लियाजाय तो अधिक कुशल श्रमजीवी अपनी अपनी कुशलताके अनुसार मजूरी प्राप्त करपातेहैं अथवा प्रतिस्पर्धा द्वारा समकुशल श्रमजीवियों की मजूरी एकसी होनेके अतिरिक्त उनका कुशलताके अनुसार वर्गीकरणभी होजाता है। यों तो फिर एकही यूथके सदस्योंमें क्या असम्बन्धित श्रम करनेवालोंमें परोक्षरूपमें प्रतिस्पर्धा विद्यमानही रहतीहै! क्योंकि व्यवस्थापक भी तो निश्चित नही करपाते कि उन्हें इसप्रकार का श्रम करनेवाले एक और श्रमजीवीकी नियुक्ति करनी चाहिए अथवा उसप्रकार का श्रम करनेवाले की। व्यवस्थापकों तथा श्रमजीवियोंमें संगठनके कारणभी श्रमबाजारोंमें पूर्ण प्रतिस्पर्धा कार्यशील नही होपाती। व्यवस्थापक लोग व्यवस्थापक संघोंको स्थापित करके श्रमजीवियों को उनके द्वारा प्राप्त सीमान्त उत्पत्तिके मूल्यसे कम मजूरी देनेका प्रयत्न करतेहै और यदि श्रमजीवी इस मजूरीपर काम करना स्वीकार न करके मजूरी बढानेके लिए आग्रह करें तो व्यवस्थापक संघ द्वारताल की घोषणा करदेते हैं। व्यवस्थापकोंके पास तो बेकारी सहन करनेके लिए पर्याप्त मात्रामें पूंजी होतीहै परन्तु श्रमजीवियोंको यह सौभाग्य प्राप्त नही होता। उन्हें अन्तमें व्यवस्थापकोंके आगे झुकनाही पडता है। उनके इस दौर्बल्यको दूर करनेके लिए श्रमजीवियोंको श्रमजीवी संघों द्वारा संगठित करनेका प्रयत्न कियागया है। यदि व्यवस्थापक संघ श्रमजीवियोंको उनकी सीमान्त उत्पत्तिके मूल्यसे कम मजूरी देना निश्चित करतेहैं तो श्रमजीवी संघ हडतालकी घोषणा करदेते हैं। मजूरी इसकारण व्यवस्थापक और श्रमजीवी संघोंके तुलनात्मक संघर्षसे निर्धारित होती है, पूर्ण प्रतिस्पर्धासे नही। श्रमजीवी संघ अपने व्यवसायमें नये लोगोंके प्रवेशपर प्रतिबन्ध लगाकरभी पूर्ण

प्रतिस्पर्धाके कारण होनेवाले पूर्ति परिवर्तनो का नियन्त्रण करनेमे सफलता प्राप्त करलेते है। सुशिक्षित और विशिष्ट श्रमजीवियोंके सघ विशेष रूपसे शक्तिशाली होते है।

इस स्थानपर यह कहदेना आवश्यक होगा कि व्यवस्थापक और श्रमजीवी सघो की सहायतासे प्रतिस्पर्धा द्वारा निश्चित मजूरी-स्तरसे कम अथवा अधिक मजूरी देने लेनेकी शक्ति सीमित हैं। मान लीजिए कि व्यवस्थापक सघ अपने उद्देश्यकी पूर्ति करनेमें सफल होजाते है। मजूरी प्रतिस्पर्धा द्वारा निश्चित स्तरसे कम होनेके कारण व्यवस्थापकोको अधिक लाभ प्राप्त होगा। नये व्यवस्थापक नयी सस्थाओ को स्थापित करदेंगे और श्रमकी मागमें वृद्धि होनेसे मजूरी फिर बढजायेगी। यदि श्रमजीवी सघ प्रतिस्पर्धा द्वारा निश्चित मजूरी स्तरसे अधिक मजूरी प्राप्त करलेते है तो व्यवस्थापकोके लाभमें कमी होगी। इस कमीसे बचनेके लिए उनके पास तीन प्रतिकार है। पहिलातो यह कि वे श्रमके स्थानपर पूजीकी प्रतिस्थापना करनेकी चेष्टा करेंगे। श्रमकी मागमें कमी होनेके कारण मजूरी कम होजायेगी अथवा लाभ में कमी आनेसे बहुतसे व्यवस्थापक अधिक लाभप्रद धन्धोमें पूजीका परिवर्तन कर लेंगे। इसकारण भी श्रमकी मांगमें कमी होगी। ऐसाभी होसकता है कि व्यवस्थापक उत्पन्न वस्तुके मूल्यमें वृद्धि करके उच्च मजूरीके भारको उपभोक्ताओंके कन्धो पर डालनेका प्रयत्न करें, परन्तु यह तभी सम्भवहै जब वस्तु विशेषकी माग लोच-रहित हो अन्यथा उच्च मजूरीके कारण श्रमजीवियोंकी बेकारीमें वृद्धि होनेकी ही सम्भावना है। इसकारण सरकार द्वारा निश्चित न्यूनतम मजूरी श्रमजीवियोंका हित करनेके स्थान हानिकर होसकती है। वे श्रमजीवी जिनकी सीमान्त उत्पत्तिकी मात्राका मूल्य इसप्रकार निश्चित न्यूनतम मजूरीसे कमहै, उत्सृष्ट करदिये जायेंगे और सदैवके लिए बेकार रहेंगे। परन्तु न्यूनतम मजूरी प्रायः स्वेदपूर्ण श्रम लेनेवाले उद्योग-धन्धोमें काम करनेवालोंके लिएही निश्चित कीजाती है। ऐसे उद्योग धन्धो द्वारा निर्मित वस्तुओंके मूल्यमें वृद्धि करना प्रायः सम्भव होता है। इसकारण व्यवस्थापक मजूरीमें वृद्धिका बोझ उन वस्तुओंका उपभोग करनेवालोंके कन्धोंपर डालनेमें सफल होपाते हैं। इसके अतिरिक्त यदि मजूरी श्रमजीवियोंके शारीरिक अथवा मानसिक स्वास्थ्यको उपयुक्त स्तरपर स्थिर रखनेके लिए पर्याप्त न हो तो उसकी वृद्धिके कारण उत्पादन-शक्तिमें वृद्धि होनेसे वास्तविक उत्पादन-व्ययमें कमी हो

सकतीहै और यदि व्यवस्थापक असामान्य लाभ उठाकर श्रमजीवियोंका शोषण कर रहेहों तो भी मजूरी अधिक करदेने पर उनके द्वारा प्राप्त श्रमकी मागमें कमी होनेकी सम्भावना नहीं है।

नये आविष्कार और मजूरी

नये नये आविष्कारो द्वारा उत्पादन विधिमें होनेवाले परिवर्तनोंका मजूरीपर मिश्रित सा प्रभाव पडता है। आविष्कृत यन्त्र या तो श्रमकी बचत करनेवाले होतेहै या पूंजी की। श्रमकी बचत करनेवाले यन्त्रोके प्रचलित होनेसे प्राप्त श्रमकी मात्रा आवश्यकतासे अधिक होजाती है और पूजीकी बचत करनेवाले यन्त्रोके प्रचलित होनेसे पूजीकी मात्रा आवश्यकतासे अधिक होजाती है। पहिली अवस्यामें मजूरी कम होगी और दूसरीमें व्याज। अधिकतर यन्त्र, श्रम और पूजी दोनोकी बचत करते है। मजूरीपर उन यन्त्रोकी प्रतिक्रिया प्रतिकूल होगी, जो पूजीसे श्रमकी अधिक बचत करतेहो। दीर्घकालमें आर्थिक प्रगति श्रमजीवियोंकी वास्तविक मजूरीमें वृद्धिका ही कारण होगी, क्योकि अधिक उत्पादनकारी यन्त्रोके आविष्कृत होनेपर राष्ट्रीय आय में वृद्धि होगी और इसकारण श्रमजीवियोको मिलनेवाले राष्ट्रीय आयके भागमें निरपेक्ष रूपमें तो अवश्य ही वृद्धि होगी। सापेक्ष रूपमें उनका भाग पहिलेसे भी कम होसकता है क्योकि यदि उत्पत्तिकी मात्रामें वृद्धिका अधिकाश पूजीपति ही हडप करलें तो श्रमजीवियोको थोडाही अश प्राप्त होगा।

मजूरी-भुगतान

मजूरीका भुगतान दो प्रकारसे कियाजाता है। एकतो समयके अनुसार और दूसरे उत्पत्तिकी मात्राके अनुसार। पहिली अवस्थामें श्रमजीवीको प्रतिघटे अथवा प्रतिदिनके श्रमकी निश्चित मजूरी दीजाती है और दूसरी अवस्थामे एक ऐसे श्रमजीवी की मजूरी जो न अत्यन्त कुशल हो न अत्यन्त अकुशल, उसके द्वारा प्राप्त उत्पत्तिकी मात्राकी सहायतासे निश्चित करली जातीहै और उसे प्रामाणिक मानकर अधिक उत्पादन करनेवालो को अधिक और न्यून उत्पादन करनेवालो को कम मजूरी दी

जाती है। भुगतानके इन दोनो ढगोंको एकत्रितभी किया जासकता है। न्यूनतम मजूरी तो समयके अनुसार निश्चित की जासकती है और फिर उत्पत्तिकी मात्राके अनुसार मजूरी पूरकके रूपमें दी जासकती है। कभी कभी श्रमजीवियो को प्राप्त लाभका कुछ भाग बाट दियाजाता है। यह सब ढग श्रमजीवियोको प्रोत्साहन देने के है। श्रमजीवियोको उत्पत्तिकी मात्राके अनुसार मजूरी भुगतानका ढग प्राय: प्रिय नही होता; क्योकि उनके मतानुसार व्यवस्थापक उन्हें अधिक मजूरी कमाते देख प्रामाणिक मजूरी कम करदेते है।

हडताल अथवा द्वारतालसे होनेवाली हानिको रोकनेके लिए श्रमजीवियो और पूंजीपतियोके आपसी झगड़ोको निपटानेका कार्य सौमनस्य स्थापन सभाओ और पचोको सौंपा जाता है। पचनिर्णय उसी दशामें सफल होसकता है जबकि पच स्वयं दोनो दलोके विश्वासका पात्र हो।

२०

व्याज और उसके सिद्धान्त

शुद्ध तथा मिश्रित व्याज

पाश्चात्य देशोमें जब औद्योगिक क्रान्ति हुई तो उद्योगधन्धोंके व्यवस्थापक तथा प्रबन्धक प्राय: पूजीपतिही थे। इसकारण तत्कालीन अर्थशास्त्रियो ने व्याज और लाभको एकही समझकर लाभको पूजीसे सम्बन्धित करनाही उचित समझा। परन्तु सन् १८५० में सीमित दायित्व विधानके पास होनेके अनन्तर संयुक्त पूजी कम्पनियो का प्रादुर्भाव हुआ और पूजी उधार लेकर उद्योगधन्धोको स्थापित करना अथवा व्यापार चलाना सम्भव होगया। पहिले व्यवस्थापक अथवा उद्योगपतिका पूंजीपति होना आवश्यक था। अब वह पूजी ऋणके रूपमें प्राप्तकर अपना कार्य चला सकता था। इसकारण व्याज और लाभमें भेद करनेकी आवश्यकता हुई। शुद्ध व्याजका तात्पर्य उस भुगतानसे है, जो उद्योगपति द्वारा पूजीकी उत्पादनके साधनके रूपमें सेवा प्राप्त करनेके लिए पूजीपतिको दियाजाता है। वास्तवमें पूजीपतिको किये जानेवाले भुगतानमें शुद्ध व्याजके अतिरिक्त उसके द्वारा प्राप्त कई अन्य सेवाओंके परितोषणका अश भी सम्मिलित होता है। पूजी ऋणपर देनेके लिए ऋणदाताको कई प्रकारके कष्ट तथा आपत्तिया उठानी पडती है। ऋणका हिसाब किताव रखनेके लिए बहीखाते रखने पडते है। दियेहुए ऋणकी उद्योग धन्धेके सफल न होनेपर अथवा ऋणीके छलकपट के कारणभी न मिल सकनेकी सम्भावना रहती है। इन सब कारणोसे मिश्रित व्याजकी दर बहुत अधिक होनेपर ऐसाभी होसकता है कि शुद्ध व्याजकी दर बहुत अधिक न हो। ऋणदाता इसप्रकार की आपत्तियोसे अपने आपको बीमा कम्पनियो द्वारा सुरक्षित करसकते है; परन्तु बीमा कम्पनियोको दिया जानेवाला अधिक शुल्क शुद्ध व्याजमें सम्मिलित करना आवश्यक होजाता है। यही कारणहै कि उस ऋणके व्याजकी दरमें जिसमें कि परिश्रम आपत्ति इत्यादिके अश सम्मि-

लित होते है, भिन्न भिन्न स्थानोपर ही नही परन्तु एकही स्थानपर भिन्न भिन्न व्यवसायो और भिन्न भिन्न पुरुषोके लिए उनकी जोखिम तथा साखके अनुसार भिन्नता होती है। परिश्रम और जोखिमके लिए प्राप्त अशको निकाल देनेके बाद शुद्ध व्याजका पूर्ण प्रतिस्पर्द्धाकी दशामें एकही बाजारमें एकही होना न्याययुक्त है। कठिनता यहहै कि परिश्रम और जोखिमके लिए प्राप्त अशका पृथक करना इतना सरल नही, जितना कि प्रतीत होता है।

व्याज की दर

समय समय पर शुद्ध व्याजकी दरमें भी माग तथा पूर्तिमें परिवर्तनोके कारण परिवर्तन होते रहते है। अल्पकालमें इस दरमें परिवर्तन ऋण लेनेवाले व्यवस्थापक इत्यादि लोगोकी आवश्यकताओ और ऋण देनेवाले बैंको इत्यादिके सामर्थ्यमें दिन प्रतिदिनके परिवर्तनो पर निर्भर रहते है। परन्तु दीर्घकालमें इनका सम्बन्ध उद्योग धन्धो द्वारा माग और वास्तविक बचतकी पूर्तिसे होता है। मागमें वृद्धि, जनसख्या में वृद्धि होनेके कारणभी होसकती है और पूर्तिमें वृद्धि जनसख्या की चिरकाल तक जीवित रहनेकी आशामें वृद्धि होनेके कारण भी। क्योकि इस दशामें लोग भविष्यके लिए अधिक बचत करनाही उचित समझेंगे। ऐसाभी विचार प्रकट किया जाताहै कि दीर्घकालमें शुद्ध व्याजकी दरकी गिरनेकी ओरही प्रवृत्ति है क्योकि पूजी की पूर्तिमें उसकी मागसे अधिक वृद्धि होती रहती है। प्राचीन अर्थशास्त्रियोकी भविष्यवाणीके अनुसार यद्यपि इस प्रवृत्तिका युद्ध तथा व्यापारकी मन्दी इत्यादिसे विरोध होताहै, फिरभी एकसमय ऐसा आनेवाला है जबकि शुद्ध व्याजकी दर न्यूनतम होजायेगी। यो तो शुद्ध व्याजके दरका शून्यावस्थाको प्राप्त करनाभी असम्भव नही यदि प्रत्येक व्यक्ति बचत करनेकी ही ठानले और मागोमें [illegible]-[illegible] में उस वेगसे वृद्धि न हो जिससे कि पूर्तिमें, तो [illegible] है कि उद्योगपति बिना व्याजकी पूजीभी स्वीकार करलेंगे [illegible] परन्तु [illegible] ऐसा हुआ नही। न्यून दरके कारण उधारकी मागमें कमी होजाती है और [illegible] लगते है। पूजीका बाहुल्य होनेपर लोग इसके लिए अधिक उत्पत्तिप्रद प्रयोग निकाल लेते है। नये नये आविष्कारो तथा होनेवाले उत्पादन-विधिके परिवर्तनो

द्वारा व्याजकी दरपर प्रभाव पड़ताहै इन आविष्कारोके प्रयोगके लिए अधिक पूंजी की आवश्यकता पडती है। इसकारण पूजीकी मागमें वृद्धि होनेसे व्याजकी दरमें भी वृद्धि होनेकी सम्भावना रहती है। परन्तु नवीनताओ का प्रयुक्त कियाजाना उसी दशामें सम्भवहै, जबकि उनसे अधिक उत्पत्ति प्राप्त होनेकी आशाहो। दीर्घ कालमें उत्पत्तिमें वृद्धि होनेके कारण लोगोकी पूजी सचय करनेकी शक्ति बढती है और फलस्वरूप उसकी पूर्तिमें मागसे अधिक वृद्धि होती है। इसलिए होसकताहै कि अन्तमें उत्पादन_विधिमें उन्नति व्याजकी दरके गिरनेका कारण बने।

व्याजकी दरका हमारे आर्थिक अथवा सामाजिक जीवनसे घनिष्ट सम्बन्ध है। हम देखचुके है कि हमारा भौतिक कल्याण हमारी राष्ट्रीय आय तथा हमारी उत्पत्ति की मात्रापर निर्भर है। व्याजकी दर कम होनेमे उद्योगपतिको उत्पादन कार्यमें अधिकाधिक पूजीका प्रयोग करनेकी प्रेरणा मिलती है और पूजीका अधिक प्रयोग होनेके कारण उत्पत्तिकी मात्रामें भी वृद्धि होती है। उत्पादक पुरानी उत्पादन विधियोको तिलाञ्जलि देकर नयी नयी उत्पादन विधियोको अपनाते है। इसके अतिरिक्त पुरानी सस्थाओकी उत्पत्ति बढनेके साथ साथ नयी सस्थाएभी स्थापित होने लगती है। व्याजभी वस्तुओके उत्पादन-व्ययका एक अश है। इसमें कमी होने से उत्पादन-व्ययमें कमी होतीहै और उत्पादन-व्ययमें कमी होनेसे वस्तुओके मूल्यमें कमी। फलस्वरूप उनकी माग बढतीहै और उसे पूरा करनेके लिए नयी सस्थाओका स्थापित करना अनिवार्य होजाता है। हम भलीप्रकार जानतेहै कि उद्योग धन्धोमें काम करनेवाले श्रमजीवियोको ऐसी बस्तियोमें रहना पड़ताहै जो मनुष्य तो मनुष्य पशुओके भी रहनेके योग्य नही। व्याजकी दर गिरनेसे उनके लिए अच्छे मकान बनाये जानेकी सम्भावना है। जहातक राष्ट्रीय आयके वितरणका सम्बन्धहै, व्याज की दरके अधिक होनेसे राष्ट्रीय आयका अधिकाश पूजीपतियोको प्राप्त होताहै परन्तु इसके न्यून होनेसे श्रमिको को। क्योकि प्राय: ऐसा देखनेमे आताहै कि जिन कारणोसे व्याजकी दरमें वृद्धि होतीहै उन्ही कारणोसे श्रमजीवियोकी जीविकामें ह्रास होता है। इसकारण व्याजकी दर बढ़नेपर राष्ट्रीय सम्पत्तिका अन्यायपूर्ण वितरण होनेकी सम्भावना है।

शुद्ध व्याजकी सामान्य दर किसप्रकार निर्धारित होतीहै इसकेलिए आजतक विभिन्न सिद्धान्त निर्मित किये जाचुके है। हम देखचुके है कि शुद्ध व्याज पूजीका

मूल्यहै और अन्य मूल्योंकी भांति पूंजीकी मांग और पूर्तिके सन्तुलनसे निर्धारित होता है। प्रस्तुत सिद्धान्तोंमें से कुछ मांगको महत्त्व प्रदान करते है और कुछ पूर्ति को।

पूंजी की उत्पादनशीलता और ब्याज

शुद्ध ब्याज इसलिए दियाजाता है क्योंकि पूंजीकी सहायतासे श्रमकी उत्पादन शक्ति में यन्त्र उपकरण इत्यादि उत्पादन सामग्री द्वारा वृद्धि होतीहै क्योंकि इन उपकरणों की सहायतासे श्रमिक द्वारा प्राप्त उत्पत्तिकी मात्रा उस समयसे अधिक होतीहै जब कि उसे यह उपकरण अलभ्य थे। कार्ल मेंगर ने उत्पादन कार्यमें प्राप्त पूंजीकी सेवाओंका औरभी गम्भीर विश्लेषण किया है। उनका कथनहै कि अन्तमें उपभोग कीजानेवाली वस्तुओंको उत्पन्न करनेके लिए कच्ची सामग्रीको कई एक मध्यवर्ती अवस्थाओंमें से होकर जाना पड़ता है। उदाहरणके लिए कपासको ही लेलीजिए। पहिले इसे कातकर सूत बनाया जाताहै, फिर सूतसे कपड़ा और अन्तमें कपड़ेसे वस्त्र जिनका उपभोग कियाजाता है, पूंजीकी सहायतासे उत्पादक लोग इन मध्यवर्ती वस्तुओंको उत्पन्न करनेके लिए लगनेवाले समयकी अवधि तक उनको उत्पन्न करनेके लिए श्रमिकोंको प्रयुक्त करनेकी सामर्थ्य प्राप्त करतेहैं और शुद्ध ब्याज पूंजी से प्राप्त इस सेवाका शुल्क रूप है। वाहमबावर्क ने भी ब्याज दिये जानेके कारण बतलाते हुए मेंगर का समर्थन किया है। उनका मतहै कि पूंजीकी सहायता लेकर किसी वस्तुको मध्यवर्ती अवस्थाओंमें से निकालकर उत्पन्न करनेसे उस वस्तुकी उत्पत्तिकी मात्रामें वृद्धि होजाती हैं। इन सिद्धान्तोंकी विशेषता यह है कि वे उत्पादन कार्यमें समयके अंशका भी समावेश करदेते हैं। पूंजीकी सहायतासे वस्तुओंके उत्पादनको छिन्नभिन्न किया जाता है और श्रम-विभाजन तथा विशिष्टीकरण द्वारा कुल उत्पत्तिकी मात्रामें वृद्धि की जाती है और यही वृद्धि ब्याजका आधार है। यदि ब्याजका कारण पूंजीसे प्राप्त उत्पत्तिकी मात्राको मान लियाजाय तो ब्याजका भाग पूंजीके सीमान्त प्रयोगसे प्राप्त उत्पत्ति होगी। इस प्रकार इन सिद्धान्तोंसे ब्याजका सीमान्त उत्पत्ति सिद्धान्त निकालना अनुचित न होगा। परन्तु इसमें कई गुण और दोष विद्यमान हैं, जिनका विवेचन हम अब [illegible] करते हैं।

उपभोग-व्याक्षेप, वट्टा और व्याज

पूर्तिकी दृष्टिसे व्याजका उपभोग-व्याक्षेप तथा वट्टा सिद्धान्त प्रसिद्ध है। सीनियरका मत था कि व्याज पूजीपतिको उपभोग-व्याक्षेप द्वारा उपभोगकी तृष्णा तृप्त न करनेके प्रयत्नका पुरस्कार मात्र है। उपभोग-व्याक्षेप द्वारा बचत करनेके लिए पूजीपतिको कष्ट सहन करना पड़ताहै जिसकेलिए उसको व्याजका प्रलोभन दियाजाना आवश्यक है। सीनियरसे पहिले मिल इत्यादिने उपभोग-व्याक्षेप करनेके लिए कियेगये प्रयत्न को श्रम मानकर इसी सिद्धान्तको श्रम सिद्धान्त का नाम दिया था। उपभोग-व्याक्षेप में कष्टका समावेश होनेके कारण यह आलोचना की जानेलगी कि इस शब्दका प्रयोग उचित नही: क्योकि बचतका अधिकांश ऐसे धनीलोगो द्वारा कियाजाता है जो अपनी आयको उपभोग्य सामग्री पर खर्च करही नही पाते और इसकारण उन्हें बचत करनेके लिए तनिकभी कष्ट नही उठाना पड़ता। मार्शलने उपभोग-व्याक्षेपके स्थान पर प्रतीक्षा शब्दको और कैनन ने संचय को प्रयुक्त करनेकी सम्मतिदी है। वाहम वावर्कके वट्टा सिद्धान्तका संकेत वर्तमानकाल और भविष्यकाल में परस्पर वट्टेसे है। मनोवैज्ञानिको का कथनहै कि प्रत्येक प्राणी किसी वस्तुका वर्तमानमें ही उसके पास होना उस वस्तुके भविष्यमें उसे मिलनेसे अधिक श्रेयस्कर समझताहै क्योकि मनुष्य स्वभावत: वर्तमानमें उपभोगको भविष्यमें उपभोगसे वरीयता देता है। पूजीपति वे लोगहै जिनके पास वर्तमानमें वेचनेके लिए वस्तुएहै क्योकि उन्हें उनकी वर्तमानमें आवश्यकता नही है। मानलीजिए उन वस्तुओ का वर्तमानमें मौद्रिक मूल्य १०५ रुपये और वर्ष भरके अनन्तर भविष्यमें केवल १०० रुपये अनुमान कियाजाता है। उस पूजीपतिको ऐसेभी मनुष्य मिल जायगे जिन्हे उन वस्तुओकी वर्तमानमें ही आवश्यकताहै और जो साल भरके अनन्तर १०५ रुपये देनेका वचन देकर उन वस्तुओको प्रसन्नता से वर्तमानमें ही ग्रहण करलेंगे पूजीपति को भी देनेमें वाधा न होगी क्योकि जिन वस्तुओके मूल्य वह सालभरके अनन्तर १०० रुपये अनुमान करता है उसके उसे १०५ रुपये दियेजाने का वचन दिया जारहा है। अथवा इसप्रकार कह लीजिए कि वर्ष भरके अनन्तर भविष्य उसके लिए वर्तमान होजायेगा परन्तु तवभी देनेमे उसकी हानि नही क्योकि वर्तमानमें भी तो उसके लिए उन वस्तुओ का मूल्य १०५ रुपये ही है।

इस सिद्धान्तकी इसप्रकार भी व्याख्या की जासकती है। वर्तमानमें पूंजीपति से १०० रुपये लेनेके लिए हमें साल भरके अनन्तर उसे १०० रुपयेसे अधिक लौटा देनेका वचन देना होगा क्योंकि इस सिद्धान्तके अनुसार हाथमें १०० रुपये भविष्यमें मिलनेवाले १०० रुपयोंसे अधिक मूल्यवान है। उसके अनुमानसे वर्तमानके ९५ रुपये भविष्यके १०० रुपयोंके सम हो तो ऋण लेनेवालेको ९५ रुपये लेकरही भविष्यमें १०० रुपये देनेका वचन देना होगा अन्यथा पूंजीपति ऋण देनेके लिए उद्यत न होगा।

बाह्मबावर्क के सिद्धान्तसे मिलता जुलता फिशरका समयवरीयता सिद्धान्त है। इसके अनुसार संसारमें दो प्रकारके मनुष्य मिलते हैं। एक तो वे जो वृद्धावस्थामें पारिवारिक उत्तरदायित्व बढ़ने तथा उपार्जन शक्तिमें ह्रास होनेके कारण भविष्य में मिलनेवाली आयको अधिक वाञ्छनीय समझते हैं। ऋणों की पूर्ति और उनका पूर्तिमूल्य इन लोगोंकी समयवरीयतासे निर्धारित होगा। कुछ ऐसेभी लोग होंगे जो भविष्यमें अपनी आयको बढ़ानेके लिए अथवा अपनी संस्थाओं इत्यादि को विस्तृत करनेके लिए वर्तमानमें ऋण लेनेके इच्छुक होंगे। येलोग ऋणोंकी मांग और उनका मांगमूल्य निर्धारित करते हैं।

इसप्रकार पूर्तिकी ओरसे ब्याजकी दर लोगोंकी संचय करनेकी इच्छा तथा शक्ति पर निर्भर है। जितनीही लोगोंमें यह इच्छा तथा शक्ति प्रबल होगी, उतनीही उस ब्याजकी दरभी कम होगी जो लोगोंको बचत करनेका प्रलोभन देनेके लिए आवश्यक होगी। दर उतनी होनी चाहिए जो सीमान्त बचत करनेवाले को प्रलोभन देनेके लिए पर्याप्त हो।

मांगकी ओरसे यह दर पूंजीकी उत्पादनशक्ति पर निर्भर है। उत्पादक लोग अन्य साधनोंके स्थानपर पूंजीकी प्रतिस्थापना उस समय तक करते रहते हैं, जबतक कि पूंजीकी सीमान्त उत्पत्ति अन्य साधनोंकी सीमान्त उत्पत्तिके सम नहीं हो जाती। परन्तु पूंजीका अधिकाधिक प्रयोग होनेके कारण उसकी सीमान्त उत्पत्ति में ह्रास होता चला जाता है और इसकारण ब्याजकी दर उतनी होना आवश्यक है जो सीमान्त लेनेवालेको पूंजीके न्यूनतम उत्पत्ति करनेवाले भागको प्रयोग में लेनेका प्रलोभन दे सके। सन्तुलन उस दरपर स्थापित होजाता है जिसपर कि पूंजी की मांग और पूर्ति दोनों सम होजाती है।

ब्याज और द्रव्य-वरीयता

कीन्स के मतानुसार ब्याजकी दर एक शुद्ध द्रव्यात्मक घटनाहै और द्रव्यकी पूर्ति और मागसे निर्धारित होती है। द्रव्यकी पूर्तिसे उसका तात्पर्य द्रव्यकी कुल उपलब्ध मात्रासे है जिसमें सरकारी द्रव्यके अतिरिक्त बैंकोंका साख द्रव्यभी सम्मिलित है। द्रव्यकी मांग जन-समुदायके उस स्वभावसे निश्चित होतीहै जिसे उन्होने द्रव्य-वरीयताका नाम दिया है। प्रत्येक प्राणी अपनी सम्पत्तिके कुछ अंशको यातो द्रव्यके रूपमें रखनेका इच्छुक होताहै या कमसे कम उस रूपमें कि वह स्वेच्छानुसार तुरन्तही उसे द्रव्यके रूपमें परिणत कर सके, इसके उसने चार कारण बताये है:

(१) आय—उद्देश्य, प्राय: मनुष्यकी आय तो निश्चित तिथियोपर प्राप्त होती है परन्तु व्यय दिन प्रतिदिन करना पडता है। इसकारण कुछ द्रव्य सदैव उसे अपने पास रखना पडता है। (२) व्यापार—उद्देश्य, व्यापार में द्रव्यका व्यय तो पहिले करना पडताहै और प्राप्ति शनै: शनै: बिक्री होनेके अनन्तर होती रहती है। इस कारण व्यापारी लोगोको कुछ सम्पत्ति द्रव्यके रूपमें रखना आवश्यक होजाता है। (३) पूर्वावधारणा—उद्देश्य, कई व्यय अकस्मात् करने पड़जाते है। कभी कभी व्यापारी लोगोको अकस्मात् लाभ प्राप्त करनेके अवसर मिलजाते है। द्रव्यका अभाव होनेपर ऐसे अवसरोपर हानिकी सम्भावना रहा करती है। (४) सट्टेका उद्देश्य—सट्टा करनेके लिए भी द्रव्यके रूपमें सम्पत्तिका रखना अनिवार्य सा ही है।

इन उद्देश्योकी शक्ति आयकी मात्रा परही निर्भर नही वरन् इस बातपर भी निर्भर है कि वह आय कितने कितने समयके अनन्तर प्राप्त होती है। आर्थिक व्यवस्थाकी प्रगति मन्दी अथवा चढाईकी ओर होनेका भी इस शक्तिसे घनिष्ट सम्बन्ध है।

कीन्स के मतानुसार ब्याजकी दर पूजीका वह मौद्रिक मूल्य नहीहै जो पूजीकी उत्पादन-शक्ति द्वारा निर्धारित माग और उपभोग-व्याक्षेप द्वारा कृत बचत अर्थात् पूर्तिमें सन्तुलन स्थापित करताहै परन्तु वह मौद्रिक मूल्यहै जो सन्तुलन तो स्थापित करता है परन्तु यह सन्तुलन लोगोकी द्रव्यके रूपमें सम्पत्तिको अपने आधीन रखनेकी इच्छाके कारण द्रव्यकी माग और द्रव्यकी कुल उपलब्ध मात्रामें होता है। इसका अर्थ

यह हुआ कि यदि ब्याजकी दर कम होजाये तो लोगोंको अपनी सम्पत्तिका द्रव्यके रूप में रखनेकी इच्छा को पूरा करनेके लिए कम हानि उठानी पडेगी। अथवा सम्पत्ति को द्रव्यके रूपमें न रखकर उद्योगपतियोको ऋण पर देनेसे अपनी इच्छा को दबाने के लिए उन्हें ब्याजके रूपमें कम पुरस्कार मिलेगा। इसकारण वे द्रव्यके रूपमें अपनी सम्पत्ति रखना उचित समझेंगे। फलत: द्रव्यकी माग द्रव्यकी कुल उपलब्ध मात्रा से अधिक होगी। इसके विपरीत यदि ब्याजकी दर बढजाय तो उपलब्ध द्रव्यकी कुछ मात्रा ऐसी शेष रहेगी जो कोईभी अपने पास द्रव्यके ही रूपमें रखनेके लिए उद्यत न होगा। इससे स्पष्टहै कि कीन्सके अनुसार द्रव्यकी कुल उपलब्ध मात्रा द्रव्यकी पूर्तिहै और सम्पत्तिकी वह मात्रा जोलोग द्रव्यके रूपमें रखनेके इच्छुक हो, द्रव्यकीमागहै और इन दोनोमें ब्याजकी दरसे सन्तुलन स्थापित होता है।

ब्याज और पूंजी की उत्पादनशीलता

इस स्थानपर यह उल्लेख आवश्यक होगा कि कीन्सके सम्पत्तिको द्रव्यके रूपमें रखनेके पहिले उद्देश्यकी सहायतासे कीन्ससे पहिलेही वेकस्टीडने यह सिद्ध करनेका प्रयत्न कियाथा कि ब्याज प्राप्त करनेके लिए पूजीका उत्पादक होना आवश्यक नही है अर्थात् पूजी उत्पादन-शक्तिसे वंचितभी होती तोभी उसे ऋणपर देनेके लिए ब्याज प्राप्तही होता। इस ससारमें दो प्रकारके मनुष्य मिलते है। एकतो वे जिन्हें आय तो निश्चित समयपर प्राप्त होतीहै परन्तु व्यय दिन प्रतिदिन अथवा अनियमित ढगसे भिन्न भिन्न अवसरोपर करना पडता है। दूसरे वे जिनको जीवनभर अपने व्ययको चलानेकी सामग्री आरम्भसे ही द्रव्यके रूपमें लभ्य होती है। पहिले प्रकारके मनुष्योंकी जीवनभर में उपार्जित आय जीवनभर किये जानेवाले व्ययसे कम होसकती है परन्तु अल्पकालमें व्यय आयसे अधिकभी होसकता है। इसकारण अल्पकालमें उन्हें ऋण लेनेकी आवश्यकता रहती है। दूसरे प्रकारके मनुष्य जीवन भरकी आवश्यकताओंको सन्तुष्ट करनेके लिए वस्तुओंको तो खरीद नहीं सकते इस कारण उनके पास कुछ द्रव्य बेकारही पड़ा रहता है। पहिले प्रकारके मनुष्यों को ऋण लेनेमें लाभहै और दूसरे प्रकारके मनुष्योंको ऋण देनेमें यदि लाभ नहीं तो उससे कम हानिभी नहीं है। यही कारणहै कि प्राय: ऋण देनेवालोंको देनेकी इच्छा

ब्याज और द्रव्य-वरीयता

कीन्स के मतानुसार ब्याजकी दर एक शुद्ध द्रव्यात्मक घटनाहै और द्रव्यकी पूर्ति और मागसे निर्धारित होती है। द्रव्यकी पूर्तिसे उसका तात्पर्य द्रव्यकी कुल उपलब्ध मात्रासे है जिसमें सरकारी द्रव्यके अतिरिक्त बैंकोंका साख द्रव्यभी सम्मिलित है। द्रव्यकी मांग जन-समुदायके उस स्वभावसे निश्चित होतीहै जिसे उन्होंने द्रव्य-वरीयताका नाम दिया है। प्रत्येक प्राणी अपनी सम्पत्तिके कुछ अंशको यातो द्रव्यके रूपमें रखनेका इच्छुक होताहै या कमसे कम उस रूपमें कि वह स्वेच्छानुसार तुरन्तही उसे द्रव्यके रूपमें परिणत कर सके, इसके उसने चार कारण बताये है:

(१) आय—उद्देश्य, प्राय: मनुष्यकी आय तो निश्चित तिथियोपर प्राप्त होती है परन्तु व्यय दिन प्रतिदिन करना पड़ता है। इसकारण कुछ द्रव्य सदैव उसे अपने पास रखना पड़ता है। (२) व्यापार—उद्देश्य, व्यापार में द्रव्यका व्यय तो पहिले करना पडताहै और प्राप्ति शनै: शनै: बिक्री होनेके अनन्तर होती रहती है। इस कारण व्यापारी लोगोको कुछ सम्पत्ति द्रव्यके रूपमें रखना आवश्यक होजाता है। (३) पूर्वावधारणा—उद्देश्य, कई व्यय अकस्मात् करने पडजाते है। कभी कभी व्यापारी लोगोंको अकस्मात् लाभ प्राप्त करनेके अवसर मिलजाते है। द्रव्यका अभाव होनेपर ऐसे अवसरोपर हानिकी सम्भावना रहा करती है। (४) सट्टेका उद्देश्य—सट्टा करनेके लिए भी द्रव्यके रूपमें सम्पत्तिका रखना अनिवार्य सा ही है।

इन उद्देश्योकी शक्ति आयकी मात्रा परही निर्भर नही वरन् इस बातपर भी निर्भर है कि वह आय कितने कितने समयके अनन्तर प्राप्त होती है। आर्थिक व्यवस्थाकी प्रगति मन्दी अथवा चढाईकी ओर होनेका भी इस शक्तिसे घनिष्ट सम्बन्ध है।

कीन्स के मतानुसार ब्याजकी दर पूजीका वह मौद्रिक मूल्य नहीहै जो पूजीकी उत्पादन-शक्ति द्वारा निर्धारित माग और उपभोग-व्याक्षेप द्वारा कृत बचत अर्थात् पूर्तिमें सन्तुलन स्थापित करताहै परन्तु वह मौद्रिक मूल्यहै जो सन्तुलन तो स्थापित करता है परन्तु यह सन्तुलन लोगोकी द्रव्यके रूपमे सम्पत्तिको अपने आधीन रखनेकी इच्छाके कारण द्रव्यकी माग और द्रव्यकी कुल उपलब्ध मात्रामें होता है। इसका अर्थ

यह हुआ कि यदि व्याजकी दर कम होजाये तो लोगोको अपनी सम्पत्तिका द्रव्यके रूप में रखनेकी इच्छा को पूरा करनेके लिए कम हानि उठानी पड़ेगी। अथवा सम्पत्ति को द्रव्यके रूपमें न रखकर उद्योगपतियोको ऋण पर देनेसे अपनी इच्छा को दबाने के लिए उन्हें व्याजके रूपमें कम पुरस्कार मिलेगा। इसकारण वे द्रव्यके रूपमें अपनी सम्पत्ति रखना उचित समझेंगे। फलतः द्रव्यकी माग द्रव्यकी कुल उपलब्ध मात्रा से अधिक होगी। इसके विपरीत यदि व्याजकी दर बढजाय तो उपलब्ध द्रव्यकी कुछ मात्रा ऐसी शेष रहेगी जो कोईभी अपने पास द्रव्यके ही रूपमें रखनेके लिए उद्यत न होगा। इससे स्पष्टहै कि कीन्सके अनुसार द्रव्यकी कुल उपलब्ध मात्रा द्रव्यकी पूर्तिहै और सम्पत्तिकी वह मात्रा जोलोग द्रव्यके रूपमें रखनेके इच्छुक हों, द्रव्यकीमागहै और इन दोनोमें व्याजकी दरसे सन्तुलन स्थापित होता है।

व्याज और पूंजी की उत्पादनशीलता

इस स्थानपर यह उल्लेख आवश्यक होगा कि कीन्सके सम्पत्तिको द्रव्यके रूपमें रखनेके पहिले उद्देश्यकी सहायतासे कीन्ससे पहिलेही वेकस्टीडने यह सिद्ध करनेका प्रयत्न कियाथा कि व्याज प्राप्त करनेके लिए पूजीका उत्पादक होना आवश्यक नहीं है अर्थात् पूजी उत्पादन-शक्तिसे वंचितभी होती तोभी उसे ऋणपर देनेके लिए व्याज प्राप्तही होता। इस संसारमें दो प्रकारके मनुष्य मिलते हैं। एकतो वे जिन्हें आय तो निश्चित समयपर प्राप्त होतीहै परन्तु व्यय दिन प्रतिदिन अथवा अनियमित ढंगसे भिन्न भिन्न अवसरोंपर करना पड़ता है। दूसरे वे जिनको जीवनभर अपने व्ययको चलानेकी सामग्री आरम्भसे ही द्रव्यके रूपमें लब्ध होती है। पहिले प्रकारके मनुष्योंकी जीवनभर में उपार्जित आय जीवनभर किये जानेवाले व्ययके सम होजाती है परन्तु अल्पकालमें व्यय आयसे अधिकभी होसकता है। इसकारण अल्पकालमें उन्हें ऋण लेनेकी आवश्यकता रहती है। दूसरे प्रकारके मनुष्य जीवनभरकी आवश्यकताओंको सन्तुष्ट करनेके लिए वस्तुओंको तो खरीद नहीं सकते इस कारण उनके पास कुछ द्रव्य देनेकी शक्ति रहती है। पहिले प्रकारके मनुष्योंको ऋण लेनेमें लाभहै और दूसरे प्रकारके मनुष्योंको ऋण देनेमें यदि लाभ नहीं तो उनके कम हानिभी नहीं है। यही कारण है कि प्रायः ऋण देनेवालोंको [illegible]

उतनी तीव्र नही होतीहै जितनी कि ऋण लेनेवालोकी लेनेकी इच्छा। इन दोनों इच्छाओंकी तीव्रताको सम करनेके लिए लेनेवाले देनेवालोको कुछ प्रलोभन देतेहै। इसी प्रलोभनका नाम व्याज है।

व्याज इसलिए दियाजाता है क्योंकि पूजीकी माग पूजीकी पूर्ति से सदैव अधिक रहती है। व्याज पूंजीका मूल्य होनेके कारण उपलब्ध पूर्तिको क्रयशक्ति युक्त माग के सम करदेता है। पूर्तिकी तुलनात्मक न्यूनताके कारण पूजीका किसी विशेष उद्देश्यके लिए नियोग करनेसे उस पूजीका अन्य उद्देश्योके लिए नियोग असम्भव हो जाता है। इसकारण व्याज द्वारा यह निर्णय करनेमें सहायता मिलतीहै कि पूजीका किन उद्देश्योके लिए नियोग कियाजाना चाहिए। आर्थिक दृष्टिसे प्रतिस्पर्धी नियोगो में से वह नियोग श्रेष्ठतम समझा जायगा जिसमें पूजी लगानेसे अधिकतम लाभ प्राप्त होनेकी आशा हो। सामाजिक दृष्टिसे भी वह नियोग श्रेष्ठतमहै या नही यह निर्णय करना अर्थशास्त्रका नही वरन् समाजशास्त्र इत्यादि अन्य शास्त्रोंका विषय है।

२१

लाभ

शुद्ध और मिश्रित लाभ

उत्पादन कार्यको सुचारु रूपसे चलानेके लिए व्यवस्थापकों अथवा उद्योगपतियोंकी आवश्यकता होती है। ये लोग अन्य उत्पादनके साधनोंको एकत्रित करके उत्पादन कार्यमें संलग्न करते हैं। उत्पत्तिकी भविष्यमें होनेवाली मांगका अनुमान लगाकर उसके आधारपर उत्पत्तिकी मात्रा निश्चित करते हैं। आर्थिक क्षेत्रमें अगुआका रूप धारण करके नित नयी उत्पादन-विधियोंका प्रयोग करतेहैं और नयी नयी वस्तुएं उत्पन्न करते हैं। इन सब कारणोंसे उन्हें ऋणपर पूंजी देनेवालोंसे अधिक जोखिम उठानी पड़तीहै जिसके पुरस्कारके रूपमें उन्हें लाभ प्राप्त होता है। अर्थशास्त्री शुद्ध लाभ और मिश्रित लाभमें भेद करते हैं। मिश्रित लाभमें शुद्ध लाभके अतिरिक्त ब्याज तथा मजूरीके अंशभी सम्मिलित होते हैं। कई एक उद्योगपति अपने उद्यममें निजी पूंजीका भी प्रयोग करते हैं। इस पूंजीको यदि वे ऋणमें देदेते तो उन्हें ब्याज प्राप्त होता। इसकारण उद्योगपतियोंको प्राप्त कुल लाभमें से उस ब्याजकी मात्राको निकाल देना आवश्यक है। इसीप्रकार प्रत्येक उद्योगपतिको उद्यमके निरीक्षण आदिका कार्य करनाही पड़ता है। यदि उसका अपना उद्यम न होता तो वह प्रबन्धकके रूपमें उस कार्यके लिए वेतन पाता। इसकारण कुल प्राप्त लाभमें से उद्योगपतिको प्रबन्धकके रूपमें मिल सकनेवाले वेतनको भी निकाल देना चाहिए। शेष बची हुई मात्रा उद्योगपतिके जोखिम उठाने तथा उद्योग-संचालन करनेका पुरस्कार है और उसे शुद्ध लाभ कहाजाता है।

लाभ का भूमि-कर सिद्धान्त

प्रसिद्ध अमेरिकन अर्थशास्त्री वाकरका मत था कि लाभकी मात्रा ठीक उसीप्रकार

निश्चित होतीहै जैसे भूमि-कर की। किसी विशेष उद्योग धन्धेमें होनेवाला उत्पादन-व्यय उस उद्योग धन्धेकी सीमान्त संस्थाके उत्पादन-व्ययसे निश्चित किया जाताहै और उस उत्पादन-व्ययके सम मूल्यपर उत्पन्न वस्तु बाजारमें बिकती है क्योंकि सीमान्त संस्था सीमान्त भूमिके समान केवल अपने उत्पादन-व्ययको ही पूरा कर पाती है। सीमान्त संस्थासे ऊपरकी संस्थाओंकी उनके व्यवस्थापकों में अधिक योग्यता के कारण उत्तम व्यवस्था होतीहै और उनके उत्पादन-व्यय प्रत्येक व्यवस्थापकके कार्यकौशलके अनुसार कम होते हैं। वे सीमान्त संस्थाके उत्पादन-व्यय द्वारा निर्धारित मूल्यपर भी वस्तु बेचकर उत्पादककी बचतके रूपमें लाभ प्राप्त करते हैं। अपने मतकी पुष्टिके लिए वाकरने एक ऐसे व्यवस्थापककी कल्पनाकी है जिसे तनिकभी लाभ प्राप्त न होता हो। ऐसे लोग व्यर्थही उत्पादन कार्यमें संलग्न होने का कष्ट लेते हैं। परन्तु उनकी संस्थाओंका आर्थिक दृष्टिसे महत्त्वहै क्योंकि उस उद्योग धंधे द्वारा उत्पन्न वस्तुओंका मूल्य इसी प्रकारकी संस्थाओंके उत्पादन-व्यय द्वारा निर्धारित होता है। इसीकारण वाकरने इन संस्थाओंको सीमान्त संस्था माना है। इनसे ऊपर वे संस्थाएहै जिनको मार्शल ने प्रतिनिधि संस्था कहा है। यह संस्था नतो वाकरकी सीमान्त संस्थाके समान ऐसीही होतीहै कि इसके व्यवस्थापकको कुछ लाभही प्राप्त नहो और न बडी बडी समृद्ध संस्थाओंके समान ऐसी कि इसके व्यवस्थापक बहुत लाभ प्राप्त कररहे हो बल्कि ऐसी जो दीर्घकालसे तो स्थापित हो, सामान्य योग्यतासे उसका प्रबन्ध होरहा हो, सामान्य उत्पादन-विधि को प्रयुक्त कर रहीहो और अधिक मात्रामें उत्पन्न करनेकी सामान्य मितव्ययिता इसे प्राप्त हो रही हो। ऐसी संस्थाओंसे ऊपर वे संस्थाए होतीहै जिनके व्यवस्थापक अत्यन्त योग्य होते है और अपनी योग्यताकी सहायतासे बडे बडे लाभ प्राप्त करते हो और इनसे भी ऊपर उन दिङ्नागोकी संस्थाए होतीहै जिनके लाभकी सीमा बाधनाही असम्भव है।

हम देखचुकेहै कि बाजारभाव तो निश्चित होताहै सीमान्त संस्थाके उत्पादन-व्ययसे। इसकारण सीमान्त संस्थासे ऊपरकी संस्थाए उन व्यवस्थापकोकी योग्यता के अनुसार ठीक उसी प्रकार लाभ उठाती है जिस प्रकार सीमान्त भूमिसे ऊपर की भूमियोको उनकी उत्पादनशक्तिके अनुसार भूमि-कर प्राप्त होता है। इस सिद्धान्तके अनुसार लाभको योग्यताका कर कहना अत्युक्ति न होगी।

इस सिद्धान्तके अनुसार वस्तुओंका मूल्य निर्धारित करनेमें भूमिकरके समानही लाभका तनिकभी हाथ नहीं क्योंकि मूल्य निर्धारित करनेवाली सीमान्त संस्थाके उत्पादन-व्ययमें लाभका अभाव होता है। इसके विपरीत लाभ स्वयं मूल्यसे निर्धारित होता है, क्योंकि मूल्य गिरनेसे सीमान्त संस्थाए तो बन्द होजाती हैं और उनका स्थान थोडा बहुत लाभ प्राप्त करनेवाली संस्थाएं ग्रहण कर लेती हैं। परोक्ष रूप से भलेही लाभका मूल्योंपर प्रभाव पड सकना सम्भव होसकता हो। क्योंकि अपनी योग्यताके कारण अधिक लाभ उठानेवाले व्यवस्थापक उत्पत्तिकी मात्रामें वृद्धि करके उत्पादन-व्ययमें क्रमशः ह्रास होनेकी सम्भावनाका लाभ उठानेके उद्देश्यसे अपनी बिक्री बढानेके लिए सीमान्त संस्थाके उत्पादन-व्ययसे कम मूल्यपर वस्तु बेच सकते हैं।

प्राचीन अर्थशास्त्रियोंके मतानुसार बाकरकी लाभसे वञ्चित संस्थाका अस्तित्व असम्भव था क्योंकि कोई भी व्यवस्थापक तबतक व्यर्थही अपनी योग्यता एवं श्रम का व्यय करनेके लिए उद्यत न होगा जबतक कि उसे किसी विशेष उद्योग धंधेमें प्राप्त होनेवाले औसत लाभके मिलनेकी आशा न हो। इसके अतिरिक्त उनका यह भी विश्वासथा कि किसीभी व्यवस्थापकको किसीभी उद्योग धन्धेमें उसमें प्राप्त होनेवाले औसत लाभसे अधिक लाभ प्राप्त नहीं होसकता। अल्पकालमें भलेही कोई व्यवस्थापक इस औसत लाभसे न्यून अथवा अधिक लाभ प्राप्त करले परन्तु दीर्घकालमें औसत लाभसे कम लाभ प्राप्त करनेवाली संस्थाए स्वयही बन्द हो जायेंगी और यदि प्राप्त लाभ औसत लाभसे अधिक होगा तो पूर्ण प्रतिस्पर्धाकी स्थितिमें नयी संस्थाए उस उद्योग धन्धे की ओर आकर्षित होगी जिनकी स्थापनासे लाभ पुनः अपने प्राकृतिक स्तरपर आजायेगा। इसप्रकार नयी संस्थाओंकी स्थापना अथवा पुरानी संस्थाओंका लोप होनेसे प्रत्येक उद्योग धन्धेमें मिलनेवाले औसत लाभ में एक सन्तुलन सा स्थापित होजायेगा।

इसमें सन्देह नहीं कि प्रत्येक उद्योग धन्धेमें कुछ न कुछ लाभ प्राप्त होनेकी आशा से प्रेरित होकर व्यवस्थापक इस धंधेकी ओर आकृष्ट होंगे परन्तु यहभी सत्य नहीं कि उस उद्योगधन्धेमें मिलनेवाले औसत-लाभका स्तर उतना स्थिर होगा जितना कि प्राचीन अर्थशास्त्री मानते थे। और भिन्न भिन्न संस्थाओंके लाभमें अन्तर पड़ना तो स्वाभाविक ही है। इसके अतिरिक्त वास्तविक अथवा औसत लाभ

का निश्चित करना इतना सरल नही जितना कि प्राचीन अर्थशास्त्री समझते थे। व्यवस्थापकों की बुद्धि एवं योग्यता में अन्तर होनेके कारण भिन्न भिन्न संस्थाओंके लाभोमें अन्तर होना आवश्यक सा है। इस कठिनाई को मार्शल ने प्रतिनिधि संस्थाकी कल्पना द्वारा दूर करनेकी चेष्टाकी थी। उस संस्थाको प्राप्त होनेवाले लाभको उस उद्योग धन्धेमें मिलनेवाला सामान्य लाभ मानना चाहिए। इस सम्बन्ध में यह कहदेना अनुचित न होगा कि वास्तवकी लाभ-वंचित संस्थाका अस्तित्व भी इतना असम्भव नही जितना कि प्राचीन अर्थशास्त्री और उनके अर्वाचीन अनुयायी मानते है। किसी संस्थामें एकबार नियुक्त पूजीका, विशेषकर स्थायी रूपमें नियुक्त पूजीका किसी अन्य उद्योग धन्धेमें परिवर्तन कठिन होजाता है। इसकारण लाभ के अभावकी स्थितिमें भी कई संस्थाए उत्पादन कार्य बन्द नही करती। इसी प्रकार कई व्यवस्थापक केवल अपनी नियुक्त पूजीपर व्याज प्राप्त करकेही सन्तुष्ट होजाते है। इसके अतिरिक्त यहभी आवश्यक नही कि कोई सस्था सदैवके लिए लाभ-वंचित सस्थाही रहे। प्रत्येक उद्योग धन्धमें नित नयी सस्थाए स्थापित होती रहती है। बहुतसी अस्थायी संकटो से ग्रस्त होजाती है, बहुतसी पतनोन्मुख होती है। ऐसी सस्थाओंको लाभ प्राप्त नही होता परन्तु कालान्तरमें इनमें से बहुतसी कुछ लाभ उपार्जन करने योग्य होजायेंगी और अन्य अपना अस्तित्व ही खो बैठेंगी और उनका स्थान अन्य सस्थाए ग्रहण करलेंगी।

किन्तु मार्शलके अनुसार किसी उद्योग धन्धेमें पूजीका विनियोग उस उद्योग धन्धे की प्रतिनिधि-सस्थाके उत्पादन-व्यय द्वारा निर्धारित होता है। इस उत्पादन-व्यय मे उस प्रतिनिधि सस्थाको प्राप्त होनेवाला सामान्य लाभभी सम्मिलित होता है और मूल्यभी इसी प्रतिनिधि सस्थाके उत्पादन-व्यय द्वाराही निर्धारित होता है। इसकारण सामान्य लाभभी मूल्य में शामिल होता है। प्रतिनिधि सस्थासे अधिक कुशल सस्थाओंको प्राप्त अतिरिक्त लाभका मूल्यमें समावेश सम्भव नही।

जोखिम और लाभ

एक और सिद्धान्तके अनुसार शुद्ध लाभ केवल वह पुरस्कार है जो उद्योगपतिको सस्था स्थापित करनेकी जोखिम उठानेके लिए प्राप्त होता है। नाइट ने जोखिम

भी दो प्रकारकी बताई है। एकतो वह जोखिम जिसके कारण होनेवाली हानिकी गणना गणितशास्त्रके नियमो द्वारा निश्चित रूपसे की जासकती है और इस कारण उससे बचनेके लिए बीमा इत्यादि साधनोका उपयोग किया जासकता है। बीमाके कार्यके लिए विशेष सस्थाए होतीहै और उनको दियागया अधिक शुल्क व्यवस्थापकके उत्पादन-व्ययमें सम्मिलित करलिया जाता है। परन्तु दूसरी जोखिम इस प्रकारकी होती है कि उसके कारण होनेवाली हानिकी गणना असम्भव होतीहै क्योंकि मनुष्य त्रिकालदर्शी तो है नही कि भविष्यमें होनेवाली सब घटनाओ का पूर्णरूपसे वर्तमान में ही ज्ञान प्राप्त करले। इस प्रकारकी जोखिमसे होनेवाली हानि की गणना करनेमें गणितशास्त्रभी असमर्थ है और इसकारण उससे बचाव का कोईभी साधन नही। नाइटने इस प्रकारकी जोखिमको अनिश्चतताका नाम दियाहै और उसका मतहै कि शुद्ध लाभ व्यवस्थापकको इस अनिश्चितता रूपी जोखिम उठानेका पुरस्कार मात्र है। यदि अनिश्चितता न होती तो लाभका अभाव होता।

ब्याज का प्रगतिशील सिद्धान्त

इस सिद्धान्तका जन्मदाता प्रसिद्ध अमेरिकन अर्थशास्त्री क्लार्क था। उसने अर्थ व्यवस्थाके दो भेद किये है। एकतो स्थिर और दूसरा प्रगतिशील। स्थिर अर्थ-व्यवस्था वहहै जिसमें जनसंख्या और पूंजीमें किसीभी प्रकारकी वृद्धि नहीं होती; नये आविष्कारोंका अभाव रहता है; उत्पादन रीतियां ज्यों की त्यों रहती है। संक्षेपमें स्थिर अर्थ-व्यवस्थामें परिवर्तनोंका अभाव रहता है। यद्यपि ऐसी व्यवस्था मे पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थितिमें उत्पादनके साधन गतिशील होतेहै फिरभी गतिका अभाव रहताहै क्योंकि प्रत्येक व्यवसायमें श्रम और पूंजीकी उत्पादन-सीमा सम होती है। इस प्रकार की स्थिर अर्थ-व्यवस्था में क्लार्कके मतानुसार शुद्ध लाभका अस्तित्व असम्भव है और सम्पूर्ण उत्पत्ति श्रम और पूंजी द्वारा होनेसे और श्रमजीवियों तथ पूंजीपतियोंमें उसका विभाजन होजाता है। ऐसी स्थितिमें लाभ का प्रश्न ही नहीं उठता। पूर्ण प्रतिस्पर्धाके कारण मजदूरी और ब्याज श्रम और पूंजी द्वारा प्राप्त सीमान्त उत्पत्तिके बराबर होते है। श्रमजीवियों और पूंजीपतियो [illegible]

में वितरित होनेके अनन्तर राष्ट्रीय आयका कोईभी अतिरिक्त भाग शेष नही रहता जिसका कि लाभके रूपमें वितरण किया जासके। परन्तु क्लार्कका मतथा कि कोईभी अर्थव्यवस्था स्थिर नही होती। जनसंख्या और पूजीमें वृद्धि, उत्पादन रीतियोमें उन्नति, औद्योगिक व्यवस्थाके रूपोंमे और उपभोक्ताओंकी आवश्यकता-ओमें परिवर्तन प्रत्येक अर्थव्यवस्था को प्रगतिशील बनाये रखनेके मुख्य कारण है। उद्योगपति का कर्तव्य अर्थ-व्यवस्था में होनेवाले इन्ही परिवर्तनोंसे सम्बन्धित है। उसे अपने कर्तव्य-पालनके लिए साधारण श्रमिकोंके समान श्रम नही करना पड़ता वरन् उसका अस्तित्व श्रम और पूजीको उत्पादनशील बनानेके लिए आवश्यक होता है। श्रम और पूजीको उचित अनुपातमें सयोजित करनेसे ही उनकी उत्पादनशीलतामें वृद्धि होजाती है और यही बढीहुई उत्पत्ति उद्योगपति को उसके साहसके बदले लाभके रूपमें प्राप्त होती है। उदाहरणके लिए नये नये आविष्कारो को उत्पादन कार्यमें प्रयुक्त करनेके लिए साहसकी आवश्यकता होती है। जो उद्योगपति किसी नवीनताका सर्वप्रथम प्रयोग करनेके लिए उद्यत होजाता है वह उस प्रयोग द्वारा प्राप्त अधिक उत्पत्तिकी मात्राको लाभके रूपमें पाता है। शनैः शनैः अन्य लोगभी उस नवीनताका प्रयोग करने लगतेहैं और उसे प्राप्त होनेवाला लाभ न्यून अथवा शून्य होजाता है।

२२

द्रव्य

द्रव्य की आवश्यकता

आधुनिक आर्थिक व्यवस्थामें द्रव्यका एक विशेष स्थान है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि यदि हमारे बीचसे द्रव्यको उठालिया जाय तो हमको अपने आर्थिक कार्योंके सम्पादनमें बहुत कठिनाइयोंका सामना करना पड़ेगा और आर्थिक व्यवस्थाभी अव्यवस्थित होजायगी। कुछ साधारण उदाहरणोंसे हम इस स्थितिको समझा सकतेहैं। अनेक लोग अपनी आजीविकाके लिए वृत्ति करते है और उनको द्रव्यके रूपमें आय मिलतीहै। यदि द्रव्यका प्रयोग समाजमें न होता तो यह आय वस्तुओंके रूपमें दी और लीजाती। इससे लेनेवाले और देनेवाले दोनोको परेशानी उठानी पड़ती। यदि कोई मजदूर कपडेके कारखानेमें कार्य करताहै तो कारखानेका मालिक उसकी मजदूरी कपड़ेके रूपमें देसकता है। परन्तु मजदूरोंको कपडेके अतिरिक्त भोजन की सामग्री, रहनेका स्थान इत्यादि अनेक वस्तुओंकी आवश्यकता है। अतएव उसको अतिरिक्त कपडेके बदले इन वस्तुओंको प्राप्त करना पडेगा। स्थिति औरभी विषम होजाती है जबकि हम एक अध्यापकका सामना लेते है। विश्व विद्यालय का अध्यापक कारखानेके मजदूरकी तरह कोई ऐसी वस्तु तो बनाता नहीं जो उसको पारिश्रमिकके रूपमें दी जासके। तब फिर रजिस्ट्रार अथवा कोषाध्यक्ष किस प्रकार उसको पारिश्रमिक दे। यही होसकता है कि विद्यार्थियोंसे [illegible] लिया जाय और सरकारसे भी प्रार्थना कीजाय कि वह भिन्न भिन्न वस्तुओंके रूपमें फीस और आर्थिक सहायता विश्वविद्यालय को दें और इन्हींको किसी प्रकार अध्यापकोंमें तथा विश्वविद्यालयके अन्य कार्यकर्ताओंमें वितरण हो। द्रव्यके प्रयोगसे इसप्रकार की कठिनाइयां उपस्थित नहीं होती है। इसीप्रकार उत्पत्तिके कार्यके लिए अनेक आर्थिक साधनों की आवश्यकता होती है। यदि उत्पत्ति का क्षेत्र बड़ा हो तो इन साधनोंकी बड़ी मात्रा

में आवश्यकता होती है। द्रव्यके द्वारा इन साधनोंके इकट्ठा करनेमें वहुत सुगमता होती है। यदि द्रव्य नहो तो उत्पादकों को कच्चा माल, मशीन, मजदूर इत्यादि साधनोंको उपयुक्त मात्रामें कारखानोंमें एकत्र करनेमें वहुत असुविधा होगी। जब हम बाज़ार जातेहैं तो अपने साथ द्रव्य लेजाते है और भिन्न वस्तुओंको भिन्न भिन्न परिमाणमें मोल लेते है। यदि द्रव्य न हो तो इन कार्यमें बडी रुकावट पैदा होजाय। इसप्रकार हम आजकल अपनी बचतभी द्रव्यके रूपमें करतेहैं और भविष्यमें इसके बदले आवश्यक वस्तुए लेतेहैं। द्रव्यके अभावमें हमको उसप्रकार की वस्तुओंका ही संचय करना पडता। उनको रखनेका प्रबन्ध करना पडता, टूट, फूट, सडने-गलने और बिगडनेसे बचाना पडता अर्थात् बडी झंझट और उलझनमें फसना पड़ता। हमलोग आजकल द्रव्यके प्रयोगके इतने अभ्यस्त होगये है कि हम अनुमानही नहीं करसकते है कि द्रव्यके विना हमको कितनी असुविधाए होती। आर्थिक विकासमें एक समयथा, जवकि समाजमें द्रव्य नहीथा और आर्थिक कार्य विना इसकी सहायताके होते थे।

वस्तु विनिमय की प्रथा

हम इसप्रकारकी आर्थिक व्यवस्थाकी कल्पना करसकते है जिसमें द्रव्यकी आवश्यकता ही न पडे। यदि किसी कुटुम्बके लोग स्वयही अपनी आवश्यकताओंकी वस्तुओंको उत्पन्न करले तो उनको द्रव्यकी आवश्यकता नही जान पडेगी। इसीप्रकार यदि समाजकी इस प्रकारकी व्यवस्था होजाय कि समाजके प्राणी अपनी अपनी योग्यता के अनुसार राज्यके अन्तर्गत उद्योग करें और राज्यके द्वाराही उनकी आवश्यकतानुसार वितरणहो तोभी शायद द्रव्यकी आवश्यकता न जानपडे। वास्तवमें इस प्रकारकी आर्थिक व्यवस्थाओंके उदाहरण वहुत कम पायेजाते है। प्रत्येक व्यक्ति अथवा कुटुम्ब अपनी आर्थिक आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए कम या अधिक मात्रा में दूसरोंपर निर्भर रहता है। उसको अपनी वृत्ति अथवा वस्तुओंके बदले दूसरोंकी वृत्ति और वस्तुए प्राप्त करनी पडती है। इसप्रकार के आदान-प्रदानको हम विनिमय कहते है। द्रव्यके विना जो विनिमय होताहै उसको अदल-बदलकी प्रथा कहते है। प्राचीनकाल में इसी प्रथा द्वारा लोग एक दूसरेसे वस्तुओं अथवा सेवाओंका

विनिमय करके अपनी आवश्यकताओंकी पूर्ति करलेते थे। आजभी अनेक असभ्य जातियां है जिनमें द्रव्यका चलन नहींहै और जो कुछभी विनिमयका कार्य उनमें पायाजाता है वह अदल-बदलकी प्रथा परही निर्भर है। खेतीके कार्यमें कही कहीं अभीतक मजदूरको अनाजके रूपमें पारिश्रमिक दियाजाता है। विदेशी व्यापारमें भी राज्योंके बीच आपसमें इसप्रकार की स्वीकृतिया होतीहै जिनके अनुसार एक राज्यकी कुछ वस्तुए किसी निश्चित परिमाणमें दूसरे राज्यकी अन्य वस्तुओंके निर्धारित परिमाणमें बदल लीजाती है।

विनिमय का माध्यम

यदि हम अदल-बदलकी प्रथाका विश्लेषण करें तो हमको इसमें अनेक कठिनाइया और असुविधाएं दिखलाई देती है। एक कठिनाई यहहै कि अदल-बदलकी क्रियाके चरितार्थ होनेसे पहिले इस प्रकारके दो व्यक्तियोका मिलनहो जिनको एक दूसरेकी वस्तुओंकी आवश्यकता हो। उदाहरणार्थ मानलीजिए कि किसी किसानके पास गेहूहै और वह उसके बदलेमें कपडा चाहता है। अब उसको एक ऐसे व्यक्तिको ढूंढना पडेगा जिसको गेहूकी आवश्यकता हो और जिसके पास देनेके लिए अतिरिक्त कपडा हो। इस कार्यमें समयकी बरबादी होतीहै और परेशानीभी होती है। प्राचीनकालमें बडे बडे मेलोंके लगनेका शायद एककारण यहभी रहाहो कि मेलेमें सभी तरहकी वस्तुएं एक स्थानपर इकट्ठा होतीहै और इससे अदल-बदलके कार्यमें सुविधा होजाती है। अबहम यह बतानेकी चेष्टा करेंगे कि द्रव्यके प्रयोगसे किस प्रकार इस असुविधाको दूर कियागया है। पूर्वलिखित उदाहरणका विस्तार करतेहुए कल्पना कीजिए कि जिस जुलाहेके पास कपडाहै उसको किसानके गेहूकी आवश्यकता नहीं है परन्तु उसको तेल चाहिए। यहभी मानलीजिए कि तेलीको गेहू चाहिए। स्पष्ट है कि यदि किसान अपने गेहूके बदले तेलीसे तेल प्राप्त करले तो वह तेलको पुनः जुलाहेको देकर कपडा प्राप्त करसकता है। यह एक गेहूंके बदले तेल प्राप्त करनेकी दोहरी विनिमयकी क्रिया बड़े महत्त्वकी है। गेहू और कपड़ेका एक दूसरेसे प्रत्यक्ष विनिमय न होकर तेलके माध्यम द्वारा हुआ। किसानको तेलकी सहायता से कपड़ा प्राप्त करनेमें सुविधा प्राप्त हुई। विनिमयके व्यवहार दो भाग

होजाते है। पहिला गहूका तेलमें विनिमय और दूसरा तेलका कपडेमें विनिमय। तेल यहांपर विनिमयके माध्यमका काम कररहा है। किसानको तो तेलकी आवश्यकता नहींहै परन्तु वह उसको कपडा प्राप्त करलेनेके लिएही लेता है। यही क्रिया आजकल द्रव्य द्वारा होती है। इसको क्रय-विक्रय कहाजाता है। किसान अपने गेहू को द्रव्यमें विनिमय (विक्रय) करता और द्रव्यको पुन: कपड़ेमें विनिमय (क्रय) करता है। आजकल हम द्रव्यको मुद्रा नोट और बैंक-धरोहरके रूपमें पाते है। परन्तु एक व्यापक अर्थमें कहा जासकता है कि पूर्वोक्त उदाहरणमें तेलसे भी द्रव्य का ही काम लिया जारहा है। अत: जिससमय समाजने किसी माध्यम द्वारा विनिमय करना आरम्भ किया उसी समयसे द्रव्यका सूत्रपात होगया। बादमें द्रव्य कई रूपमें भिन्न भिन्न समाजोमें प्रयोगमें आया और विकसित होकर आजकल मुद्रा, नोट और बैंक धरोहरके रूपको प्राप्त हुआ। इस विकासकी कथाको हम आगे लिखेंगे।

मूल्य का माप-दंड

वस्तु-विनिमयकी प्रथामें एक कठिनाई औरभी है। कितने तेलके लिए कितना गेहूं दियाजाय और कितने तेलके बदले कितना वस्त्र मिल सकताहै इस हिसावके विना अदलबदलकी क्रिया सम्पादित नही होसकती है। एक वस्तुके एक इकाईके परिमाण के विनिमयमें जितनी परिमाणमें दूसरी वस्तु मिल सकतीहै उसको हम पहिली वस्तुका अर्थ कहेंगे। यदि एकसेर गेहूके वदले आधासेर तेर मिलसकता है तो गेहूका अर्थ आधासेर तेल हुआ और यदि एकसेर तेलके विनिमयसे दो गज़ कपड़ा मिल सकताहै तो तेलका अर्थ दो गज़ कपड़ा हुआ इत्यादि। स्पष्टहै जितनी भी वस्तुए विनिमयके निमित्तहै उन सबके सम्बन्धमें प्रत्येक वस्तुका अर्थ स्थापित कियेविना अदलबदलका कार्य पूरा नही होसकता है। हम इस कठिनाईके गुरुत्वका आजकल की व्यवस्थामें अनुमानही नही करसकते है क्योकि आजकल प्रत्येक वस्तुके अर्थको हम द्रव्यके रूपमें प्रकट करतेहै जिसको हम उस वस्तुका मूल्य कहते है। जैसे एक सेर गेहूका मूल्य आठआना, एकसेर तेलका मूल्य दोरुपया, एकगज़ कपड़ेका मूल्य एकरुपया इत्यादि। परन्तु जिस समाजमें द्रव्यका प्रयोग न होताहो उसमें तो

प्रत्येक वस्तुका अर्घ अन्य सभी वस्तुओंमें निर्धारित करना पड़ता है। इससे विनिमयके कार्यमें असुविधा होजाती है। यह असुविधा दूर होसकती है यदि समाजके लोग किसी एक वस्तुको प्रामाणिक मानकर अन्य वस्तुओंका अर्घ उसी एक प्रामाणिक वस्तुके परिमाणमें प्रकट करें। उदाहरणके लिए कल्पना कीजिए किसी समाजने गेहूंको प्रमाण-वस्तु मानलिया और अन्य वस्तुओंके अर्घको गेहूंके रूपमें प्रकट करने की प्रथाको स्वीकार करलिया। किसीसमय विशेषमें मान लीजिए एकसेर तेलका अर्घ दोसेर गेहूं और एक गज कपड़ेका अर्घ एकसेर गेहूं है तो हम कह सकतेहैं कि एकसेर गेहूंके बदले दोसेर तेल मिलसकता है अथवा एकसेर तेलके बदले आधागज कपड़ा मिलसकता है। इसीप्रकार यदि सभी वस्तुओंका अर्घ गेहूंके रूपमें ज्ञातहै तो बड़ी सुगमतासे एक वस्तुका अर्घ दूसरी वस्तुके परिमाणमें जाना जासकता है और वस्तु-विनिमयके कार्य अधिक सुविधाके साथ होसकते हैं। यह आवश्यक नहींहै कि गेहूं विनिमयका माध्यम हो। विनिमयकी प्रथा अदलबदलकी होसकती परन्तु वस्तुओंका अर्घ गेहूं द्वारा निर्धारित हो। यहांपर गेहूंसे मूल्य-स्टैंडका कार्य लिया जारहा है। आजकल भी द्रव्यसे यह कार्य लियाजाता है अतएव हम कहसकते हैं कि जब लोग एक वस्तुका अर्घ सीधे दूसरी वस्तुके परिमाणमें प्रकट न कर किसी अन्य प्रामाणिक वस्तुके परिमाणमें निर्धारित करने लगतेहैं वह प्रामाणिक वस्तु द्रव्यका कार्य करने लगती है। यह कहना कठिन है कि समाजमें द्रव्यका आविष्कार विनिमयके माध्यमके रूपमें हुआ अथवा मूल्यके माप-दण्डका कार्य सम्पादित करने के निमित्त हुआ। द्रव्यके दोनों धर्म बड़े महत्त्वके हैं। ऐसाभी होसकता है कि किसी समाजमें द्रव्यका प्रयोग आरम्भमें विनिमयके माध्यमके लिए और किसीमें मापदण्ड के लिए हुआ हो। आधुनिक समाजमें द्रव्यके द्वारा दोनों कार्य साथ साथ सम्पादित होते हैं। इसलिए इसको किसीभी वस्तुका मूल्य प्रकट किया जासकता और उसके साथ उसके विनिमयका कार्यभी होता है। [illegible]

[illegible]

जाताहै और चुकता कियाजाता है। उपभोक्ताके सामने जब भिन्न भिन्न वस्तुओ का मूल्य द्रव्यके रूपमें रहताहै और द्रव्यके रूपमें ही उसको आय मिलतीहै तो उसको भिन्न भिन्न वस्तुओके मूल्योंकी तुलना करके उनको भिन्न भिन्न मात्रामें मोल लेनेकी सुगमता रहती है। इसीप्रकार से यदि उत्पादकोंको उत्पत्तिके साधनोंका मूल्य मालूम हो और उनकी सहायतासे बनायीहुई वस्तुओंका मूल्यभी, तो वह इनके आधारपर अपने उद्योग धन्धोंकी उत्पत्तिकी मात्रा और उत्पादनकी रीतिको इसप्रकार से निश्चित करनेका प्रयत्न करेगा जिससे उसको अधिकतम लाभ हो। द्रव्यकी सहायताके विना इसप्रकारके गणित करनेमें बहुत असुविधा होजाती है।

कालयापन माप-दण्ड

मूल्यके माप-दडका कार्य करनेके कारण द्रव्य द्वारा ऋण और उधार सम्बन्धी कार्य भी सुगम होजाते है, आजकल की आर्थिक व्यवस्थामें ऋण और उधारके बिना काम नही चलता है। द्रव्यके रूपमें ऋण लेनेसे बडी सुविधा होती है। मानलीजिए किसी किसानको बैल खरीदना है। द्रव्यके रूपमें ऋण पानेसे वह बैल खरीदसकता है और उसकी सहायतासे उसको जो आय होतीहै उससे ऋण चुकता करसकता है। यदि द्रव्यका प्रयोग न रहता तो किसी बैलवालेसे उसको बैल उधार मोल लेनापडता और यहभी निश्चय करनापडता कि भविष्यमें किस वस्तुको कितने परिमाणमें देकर वह उऋण होसकता है। यह झझटका काम है। अतएव द्रव्यहीन समाजमें लेनदेन का काम सीमित मात्रामें ही होसकता है। द्रव्यके रूपमें ऋण लेने और वापस करनेमें सुभीता रहता है। इसीप्रकार हम दुकानदारोसे अनेक वस्तुए उधार लेतेहै और भविष्यमें द्रव्य द्वारा उसका भुगतान करते है। दुकानदारोको भी भरोसा रहताहै कि उनको जो द्रव्य मिलेगा उससे वह विक्रीकी अथवा अपनी उपभोगकी वस्तुए प्राप्त करसकेंगे। इसप्रकार द्रव्यके द्वारा भविष्यके लेनदेन सम्बन्धी कार्य सुगमतासे सम्पादित होतेरहते है। लोग समझतेहै कि अन्य वस्तुओकी अपेक्षा द्रव्यके अर्थमें परिवर्तन कम होता है। अतएव द्रव्यसे कालयापन माप-दडका कामभी लिया जासकता है। यहापर हम यहभी कहदेना चाहतेहै कि द्रव्यके अर्थमें सदैव स्थिरता नही रहती है। समय समयपर परिवर्तन होनेसे भिन्न भिन्न व्यक्तियोको आर्थिक

वह पहिले उस वस्तुको किसी लोकप्रिय वस्तुसे विनिमय करले तो लोकप्रिय वस्तु की सहायतासे उसको अपनी आवश्यकताकी वस्तुओंको प्राप्त करनेमें सुविधा होगी और यह लोकप्रिय वस्तु विनिमयके माध्यम अर्थात् द्रव्यका कार्य करने लगेगी।

शनैः शनैः कुछ वस्तुएं अनुभवसे द्रव्यके कार्योंके लिए अधिक उपयुक्त ज्ञात होने लगी। यदि अन्नको द्रव्य मानागया तो अनावृष्टिके वर्ष द्रव्यके परिमाणमें कमी होजाती है और सुवृष्टिके वर्ष प्रचुरता। इसप्रकार द्रव्यके परिमाणमें अधिक मानामें परिवर्तन होने लगताहै जोकि वाञ्छनीय नहीं होता। इसके अतिरिक्त अन्न द्रव्यको सुरक्षित रखनेका प्रबन्ध करनाभी एक समस्या होजाती है। इसीप्रकार यदि गाय, बकरी इत्यादि पशुओंसे द्रव्यका कार्य लियाजाय तबभी अनेक कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है। यदि किसी संक्रामक रोगके कारण पशु मरने लगें तो द्रव्यके परिमाणमें भी क्षति होती जायगी। इसके अतिरिक्त गाय अथवा बकरी भिन्न आकार प्रकार और रूपरंग की होती है। किसप्रकार को प्रामाणिक माना जाय? इसीप्रकार अन्य वस्तुओंमें भी द्रव्यके रूपमें काममें लानेके लिए कुछ न कुछ त्रुटियां ज्ञात होने लगी। अनुभवके आधार पर धातुएं इनमें भी सोना और चांदी द्रव्यके कार्यके लिए अधिक उपयोगी सिद्ध हुई। अतएव अन्ततोगत्वा सभी समाजोंमें इन्हीं वस्तुओंसे द्रव्यका काम लियाजाने लगा।

धातु-द्रव्य

सोने और चांदीमें अनेक गुणहै जिनके कारण इन धातुओंका प्रयोग द्रव्यके लिए होता आया है। इनमें एक प्रधान गुण यहहै कि ये सभीको प्रिय पदार्थ है। हम पहिले ही बताचुके है कि जो पदार्थ लोकप्रिय होगा उससे द्रव्यका कार्य लेनेमें सुगमता होगी। सोने और चांदीमें एक गुण यहभी है कि ये बहुमूल्य धातुए है अतएव इनके छोटे परिमाणमें अधिक मूल्य निहित रहता है। इससे यह लाभ होता है कि अधिक परिमाणमें द्रव्य सञ्चय करनेके लिए अधिक स्थानकी आवश्यकता नहीं होतीहै और एक स्थानसे दूसरे स्थानको द्रव्य भेजनेमें भी सुगमता होती है। सोना और चांदी बहुत टिकाऊ पदार्थ है। ये बहुत धीरे धीरे घिसते है और युगो तक रखे रहनेपर भी इनमें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न नहीं होता है। अतएव भविष्य

के लिए उनके रूपमें थोड़ेसे मूल्य संचित रक्खा जासकता है। सोने चांदीके छोटे छोटे टुकड़े किये जासकते हैं। सभी टुकड़ोंमें सादृश्य होता है और छोटे छोटे टुकड़ों का कुल मूल्य उस बड़े टुकड़ेके बराबर होता है जिसके वे टुकड़े हैं। यह गुण प्रत्येक वस्तुमें नहीं पायाजाता है। उदाहरणके लिए यदि बकरीको द्रव्य मानाजाय तो उसके अलग अलग हिस्सोंमें अर्थात् टांग, पूंछ, सिर, इत्यादिमें बहुत असमानता पाईजाती है। सोने और चांदीको पिघलाकर मुद्राके रूपमें परिवर्तित किया जासकता है, सोने चांदीमें एक गुण यहभी है कि ये न तो इतने बड़े परिमाणमें पाये जाते हैं कि इनके बने मूल्यकी मुद्रा इतनी बड़ी हो कि उसको लेजानेमें असुविधा हो और न इतने कम परिमाणमें पाये जाते हैं कि कम मूल्यकी मुद्रा इतनी छोटी हो कि उसको जेबमें रखनाभी एक समस्या होजाय। अधिक टिकाऊ होनेके कारण सोने चांदी की किसी समय विशेषकी, उत्पत्तिकी मात्रा उनके कुल संचित परिमाणका एक छोटा सा भाग होती है। अतएव यदि किसी वर्ष खानोंसे अधिक और किसी वर्ष कम सोना चांदी प्राप्त हो तो उसके कारण सोने चांदीके कुल परिमाणमें अधिक अन्तर नहीं पड़ता है। कुछ अर्थशास्त्रियोंके विचारसे इन गुणोंके कारण इन धातुओंके और इन धातुओंसे बनी मुद्राओंके मूल्यमें कम परिवर्तन होता है।

मुद्रा

प्रारम्भमें व्यापारमें सोने चांदी सभी प्रकारके छोटे बड़े टुकड़ोंसे विनिमयका काम लिया जाता था। [illegible]

माणके अर्घके बराबर हो। यदि मुद्राको गला दियाजाय तो धातुके टुकड़ेका उतना ही अर्घ होगा जितना कि उस मुद्राका था अर्थात् दोनोकी क्रयशक्ति समान होगी। इसका प्रधान कारण यहहै कि प्रामाणिक मुद्राके सम्बन्धमें लोगोको स्वतन्त्रता रहती है कि वह किसी परिमाणमें प्रामाणिक धातुको टकमालमें लेजाकर उसकी प्रामाणिक मुद्राए ढलवा सकतेहै और उनको गलाकर फिरसे अमुद्रित रूपमें परिवर्तन कर सकते है। अब यदि प्रामाणिक मुद्राकी क्रय शक्ति उसमें स्थित धातुकी क्रय शक्ति से अधिक हो तो लोग उस धातुको मुद्राके रूपमें रखना चाहेंगे और यदि मुद्राकी अपेक्षा धातुका अर्घ अधिकहो तो मुद्राको गला डालेंगे। इसप्रकारके अदलाव-बदलाव से दोनोका मूल्य समान रहेगा।

इसके प्रतिकूल साकेतिक मुद्राका अर्घ उसमें स्थिति धातुके अर्घसे कही अधिक होता है। यदि हम साकेतिक मुद्राको गलाडालें तो-उससे जो अमुद्रित धातु प्राप्त होगी उसका अर्घ उतना नही होगा जितना कि उसका मुद्राके रूपमें था। साकेतिक मुद्राका प्रयोग अधिकतर छोटे मूल्यके विनिमय कार्योंके लिए होता है। अतएव इन मुद्राओको ताबा, गिलट जैसे अल्पार्य धातुसे बनाते है। इसप्रकार की मुद्राओकी ढलाई राज्य स्वय करताहै जिससे कि इनके परिमाणपर नियन्त्रण रहे और मुद्राका अर्घ धातुके अर्घसे अधिक बना रहे।

राज्य द्वारा निर्मित और अकित मुद्राको चलनमें एक विशिष्ट स्थान प्राप्त हो जाता है। इस द्रव्यको लेनेसे इन्कार नही किया जासकता। इसप्रकार के द्रव्यको हम राज-प्रामाणिक ग्राह्य द्रव्य कहेंगे अर्थात् ऐसा द्रव्य जोकि राज्यसे प्रमाणित होने के कारण सभीको ग्राह्य होजाता है। यदि हमें किसी महाजन या दुकानदारको ऋण अथवा मूल्य चुकानाहै तो हम इस प्रकारके द्रव्य द्वारा चुका सकतेहै और दुकान-दार अथवा महाजन उसको अगीकार करनेको न्यायत: बाध्य किया जासकता है, हाँ, एकबात यहहै [illegible] मुद्रा [illegible] परिमाणमें दी जासकती है और साकेतिक मुद्राए ए[illegible] रुपया प्रारम्भमें प्रामाणिक मुद्राथा अतएव यह [illegible] १८९३ के पश्चात इसका पद साके[illegible] [illegible]में ग्राह्य है। अठन्नी से नीचे [illegible] ग्राह्य है। साकेति[illegible] मूल्यके

सामने बहुत कम है। आधुनिक कालमें द्रव्य अधिकतर नोट और साख-द्रव्यके रूप में अधिक मात्रामे चलनमे पायाजाता है। अतएव अब हम इनका विवेचन करेंगे।

नोट

कागजपर छपेहुए द्रव्यको हम नोट कहते है। आधुनिक कालमें नोट छापनेका कार्य राज्य स्वय करताहै अथवा केन्द्रीय बैंक द्वारा करवाता है। नोटोको राज-प्रमाणित ग्राह्य द्रव्यका पदभी प्राप्त है। नोटका इस पदतक पहुचनेका एक बडा इतिहास है। सक्षेपमें प्रारम्भमें नोट धात्विक द्रव्यके स्थानापन्नके रूपमें काममें लायागया। धात्विक द्रव्यको बडे परिमाणमें एक स्थानमे दूसरे स्थानको ले जानेमें व्यय, असुविधा और भय रहता है। अतएव धात्विक द्रव्यको किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति अथवा सस्था के पास धरोहरके रूपमें रखकर उसके स्थानमें कागजकी रसीदो द्वारा विनिमयके माध्यमका कार्य लेनेकी प्रथा चलपडी। जिस व्यक्ति अथवा सस्थाके पास धात्विक द्रव्य रखा जाताथा वह धरोहर रखनेवालोको एक लिखित पत्र देतेथे जिसके अनुसार वह पत्र-वाहकोको उसपर लिखित धातु-द्रव्य देनेकी प्रतिज्ञा करते थे। आधुनिक नोटोमें भी इस प्रकारका वाक्य लिखा रहताहै 'मैं वाहकको...रुपये देनेकी प्रतिज्ञा करता हू' और उसमें रिजर्व बैंक (जो भारतका केन्द्रीय बैंकहै) के गवर्नरके हस्ताक्षर रहते है। इस प्रकारके लिखित प्रतिज्ञा-पत्र व्यापार और लेनेदेने की सुविधा के लिए भिन्न भिन्न मूल्योवाले बनाये जानेलगे। आजकल भी एक रुपया, दो रुपये पाच रुपये, दस रुपये और सौ रुपयेके नोट चलनमें है। आधुनिक नोटोके इतिहास का यही श्रीगणेश है।

जो व्यक्ति अथवा सस्था इस कार्यको करने लगी उसको अनुभवसे ज्ञात हुआ कि जो धात्विक द्रव्य उनके पास धरोहरके रूपमें रखा रहताथा उसका कुछ हिस्सा उनके पास निश्चेष्ट पड़ा रहताहै क्योकि उनके दियेगये सभी प्रतिज्ञा-पत्र धात्विक द्रव्यमें परिवर्तन कराये जानेके लिए एक साथही नही समर्पित किये जातेथे। अर्थात् कुछ नोट (इन प्रतिज्ञा-पत्रोको अब हम नोटके नामसे ही सम्बोधित करेंगे) बराबर चलनमें रहते थे। उदाहरणके लिए यदि किसी सस्थाने दस लाख रुपये (धात्विक) की धरोहरके स्थानपर दस लाख रुपयेके नोट चलनमें डालदिये तो इन नोटोका

कुछ भाग तो चलनमें रहताथा और कुछ भाग धात्विक द्रव्यमें परिवर्तित होनेके लिए इस संस्थाके पास आताथा। यदि नोटोंका आधा भाग चलनमें रहे और आधा परिवर्तनके लिए लायाजाय तो संस्थाको पांच लाख रुपया तो परिवर्तनके कार्यके लिए अपने पास रखना पड़ेगा और दूसरे पांच लाख रुपये उनके पास निश्चेष्ट और निरर्थक पड़े रहेंगे। इस बेकार पड़ेहुए द्रव्यसे संस्थाने (जिसको अब हम बैंक के नामसे सम्बोधित करेंगे क्योंकि जैसा आगे चलकर बताया जायगा कि इस प्रकारके कार्य करनेवाली संस्थायें बैंक बनगयीं) अपना लाभ बढ़ानेकी युक्ति ढूंढ निकाली। हम जानतेहैं कि अनेक ऐसे व्यक्ति होतेहैं जिनकी चालू-आय चालू-व्यय को पूरा करनेमें पर्याप्त नहीं होती है। ऐसे व्यक्ति ऋण लेकर अपना काम चलाने का प्रयत्न करतेहैं और ब्याज देनेको भी उद्यत रहते हैं। यदि इस प्रकारका कोई व्यक्ति बैंकके पास ऋण लेनेके लिए पहुंचगया और बैंकने उसको ऋण देना स्वीकार करलिया तो उस व्यक्तिको व्यय करनेके लिए रुपया मिलगया और बैंकको भी ब्याजके रूपमें आमदनी होगयी। अब हमको यह देखनाहै कि इसऋण लेन-देन के कार्यसे द्रव्यके परिमाणपर क्या प्रभाव पड़ा? मान लीजिए इस व्यक्तिको बैंकने १० हजार रुपया ऋण दिया। इस ऋणको दो प्रकारसे दिया जासकता है। एक तो यह है कि जो पांच लाख रुपया बैंकके पास निश्चेष्ट पड़ा हुआहै उसमें से १० हजार रुपए निकालकर देदिया जाय। ऐसा करनेसे यह रुपया चलनमें आजायगा और [illegible] नोट परिवर्तनके [illegible] चलनमें हैं, उनका धात्विक द्रव्यका आधार बैंकके पास [illegible] लाख रुपयेसे [illegible] लाख ९० हजार रुपया रहजायेगा [illegible] परिमाणमें [illegible] धात्विक द्रव्यका परिमाण [illegible]। [illegible] हजार रुपयोंकी नोटोंकी [illegible]। ऐसा [illegible] हजार रुपयेके अतिरिक्त नोट चलनमें आजायेंगे [illegible] नोटोंमें [illegible] चलनमें [illegible] बैंक द्वारा [illegible] १० हजार [illegible] द्रव्य [illegible]

[illegible]

सकता है। अनेक बैंकोंने अपनी इस शक्तिका दुरुपयोग किया। उन्होंने अपने लाभ के लिए इतनी प्रचुरतासे नोट चलनमें डालदिया कि उनको बदलनेके लिए उनके पास धात्विक द्रव्य बहुत अपर्याप्त मात्रामें रहगया। नोटोंके बदले धात्विक द्रव्य न देसकने के कारण अनेक बैंक फेल होगये और उनको अपना व्यवसाय बंद करना पडा। बैंकोंके फेल होनेसे आर्थिक कार्योंमें भी गडबडी आजाती है। समाजको इस गडबड़ीसे बचानेके लिए नोट छापने और प्रचलित करनेका काम राज्यने अपने हाथमें ले लिया अथवा केन्द्रीय बैंकको सौंप दिया। इन नोटोंको राज-प्रमाणित ग्राह्य द्रव्यका पदभी मिलगया।

विनिमय साध्य नोट

प्रारम्भमें नोट विनिमय साध्य थे अर्थात् उनको प्रचलित करनेवाले बैंकोंको मांगने पर उनके बदले धात्विक द्रव्य देनेको बाध्य रहना पडता था। इन बैंको द्वारा प्रचलित नोटोंको राज-प्रमाणित ग्राह्य द्रव्यका स्थान तो प्राप्त था नहीं। अतएव इन नोटोंको विनिमय-साध्य बनाये रखनेके लिए इनको पर्याप्त मात्रामें मुद्राकोष रखना पडता था। जब राज्य अथवा केन्दीय बैंकों द्वारा नोटोंका प्रचलन होनेलगा और इन नोटोंको राजप्रमाणित ग्राह्यताका पदभी प्राप्त होगया इसपरभी प्रारम्भमें ये नोट प्रामाणिक मुद्रा अथवा धातुमें एक निश्चित दरपर विनिमय साध्य बने रहे। राज्य अथवा केन्द्रीय बैंकोंको अपने मुद्रा अथवा धातुकोष को इतने परिमाणमें रखना पडता था जिससे नोटोंको इनमें विनिमय करनेकी मांग को वे पूरा कर सकें।

नोटोंके पीछे कितना कोष रखाजाय इस सम्बन्धमें दो प्रधान मत रहे है। एक मतको करेंसी सिद्धान्त और दूसरेको बैंकिंग सिद्धान्त कहते हैं। करेंसी सिद्धान्त के अनुसार–नोटोंके पीछे शत-प्रतिशत प्रामाणिक द्रव्यका कोष रहना चाहिए जिससे नोटोंपर जनताका विश्वास बनारहे और प्रत्येक अवस्थामें नोटोंके बदले प्रामाणिक द्रव्य दिया जासके। बैंकिंग सिद्धान्तके अनुसार प्रामाणिक-द्रव्य कोषका परिमाण सचित नोटोंके परिमाणके बराबर होनेकी आवश्यकता नही है क्योंकि सभी नोट एकबारगी ही प्रामाणिक द्रव्यमें परिवर्तित होनेके लिए नही लायेजाते

है। इसके अतिरिक्त आंशिक कोष रखनेसे द्रव्यके परिमाणमें लोच रहती है। व्यवहारमें नोटोंके प्रचलनका आधार बैंकिंग सिद्धान्त ही है।

नोटोंके परिमाणका कुछ भाग प्रामाणिक द्रव्यके आधारपर स्थित रहता है। कितना भाग किसके आधारपर रहे इस सम्बन्धमें दो मुख्य रीतियां व्यवहारमें लायीजाती है। एक रीति जिसका प्रमुख उदाहरण इंगलैंड रहाहै, यहहै कि साख द्रव्यके आधारपर जितने नोट प्रचलित कियेजाय, उनका परिमाण राजनियमसे निश्चित करदिया जाय। उसके ऊपर जितनेभी नोटहो उतनेही परिमाणमें प्रामाणिक मुद्रा अथवा धातु रखा जाय। इस नियमके अनुसार वर्तने से जबतक साखपत्र के आधार पर प्रचलित नोटोंका परिमाण निर्धारित सीमातक न पहुंचजाय तबतक उनका परिमाण बडी सुगमताके साथ बढाया और घटाया जासकता है। परन्तु जब उनका परिमाण निर्धारित सीमापर पहुंच जाताहै तो उसके पश्चात नोट-द्रव्य के परिमाणको बढानेकी आवश्यकता होनेपर उसी परिमाणमें प्रामाणिक धातु-द्रव्य की आवश्यकता होजाती है जिसके फलस्वरूप द्रव्यमें लोच कम होजाती है। दूसरी रीति प्रधानतः संयुक्त राज्य अमेरिकामें वर्ती गयी है। इसके अनुसार जितनाभी नोट-द्रव्य संचालित कियागया है उसके एक निर्धारित भागसे कम अनुपातमें प्रामाणिक द्रव्य-कोष न रहे और शेषभाग साख-पत्रके आधारपर रहसकता है। इसको आनुपातिक-कोष-पद्धति कहते हैं। उदाहरणके लिए यदि २५ प्रतिशत नोट द्रव्यके पीछे प्रामाणिक द्रव्य-कोष रखना अनिवार्यहो तो ७५ प्रतिशत साख-पत्रके आधार पर संचालित किया जासकता है। इस पद्धतिके अनुसार नोट संचालित करनेसे नोटोंके परिमाणमें अधिक सुगमतासे वृद्धिकी जासकती है। प्रामाणिक द्रव्यकी एक इकाई कोषमें आनेपर चार इकाई तक नोट संचालित किये जासकते है परन्तु साथ ही साथ इस आधारपर कोषसे एक इकाई प्रामाणिक द्रव्यके ह्रास होनेपर चार इकाई नोटोंको चलनसे वापिस लेना पड़ेगा।

अविनिमय-साध्य नोट

आधुनिक कालमें नोट अविनिमय-साध्य होगया है अर्थात इनके बदलेमें राज्य प्रामाणिक धातु-द्रव्य देनेको बाध्य नहीं है। प्रारम्भमें जब नोट चलनमें आया

उस समय नोटमें जनताका विश्वास उत्पन्न करने और बनाये रखनेके लिए यह आवश्यक प्रतीत होता था कि उनको सचालित करनेवाली सस्था उसके बदले एक निर्धारित मात्रा सोने अथवा चादीकी प्रामाणिक मुद्राओ अथवा अमुद्रित रूपमेंही सोना चादी देनेको बाध्य हो। सोने-चादीका, द्रव्य सम्बन्धी मूल्यके साथ साथ स्वाभाविक मूल्यभी होता है। अतएव लोगोकी ऐसी धारणा होगयी थी कि नोटकी क्रय शक्ति उस प्रामाणिक मुद्राके अन्तर्गतहै जो उसके बदलेमें प्राप्त होसकती है। इसी धारणाके अनुसार प्रारम्भमें नोट विनिमय-साध्य बनाये गये। कभी कभी युद्धकाल में नोटोकी इसप्रकारकी विनिमय साध्यता हटाभी लीजाती थी परन्तु अनुकूल अवस्था लौट आनेपर विनिमय साध्यता पुन: स्थापित करदी जाती थी। शनै: शनै: लोगोकी यह धारणा बदलने लगी कि नोट की क्रय-शक्ति सोने-चादीके अधीन है जब उन्होने देखाकि धात्विक द्रव्यमें अविनिमय साध्य नोटसे भी वस्तुए और सेवाए प्राप्त की जासकती है तो उनकी समझमें आनेलगा कि नोटमें विश्वास बनाये रखनेके लिए मूल बात यहहै कि वह अन्य वस्तुओमें विनिमय साध्य बना रहे अर्थात् उसके विनिमयसे अन्य वस्तुए प्राप्त होती रहें। द्रव्यसे हम यही चाहतेहै कि उसकी सहायतासे हमको वाछित वस्तुओको प्राप्त करनेमें सुविधा हो। जबतक द्रव्य से यह कार्य होता रहताहै तबतक द्रव्य किस पदार्थ का बना हुआहै इसका विशेष महत्त्व नही है। वह चाहे सोने का, चाहे चमड़ेका और चाहे कागजका ही बना हुआ क्यों नहो, यदि उसके बदलेमें हमको अन्य वस्तुएं मिल सकतीहै तो द्रव्यका कार्य चलता रहता है। इस विवेचनाके आधारपर हम एक महत्त्वपूर्ण निर्णयपर पहुचते है। वह यहकि द्रव्यकी क्रय-शक्ति अर्थात् अन्य वस्तुओको प्राप्त करनेकी शक्ति उस पदार्थपर अवलम्बित नहीहै जिससे उसका निर्माण हुआ है। दस रुपये का नोट जिस कागजपर छापा गयाहै उसकी निजी क्रय-शक्ति लगभग कुछभी नहीहै परन्तु नोटकी क्रय-शक्ति तो बहुत है। कागज का नोट जिसकी स्वयंकी कोई क्रय शक्ति नही और जिसके बदलेमें द्रव्याधिकारी सोना-चादी देनेको उद्यत नही किस कारणसे क्रय-शक्तिशाली होजाता है; उसका विवेचन बहुत महत्त्वपूर्ण है। एक कारण यहहै कि हम द्रव्यको अपने आर्थिक कार्योमें लानेके इतने अभ्यस्त होगये है और हमारी आर्थिक पद्धति इतनी द्रव्यमयी होगयी है कि बिना द्रव्यके हम एक पगभी आगेको नही बढसकते है। अतएव किसी प्रकारकाभी द्रव्य क्यों नहो

इसको उसका प्रयोजन है, उसका मूल्य और उसकी क्रय-शक्ति इस प्रयोजनसे स्पष्ट होजाती है। इसके अतिरिक्त राज्य-नियमोंके द्वारा प्रमाणित होनेके कारण हम इसको अस्वीकार नहीं करसकते हैं। अतएव जबतक राज्यकी प्रतिष्ठा है और उसका दबदबा है तबतक उसके द्वारा प्रमाणित द्रव्य मूल्यवान रहेगा। यह दूसरी बात है कि उसका क्या मूल्य होगा परन्तु कुछ न कुछ मूल्य अवश्यही रहेगा। इस प्रसंगमें यह बातभी समझमें आजाती है कि द्रव्यमें विश्वास बनाये रखनेके लिए आवश्यकता इस बातकी है कि उसकी क्रय-शक्ति बनीरहे और उसमें स्थिरताभी रहे। यदि नोट द्रव्यमें इनदोनों बातोंका समावेश रहे तो इससे अधिक नोटसे प्राप्त करनेके लिए कुछ और बाकी नहीं रहजाता है। द्रव्यके मूल्यमें स्थिरताका महत्व और अस्थिरताके उत्पन्न होजानेके कारणोंकी विवेचना हम द्रव्यके अर्थके अध्यायमें करेंगे। यहांपर इतना लिखदेना पर्याप्त है कि अविनिमय-साध्य नोट द्रव्यकी क्रय-शक्तिको बनाये रखनेके लिए द्रव्याधिकारियोंको विशेष प्रबन्ध और नियन्त्रण करनेकी आवश्यकता होती है।

विनिमय-साध्य नोट पद्धतिमें द्रव्याधिकारियोंको यान्त्रिक नियमोंके अनुसार द्रव्यके परिमाणको व्यवस्थित करनेमें कठिनता पड़ती है, अविनिमय-साध्य नोट पद्धतिमें द्रव्यके परिमाण को उत्पत्ति, व्यापार इत्यादिके अनुसार बनानेमें सुविधा रहती है। परन्तु इस पद्धतिमें एक खतरा यह है कि शासनके अधिकारी अपना स्वार्थ देखकर द्रव्य का परिमाण इतनी प्रचुरतासे बढ़ादेंगे जिससे द्रव्य स्फीति की अवस्था उत्पन्न होजाय। आधुनिक इतिहासमें पता चलता है कि युद्धकालमें और अन्य आर्थिक संकटोंके अवसरोंपर प्रायः शासन बहुत बड़े परिमाणमें अविनिमय साध्य नोट व्यवहारमें लाते हैं जिससे द्रव्यकी क्रय-शक्तिका ह्रास हो जाता है और आर्थिक अव्यवस्था उत्पन्न होजाती है। इससे यह निष्कर्ष [illegible] [illegible] आवश्यकता इस बातकी है कि [illegible] और समझकर इस द्रव्य-पद्धतिको व्यवहारमें लाया जाय।

धातु-द्रव्य

[illegible]

जाता है। इस द्रव्यका सम्बन्ध बैंकोंसे है। हम बैंकमें रुपया जमा करते हैं। वह हमारी धरोहर है जिसको हम बैंकसे वापस लेसकते हैं। एक धरोहर चालू-हिसाब वाली होती है जिसको कभी भी बिना पूर्वसूचनाके वापस लिया जासकता है। दूसरी प्रकारकी धरोहर एक निर्धारित समयके लिए बैंकके पास जमाकी जातीहै जिसको साधारणतः उस समयके बीतने परही वापस मागाजा सकता है। इस धरोहरको द्रव्यके रूपमें काममें लानेकी क्रिया चेक द्वारा होती है। चेकके द्वारा धरोहर रखने वाला बैंकको आदेश देताहै कि वह उसके धरोहरमें से चेकमें लिखी रकम नामांकित व्यक्तिको अथवा उसके आदेशानुसार किसी अन्य व्यक्तिको दे दे। चेकके द्वारा धरोहरके अन्तर्गत कोईभी रकम सुविधापूर्वक दी जासकती है। इस प्रबन्धमें धनको खोनेकी आशकाभी नही रहतीहै क्योंकि वहतो बैंकमें सुरक्षित है। इसके अतिरिक्त चेकबुक सरलतासे जेबमें लेजायी जासकती है। यदि कोई व्यक्ति चेकके रूपमें अपना पावना स्वीकार करताहै तो उसके मूलमें साख और विश्वास रहता है। चेक तो राज-प्रमाणित द्रव्य नही है। यहभी होसकताहै कि जिस व्यक्तिने चेक दियाहै उसके नामपर बैंकमें धरोहर जमा न हो अथवा उपयुक्त मात्रामें नहो। अतएव जब हम चेक स्वीकार करतेहै तो इसका अर्थ यह हुआ कि हम चेक देनेवालेकी साखपर विश्वास रखते है। इसी कारणसे हमने इस द्रव्यको साख-द्रव्यका नाम दिया है।

साख-द्रव्य का सृजन

हम चेक द्वारा केवल उतनेही द्रव्यके परिमाणको हस्तान्तरित नही करसकते है जितना हमने धरोहरके रूपमें रखा है। यदि हम बैंकोके लेनीदेनी के लेखोको देखें तो हमको पता लगताहै कि इनमें दीगयी धरोहरका कुल परिमाण राज्यद्वारा प्रचलित द्रव्यके परिमाणसे कईगुना अधिक पाया जाताहै जबकि उस द्रव्यका एक बड़ा हिस्सा बैंकोमें जमा नही कियाजाता है। इससे यह ज्ञात होताहै कि बैंक स्वय भी साख-द्रव्यका सृजन करते है। यह कार्य दोप्रकार से होता है। जब बैंक ऋण देतेहै तो ऋण लेनेवालेको अधिकार देदेते है कि वह बैंकपर ऋणके परिमाण तक चेक लिख सकताहै और बैंक उन चेकोका भुगतान करदेगा। जिसप्रकार बैंकमें धरोहर रखनेवाला अपनी धरोहरको बैंक द्वारा वापस लेसकता है अथवा हस्तान्तरित

भी कुछ भाग तो राज-प्रामाणित द्रव्यमें मागा जाताहै और शेष भाग बैंकोमें ही एक आसामीसे दूसरे आसामियोके नामपर जमाहोता है। उदाहरणके लिए मोहनने ये जो ५००० रुपये इलाहाबाद बैंकसे ऋण लियाथा उसमेंसे यदि वह चेक द्वारा ५०० रुपये रामको हस्तान्तरित करताहै और राम उस चेकको अपने नामपर बैंकमें जमा करताहै तो रामके नाममें ५०० रुपयेकी धरोहर जमा हो जाती है। अब यदि इस धरोहरमें से राम ५० रुपयेका चेक श्यामको देताहै और श्याम उस चेकको बैंकमें जमा करनेके लिए भेज देताहै तो बैंकके खातेमें रामकी धरोहरमें ५० रुपये को घटाकर श्यामकी धरोहरमें ५० रुपये जोड दियाजाता है। इसप्रकार राज-प्रामाणित द्रव्यको बैंकोके कोषसे निकाले बिनाही लेन-देन का काम चलता रहता है।

इस विवेचनसे यह नही समझलेना चाहिए कि कुल साख-द्रव्य इसीप्रकार एक व्यक्ति अथवा सस्थाके नामसे अन्य व्यक्तियों अथवा सस्थाओके नामपर बैंकोके खातों में विचरता रहता है। इसका कुछ अशतो अवश्यही राज-प्रामाणित द्रव्यके रूपमें मागा जाता है। अनेक व्यक्तियोका बैंकोमें हिसाब नही रहता है। अतएव इनको जो चेक मिलतेहै उनको येलोग भुनालेते है। इसके अतिरिक्त सभीलोग चेक लेना स्वीकार नही करते है। जैसे धोबी, नाई, सेवक, दूधवाला। इस प्रकारके लोगोको धात्विक अथवा नोटके रूपमें ही इनका पावना देना पड़ता है। इन कार्योके लिए बैंकोसे राज-प्रामाणित द्रव्य लेना पड़ता है।

अनुभवके द्वारा बैंकोको पता चलजाता है कि समय समयपर कुल साख-द्रव्यका कितना भाग राज-प्रामाणित द्रव्यके रूपमें मागाजाता है। यदि पाचवां भाग मागा जाय तो बैंकोको कुल साख-द्रव्यका २० प्रतिशत राज-प्रामाणित द्रव्यके रूपमें रखना पड़ेगा और यदि दसवा भाग मागाजाय तो बैंकोको केवल १० प्रतिशत इस रूपमें रखना होगा। इस विवेचनसे हमको यहभी ज्ञात होजाता है कि बैंक किस सीमातक साख-द्रव्यकी सृष्टि करसकते है। बैंक जिस परिमाणमें साख-द्रव्यकी वृद्धि करतेहै उसी परिमाणमें वे अपने को राज-प्रामाणित द्रव्य देनेका देनदार बनाते रहते है। अब चूकि बैंकोके पास राज-प्रामाणित द्रव्य सीमित परिमाणमें रहता है अतएव वे अपरिमित परिमाणमें साख-द्रव्य चलनमें नही डालसकते है। यदि साख-द्रव्यके स्वामी उसका दसवा भाग राज-प्रामाणित द्रव्यमें मागतेहै तो जितना राज-प्रामाणित

२३

द्रव्य पद्धतियां

द्रव्य पद्धतियों के प्रकार

भिन्न भिन्न देशोमें भिन्न भिन्न समयोमें भिन्न भिन्न द्रव्य-पद्धतियोका चलन रहा है। इनको हम दो मुख्य विभागोमें बाट सकते है। पहिले विभागमें धात्विक द्रव्य-पद्धतियां है और दूसरे विभागमें अविनिमयसाध्य द्रव्य-पद्धतिया। धातु-पद्धति में केवल एकधातु सोना अथवा चादी प्रामाणिक माना जासकता है अथवा दोनो धातु साथ साथ प्रामाणिक माने जासकते है। पहिलको एक धातु-पद्धति और दूसरेको द्विधातु-पद्धति कहते हैं। एक धातु-पद्धतिमें सोना अथवा चादी प्रामाणिक द्रव्यके काममें लायेजाते है। इनमेंसे स्वर्ण-द्रव्य-पद्धति स्वय तीन रूपमें रही है:

१. स्वर्ण-मुद्रा-पद्धति।

२ अमुद्रित-स्वर्ण-पद्धति।

३. स्वर्ण-विनिमय-पद्धति।

चादीवाली द्रव्य-पद्धतिके भी इसीप्रकार तीनरूप होसकते हैं। परन्तु व्यवहारमें यह मुद्रा-पद्धतिके रूपमें ही रही है। भारतमें १८३५ से १८९२ तक यही पद्धति रही है। द्विधातु-पद्धतिके भी दोभाग किये जासकते है। एक स्थिति तो शुद्ध द्विधातु-पद्धतिकी है जिसमें सोना और चादी दोनोंकी मुद्राओको प्रामाणिक मानाजाता है और दोनोकी ढलाई अमर्यादित परिमाणमें होती है, दूसरी अवस्था वहहै जिसमें दोनो धातुओकी मुद्रायें चलनमें तो रहतीहै किन्तु केवल सोनेकी मुद्राओको अमर्यादित परिमाणमें ढलवाया जासकता है। चादीकी मुद्राओका स्वतन्त्र रूपसे ढलवाना बन्द करदिया जाता है। इस प्रकारकी द्विधातु-पद्धतिको हम अपूर्ण द्विधातु-पद्धति कहेंगे।

यह होगा कि बाजारमें चांदीका परिमाण कम और सोनेका अधिक होनेसे उनमें १:२० का अनुपात पुनः स्थापित होने लगेगा। इस तर्कमें कुछ सार अवश्यहै परन्तु सोने और चांदीके पारस्परिक मूल्यको बनाये रखनेके लिए यह आवश्यक है कि अनेक देशोमें द्विधातु-पद्धति चलनमें हो और ये देश सहकारितासे सोने और चांदीकी टकसाली दर नियत करें और उसको बनाये रखनेके लिए चेष्टा करें। यदि विशेष कारणसे किसी एक धातुका मूल्य और उसकी माग गिरती जारही है, तो टकसाली दरमें भी परिवर्तन करना आवश्यक होजायेगा।

द्विधातुवादमें एक विशेष त्रुटि यहहै कि जब जब सोने और चांदीके टकसाली और बाजार दरमें भिन्नता आजाती है तब तब उस धातुकी मुद्रा जिसका बाजारमें अधिक मूल्य रहता है, चलनसे लुप्त होनेलगती है और चलनमें वही मुद्रा रहजाती है जिसका बाजारभाव गिरगया हो। उसप्रकारकी परिस्थितिमें चलनमें कभी केवल चांदीकी ही और कभी केवल सोनेकी ही मुद्रायें पायीजाती है।

ग्रेशम-नियम

इंगलैंडके एक वाणिज्य-मंत्री सर टौमस ग्रेशमने इस सम्बन्धमें एक सिद्धान्त प्रतिपादित कियाहै जिसको ग्रेशम-नियम कहते है। इसके अनुसार जब अच्छी और बुरी दोनों प्रकारकी मुद्राओंका चलन हो, तो अच्छी मुद्राए चलनसे लुप्त होने लगतीहै और बुरी मुद्राए चलन में रहजाती है। यहबात प्रत्यक्ष देखीगयी है कि लोग पूरी तौलवाली नयी मुद्राओंका संग्रह करतेहै, उनको पिघलातेहै अथवा दूसर देशोमें भेजते है जहा उनमें स्थित धातुका मूल्यही मान्य होता है और चलनमें पुरानी, घिसी अथवा कटीहुई मुद्राएं रहजाती है। द्विधातुवादमें जिस धातुकी बाजार दर गिरजाती है उस धातुकी मुद्रातो चलनमें रहतीहै और जिस धातुकी दर टकसाली धातुसे अधिक रहतीहै उसकी मुद्राए चलनसे लुप्त होने लगती है।

स्वर्ण-द्रव्य-पद्धति

एक धातु-पद्धतिमें स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिको महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त रहा है। २० वर्ष

लगाना पड़ता है। दूसरे, चलनमें रहनेके कारण, घिसनेसे भी धातुकी हानि होती है। तीसरे, यहकि इस पद्धतिके अन्तर्गत द्रव्यके परिमाणको आर्थिक परिस्थितिके अनुकूल बनानेमें कठिनाई होती है। अनुभवसे यहभी ज्ञात हुआ कि देशके भीतर चलनके कार्यके लिए स्वर्ण-मुद्राकी कोई आवश्यकता नही होती, विनिमयके कार्यके लिए कागजकी बनी मुद्रा अर्थात् नोटसे भी काम चलसकता है जैसाकि युद्धकालमें हुआ था। अन्तर्राष्ट्रीय लेनदेन की विषमता दूर करनेके लिए धातुकी मुद्राकी कोई आवश्यकता नही होती। अतएव युद्धकालके बाद जो स्वर्ण-द्रव्य-पद्धति प्रचलित हुई उसको अमुद्रित स्वर्ण-पद्धतिका नाम दिया गया। इसके अन्तर्गत चलनेमें तो नोट और साकेतिक मुद्राए रही, परन्तु इनके वदलेमें द्रव्याधिकारी स्वर्ण-मुद्राए देनेको बाध्य नही थे। स्वर्ण मुद्राके स्थानपर अमुद्रित स्वर्ण एक निर्धारित दरसे दियाजाता था। किसी किसी देशमें इसप्रकार का प्रबन्ध हुआ कि स्वर्ण एक विशेष परिमाणसे कम परिमाणमें नही दियाजाता था। इसका यह उद्देश्य था कि द्रव्याधिकारियोके पासजो स्वर्णकोष जमा रहताथा उसका प्रयोग देशके भीतरके कार्योके लिए नही बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय कार्योके लिए कियाजाये। अमुद्रित स्वर्ण-द्रव्य-पद्धति स्वर्ण-मुद्रा-पद्धति से कम व्ययवाली हुई। परन्तु स्वर्णकोष की आवश्यकतातो इसमेंभी बनी रहती है और द्रव्यका परिमाणभी इस कोषसे सलग्न रहता है।

स्वर्ण-विनिमय-द्रव्य-पद्धति

युद्धकालके बाद कुछ देशोने स्वर्ण-विनिमय-पद्धतिको ग्रहण किया। इस पद्धतिवाले देशोको न तो स्वर्ण मुद्राओको चलनमें लाना पडता है और न अन्य प्रकारके द्रव्यके बदलेमें अमुद्रित सोना देना पडता है। देशके द्रव्यके बदलेमें राज्य किसी ऐसे देशके द्रव्यको देनेकी प्रतिज्ञा करताहै जिसमें स्वर्ण-मुद्रा अथवा अमुद्रित-स्वर्ण-पद्धतिका चलन हो। भारतमें प्रथम महायुद्धके पूर्व एक प्रकारसे स्वर्ण-विनिमय-द्रव्य-पद्धति थी। रुपयेके बदले भारत सरकार १ शि० ४ पे० की दरसे स्टर्लिंग (इगलैडका द्रव्य) देनेको उद्यत रहतीथी और स्टर्लिंग सोनेकी मुद्रामें परिवर्तनशील था। इसप्रकार की द्रव्य-पद्धतिमें अप्रत्यक्ष रूपसे स्थानीय द्रव्यके बदलेमें एक निर्धारित दरपर सोना मिल सकताथा। इस पद्धतिको कार्यान्वित करनेके लिए राज्यको स्वर्ण-पद्धति

मूल्य धातुका बनाहो। जहातक विश्वासका प्रश्नहै, जबतक द्रव्यके बदलमें अन्य वस्तुएं और सेवाए मिलती रहेंगी, तबतक उस द्रव्यमें विश्वास बनारहेगा। अतएव विश्वास बनाये रखनेके लिए द्रव्यकी क्रय-शक्तिको बनाये रखनाहै न कि उसको सोनेका बनाना।

यहभी कहा जाताहै कि स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिके अन्तर्गत द्रव्य-स्फीतिका भय नही रहता और द्रव्यके विनिमय-मूल्यमें भी अधिक परिवर्तन नही होता। चूकि स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिमें द्रव्यका परिमाण सोनेके परिमाणसे सलग्न रहताहै और सोनेका परिमाण सहसा प्रचुरतासे बढाया नही जासकता, अतएव यह ठीक प्रतीत होताहै कि इस पद्धतिमें एकबारगी द्रव्य-स्फीतिकी आशका नही रहती। परन्तु यदि सभी स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिवाले देश सोनेका भाव बढादें तो उतनेही परिमाणके स्वर्ण-कोप के आधारपर वह अधिक नोट प्रचलितकर द्रव्य-स्फीतिकी अवस्था उत्पन्न करसकते है। जहातक इस पद्धतिमें द्रव्य-मूल्यकी स्थिरताका प्रश्नहै उसका खडन हम १९२९-१९३२ के विश्वव्यापी आर्थिक सकटके उदाहरणसे करसकते है। सन् १९२९ के बाद मूल्य-स्तर गिरनेलगा और द्रव्यका विनिमय-मूल्य बढनेलगा जबकि ससारके सभी राज्योमें स्वर्ण-द्रव्य-पद्धति प्रचलित थी। इससे हम इस परिणामपर पहुचतेहै कि द्रव्यका विनिमय मूल्य केवल द्रव्यके परिमाणपर ही अवलम्बित नही रहता बल्कि इसको निर्धारित करनेमें अन्य कारणोका भी हाथ रहताहै जिनका विवेचन हम 'द्रव्य का विनिमय-मूल्य' वाले अध्यायमें करेंगे।

इस पद्धतिमें एक बडा लाभ यहहै कि विदेशी-विनिमयकी दरमें स्थिरता आजाती है। यदि अनेक राज्य अपने अपने द्रव्यमें सोनेका भाव निर्धारित करदें और इस भावपर बेरोकटोक सोना बेचने और मोल लेनेको बद्ध हो और सोनेके आयात-निर्यातपर कोई प्रतिबन्ध न लगायें, तो ऐसी स्थितिमें स्वर्ण-द्रव्यवाले देशोके द्रव्यमें विदेशी विनिमयकी दर स्वयमेव निर्धारित होजायेगी और उसमें बहुत कम परिवर्तनकी आशका रहेगी। उदाहरणके लिए मान लीजिए भारत और इगलैडमें स्वर्ण द्रव्य-पद्धतिका चलनहै और भारत सरकार एकतोले सोनेका मूल्य १०० रुपया निर्धारित करतीहै और इगलैडकी सरकार एकतोले सोनेका मूल्य १५० शि०। ऐसी अवस्थामें स्वयमेव भारत और इगलैडकी विदेशी विनिमय-दर १ रु० = १ शि० ६ पे० हुई। इस दरको 'टकसाली विनिमय-दर' कहते है। जबतक भारत और

१ शि० ६ पे० से ऊपी उठने लगेगी। परन्तु १ शि० ६ १/४ पे० पर पहुंचनेपर यह वृद्धि रुक जायेगी, क्योंकि इनसे ऊचीदर होनेपर इंगलैंडसे भारतको सोना भेजना सस्ता पड़ेगा इसका कारण यहहै कि इगलैडसे भारतको सोना भेजनेका व्यय जोड़कर १ शि० ६ १/४ पे० में इतना सोना इंगलैंड वासियोंको अपनी सरकारसे मिलजाता है जिससे उनको भारतमें १ रु० प्राप्त होजाता है। अतएव वे एक रु० प्राप्त करने के लिए १ शि० ६ १/४ पे० से अधिक स्टर्लिंग नही देंगे। १ शि० ६ १/४ पे० की मर्यादा भारतके लिए स्वर्ण-आयात मर्यादा हुई।

स्वर्ण-द्रव्य-पद्धति के व्यावहारिक नियम

उपरोक्त व्याख्यासे यह सिद्ध होजाता है कि स्वर्ण-द्रव्य-पद्धति वाले देशोकी विदेशी विनिमय-दर स्वर्ण-आयात-निर्यात मर्यादाके अन्तर्गत रहती है। इस पद्धतिके अनुयायी यहभी बतातेहै कि सोनेके आयात और निर्यातसे अन्तर्राष्ट्रीय लेनी-देनीका सन्तुलनभी यथार्थ होजाता है। इस सन्तुलनको पुनः प्राप्त करनेके लिए जो आर्थिक क्रियाए इन देशोमें चरितार्थ होती है, उनके आधारपर स्वर्ण द्रव्य पद्धति के व्यावहारिक नियम बनायेगये है जिनका पालन करना इन देशोका धर्म होजाता है। मान लीजिये भारतको लेनीदेनी की विषमताके कारण इगलैडको पर्याप्त मात्रा में सोना भेजना पडा। चूकि स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिमें द्रव्यका परिमाण सोनेके कोष से सम्बद्ध रहताहै, अतएव सोनेके आधारकी क्षति होनेके कारण चलनमें द्रव्यके परिमाणमें भी कमी आजायेगी। यह कमी निर्यात किये सोनेके मूल्यसे कही अधिक होगी क्योकि प्रचलित द्रव्यका आशिक मूल्यही स्वर्णके रूपमें कोषमें रहता है। यदि कोषमें एक स्वर्ण मुद्राके आधारपर चलनमें पाच नोट प्रचलितहै तो कोषसे एक मुद्राकी क्षति होनेपर सोना और चलनमें स्थित द्रव्यका अनुपात बनाये रखनेके लिए पाच नोटोको चलनसे निकालना पड़ेगा। (यहापर हमने यह मानलिया है कि कोषमे अतिरिक्त सोना नही है) अब यदि भारतसे इगलैडको सोना निर्यात होने लगा तो यहा चलनमें द्रव्यका सकुचन होने लगेगा। इसके फलस्वरूप यहाके आय-स्तर और मूल्य-स्तर गिरने लगेंगे। आयका स्तर गिरनेसे यहाके लोग इंगलैडसे उतने परिमाणमें सामान नही मोल लेसकेंगे जितना पहिले लिया करते थे। अतएव भारतमें

है कि इसके अन्तर्गत द्रव्यके परिमाणको बदलती हुई आर्थिक स्थितिके अनुकूल करनेमें सुविधा नही रहती है। हम ऊपर बताचुके है कि इस पद्धतिवाले देशोको विदेशी विनिमयकी दर बनाये रखनेके लिए एक बड़ा मूल्य देना पडताहै और यह मूल्य आन्तरिक आर्थिक व्यवस्थामें अस्थिरता उत्पन्न करदेता है।

स्वर्ण-द्रव्य-पद्धति का अन्त

सन् १९३१ में इंगलैडने स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिका परित्याग किया और धीरे धीरे सभी देशोने इसका अनुसरण किया। इसके तीन प्रधान कारण है। एक कारण यहहै कि इस पद्धतिके निर्बाधित रूपसे चलनेके लिए जिस आर्थिक वातावरणकी आवश्यकता होतीहै, वह वातावरण प्रथम महायुद्धके बादकी आर्थिक पद्धतिमें न प्राप्त होसका। दूसरा कारण यहहै कि इस कालमें अन्तर्राष्ट्रीय लेनी-देनी की विषमता इतनी अधिक होगयी कि स्वर्ण-द्रव्य-पद्धति उसके भारको सहन करनेमें असमर्थ प्रतीत होनेलगी और तीसरा कारण यहथा कि कोईभी देश अपनी आर्थिक व्यवस्थाको अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-पद्धतिके नियमोके आधीन करनेको प्रस्तुत नही था।

स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिके ठीक प्रकारसे कार्य करसकनेके लिए यह आवश्यकहै कि सोनेके आयात और निर्यातका पूरा प्रभाव इन देशोंकी आन्तरिक आर्थिक स्थितिपर पड़ने दियाजाये और आय, लागत तथा मूल्यके स्तरोको तदनुसार बढाया अथवा घटाया जाये। परन्तु इस कालमें जिन देशोसे सोना बाहर जाने लगा, उन देशोने इस आशका से कि उनमें बेकारी और आर्थिक मन्दी न आजाये द्रव्यके परिमाण और मूल्य-स्तरोमें कमी नही आने दी। और जिन देशो को सोना प्राप्त हुआ, उन देशोने भी द्रव्य-स्फीति की आशका से द्रव्यके परिमाण एव मूल्य-स्तरोमें वृद्धि नही होने दी। इसके अतिरिक्त आर्थिक व्यवस्थामें भी महायुद्धके पहिलेकी स्थिति नही रह गयीथी जिसमें लागत व्यय और मूल्योको सुगमतासे बदला जासके। मज़दूर संघ और एकाधिकारियोका प्रभुत्व बढता जारहा था। स्वर्ण-पद्धतिमें अन्तर्राष्ट्रीय लेनीदेनी का सन्तुलन बनायेरखने का मार्ग केवल मुक्त-द्वार व्यापार-नीति है। परन्तु इस कालमे साहूकार देशो ने ऋणी देशोसे वस्तुओके रूपमें अपना पावना लेनेसे इन्कार कर दिया और सोनेके रूपमें लेनेका आग्रह किया। ऋणी देशोने

महत्त्व दिया जाने लगा। इस पद्धतिके अन्तर्गत द्रव्यका परिमाण सोनेके कोपक परिमाणसे सम्बन्धित नही रहता। यह सोनेकी शृखलाओंसे मुक्त होजाती है, सन् १६३१ से पहिलेभी युद्ध इत्यादि आर्थिक सकटोके अवसरोपर अनेक देशोने स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिका त्याग करदिया था। परन्तु यह त्याग सकटकालीन ही था। सन् १६३१ के वाद सदैवके लिए इस पद्धतिका त्याग करदिया गया है। जब द्रव्य के परिमाणको इसप्रकार स्वतन्त्र करदिया गया तो उसका प्रवन्ध और नियन्त्रण अन्य आर्थिक उद्देश्योके अन्तर्गत करना आवश्यक होजाता है। इसका यह अर्थ नही है कि स्वर्ण-द्रव्य-पद्धति प्रवन्धित नही थी। प्रवन्ध तो उसमेंभी करना पड़ता था परन्तु आधुनिक प्रवन्धित द्रव्य-पद्धतिकी अपेक्षा उसमें प्रवन्धकी मात्रा और उद्देश्यमें अन्तर है। स्वर्ण द्रव्य-पद्धतिके अन्तर्गत इस प्रकारका प्रवन्ध करना पडताथा कि द्रव्यका परिमाण सोनेमें विनिमयसाध्य वनारहे और विदेशी विनिमयकी दरमें स्थिरता वनी रहे। इन्ही उद्देश्योके आधारपर द्रव्य-नीति का प्रयोग कियाजाता था। प्रवन्धित द्रव्य-पद्धतिमें प्रवन्धके उद्देश्य दूसरे प्रकारके है। कुछ अर्थशास्त्रियोके मतानुसार द्रव्यका इसप्रकार प्रवन्ध कियाजाये कि वह आर्थिक क्रियाओ एव सम्वन्धोमें विकार न उत्पन्न करे अर्थात् वह तटस्थ रहे। यह निर्विवादहै कि आर्थिक कार्योमें द्रव्यका उपयोग होनेसे आर्थिक व्यवस्थाके भिन्न भिन्न अवयवोका सम्वन्ध उसी प्रकारका नही रहसकता जैसाकि अदल-वदल प्रथाके अन्तर्गत रहता था। अर्थात् द्रव्यका अपना निजी प्रभावभी आर्थिक सम्वन्धोपर पडता है। तटस्थ द्रव्य-नीतिके मतावलम्वियोका कहनाहै कि आर्थिक अस्थिरताओका प्रधान कारण यहीहै कि द्रव्य और विशेषकर साख-द्रव्यका परिमाण आर्थिक सम्वन्धोमें व्याघात पहुचाकर आर्थिक प्रगतिमें अस्थिरता उत्पन्न करदेता है। अतएव यदि द्रव्यका प्रवन्ध इसप्रकार किया-जाये कि द्रव्यसे आर्थिक कार्य लेते रहनेपरभी आर्थिक सम्वन्ध उसी प्रकारके बनेरहें जैसाकि द्रव्यहीन आर्थिक पद्धतिमें होतेतो इसप्रकार द्रव्यकी तटस्थता वनी रहेगी। सैद्धान्तिक रूपमें यदि हम द्रव्यकी तटस्थता की नीतिको महत्त्वपूर्ण मानभी लें तो भी व्यवहारमें द्रव्यका इसप्रकार प्रबन्ध करना कि वह पूण रूपसे तटस्थ रहे, बहुत कठिन कार्य है। इसके अतिरिक्त यह मानलेना भी असगत जानपडता है कि द्रव्य-हीन आर्थिक व्यवस्थामें जो सम्बन्ध उसके विविध अवयवो में स्थापित होजाते थे, उनको बनाये रखनेसे आर्थिक प्रगति अविरोध रूपसे होती रहेगी।

पहुंचतेहै कि जब पूर्वोक्त कारणोंसे उत्पादकता की वृद्धिहो और प्रति इकाई लागत व्यय कम होजाये, तो मूल्य-स्तरमें भी कमी आनी चाहिए। ऐसा न होनेपर आर्थिक सम्बन्धोमें अन्तर होजाता है जिससे आर्थिक व्यवस्थामें गडबडी पैदाहो जाती है। इसके अतिरिक्त यहभी कहाजाता है कि जिन लोगोकी बधी हुई आय होतीहै उनको वैज्ञानिक उन्नतिसे उत्पादकतामें जो वृद्धि होतीहै उसका लाभ तभी मिल सकताहै जब मूल्य-स्तरमें कमी आये।

यदि इस बातको मानभी लियाजाये कि मूल्य-स्तर को द्रव्य-नीति द्वारा स्थिर रखनेका प्रयत्न करना चाहिए तो प्रश्न यह होताहै कि किस स्तरपर स्थिर रखना चाहिए। भारतमें मूल्य-स्तर इससमय बहुत ऊंचा है। सभी लोग चाहतेहै कि इसमें कमी हो, परन्तु यह बताना बहुत कठिनहै कि किस स्तर तक कमी कीजानी चाहिए जिससे समाजका अधिकतम क्षेम हो। इसीप्रकार जब १९२९-३२ की आर्थिक मन्दीके अवसरपर प्रबन्धित द्रव्य-पद्धति द्वारा संयुक्त राज्य अमेरिका और इंगलैड मूल्य-स्तरको बढानेका प्रयत्न कररहे थे, इस बातपर एकमत नही था कि मूल्य-स्तरको किस स्तरतक चढाकर स्थिर करना चाहिए। इसके अतिरिक्त जैसा कि हम अगले अध्यायमें बतावेंगे, मूल्यस्तर अनेक मूल्योका औसत मात्र है। अतएव प्रश्न यह होताहै कि क्या औसत मूल्य-स्तरको स्थिर रखनेसे हमारा प्रयोजन सिद्ध हो जायेगा। सूचक अंक (जिससे द्रव्य-स्तर का गणित किया जाता है) बनानेमें ही अनेक कठिनाइयोका सामना करना पडता है। इसके अतिरिक्त सूचक अकोके समान रहनेसे यह परिणाम नही निकलता कि मूल्य-स्तरोमें और उनके आपसके सम्बन्धोमें कोई परिवर्तन नही हुआ है। उदाहरणके लिए यदि एक वस्तुका मूल्य २५ प्रतिशत बढगया और दूसरी वस्तुका मूल्य २५ प्रतिशत घटगया तो औसत मूल्य-स्तर तो समान रहेगा परन्तु इन दो वस्तुओके मूल्योके सम्बन्धमें परिवर्तन होनेसे इनके उत्पादन और मागमें परिवर्तन की प्रवृत्ति होजायेगी। वास्तवमें समस्या औसत मूल्य-स्तरको स्थिर रखनेकी नही है, बल्कि भिन्न भिन्न मूल्योका आपसमें ठीक ठीक सम्बन्ध ज्ञात करना और उस सम्बन्धको स्थिर बनाये रखना है। आर्थिक विषमताओ और अस्थिरताओका एक प्रधान कारण यहीहै कि भिन्न भिन्न वस्तुओ और सेवाओके मूल्य असम्बन्धित होजाते है। इनके कारणोको जानना और इनको ठीक प्रकारसे सम्बन्धित करनाही सबसे कठिन कार्य है।

पहुचतेहै कि जब पूर्वोक्त कारणोंसे उत्पादकता की वृद्धिहो और प्रति इकाई लागत व्यय कम होजाये, तो मूल्य-स्तरमें भी कमी आनी चाहिए। ऐसा न होनेपर आर्थिक सम्बन्धोमें अन्तर होजाता है जिससे आर्थिक व्यवस्थामें गडवड़ी पैदाहो जाती है। इसके अतिरिक्त यहभी कहाजाता है कि जिन लोगोंकी वधी हुई आय होतीहै उनको वैज्ञानिक उन्नतिसे उत्पादकतामें जो वृद्धि होतीहै उसका लाभ तभी मिल सकताहै जब मूल्य-स्तरमें कमी आये।

यदि इस बातको मानभी लियाजाये कि मूल्य-स्तर को द्रव्य-नीति द्वारा स्थिर रखनेका प्रयत्न करना चाहिए तो प्रश्न यह होताहै कि किस स्तरपर स्थिर रखना चाहिए। भारतमें मूल्य-स्तर इससमय बहुत ऊचा है। सभी लोग चाहतेहै कि इसमें कमी हो, परन्तु यह बताना बहुत कठिनहै कि किस स्तर तक कमी कीजानी चाहिए जिससे समाजका अधिकतम क्षेम हो। इसीप्रकार जब १९२९-३२ की आर्थिक मन्दीके अवसरपर प्रबन्धित द्रव्य-पद्धति द्वारा सयुक्त राज्य अमेरिका और इंगलैंड मूल्य-स्तरको बढानेका प्रयत्न कररहे थे, इस बातपर एकमत नही था कि मूल्य-स्तरको किस स्तरतक चढ़ाकर स्थिर करना चाहिए। इसके अतिरिक्त जैसा कि हम अगले अध्यायमें बतावेंगे, मूल्यस्तर अनेक मूल्योका औसत मात्र है। अतएव प्रश्न यह होताहै कि क्या औसत मूल्य-स्तरको स्थिर रखनेसे हमारा प्रयोजन सिद्ध हो जायेगा। सूचक अक (जिससे द्रव्य-स्तर का गणित किया जाता है) बनानेमें ही अनेक कठिनाइयोका सामना करना पडता है। इसके अतिरिक्त सूचक अकोके समान रहनेसे यह परिणाम नही निकलता कि मूल्य-स्तरोमें और उनके आपसके सम्बन्धोमें कोई परिवर्तन नही हुआ है। उदाहरणके लिए यदि एक वस्तुका मूल्य २५ प्रतिशत बढगया और दूसरी वस्तुका मूल्य २५ प्रतिशत घटगया तो औसत मूल्य-स्तर तो समान रहेगा परन्तु इन दो वस्तुओके मूल्योके सम्बन्धमें परिवर्तन होनेसे इनके उत्पादन और मागमें परिवर्तन की प्रवृत्ति होजायेगी। वास्तवमें समस्या औसत मूल्य-स्तरको स्थिर रखनेकी नही है, बल्कि भिन्न भिन्न मूल्योका आपसमें ठीक ठीक सम्बन्ध ज्ञात करना और उस सम्बन्धको स्थिर बनाये रखना है। आर्थिक विषमताओ और अस्थिरताओका एक प्रधान कारण यहीहै कि भिन्न भिन्न वस्तुओ और सेवाओके मूल्य असम्बन्धित होजाते है। इनके कारणोको जानना और इनको ठीक प्रकारसे सम्बन्धित करनाही सबसे कठिन कार्य है।

अब प्रश्न यहहै कि क्या हम एक विशिष्ट द्रव्य-पद्धति और द्रव्य-नीति द्वारा मूल्य-स्तरमें स्थिरता लासकते हैं। पहिली बाततो यहहै कि मूल्य-स्तर केवल द्रव्य द्वाराही निर्धारित नही होता है। जैसाकि 'हम द्रव्यका विनिमय-मूल्य' नामक अध्यायमें बतायेंगे, द्रव्यके अतिरिक्त औरभी अनेक विचारणीय विषय है जिनसे मूल्य-स्तर सम्बन्धित है। उदाहरणके लिए, यदि मूल्य-स्तरमें गिरनेकी प्रवृत्ति देखकर द्रव्यके प्रबन्धकर्ता द्रव्यके परिमाणमें वृद्धि करे परन्तु जिनको इस द्रव्यकी प्राप्ति होतीहै वेलोग अथवा सस्थाए इस द्रव्यको काममें न लाकर सचित करने लगें तो इससे मूल्य-स्तरके ह्रासमें रोकथाम नही हो सकेगी, अत: हम इस परिणाम पर पहुचतेहै कि केवल द्रव्यके सचालनमें ही परिवर्तन करनेसे मूल्य-स्तरमे परिवर्तन अथवा स्थिरता आना अनिवार्य नही है। और जब हम मूल्य-स्तरमे नही बल्कि विविध मूल्योके सम्बन्धोको ठीक करके उनमें स्थिरता लाना चाहते है तबतो द्रव्य द्वारा यह कार्य औरभी कठिन होजाता है।

अभीतक द्रव्य-शास्त्रियो और द्रव्य-प्रबन्धको ने द्रव्यके आर्थिक अवस्थाके सम्बन्ध और क्रिया-प्रतिक्रियाके विषयमें पूर्ण ज्ञान प्राप्त नही करपाया है। विशेष कर केन्द्रीय बैंक जिसे द्रव्य-नीतिको आर्थिक अवस्थाके अनुकूल बनानका भार सौपा गयाहै, अभीतक द्रव्य-नियन्त्रणके उपकरणो को इस अवस्थातक नही ला सकाहै जिससे उसको इस महत्त्वपूर्ण कार्यमें पूर्ण सफलता प्राप्त होसके। परन्तु प्रत्येक देशके केन्द्रीय बैंक अपने उत्तरदायित्व को समझनेकी चेष्टा कररहे है और अनेक उपकरणोकी कार्यक्षमता भी बढारहे है और आशा कीजाती है कि निकट भविष्यमें यह सस्था जहातक द्रव्य-पद्धति और द्रव्य-नीति द्वारा आर्थिक स्थिरता की समस्याका समाधान होसकता है, वहातक यथाशक्ति सहायता करनेका प्रयत्न करेगी।

अविनिमयसाध्य द्रव्य-पद्धतिके सम्बन्धमें अनेक आलोचनाएं सुनीजाती है। यह खेदका विषयहै कि भूतकालमें सकटकालके समयही द्रव्य-पद्धतिया अविनिमय-साध्य बनायी गयी और अनेक देशोमें इस पद्धतिके अन्तर्गत द्रव्य-स्फीति की समस्या उत्पन्न हुई। अतएव यह कोई आश्चर्यकी बात नहीहै कि इस पद्धतिको जन-साधारण आर्थिक संकट और द्रव्य-स्फीतिसे सम्बन्वित करता है। यही कारणहै कि इसप्रकार की पद्धतिमें वह विश्वास नही रहता जो स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिमें रहता है।

परन्तु इसमें द्रव्य-पद्धतिका दोष नहीं है, यदि दोष है तो द्रव्य-प्रबन्धकोंका जिन्होंने इसका दुरुपयोग किया। उचित प्रकारसे प्रबन्ध होनेपर इस पद्धतिमें अनेक गुण पाये जाते हैं। एकतो यह है कि इस पद्धतिमें लागत-द्रव्य बहुत कम रहता है। सोना चांदी बहुमूल्य वस्तुएं हैं। उनकी अन्य आर्थिक कार्योंमें भी आवश्यकता रहती है। इस पद्धतिके अन्तर्गत बहुतसा सोना चांदी जो द्रव्यके काममें आता था अब दूसरे कामोंमें लगाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त इस पद्धतिको आर्थिक अवस्थाओं के अनुकूल बनानेमें अधिक सुविधा और स्वतन्त्रता रहती है। हम देख चुके हैं कि स्वर्ण-द्रव्य-पद्धति वाले देशोंको इस प्रकारकी सुविधा और स्वतन्त्रता बहुत कम मात्रामें रहती है।

२४

द्रव्य का विनिमय-मूल्य

मूल्य और विनिमय-मूल्य

एक वस्तुमे अन्य वस्तुओको वदलेमें प्राप्त करनेकी जो शक्ति होती है उसको हम उस वस्तुका विनिमय-मूल्य कहेंगे। यदि एक सेर गेहूके वदलेमें दोगज़ कपडा मिल सकताहै तो एकसेर गेहूका विनिमय-मूल्य दोगज कपडा और एकगज कपडेका विनिमय-मूल्य आधासेर गेहूं हुआ। हम पहिले अध्यायमें वता चुकेहै कि यदि सभी वस्तुओके विनिमय-मूल्यको एकही वस्तुके परिमाणमें प्रकट किया जासके, तो इससे आर्थिक क्रियाओमें बहुत सुविधाए प्राप्त होजाती है। आर्थिक विकासमे यही हुआभी है। समाजने द्रव्यके रूपमें वस्तुओका विनिमय-मूल्य प्रकट करना प्रारम्भ करदिया। इसप्रकार जो सम्बन्ध स्थापित हुआ, उसको हम मौद्रिक मूल्य कहते है अर्थात् विनिमय-मूल्य द्रव्यके रूपमें प्रकट कियाजाता है, तो वह मौद्रिक मूल्य कहलाता है। जिस वस्तुसे द्रव्यका काम लियाजाता है, उसको एक ऊचा पद प्राप्त होजाता है। द्रव्यके विकासके सम्वन्धमें हम देखचुके है कि किसप्रकार सोनेचादी ने द्रव्यके रूपमें काममें लायेजानेके कारण एक विशिष्ट स्थान प्राप्त करलिया। आधुनिक कालमें तो अधिकतम द्रव्य काग़जका वना हुआहै अथवा केवल बैंकोंके खातोमें दर्ज है। उसका कोई निज का मूल्य नहीं है। फिरभी उसकी इतनी मान्यता है। अन्य आर्थिक वस्तुओ और द्रव्यके वीच एक वडा भेद यहहै कि अन्ततोगत्वा अन्य आर्थिक वस्तुओके अन्तर्गत कुछ ऐसे गुण निहितहै जिनमें हमारी कोई न कोई आवश्यकताको तृप्त करनेकी शक्ति होती है। गेहू, दूध, लकडी इत्यादि वस्तुएं इसका उदाहरण है, जिनमें कुछ ऐसे नैसर्गिक गुण वर्तमानहै जिनके उपभोगसे हमको तृप्ति मिलती है। इन्ही गुणोके आधारपर उनकी उपयोगिता टिकीहुई है। परन्तु आधुनिक द्रव्यमें कोई इस प्रकारकी तात्त्विक विशेषता नहीहै जिसके कारण

हम उसको उपयोगी समझते हैं। हम द्रव्यकी मान्यता तभीतक करेंगे जबतक उसके विनिमयसे हमको अन्य उपयोगी वस्तुएं प्राप्त होसकें अर्थात् जबतक द्रव्यकी क्रय-शक्ति बनी रहे। इससे यह तात्पर्य निकलताहै कि द्रव्यकी कोई स्वत: उपयोगिता नहीहै बल्कि उसकी उपयोगिता उन वस्तुओंकी उपयोगितापर निर्भरहै जो उसके विनिमयसे प्राप्त होसकती है। यही एक प्रधान भिन्नता द्रव्य और अन्य आर्थिक वस्तुओंके बीचहै, जिसके कारण हम द्रव्यको एक पृथक वर्गमें रखते हैं।

द्रव्य का विनिमय-मूल्य

अभी हमने बताया कि अन्य वस्तुओंके विनिमय-मूल्यको द्रव्यके रूपमें प्रकट किया जाताहै और उनको उन वस्तुओंका मौद्रिक मूल्य अथवा केवल मूल्य कहाजाता है। द्रव्यका भी विनिमय-मूल्य होता है। द्रव्यकी इकाईसे जिस परिमाणमें वस्तुए और सेवाएं प्राप्त होसकती है, वही द्रव्यका विनिमय-मूल्य है। द्रव्यके विनिमय-मूल्यसे जो वस्तुए प्राप्त होतीहैं, उसको हम द्रव्यका विनिमय-मूल्य कहेंगे। सक्षेपमें हम कहसकते हैं कि द्रव्यका विनिमय-मूल्य उसकी क्रय-शक्ति है। द्रव्यकी एक इकाई से हमें किस परिमाणमें अन्य वस्तुए मिलसकती है, यह उन वस्तुओंके मूल्य-स्तरपर निर्भर करता है। यदि मूल्य-स्तरमें वृद्धि होजाये तो द्रव्यके विनिमय-मूल्यमें कमी आजायेगी और यदि मूल्य-स्तरमें कमी होजाये, तो द्रव्यके विनिमय-मूल्यमें वृद्धि होजायेगी। अर्थात् मूल्य-स्तर और द्रव्यके विनिमय-मूल्यमें प्रतिलोम सम्बन्ध है।

यदि हम ध्यानसे देखें तो हमको ज्ञात होताहै कि द्रव्यके विनिमय-मूल्यका निर्धारण इतनी सरलतासे नही होता है। उदाहरणके लिए, यदि सूचक-अंकोंकी सहायतासे हमें यह ज्ञात होताहै कि मूल्य-स्तरमें वृद्धि होगयी तो क्या इससे यह परिणाम निकाला जासकता है कि सभी मनुष्योंके लिए द्रव्यके विनिमय-मूल्यमें उसी अनुपातमें कमी होगयी। वास्तवमें ऐसा नही होता है। प्रत्येक वस्तुका मूल्य किसी समय विशेषमें एकही अनुपातमें नही घटता बढता और प्रत्येक मनुष्य एकही प्रकारके वस्तु-समुच्चयको नही मोल लेता। अतएव ऐसा होसकता है कि जब सूचक-अक मूल्य-स्तरमें वृद्धि बतातेहै तो सभी मनुष्योंके द्रव्यका विनिमय-मूल्य एकही अनुपातमें नही घटता। यदि कोई मनुष्य केवल उन्ही वस्तुओंको मोल लेता

है जिनका मूल्य राज्य द्वारा निर्धारित और नियन्त्रित है तो उसके लिए द्रव्यका विनिमय-मूल्य पूर्ववत्ही रहेगा और एक दूसरा व्यक्ति जो अनियन्त्रित वस्तुओको भी मोल लेताहै जिनके मूल्यमें वृद्धि आगयी हो, तो उसके द्रव्यके विनिमय-मूल्यमें कमी आजायेगी। इसप्रकार हम देखतेहै कि द्रव्यका कोई ऐसा एकाकी विनिमय-मूल्य नही होसकता जो सभी व्यक्तियोके द्रव्यके सम्वन्धमें समान रूपसे लागू हो। सैद्धान्तिक रूपसे कहा जासकता है कि द्रव्य द्वारा अनेक प्रकारकी वस्तुए और सेवाए मोलली जासकती है, अतएव द्रव्यका विनिमय-मूल्य उन सभी वस्तुओके मूल्यपर अवलम्बित रहना चाहिए। इस प्रकारके सूचक-अक प्राप्तभी कियेजाते है जो सभी वर्गोकी प्रतिनिधि वस्तुओके आधारपर गणित कियेजाते है। परन्तु इस प्रकारके सूचक-अकोसे जो द्रव्यका विनिमय-मूल्य इगित होताहै उसका व्यवहारमें अधिक महत्त्व नही होसकता क्योंकि भिन्न भिन्न व्यक्ति भिन्न भिन्न प्रकारकी वस्तुओं और वस्तु-समुच्चयोके मूल्यसे प्रभावित होते है। अतएव व्यावहारिक उपयोगिता और आर्थिक विश्लेषणके लिए भी द्रव्यका विनिमय-मूल्य हमको भिन्न भिन्न वस्तु-वर्गों और सेवा-वर्गोके रूपमें निकालना पडेगा।

सूचक-अंक

किसी समय विशेषमें द्रव्यका विनिमय-मूल्य क्याहै उसको व्यक्त करना दुष्कर कार्यहै क्योकि द्रव्यसे विविध प्रकारकी वस्तुए और सेवाए प्राप्त होसकती है। परन्तु द्रव्यके विनिमय-मूल्यमें सापेक्ष परिवर्तनको जानना सम्भव है। उदाहरणके लिए यदि हम यह जानना चाहें कि सन् १९४८ की तुलनामें सन् १९४९ में द्रव्यका विनिमय कमहै या अधिक, और कितनी मात्रामें तो इसका हिसाव सूचक-अकोकी सहायतासे लगाया जासकता है। सूचक-अकोसे मूल्य-स्तरोंमें औसत वदलाव मापा जाताहै और इसके अनुलोम-अकोसे द्रव्यके विनिमय-मूल्यके परिवर्तनको गणित करलिया जासकता है। उदाहरणके लिए यदि १९४२ की अपेक्षा १९४४ में मूल्य-स्तर दुगना होगया है (यदि १९४२ के सूचक-अकको १०० मानलिया तो १९४४ का सूचक २०० होगा) तो हम कहसकते है कि १९४४ में १९४२ की अपेक्षा रुपयेका विनिमय-मूल्य आधा रहगया (यदि १९४२ में रुपयेका मल्य १०० था

लियाजाय, तो १६४४ में ५० रह जायेगा)।

सूचक-अंक निकालनेके पूर्व इस बातका निश्चय करलेना पडताहै कि किस काल को प्रामाणिक काल मानाजाये जिससे अन्य कालोकी तुलनाकी जासके। कुछ काल स्वयमेव प्रामाणिक प्रतीत होनेलगते है। उदाहरणके लिए सन् १६३६ (सितम्बर से पूर्व) प्रामाणिक बनगया है क्योकि इसके बादही द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ होगया था। प्रामाणिक काल ऐसा होना चाहिए जिसमें युद्ध, आर्थिक उत्कर्ष-अपकर्ष आदि प्रकारकी असाधारण घटनाए न घटी हों। आधुनिक कालमें ४-५ वर्षोके औसतको प्रामाणिक काल माननेकी प्रथा चलपडी है। प्रामाणिक काल स्थिरकर लेनेके पश्चात् हमको उन वस्तुओ और सेवाओंकी एक ऐसी सूची बनानी पडनीहै जिसके आधारपर सूचक-अक बनाये जायेंगे। जिस प्रयोजनके लिए सूचक-अक और तत्सम्बन्धित द्रव्यके विनिमय-मूल्यको जाननेकी आवश्यकता हो, उसीसे सम्बन्धित वस्तुएभी होनी चाहिए। उदाहरणके लिए यदि हम किसानोंके द्रव्य विनिमय-मूल्यमें बदलाव जानना चाहते है, तो हमें उन्ही वस्तुओको सूचीमें रखना पडेगा जिनका उपयोग किसान लोग साधारणत' करते है। इन वस्तुओ और सेवाओकी एक लम्बी सूची होगी। अतएव सूचक-अकोको प्राप्त करनेके लिए यह आवश्यक होजाता है कि इन वस्तुओमें से कुछ ऐसी छाट लीजायें जो सबका प्रतिनिधित्व करसकें। इन वस्तुओकी सख्या बहुत कम नहो होनी चाहिए, नहीतो इनको प्रतिनिधित्व प्राप्त नही होसकेगा। जितनी अधिक सख्याहो, उतना अच्छा है। परन्तु इतनी अधिक भी न हो कि कार्य सामर्थ्यके बाहर होजाये। अब इन छँटीहुई वस्तुओका मूल्य मालूम करना है। यदि पूर्वोक्त उदहरणके अनुसार हमें १६४४ की १६४२ से तुलना करनीहै तो हमको इन दोनो वर्षोंमें जो इन वस्तुओं का मूल्य रहाहो, उसको मालूम करना पडेगा। इसमें बहुत सावधानीकी आवश्यकता है। पहिलेतो हमें किसीभी वस्तुके जिस प्रकारको एक वर्षमें लेते है, उसी प्रकारको दूसरे वर्षमें भी लेना चाहिए। 'ऐसा नही होना चाहिए कि १६४२ में तो शुद्ध घी का मूल्य लियाजाये और १६४४ में वनस्पति घी का। इसके अतिरिक्त जिस प्रकारका मूल्य एक वर्षमें लियागया हो, उसी प्रकारका मूल्य दूसरे वर्षभी लेना चाहिए। एक वर्षमें थोक भाव और दूसरे वर्षमें फुटकर भाव लेनेपर सूचक-अकोमें अशुद्धता आजायेगी। साधारणत: सूचक-अक थोक मूल्योके आधारपर बनाये जाते

है क्योकि इन मूल्योका इकट्ठा करना सुगम होता है। परन्तु जीवन-स्तरके सम्बन्ध में जाननेके लिए फुटकर भाव अधिक उपयुक्त होताहै क्योकि उपभोक्ता वर्ग इसी भावपर सामान मोललेता है। जब इसीप्रकार छँटी हुई वस्तुओके दोनो वर्षोके मूल्य ज्ञात होगये, तो इसके पश्चात् गणितका कार्य आरम्भ होजाता है। पहिला काम है, प्रत्येक वस्तुका सापेक्ष मूल्य गणित करना। इसके लिए, प्रामाणिक वर्षमें प्रत्येक वस्तुका मूल्य १०० इकाई मानकर दूसरे वर्षमें उस वस्तुके भावका सापेक्ष अक प्राप्त कियाजाता है। उदाहरणके लिए, यदि लकडीका भाव १९४२ में २ रुपये मन हो और १९४४ मे बढकर २ रुपये ८ आने मन होगया हो, तो २ रुपयेको १०० इकाई मानकर २ रुपये ८ आनेको १२५ इकाईसे सूचित करेंगे। इसीप्रकार सभी वस्तुओके सापेक्ष मूल्यके अक निकाल लिये जायेंगे। इन सापेक्ष-अकोसे भिन्न भिन्न वस्तुओके मूल्योमें बदलाव जानाजाता है। परन्तु हमको औसत बदलाव मालूम करनाहै अतएव हम इनका औसत निकाल लेते है। यही औसत सूचक-अक है। नीचे दीगयी तालिकामें सूचक-अकोको गणित करनेकी रीति दीगयी है·

सन् १९४२				सन् १९४४		
१	२	३	४	५	६	७
मान अक	वस्तुएं	मूल्य	गुण	मूल्य	सापेक्ष मूल्य गुण	१०×६०
१०	चना	४ आ. सेर	१००	६ आ सेर	१५०	१५००
६	बाजरा	५ ,,	१००	५ ,,	१००	६००
५	लकडी	२ रु मन	१००	२ १/२ रु मन	१२५	६२५
१	गुड	३ आ सेर	१००	६ आ सेर	२००	२००
३	धोतीजोडा	५ रु	१००	६ रु	१२०	३६०
२५	५			कुल	६९५	३२८५

$$\text{साधारण सूचक-अक } \frac{६९५}{५} = १३९$$

$$\text{सप्रभाव सूचक-अक } \frac{३२८५}{२५} = १३१$$

इस उदाहरणमें १३९ साधारण सूचक-अंकहै अर्थात् १९४२ की अपेक्षा १९४४ में मूल्य-स्तरमें ३९ प्रतिशत वृद्धि हुई। साधारण सूचक-अकोंको प्राप्त करनेमें हम प्रत्येक वस्तुको समान मानलेते है। परन्तु वास्तवमें प्रत्येक वस्तुका मान हमारे लिए बराबर नही होता और प्रत्येक वस्तुमें बदलाव होनेसे हम समान रूपसे प्रभावित नही होते। उदाहरणके लिए यदि दियासलाईका मूल्य ५० प्रतिशत घटजाये और गेहूका मूल्य ५० प्रतिशत बढजाये तो औसत मूल्य-स्तर तो इनदो वस्तुओंका समानही रहेगा परन्तु जितना व्यय हमारा गेहूमें अधिक होगा उतनी बचत दियासलाईके मूल्यमें कमी होनेसे नही होगी। इस दोषको दूर करनेके लिए सप्रभाव सूचक-अकको गणना कीजाती है। ऊपरके उदाहरणमें कोष्ठक (१) में पाचो वस्तुओ का मान-अक दिया है। यह मान अक साधारणत: अनुमानके आधारपर निर्धारित किया जाताहै और कभी कभी प्रत्येक वस्तुपर व्ययके अनुपातसे निर्धारित किया जाता है। सप्रभाव सूचक-अक प्राप्त करनेके लिए सापेक्ष मूल्य-गुणो (कोष्ठक ६) को प्रत्येक वस्तुके मान-अकसे गुणा कर गुणनफलोको जोडकर मान-अकोंके योग से भाग दियाजाता है। भजनफल सप्रभाव सूचक-अंकहै। ऊपरके उदाहरणमें यह अंक १३१ है। स्पष्टहै कि सप्रभाव सूचक-अक साधारण सूचक-अकसे अधिक उपयोगी होता है।

सूचक-अकोका प्रयोग सावधानीसे करना चाहिए। ये भिन्न भिन्न प्रयोजनोंके लिए बनायेजाते है। प्रतिनिधि वस्तु-वर्गके बदलावसे, नवीन वस्तुओंके आजानेसे आय और रुचिमें बदलाव होनेसे, वस्तुओके महत्वमें बदलाव होजाने से, सूचक-अक यथार्थताको प्रकट करनेमें पूर्णरूपसे सफल नही होपाते। फिरभी आर्थिक विश्लेषणके कार्यमें और तुलनात्मक कार्यमें इनका बहुत महत्व है।

द्रव्य के विनिमय-मूल्य का पारिमाणिक सिद्धान्त

यहतो जानीहुई बातहै कि द्रव्यका विनिमय-मूल्य कभी स्थिर नही रहता। यह कभी बढजाता है और कभी घटजाता है। ऐसा क्यो होताहै? इस सम्बन्धमें अनेक मत है। एक सिद्धान्त जो बहुत लोकप्रिय रहाहै और जिसको आधुनिक रूपमें प्रतिपादन करनेका श्रेय अमेरिकाके अर्थशास्त्री प्रोफेसर फिशरको प्राप्तहै, द्रव्यके

विनिमय-मूल्यमें बदलावको द्रव्यके परिमाणसे सम्बन्धित करता है। अतएव इस सिद्धान्तको द्रव्यका पारिमाणिक सिद्धान्त कहते हैं। इस सिद्धान्तके अनुसार अन्य बातें समान रहनेपर, द्रव्यके परिमाणमें वृद्धि होनेसे मूल्य-स्तरमें वृद्धि और द्रव्यके विनिमय-मूल्यमें कमी होजायेगी और द्रव्यके परिमाणमें कमी होनेसे मूल्य-स्तर में कमी और द्रव्यके विनिमय-मूल्यमे वृद्धि होजायेगी। इस सिद्धान्तको निम्न-लिखित समीकरणके रूपमें प्रदर्शित किया जाताहै :

द्रव्यका परिमाण × चलनका औसत वेग

= मूल्य स्तर × कुल व्यापार।

द्रव्यके परिमाणमें धात्त्विक द्रव्य, नोट और साख-द्रव्य सभी सम्मिलित है। किसी समय विशेपमें द्रव्यका परिमाण स्थिर रहता है। परन्तु किसी कालावधिमें जैसे एक वर्ष, उसी द्रव्यसे अनेकवार काम लिया जासकता है। उदाहरणके लिए यदि किसी समाजमें चलनमें ३० करोड रुपयाहै और उसकी सहायतासे सालभरमें ३०० करोड रुपयेका आर्थिक व्यवसायोमें लेनदेन हुआ, तो औसतन प्रत्येक रुपया १० वार चलनमें आया। इसको हम द्रव्यका चलन-वेग कहते हैं। पूर्वलिखित समी-करणमें द्रव्यका परिमाण × चलनका औसत वेगसे यह तात्पर्य निकला कि सालभर में कितना रुपया लिया और दियागया। जितना रुपया लिया और दियागया होगा, वह उस व्यापारसे सम्वन्वित होगा, जो द्रव्य द्वारा कार्यान्वित हुआ होगा और इसकुल व्यापारके एक औसत मूल्य अथवा मूल्य-स्तरकी कल्पना की जासकती है। अब यदि कुल व्यापारके परिमाणको औसत मूल्यसे गुणा करदें, तो कुल व्या-पारका मूल्य निकल आयेगा। सालभर में जितना रुपया लिया और दियागया होगा, वह इसकुल व्यापारके सम्बन्धमें ही रहा होगा। अतएव इस समीकरणके दो भागोका परिमाण अवश्यही बरावर होगा। इस समीकरणको सुगम भाषामें इसप्रकार कहसकते हैं: किसी कालावधिमें जितना द्रव्य लिया दिया जाताहै उसका परिमाण कुल द्रव्य सम्वन्वी व्यापारके मूल्यके बरावर होगा।

इस समीकरणसे एक दूसरा समीकरण प्राप्त होताहै जोकि महत्वपूर्ण है। उस का रूप निम्नलिखित है :

$$\text{मूल्य स्तर} = \frac{\text{द्रव्य} \times \text{वेग}}{\text{व्यापार}}$$

इस समीकरणसे यह तात्पर्य निकलताहै कि यदि मूल्य-स्तरमें परिवर्तन होगया हो, तो हमको उसके कारणोको खोजनेके लिए द्रव्यका परिमाण अथवा उसका वेग अथवा व्यापारकी मात्रा अथवा इन सभीके सम्बन्धोके परिवर्तनका अध्ययन करना पडेगा द्रव्यके पुराने पारिमाणिक सिद्धान्तके अनुसार मूल्य-स्तर केवल द्रव्यके परिमाणपर अवलम्बित मानाजाता था। परन्तु आधुनिक कालमें इस सिद्धान्तके अन्तर्गत द्रव्यके परिमाणके अतिरिक्त उसके चलनका वेग और उससे सम्पादित होनेवाले व्यापारके परिमाणको भी सम्मिलित कियाजाता है। परन्तु इस सिद्धान्त के कुछ अनुयायी यह मानलेते है कि दीर्घकालमें द्रव्यका औसत वेग और व्यापार की मात्रामें अधिक परिवर्तन नही होताहै और यदि होताभी है, तो उसका सीधा सम्बन्ध मूल्य-स्तरसे नही होता। अब यदि हम चलनके वेग और व्यापारकी मात्रा पर ध्यान न दें तो, यदि मूल्य-स्तरमें वृद्धि होगयी है तो उसका कारण द्रव्यके परिमाणमें वृद्धिही होसकता है, इस प्रकारके तर्कमें अनेक त्रुटिया एव अपवाद है। पहिले तो यह मानलेना कि द्रव्यका वेग और व्यापारकी मात्रा समान रहेगी, असगत है। इन दोनोंमें भी परिवर्तन होता रहताहै जिससे मूल्य-स्तर प्रभावित होता है और मूल्यके प्रभावित होनेसे ये दोनोभी प्रभावित होते है। इनके अतिरिक्त द्रव्य के परिमाणमें जो परिवर्तन होताहै उसका पूरा प्रभाव मूल्य-स्तरपर न पडने देनेमें भी इनका हाथ रहता है। उदाहरणके लिए, कल्पना कीजिए कि आर्थिक मन्दीका अवसरहै तथा मूल्य-स्तर नीचे गिरगया है और इसलिए आवश्यकता इस स्तरको ऊचा करनेकी है। अब यदि द्रव्य प्रबन्धक द्रव्यके परिमाणमें वृद्धि करदें तो यह अनिवार्य नहीहै कि मूल्य-स्तर अवश्य ऊचा होजायेगा। आर्थिक मन्दीके अवसर पर निरुत्साहकी भावना रहती है। अतएव यह होसकता है कि नया द्रव्य क्रियाशील न बनकर बेकार सचित पडारहे। यदि ऐसा हुआ तो द्रव्यके प्रसारसे मूल्य-स्तर ऊचा नही उठने पायेगा। इसके अतिरिक्त यदि समाजके साधन बेकार पडेहो तो जैसे जैसे नया द्रव्य पूजीके रूपमें लगाया जायेगा वैसे वैसे उत्पादन कार्यमें भी वृद्धि होने लगेगी। यदि द्रव्यके परिमाणमें वृद्धिके साथ साथ उत्पत्तिके परिमाण में भी वृद्धि होती रहे तो मूल्य-स्तरमें अधिक वृद्धि नही होने पायेगी। जब सभी आर्थिक साधन पूर्णरूपसे काममें नियुक्तहो, तभी द्रव्यके परिमाणमें वृद्धिके फल-स्वरूप उत्पत्तिकी मात्रामें वृद्धि न होनेके कारण मूल्य-स्तरमें भी वृद्धि होने लगेगी।

यदि द्रव्यके प्रसारसे मूल्य-स्तरमें वृद्धि होजाती है तो मूल्य-स्तरमें वृद्धिके कारण उत्पत्तिकी मात्राको बढानेमें प्रोत्साहन भी मिलता है। मूल्य-स्तरमें वृद्धि होनेके कारण चलनके औसत वेगमें भी वृद्धि होसकती है। इसका प्रधान कारण यहहै कि जब मूल्य-स्तरमें वृद्धिके कारण लाभकी मात्रा बढने लगतीहै तो उत्पादक वर्ग अपने सचित द्रव्यको भी पूजीके रूपमे लगाने लगते है। उपभोक्ताभी इस आशकासे कि कही भविष्यमें अधिक मूल्य-वृद्धि न होजाये, वर्तमानकालमें ही अपने द्रव्यको वस्तुओमें बदलनेकी चेष्टा करते है। इसप्रकार हम देखतेहै कि व्यवसायका परिमाण और द्रव्यके चलनका वेग दोनोका मूल्य-स्तरसे घनिष्ट सम्बन्ध है। कभी कभी ऐसाभी होताहै कि व्यवसायकी वृद्धिके कारण व्यवसायी बैंकोसे अधिक परिमाणमें द्रव्यकी प्रार्थना करतेहै और यदि उनकी प्रार्थना स्वीकार हुई, तो इससे द्रव्यके परिमाणमें वृद्धि होजाती है। इसप्रकार हम देखतेहै कि द्रव्यका परिमाण कारण न होकर कार्य बनजाता है।

वास्तवमें बात यहहै कि मूल्य-स्तर और द्रव्यके विनिमय-मूल्यमें परिवर्तन करने में पूर्वोक्त समीकरणके चारो अवयवोका हाथ रहता है। प्रत्येक अवयव एक दूसरे से घनिष्ट रूपसे सम्बन्धित है, वह उनपर अपना प्रभाव डालताहै और स्वय उनसे प्रभावित होता है। यह प्रभाव भिन्न भिन्न आर्थिक अवस्थाओमें भिन्न भिन्न प्रकार का होता है। प्रत्येक अवयवमें बदलावके अपने निजी कारणभी होते है। उदाहरण के लिए, उत्पत्तिकी मात्रा बढानेके लिए, उत्पत्तिके साधन चाहिए, धन चाहिए, लाभ की आशा होनी चाहिए इत्यादि।

सक्षेपमें हम यह कहसकते है कि फिशरके समीकरणसे हमको इतना तो अवश्य ही ज्ञात होजाता है कि यदि मूल्य-स्तरमें कमी या वृद्धि हुई, तो हमको कारणकी खोज कहा करनी चाहिए। परन्तु जिन चार वडे आर्थिक अवयवोकी ओर सकेत मिलताहै, वे वास्तवमें किसप्रकार एक दूसरेको प्रभावित करतेहुए द्रव्यका विनिमय-मूल्य निर्धारित करतेहै, इस विषयपर अधिक प्रकाश नही पडता। इसके अतिरिक्त यहभी कहा जाताहै कि द्रव्यका जो विनिमय-मूल्य इस समीकरणमें निहितहै वह द्रव्य की वास्तविक क्रय-शक्ति नहीहै क्योकि द्रव्यका लेनदेन केवल उपभोगकी वस्तुओ और सेवाओके लिएही नही वल्कि ऋणकी अदायगी, सिक्यूरिटी इत्यादि साख-पत्रोको मोल लेनेमें और सट्टेके काममें भी होता है। अतएव इस समीकरणके

न्तर्गत जो मूल्य-स्तर है उसमें प्रत्येक प्रकारके द्रव्य-विनिमय-सम्बन्धी व्यवसाय निहितहै जैसाकि पहिले बताया जाचुका है, इस प्रकारके मूल्य-स्तरमें कोई वास्तविकता नहीं होती है।

द्रव्य का संचयन सिद्धान्त

केम्ब्रिज विश्वविद्यालयके कुछ अर्थशास्त्रियोंने द्रव्यके पारिमाणिक सिद्धान्तको दूसरेही रूपमें प्रतिपादित किया है। इनके विचारमें द्रव्यकी माग उसको अपने पास रखनेके लिए होतीहै। द्रव्यको अपने पास रखनेसे वस्तुओ और सेवाओंपर अपना अधिकार बना रहता है। व्यक्ति और सस्थाए अनेक प्रयोजनोके लिए द्रव्य का सचय करतेहै और इस सचयकी मात्रा आर्थिक अवस्थाके अनुसार घटती और बढती रहती है। यदि द्रव्यके परिमाणमें परिवर्तन न हुआहो तो द्रव्यको अधिक मात्रामें सचय करनेका अभिप्राय हुआ कि उसके व्ययको कमकरना अर्थात् चलनके वेगमें कमी आजाना। इसके प्रतिकूल सचयकी मात्रामें कमी करने से अभिप्राय होताहै व्यय अधिक मात्रामें करना अर्थात् चलनके वेगको बढाना। इसप्रकार हम देखतेहै कि चलनके वेगमें और संचयकी मात्रामें अनुलोम सम्बन्ध है।

जितना द्रव्य चलनमें रहताहै, वह किसी न किसीके पास रहताही है। किसी समय विशेपमें जो मूल्य-स्तर रहताहै उसके हिसाबसे इस द्रव्यके परिमाण द्वारा वस्तुओ और सेवाओके कुछ परिमाण पर अधिकार रहता है। सुविधाके लिए हम मान लेतेहै कि वस्तुओ और सेवाओका वह परिमाण जिसपर समाजका अधिकार द्रव्यके रूपमें रहताहै वार्षिक उत्पत्तिका एक अशहै। इस अशको हम 'अ' कहेंगे और कुल वार्षिक उत्पत्तिको 'उ' कहेंगे। स्पष्टहै कि कुल द्रव्यकी क्रयशक्ति 'अ उ' होगी, द्रव्यकी एक इकाई का विनिमय-मूल्य अउ/द्रव्यका परिमाण होगा और मूल्य-स्तर द्रव्यका परिमाण/अउ होगा। इस सम्बन्धको एक समीकरणके रूपमें प्रकट कियाजाता है जिसको केम्ब्रिज-समीकरण कहते है। इस समीकरणके अनेक रूपहै। एक सुगम रूप निम्नलिखित है:

$$\text{मूल्य-स्तर} = \frac{\text{द्रव्य का परिमाण}}{\text{अ उ}}$$

यदि लोग यह चाहतेहैं कि वे द्रव्यके रूपमें अधिक मात्रामें वस्तुओ और सेवाओं पर अधिकार रखें, तो वे द्रव्यके सचयमें वृद्धि करने लगेंगे जिसके फलस्वरूप व्यय के परिमाणमें कमी आजानेके कारण मूल्य-स्तर नीचे गिरने लगेगा। और यदि वे द्रव्यके रूपमें पहिलेसे कम मात्रामें वस्तुओ और सेवाओपर अधिकार रखना चाहतेहैं तो वे अपने सचयको व्यय करने लगेंगे जिससे मागमें वृद्धि होगी और मूल्य-स्तरमें भी वृद्धि होने लगेगी। साधारणत: यह देखागया है कि आर्थिक उत्कर्षके समय द्रव्यके सचयकी मात्रामें कमी करनेकी प्रवृत्ति होतीहै जिससे मूल्य-स्तरमें वृद्धि होने लगतीहै और आर्थिक अपकर्षके कालमें द्रव्यका सचय बढने लगताहै जिससे मूल्य-स्तर घटने लगता है।

यदि द्रव्यके परिमाणमें वृद्धि होजाये परन्तु समाजके लोग पहिलेके परिमाणमें ही द्रव्यके रूपमें वस्तुओ और सेवाओपर अपना अधिकार बनाये रखना चाहें तो तात्कालिक मूल्य-स्तरके हिसाबसे उनकेपास अतिरिक्त द्रव्य जमाहो जायेगा जिस को वे व्यय करने लगेंगे जिससे मूल्य-स्तरमें वृद्धि होने लगेगी। यह वृद्धि तबतक होती रहेगी जबतक मूल्य-स्तर इतना ऊचा न होजाये जहापर बढेहुए द्रव्यके परिमाणसे पूर्वोक्त मात्रामें ही वस्तुओ और सेवाओपर अधिकार हो। द्रव्यके परिमाणमें कमी होजानेसे विपरीत प्रवृत्ति होगी। इसप्रकार द्रव्यके सचयन सिद्धान्तके अनुसारभी द्रव्यके परिमाणमें कमी और वृद्धि होजानेसे मूल्य-स्तर और उसके सम्बन्धित द्रव्यका विनिमय-मूल्य प्रभावित होता है।

इस सिद्धान्तके अनुयायी यह नही कहतेहैं कि द्रव्यके परिमाणमें वृद्धि होजाने से उसी अनुपातमें मूल्य-स्तरमें भी वृद्धि होजायेगी क्योकि यदि समाजमें बेकार आर्थिक साधन पडेहो तो उत्पत्तिकी मात्रामें वृद्धिभी होसकती है और लोग द्रव्यके रूपमें कितने परिमाणमें वस्तुओ और सेवाओपर अधिकार रखना चाहतेहैं, इस निश्चयको भी बदल सकते हैं।

द्रव्यके पारिमाणिक सिद्धान्तका जो यह दूसरा रूप द्रव्य-सचयन सिद्धान्त द्वारा प्रतिपादित कियागया है इसमें एक विशेष बात यहहै कि यह हमारा ध्यान इस ओर आकृष्ट करताहै कि लोगोको द्रव्यकी माग क्यो होतीहै और इस मागमें परिवर्तन होनेसे किसप्रकार मूल्य-स्तर प्रभावित होताहै परन्तु इस प्रकारके प्रतिपादनमें उसी प्रकारकी त्रुटियाहै जो फिशरके समीकरणके अन्तर्गत पायीगयी है। केम्ब्रिज समी-

करणभी मूल्य-स्तरके सम्बन्धमें उन अवयवोंकी ओर इंगित करताहै जिनपर मूल्य-स्तर निर्भर करता है। परन्तु विविध आर्थिक अवस्थाओंमें इन अवयवोका सम्बन्ध किसप्रकार बदलताहै और एक दूसरेको प्रभावित करतेहुए द्रव्यके विनिमय मूल्यको निर्धारित करताहै इसका पर्याप्त विश्लेषण इस सिद्धान्तमें भी नही पाया जाता है। इसके अतिरिक्त इस समीकरणवाला मूल्य-स्तरभी उपभोगकी वस्तुओ और सेवाओंके ऊपर द्रव्यके विनिमय-मूल्यको नही बताता क्योंकि द्रव्यका सचय अन्य प्रयोजनोंके निमित्तभी होना है।

उपर्युक्त विवेचनसे हम इस परिणामपर पहुचतेहै कि मूल्य-स्तर और द्रव्यके विनिमय-मूल्यमें क्यो और किसप्रकार परिवर्तन होजाता है। इसका पूरा पूरा पता लगाना एक गहन विषय है। आर्थिक अवस्था वदलती रहती है। लोगोंके निश्चय बदलते रहते है। उनकी बचत की मात्रा और पूजीके प्रयोगकी मात्रामें भी परिवर्तन होते रहतेहै अतएव उपभोगकी वस्तुओकी और उत्पादक वस्तुओंकी माग और पूर्तिमें भी परिवर्तन होतेरहते है। द्रव्यका परिमाण और व्याजकी दर जो उसको प्राप्त करनेके लिए देनी पडतीहै, इनमें भी परिवर्तन होता रहता है। इन सभी परिवर्तनोका प्रभाव मूल्य-स्तर और द्रव्यके विनिमय-मूल्यपर भी पडता है। भिन्न भिन्न आर्थिक अवस्थाओंमें इन आर्थिक अवयवोंमें किस प्रकार परिवर्तन होता है इसका विवेचन हम 'आर्थिक उत्कर्ष और अपकर्ष' नामक अध्यायमें करेंगे जिसमें आर्थिक उत्कर्ष और अपकर्षके कारणोका विश्लेषण किया जायेगा और तत्सम्बन्धी द्रव्यके विनिमय-मूल्य परभी अधिक प्रकाश पडेगा।

द्रव्यके विनिमय-मूल्यमे परिवर्तन का प्रभाव

हम ऊपर लिख आयेहै कि सभी वस्तुओ और सेवाओका मूल्य समान परिमाणमें घटता और वढता नही है। जिस कालमें मूल्य-स्तर बढने लगताहै उससमय कुछ ऐसे मूल्य होतेहै जो शीघ्रतासे और पर्याप्त परिमाणमें वढजाते है और कुछ ऐसे मूल्य होतेहै जो कुछ समयावधिके बाद धीरे धीरे बढने लगतेहै और कुछतो बिल्कुल नही वढते। इसीप्रकार जब मूल्य-स्तर गिरने लगताहै तो कुछ वस्तुओ और सेवाओका मूल्य तुरन्तही गिरजाता है और कुछ मूल्य धीरे धीरे गिरतेहै और कुछ

पूर्ववत् रहते है। भिन्न भिन्न मूल्योके इसप्रकार आचरणसे आर्थिक स्थिति तथा भिन्न भिन्न वर्गोपर भिन्न भिन्न प्रकारका प्रभाव पडता है। प्राय: यह देखागया है कि आर्थिक उत्कर्षके कालमें मूल्य-स्तर बढा रहता है। प्रारम्भमें लागत-व्यय जिस में पारिश्रमिक, ब्याज, किराया आदि शामिल है, तुरन्तही नही बढते है। अतएव उत्पादक वर्गोकी लाभकी मात्रा बढने लगतीहै, जिससे वे उत्पत्तिके कार्यमें अधिक पूजी लगानेको उत्साहित होतेहै और राष्ट्रीय आयमे वृद्धि होने लगती है। परन्तु इस कालमें जिन वर्गोकी आयमे उस अनुपातमें वृद्धि नही हुईहो जिस अनुपातमें मूल्य-स्तरमें वृद्धि हुईहै, उन वर्गोके व्यक्तियोकी वास्तविक आय कम होजाती है। उदाहरणके लिए यदि मज़दूरोके जीवन-स्तरवाली वस्तुओके मूल्य-स्तरमें ७५ प्रतिशत वृद्धि हुई हो परन्तु उनके पारिश्रमिकमें केवल २५ प्रतिशत वृद्धिहो तो इस वर्गको आर्थिक क्षति होगी। इसके साथ एकबात और ध्यानमें रखने योग्यहै कि जिस कालमें मूल्य-स्तर में वृद्धि होनेके कारण लाभकी मात्रा बढी रहतीहै उस कालमें उत्पादक वर्ग अपने उद्योग धधोमें भी वृद्धि करता है। अतएव मज़दूरोमें बेकारी कम होजाती है, जिससे मूल्य-स्तरमें वृद्धिसे जो क्षति होजाती है उसकी कुछ अशमें पूर्ति होजाती है। परन्तु जिन लोगोकी आयमें कुछभी वृद्धि नही होतीहै जैसे पेन्शनवाले, इनकी आर्थिक क्षति सबसे अधिक होती है। लाभकी वृद्धिके कारण शेयरोके मूल्यमें भी वृद्धि होजाती है। अतएव इस वर्गको भी मूल्य-स्तरमें वृद्धिके कालमें लाभ होता है। इस कालमें साहूकार वर्गको क्षति होतीहै और ऋणी वर्गके ऋणके भारमें कमी होजाती है। इसका कारण यहहै कि द्रव्यके विनिमय-मूल्यमें ह्रास होनेके कारण मूलधन और ब्याजकी क्रय-शक्ति कम होजाती है। ऋणी लोग अपनी वस्तुओ और सेवाओको बढेहुए मूल्यपर बेचकर अधिक सुगमतासे उऋण होसकते है। उदाहरणके लिए, यदि किसी किसानने १०० रु० ऋण ऐसे कालमें लियाहो, जब गेहूका मूल्य २ रु० प्रतिमन हो तो उसको ५० मन गेहूं बेचनेपर १०० रु० प्राप्त होते। अब यदि ऋण चुकानेके समय गेहूका भाव १० रु० प्रतिमन हो, तो वह केवल् १० मन गेहू बेचकर उऋण होसकता है। कहा जाताहै कि द्वितीय महायुद्धके समय और उसके पश्चात्के कालमें वृद्धि होनेके कारण भारतवर्षमें अनेक किसानोने अपने ऋणका भार बहुत कुछ हलका कर लिया है।

इसके विपरीत जब मूल्य-स्तर गिरने लगताहै तो उत्पादन वर्गकी लाभकी मात्रा

गिरने लगतीहै क्योंकि लागत-व्ययको तुरन्तही कम नहीं किया जासकता। जिन व्यक्तियों अथवा व्यक्तिवर्गों की आय उसी अनुपातमें नहीं घटतीहै जिस अनुपातमें मूल्य-स्तरमें ह्रास होताहै, उनके आर्थिक क्षेममें वृद्धि होगी। परन्तु जब मूल्य-स्तर में अधिक कमी आनेलगती है तो उत्पादक वर्ग अपने उद्योग धन्धोंको मात्रामें कमी करनेलगते हैं। अनेक आर्थिक साधन बेकार होजाते हैं। अतएव केवल उन्हीं व्यक्तियोंको लाभ होसकता है जो पुराने पारिश्रमिकके हिसाबसे काममें बने रहें, जैसेकि स्थायी राज-कर्मचारी, कल कारखानोंके इंजीनियर इत्यादि जिन्हें कम मात्रा में उत्पत्ति होनेपर हटाया नहीं जासकता। इस कालमें शेयरोंके मूल्य गिरजानेसे शेयरपतियोंको हानि होतीहै। ऋणका भार बढ़जाता है। साहूकार वर्गको लाभ होता है।

इसप्रकार हम देखतेहैं कि द्रव्यके विनिमय मूल्यमें अधिक मात्रामें कमी अथवा वृद्धि होनेसे भिन्न भिन्न वर्गोंपर भिन्न भिन्न प्रकारका प्रभाव पड़ताहै जिससे वास्तविक आयके वितरणमें भी परिवर्तन होजाता है। इस परिवर्तन का ठीक ठीक अनुमान लगाना कठिनहै क्योंकि एकही व्यक्ति अनेक वर्गोंका सदस्य रहता है। एक सरकारी कर्मचारी एकही साथ शेयरपति और साहूकारभी होसकता है और भिन्न भिन्न वृत्तियोंमें भिन्न भिन्न प्रकारसे प्रभावित होता है। हम केवल इतनाही कहसकते हैं कि पूंजीवादके अन्तर्गत आय और सम्पत्तिके वितरणमें बहुत असमानता होनेके कारण यदि द्रव्यके विनिमय-मूल्यमें परिवर्तन होनेके कारण इस असमानता में कमी आसके तो इसप्रकार का परिवर्तन समाजके हितके निमित्त होगा। उत्पत्ति के परिमाण और आर्थिक साधनोकी पूर्ण नियुक्तिके दृष्टिकोणसे कहाजाता है कि मूल्य-स्तरमें वृद्धिकी प्रवृत्ति अधिक वाछनीयहै क्योकि यदि मूल्य-स्तरमें कमी आगयी तो इससे आर्थिक अपकर्ष और मन्दीका सचार होनेलगेगा जिससे राष्ट्रीय आयमें कमी और बेकारी उत्पन्न होजाती है। यह एक बहुत गहन और पेचीला प्रश्नहै कि समाजके हितके लिए मूल्य-स्तरमें ह्रास, वृद्धि अथवा स्थिरता रहनी चाहिए। हम इतना कहना चाहेंगे कि भिन्न भिन्न आर्थिक अवस्थाओंमें भिन्न भिन्न प्रकारका मूल्य-स्तर वाछनीय रहेगा। इस विषयपर भी हम 'आर्थिक उत्कर्ष और अपकर्ष' वाले अध्यायमें कुछ प्रकाश डाल सकेंगे।

२५

बैंक

साख और साख-पत्र

वर्तमान आर्थिक प्रणालीमें बैंकोको एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है। पाश्चात्य देशोमें तो बैकोका और आर्थिक कार्योका इतना घनिष्ठ सम्बन्ध होगया है कि कुछ अर्थ-शास्त्रियोके मतानुसार आर्थिक अस्थिरताओका एक प्रधान कारण बैकजनित होता है। प्राचीनकाल में उद्योग धन्वे छोटे परिमाणमें किये जातेथे और व्यापारभी सीमित रहता था। अतएव बैंकोका अधिक कार्य और महत्व नही था। परन्तु श्रमविभागमें वृद्धि होनेसे, आर्थिक क्रियाओके विशिष्टीकरणसे कल-कारखाने, विद्युत्शक्ति और यातायातके त्वरितगामी साधनोके प्रयोगसे उत्पत्ति और व्यापार की मात्रामें बहुत वृद्धि होगयी है। इन कार्योको सुगमतासे सम्पादित करवानेके लिए विशिष्ट सस्थाओकी भी आवश्यकता होने लगी। इसी सम्बन्धमें बैंको और अनेक प्रकारके साख-पत्रोका भी विकास होने लगा।

उत्पत्ति और व्यापारके कार्य साखके विना चल नही सकते है। किसीभी किसान, दुकानदार और कारखानेके मालिकको लेलीजिए। हम-देखतेहै कि अपने कार्यके निमित्त उनको प्रथम ऋण लेना पडताहै और अपनी वनायीहुई वस्तुओको भी साख के आधारपर (अर्थात् उधार) वेचना पडता है। भारतवर्षमें अनेक प्रकारके लोग उधार देनेका कार्य करतेहै जिनको महाजन, साहूकार, सर्राफ, चेटी, नानावती और कावुली इत्यादि नामोसे पुकारा जाताहै। जमीन्दार और दुकानदार भी इस कामको करते है। आधुनिक कालमें यह कार्य अधिकतर बैंको द्वारा सम्पादित होने लगा है।

उधार चाहे द्रव्यके रूपमें अथवा वस्तु रूपमें दियाजाय, साखपर ही अवलम्बित रहता है। विना साखके कोई व्यापारी विना तत्काल मूल्य लिये अपना सामान

हस्तान्तरित नही करेगा और न कोई बैंक अथवा महाजन उधार देगा। साख-सम्बन्धी कार्योंकी वृद्धिके कारण अनेक प्रकारके साख-पत्रोंकी सृष्टि होगयी है। नोट-द्रव्यभी एक प्रकारका साख-पत्रही है। यदि हम नोटोंपर लिखा लेख पढ़ें तो उसमें केन्द्रीय बैंककी ओरसे उसके गवर्नरका हस्ताक्षरयुक्त प्रतिज्ञापत्र रहताहै कि वह मांगनेपर नोट-ग्राहकको उसपर लिखाहुआ रुपया देगा। आधुनिक कालमें नोट के अविनिमय साध्य होनेके कारण इस प्रतिज्ञाका कोई महत्व नही रहगया है परन्तु पूर्वकालमें नोटोंके बदले चांदीके रुपये दियेजाते थे। आजकल भी नोटोंके अन्तर्गत सरकार और केन्द्रीय बैंककी साख है। चेकभी एक महत्वपूर्ण साख-पत्र है। इसके द्वारा बड़ीसे बडी रकमभी स्थानान्तरित अथवा हस्तान्तरित की जासकती है। जिस व्यक्ति अथवा सस्थाकी बैंकमें धरोहर जमा है अथवा जिसको बैंकने ऋणदेना स्वीकार करलियाहै वह चेक द्वारा बैंकको आदेश देताहै कि बैंक चेकपर लिखीहुई रकमको चेकपर नामांकित व्यक्ति अथवा उसके द्वारा अधिकृत व्यक्तिको देदे। चेक तो द्रव्य नही है। इसको जो व्यक्ति द्रव्यके स्थानमें स्वीकार करताहै उसका आधारभी साखही है। कभी कभी बैंक चेकके बदलेमें रुपया देनेसे इन्कार करदेते है क्योकि चेक लिखनेवाले की बैंकके पास पर्याप्त मात्रामें धरोहर नही रहती है।

हुंडी एक विशेष प्रकारका साख-पत्रहै जिसका प्रयोग देशी और विदेशी व्यापार में होता है। इसके द्वारा वस्तुओका विक्रेता उनके मोल लेनेवाले को आदेश देताहै कि वह उनका मूल्य एक निर्धारित काल (साधारणत: तीन महीने) के बाद उसको अथवा उसके बैंकके पास जमा करदे। जब क्रेता इस हुडीपर अपने हस्ताक्षर करके उसको स्वीकार करलेताहै तब इस स्वीकृत हुंडीको बैंकमें भुनाया जासकता है। आगे चलकर हम बतायेंगे कि बैंक किसप्रकार इन हुडियोको भुनाकर अपनीभी आय करतेहै और व्यापारके लिए द्रव्य प्रदान करते है। कभी कभी जब एक बैंक दूसरे बैंकसे ऋण लेताहै अथवा सकटके समय एक बैंक दूसरे बैंककी सहायता करता है तो इस सम्बन्धमें जिस प्रकारके साख-पत्रका प्रयोग होताहै उसको हम बैंककी हुंडी कहसकते है।

दीर्घकालके लिए पूजी प्राप्त करनेके लिएभी अनेक प्रकारके साख-पत्रोका सृजन हुआ है। इनमेंसे मुख्य विविध प्रकारके शेयर, बौड और डिबेंचर कहलाते है। बौड और डिबेंचर ऋण-सूचक साख-पत्र है। यदि किसी कम्पनी अथवा सरकार

को दीर्घकाल के लिए ऋणकी आवश्यकता होतीहै तो वह इनको बेचती है। इनको मोल लेनेवालोको एक निर्धारित दरसे व्याज दियाजाता है। शेयर स्वामित्व-सूचक साख-पत्र है। इनको मोल लेनेवालो को शेयर बेचनेवाली कम्पनियोमें स्वामित्व का अधिकार रहताहै और इनको लाभाश मिलता है।

बैंकों का विकास और उनके कार्य

आधुनिक बैंकोके-व्यापारी, स्वर्णकार और साहूकार-ये तीन पूर्वज बताये जाते है। प्राचीन कालमें बडी बडी व्यापारी कोठिया हुडियोका व्यापार करतीथी और विदेशी व्यापारकी व्यवस्था करती थी। कुछ पाश्चात्य देशोमें लोग धात्विक द्रव्य स्वर्णकारोके पास सुरक्षाके लिए जमा करतेथे जिसके आधारपर शनै: शनै: नोट और साख-द्रव्यकी सृष्टि हुई। साहूकार ऋण देनेका कार्य करते है। आधुनिक बैकोमें यह तीनो कार्य निहित है। इन प्रधान कार्योके अतिरिक्त अन्य कार्योके द्वाराभी बैंक समाजकी सेवा करते है। वैसेतो बैकोके अनेक प्रकार है। परन्तु इनके दो बडे वर्गीकरण किये जासकते है। एकको तो हम व्यापारिक बैंक कहेंगे जो अल्पकालीन ऋणसे सम्वन्धित है। दूसरे वर्गका सम्वन्ध दीर्घकालीन पूजी इकट्ठा करने और उसको उत्पत्तिके कार्योके लिए प्रस्तुत करनेसे है। इनमें व्यापारिक बैकोसे अधिक प्रगतिशीलता होती है।

प्राय: यह देखाजाता है कि व्यक्तियो और सस्थाओके पास चालू-व्यय करनेके बाद कुछ द्रव्य बचजाता है जिसकी उनको वर्तमान कालमें आवश्यकता नही रहती है। इसके कुछ भागकी उनको निकट भविष्यमें आवश्यकता पडतीहै और कुछ भागकी दीर्घकाल तक आवश्यकता नही पडती है। इसीप्रकार ऐसे व्यक्ति और संस्थाए होतीहै जिनको अपने आर्थिक कार्योके लिए अल्पकालीन अथवा दीर्घकालीन ऋणकी आवश्यकता रहती है। बैंकके द्वारा इन दोनों प्रकारके लोगोका कार्य सिद्ध होजाता है। छितरी हुई छोटी मोटी सभी प्रकारकी बचत बैकोमें धरोहरके रूपमें जमा होती है। सबको चालू हिसाब कहतेहै जिसका धन कभीभी विना पूर्व सूचना के चेक द्वारा वापस लिया जासकता है अथवा हस्तान्तरित किया जासकता है। इसपर बैंक साधारणत: व्याज नही देतेहै फिरभी लोग चालू हिसाबमें धरोहर इस

लिए रखते है कि भुगतान सम्बन्धी अनेक सुविधाओंके साथ साथ रुपया बैंकमें सुर-क्षित रहता है। दूसरी प्रकारकी धरोहरको हम दीर्घकालीन धरोहर कह सकते है जो कि एक निर्धारित समयके लिए बैंकके पास छोडदी जाती है और उस समयसे पूर्व वापस मागनेके लिए बैंककी स्वीकृतिकी आवश्यकता होती है। इस प्रकारके धरो-हरपर बैंक ब्याज देते है। धरोहर रखनेका कार्य बैंकोका एक प्रधान कार्य है। इस कार्यके सम्पादनसे बैंक बचत करनेमें प्रोत्साहन देतेहै और बचत करनेवालो को ब्याज देकर उनकी आयमें भी वृद्धि करते है। बैंकोंके न होनेपर समाजकी बचतका कुछ हिस्सा अवश्यमेव बेकार घरोंमें पडा रहता जो न बचत करनेवालोंकी आय में वृद्धि करता और न समाजके आर्थिक कार्योंमें लगने पाता। बैंकोंके द्वारा बेकार सञ्चित पडाहुआ द्रव्य प्रचालित होता है। इस प्रचालनका कार्य बैंक विविध प्रयोजनों के लिए व्यक्तियो अथवा संस्थाओंको ऋण देकर, हुडिया भुनाकर और सिक्यूरिटिया खरीदकर सम्पादित करते है। इससे उत्पादन-कार्य और व्यापारमें वृद्धि होती है। ऋण देकर और अन्य प्रकारसे भी धरोहर-द्रव्यको आर्थिक कार्योंमें लगवाना यह बैंकोंका दूसरा प्रधान कार्य है।

बैंक केवल दूसरोकी धरोहरको ही प्रचालित नही करतेहै,परन्तु जैसाकि हम साख-द्रव्यके सम्बन्धमें लिख आयेहै वे एक नये प्रकारके द्रव्यका भी सृजन करतेहै और उसकोभी आर्थिक कार्योंके लिए उपलब्ध करते है। हम देखचुके है कि इस साख-द्रव्यके प्रयोगसे धात्विक द्रव्यकी बचत होजाती है और सोने चादीका एक बडा भाग द्रव्यके कार्यसे निकलकर अन्य आर्थिक कार्योंके लिए उपलब्ध होजाता है। प्रगतिशील आर्थिक कार्योंके लिए प्रगतिशील द्रव्य-पद्धतिभी चाहिए। साख-द्रव्यका समावेश करनेसे द्रव्य-पद्धतिमे यह गुण आजाता है। यहापर हम यहभी लिखदेना चाहतेहै कि बैंकोकी इस साख-द्रव्य सृजन करनेकी शक्तिका बहुधा दुरुपयोगभी होजाता है। कुछ अर्थशास्त्रियोके मतानुसार आर्थिक अस्थिरताओका एक प्रधान कारण साख-द्रव्यकी अस्थिरतासे सम्बन्धित किया जासकता है। अतएव इस साख-द्रव्यमे प्रबन्ध और नियन्त्रणकी आवश्यकता रहती है। यह कर्तव्य केन्द्रीय बैंकका है और उस प्रकरणमें हम उन उपायो और उपकरणोकी विवेचना करेंगे जिनका प्रयोग आधुनिक केन्द्रीय बैंक करते है।

बैंकोके द्वारा द्रव्यको एक स्थानसे दूसरे स्थानोमें भेजा जासकता है। बैंक अपने

आसामियोकी विविध प्रकारसे सेवा और सहायताभी करते हैं। उनके चेक और लाभाशका धन वसूलकर उनके नामपर जमा करते हैं। उनके आदेशानुसार उनकी बीमा-किस्त अदा करते हैं। उनके शेयर, बौंड, इत्यादि प्रकारके साख-पत्रोको खरीदने और बेचनेका प्रबन्ध करते हैं। उनके आभूषण, जवाहिरात और वसीयत-नामा इत्यादि लेख्य-पत्रोको सुरक्षित रखनेका प्रबन्ध करते हैं। अपने साख-पत्र द्वारा विदेश-यात्रामें दूसरे देशोके द्रव्यको प्राप्त करनेमें सहायता करते हैं। अन्त-र्राष्ट्रीय व्यापारमें विदेशी हुडियोको अपने आसामियोकी ओरसे स्वीकार करके प्रोत्साहन देतेहै। इन कार्योके लिए बैंकोको कमीशन मिलता है।

बैंको की लेनी-देनी

बैंक समय समयपर अपनी आर्थिक स्थितिका विवरण एक लेख-पत्रके रूपमें देते हैं जिसके एक भागमें उसकी देनदारीकी भिन्न भिन्न मदें दीजाती है और दूसरे

देनी की मदें		लेनी की मदें और सम्पत्ति	
आप्त हिस्सा पूजी	२,००,००० रु	बैंकमें स्थित और केन्द्रीय बैंकमें स्थित धरोहर	२,४०,००० रु.
रक्षा कोष	२,००,००० रु	अन्य बैंकोमें जमा तथा वसूल न हुए चेक	१०,००० रु.
धरोहर	२०,००,००० रु	तुरन्त-देय और अल्प-कालीन ऋण	१,००,००० रु.
स्वीकृतिया	४०,००० रु	भुनाई हुडिया	२,००,००० रु.
अन्य मदें	६०,००० रु	लगी पूजी	४,५०,००० रु.
कुल	२५,००,००० रु	उधार	१२,००,००० रु.
		स्वीकृतिया	६०,००० रु.
		सम्पत्ति (मकान, फर्नीचर इत्यादि)	२,४०,००० रु.
		कुल	२५,००,००० रु.

भागमें बैंककी सम्पत्ति और पावनेकी मदें दीजाती है। इस लेनी-देनीके लेखेसे बैंककी आर्थिक-स्थिति और उसके कार्यका भी बोध होता है। पिछले पृष्ठपर दीगयी तालिकामें लेनी और देनीकी मुख्य मदें दीगयी हैं और उनके अपने कल्पित आकडेभी दिये गये हैं :

अब हम इन मदोंका संक्षिप्त विवरण और उनके महत्वकी विवेचना करेंगे। प्राप्त-हिस्सा पूंजी बैंककी वह पूंजीहै जो उसके हिस्सेदारोंने शेयरके मूल्यके रूपमें दी है। यह देनदारी बैंकके अपनेही हिस्सेदारोंके सम्बन्धमें है। परन्तु यह तुरन्त देय देनदारी नही है। बैंकको चालनेके लिए पर्याप्त पूंजीकी आवश्यकता होती है। इससे बैंकपर विश्वास रहता है। भारतवर्षमें एक निर्धारित पूंजी इकट्ठा किए बिना बैंक अपना कार्य आरम्भ नही करसकते हैं। रक्षा-कोष बैंकके लाभका वह संचित भागहै जो उसके हिस्सेदारोंको न देकर एक कोषके रूपमें बैंकमें जमा रहता है। यह देनदारीभी बैंककी अपने हिस्सेदारोंके प्रति है। संकटके समय और आसामियोंमें विश्वास बनाये रखनेके लिए इस कोषसे सहायता मिलती है। धरोहर देनदारीकी सबसे बडी मद होतीहै इसमें राज-प्रामाणित द्रव्यमें रखी धरोहर तथा बैंकों द्वारा सृजित साख-द्रव्य भी शामिल है। यह देनदारी बैंककी अपने धरोहर वालोंके प्रति है। चालू धरोहरको मागनेपर तत्काल राज-प्रामाणित द्रव्यके रूपमें देना पडता है। अपनी इस ऋण-शोधन क्षमताको बनाये रखनेके लिए बैंकको पर्याप्त मात्रामें नकदी रखनी पडती है। हुंडियोंको अपने आसामियोंके निमित्त स्वीकार करनेके कारण बैंक हुंडियोंके मालिकका देनदार बनजाता है परन्तु अपने आसामियो से वह उतनीही रकमका लेनदार भी रहता है। अतएव यह मद लेनीकी मदोंके साथभी दिखायी गयी है। अन्य छोटी मोटी देनदारीकी मदें भी होतीहै जो कि बैंकको अपने व्यवसायके सम्बन्धमें स्वीकार करनी पड़ती है।

बैंककी सम्पत्ति और लेनीकी मदोंमें नकदीको प्रमुख स्थान दिया जाता है। इस का लेखा राज-प्रामाणित द्रव्य-मुद्रा और नोटके रूपमें बैंकमें ही रहता है। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय बैंकमें भी किसी बैंककी जो धरोहर है उसकोभी बैंक नकदी ही समझताहै क्योंकि वह इसी रूपमें मागी जासकती है। अन्य बैंकोंमें जमा धरोहर और वह चेक जो अन्य बैंकोसे वसूल करनेके निमित्त पडेहुए हैं, नकदीके ही रूपमें हैं। नकदी बैंककी सबसे अधिक द्रव्य-सम्पत्ति है। इसके परिमाणपर बैंककी ऋण-

शोधन क्षमता प्रधान रूपमें अवलम्बित रहती है। अतएव बैंकोको अपनी धरोहर की देनदारीका एकभाग इस रूपमें रखना पडता है। इसका परिमाण बैंक अपने अनुभवके आधारपर जानसकते है। बैंक इस मदको अधिक परिमाणमें नही रखना चाहतेहै क्योकि इससे उनको कोई आय नही होती है। अतएव कुछ अदूरदर्शी बैंक नकदी इतने कम परिमाणमें रखतेहै कि वे अपने धरोहर रखनेवालो को राज-प्रामाणित द्रव्य देनेमें असमर्थ होजातेहै जिसके फलस्वरूप उनको अपना व्यापार बन्द करनेको बाध्य होना पडता है। इस परिस्थितिसे बचनेके लिए अनेक देशोमें राज-नियम द्वारा इस मदका न्यूनतम परिमाण निर्धारित करदिया जाता है। यदि किसी बैंकमें नकदीका अनुपात कम होनेलगे तो लोग उसको सदिग्ध दृष्टिसे देखने लगते है।

बैंक कुछ प्रतिष्ठित व्यक्तियो और सस्थाओको नाम-मात्र व्याजपर इस शर्तपर ऋण देतेहै कि वह मागनेपर तुरन्तही अथवा कुछ दिनोकी नोटिस मिलनेपर (एक दिनसे सात दिनतक) इस रकमको लौटा देंगे। इस प्रकारका ऋण प्रधानत: स्टाक-एक्स्चेन्जसे सम्बन्धित लेनदेनके कार्यमें लिया जाता है। इस प्रकारके ऋणमें बहुत द्रवता रहतीहै अर्थात् आवश्यकता पडनेपर थोडे समयके अन्दर बैंकको यह द्रव्य वापस मिल सकता है। बैंक, हुडी भुनानेका भी काम करते है। साधारणत: इन हुडियोकी अवधि तीन महीनेकी होती है। बैंक हुडीकी रकमका वर्तमान मूल्य हुडीके स्वामीको देतेहै और अवधि पूरी होनेपर पूरा मूल्य वसूल करलेते है। इन दो मूल्योका जो अन्तर होताहै वही बैंककी आय है। इन हुडियोमें अपनी सम्पत्ति रखनेसे बैंकको एक यह सुविधा होतीहै कि आवश्यकता पड़नेपर बैंक इन भुनायी हुई हुडियोको केन्द्रीय बैंकके पास दुवारा भुनाकर अपनी देनदारी पूरी करसकता है। लगी पूजीका आशय बैंक द्वारा मोल लीगयी सरकारी सिक्यूरिटिया, बौंड, डिबेंचर और कभी कभी औद्योगिक सिक्यूरिटिया भी है। इन सिक्यूरिटियोसे बैंक को पूर्वलिखित मदोसे अधिक आय होतीहै और आवश्यकता पडनेपर इनको बेच कर अथवा केन्द्रीय बैंकके पास इनको बन्धकके रूपमें रखकर द्रव्य प्राप्त होसकता है। परन्तु इस मदमें एक त्रुटि यहहै कि इन सिक्यूरिटियोका मूल्य बदलता रहता है। अतएव कभी कभी मूल्य घटजाने से हानि होनेकी सम्भावनाभी रहती है। अधिकतर बैंककी लेनीकी मदका सबसे बड़ा परिमाण उधारकी मदका होता है।

अपने आसामियोंको ऋण देकर बैंक उनसे ब्याज वसूल करते हैं। इस मदसे सबसे अधिक आय होती है। परन्तु इस मदमें सबसे कम द्रवता और सबसे अधिक खतरा भी रहता है। इसके अतिरिक्त जितने कालके लिए ऋण दियागया हो उससे पहिले आवश्यकता पड़नेपर भी बैंकको धन वापस नहीं मिलसकता है। अवधि पूरी होने परभी प्राय: ऋणी अवधि बढ़ानेकी प्रार्थना करते हैं। कुछ ऋणी ऋण-शोधनमें असमर्थ होजाते हैं। साधारणत: बैंक इस प्रकारके खतरेसे अपनी रक्षा करनेके लिए ऋणी लोगोंसे सोना, चांदी, आभूषण और सिक्यूरिटी इत्यादि बन्धकके रूपमें रखवालेते हैं। व्यापारिक बैंक प्राय: थोड़ी अवधि (एक वर्षसे कम) के लिए ही ऋण देते हैं।

बैंकके लेनी-देनीके लेखेके दोनो भागोंका योग बराबर होताहै क्योंकि इसका हिसाबही इस प्रकारसे रखाजाता है। परन्तु एक दूरदर्शी बैंकको अपनी सम्पत्ति और लेनीके मदोंके अनुपातपर दृष्टि रखनी पड़ती है। कुछ मदोंसे आय नहीं होती है परन्तु उनको रखना बहुत आवश्यक है। कुछ मदोंसे आय तो अधिक होतीहै परन्तु उनमें जोखिम अधिक रहता है। बैंकके प्रबन्धकको समय समयपर सभी मदोंको इस अनुपातसे बदलते रहना पड़ताहै कि उनमें पर्याप्त मात्रामें द्रवता अर्थात् द्रव्य-विनिमय क्षमता रहे जिससे वह अपने देनदारोंकी मांगोंको पूरी करनेमें समर्थ रहे और साथही साथ उन मदोंसे इतनी आयहो कि बैंक सम्बन्धी व्ययको चुकाकर हिस्सेदारोंके लिए पर्याप्त मात्रामें लाभभी बचा रहे।

केन्द्रीय बैंक

आधुनिक कालमें प्राय: सभी देशोंमें द्रव्य और बैंक-पद्धतिका प्रबन्ध और नियन्त्रण करने और इनको आर्थिक स्थितिके अनुकूल बनाये रखनेकी चेष्टा करनेका कार्य केन्द्रीय बैंकको सौंपागया है। प्रथम महायुद्धके पश्चात् इस प्रकारके बैंकोंकी स्थापना शीघ्रतासे होनेलगी। प्रारम्भमें अनेक देशोंमें हिस्सेदारों वाले केन्द्रीय बैंकों की स्थापना हुई। परन्तु अब इन बैंकोंको राष्ट्रीय बैंकके रूपमें रखनेकी प्रवृत्ति होरही है। भारतके केन्द्रीय बैंक, रिज़र्व-बैंक का भी राष्ट्रीयकरण होगया है। वैसे भी जब केन्द्रीय बैंक हिस्सेदारोंके स्वामित्वमें थे उनके प्रबन्ध करनेमें राज्यका हाथ

सदैव रहता था। उसकी नीति राज्यकी नीतिके अनुसारही बनायी जातीथी और व्यवहारमें लायीजाती थी। राज्यके आर्थिक कार्योंमें अधिक भाग लेनेके कारण और आर्थिक योजनाके महत्वके कारणभी केन्द्रीय बैंकको राज्यका ही एक विभाग बनाना आवश्यक होगया।

केन्द्रीय बैंकसे यह आशा कीजाती है कि वह द्रव्य और बैंकोंके सम्बन्धमें इसप्रकार की नीतिको व्यवहारमें लाये जिससे द्रव्यका परिमाण आर्थिक अवस्थाके उपयुक्त हो, मूल्य-स्तरमें अधिक अस्थिरता न आने पावे और जहातक होसके, विदेशी विनिमय की दरमें भी स्थिरता बनी रहे। इस कार्यके सम्पादनके हेतु केन्द्रीय बैंकोको नोटोंके छापने का एकाधिकार रहता है। आधुनिक कालमे राज-प्रामाणित द्रव्य अधिकाश मात्रामें नोटके रूपमे ही रहता है। अतएव नोटको चलनमें लाने पर अधिकार होनेसे और द्रव्य-पद्धतिके प्रबन्ध करनेका भार अपने ऊपर आजाने से केन्द्रीय बैंक का उत्तरदायित्व बहुत बढगया है। चूंकि वर्तमान द्रव्य-पद्धतिमें साख द्रव्यका प्रभुत्व बढता जारहा है अतएव उसपर नियन्त्रण करनेका कार्य बहुत महत्वपूर्ण है। इस सम्बन्धमें केन्द्रीय बैंक अनेक साधनो और उपकरणोका प्रयोग करता है।

यदि बैंक आवश्यकतासे अधिक मात्रामें साख-द्रव्यका सृजन कररहे हो तो केन्द्रीय बैंक उनकी गतिमें रोकथाम करनेकी चेष्टा करेगा और यदि आर्थिक कार्यो के लिए द्रव्य अपर्याप्तहै तो केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकोको अधिक मात्रामें साख-द्रव्य सृजन करनेके लिए उत्साहित करेगा। इस कार्यके सम्पादनके लिए केन्द्रीय बैंक निम्नलिखित साधनोका प्रयोग करते है:

(१) केन्द्रीय बैंकके व्याजकी दरमें परिवर्तन। हम जानतेहै कि जब बैंक अपनी व्याजकी दर कम कर देते है तो उधारका परिमाण बढजानेसे साख-द्रव्यका परिमाण भी चलनमें बढजाता है और जब बैंक व्याजकी दर बढा देतेहै तो साधारणत उधार का परिमाण कम होजानेसे साख-द्रव्यके परिमाणमें भी कमी आजाती है। अब यदि केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकोंकी व्याजकी दरको पर्याप्त मात्रामें प्रभावित करसके तो वह साख-द्रव्यके परिमाणको नियन्त्रण करनेमें भी सफल हो सकेगा। केन्द्रीय बैंककी अपनी निजकी भी व्याजकी दर होतीहै जिसके हिसाबसे वह अन्य बैंकोंकी हुंडियों को भुनाताहै अथवा उनको उधार देताहै। जिन देशोमें केन्द्रीय-बैंकप्रणाली विकसित

होचुकी है वहां अन्य बैंकोंकी ब्याजकी दर और केन्द्रीय बैंककी ब्याजकी दर साधारणतः एकही दिशामें बदलती है। अतएव यदि केन्द्रीय बैंक साख-द्रव्यकी मात्राको कम करना चाहताहै तो वह अपनी ब्याजकी दरको बढादेता है और यह आशा करता है कि अन्य बैंकभी अपनी ब्याजकी दर बढ़ा देंगे और इस प्रकार उधारकी मात्रा (जिस पर अधिकतर साख-द्रव्यका परिमाण निर्भर रहता है) घट जायगी। इसके प्रतिकूल यदि केन्द्रीय बैंक साख द्रव्यके सृजनको प्रोत्साहित करना चाहताहै तो वह अपनी ब्याजकी दरको घटादेता है और आशा करताहै कि अन्य बैंकभी उसका अनुकरण करेंगे और इसके फलस्वरूप उधारकी माग बढ जायगी और अधिक साख-द्रव्य चलनमें आजायगा। केन्द्रीय बैंककी ये आशायें सभी अवस्थाओंमें पूर्ण नही होती है। यदि अन्य बैंकोंके पास पर्याप्त नकदीहै और उनको केन्द्रीय बैंककी सहायता की आवश्यकता नहीहै तो वे केन्द्रीय बैंकके ब्याजकी दर बढ़जाने परभी अपने ब्याज की दर पूर्ववत् रख सकतेहै अथवा उस अनुपातपर न बढावें जिस अनुपातपर केन्द्रीय बैंक बढ़वाना चाहता है। इसीप्रकार जब केन्द्रीय बैंक अपनी ब्याजकी दर कम करदेते है तो यह आवश्यक नहीहै कि अन्य बैंकभी पर्याप्त मात्रामें अपनी ब्याजकी दर कम करदें। केन्द्रीय बैंकका कार्य लाभ-उपार्जनके लिए नही होता है अतएव वह ब्याजकी दरको बहुत कम करसकता है। परन्तु अन्य बैंकतो लाभकी आशासे बैंकके कार्यको करते है। वे अपने ब्याजकी दर इतनी कम नही करसकते कि उनको बैंकके व्ययको पूरा करके हिस्सेदारोको उपयुक्त लाभ न प्राप्त हो। इसके अतिरिक्त यदि अन्य बैंक केन्द्रीय बैंककी इच्छानुसार ब्याजकी दरको कमभी करदें तो यह आवश्यक नहीहै कि उधारकी मात्रामें वृद्धि हो ही जायगी। आर्थिक मन्दीके अवसर पर जबकि उत्पादकोमें नैराश्य छाया रहताहै ब्याजकी दर कम होनेसे भी पूजी लगानेकी प्रवृत्ति नही होती है। अतएव व्यापारी लोग उधार लेतेही नही अथवा पर्याप्त परिमाणमें नही लेते है। इसी प्रकार आर्थिक उत्कर्षके अवसरपर जब मूल्य-स्तर और लाभ-स्तरमें बढनेकी प्रवृत्ति रहतीहै उस अवसरपर ब्याजकी दरको बढा देनेपर भी उधारकी मागमें कमी नही आती है। इसप्रकार हम देखतेहै कि केन्द्रीय बैंक अपनी ब्याजकी दरको घटाने और बढानेसे प्रत्येक अवस्थामें साख-द्रव्यके परिमाणको नियन्त्रित करनेमें सफल नही होता है।

(२) साधारणतः केन्द्रीय बैंक अपने बैंक सम्बन्धी कार्यो द्वारा अन्य बैंकोके साथ

अतिस्पर्धा नही करता है। परन्तु यदि उनको किसी समस्याका सामना करनाहो तो वह खुले तौरपर इन कार्योमें भाग लेसकता है। हम इस साधनको 'खुले हाटकी क्रियाए' कहेंगे। इसका आशय यहहै कि किसी असाधारण द्रव्य-सम्बन्धी अवस्था का प्रतिकार करनेके लिए केन्द्रीय बैंक विना किसी प्रकारकी रुकावटके सिक्यूरिटियो को स्वय निर्धारित मूल्यपर मोल लेसकता और बेच सकताहै और इस क्रिया द्वारा अन्य बैंकोको अपने साख-द्रव्यमें वृद्धि अथवा कमी करनेको बाध्य करनेकी चेष्टा करता है। इस खुले हाटकी क्रियाके मूलमे प्रधान बात यहहै कि व्यापारिक बैंक नकदीके आधारपर साख द्रव्यका सृजन करते है। यदि उनके पास नकदीको मात्रामें वृद्धि होजाय तो वे साख द्रव्यमें भी वृद्धि करसकेंगे और यदि नकदीकी मात्रामें कमी आजाय तो उनको साख द्रव्यके परिमाणको घटाना पडेगा केन्द्रीय बैंक खुले हाटकी क्रियाके द्वारा व्यापारिक बैकोके नकदीके कोषमें आवश्यकतानुसार वृद्धि अथवा कमी करनेकी चेष्टा करताहै और आशा करताहै कि नकदीकी वृद्धि होनेसे साख द्रव्यके परिमाणमें भी कमी आजायेगी। इस स्थितिको लानेके लिए खुले हाटकी क्रियाके अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक द्वारा सिक्यूरिटियोको पर्याप्त मात्रामें मोल लिया अथवा बेचा जाता है। यदि केन्द्रीय बैंक नकदीकी मात्रामें वृद्धि करना चाहताहै तो वह सिक्यूरिटियोको मोल लेने लगता है। यदि व्यापारिक बैंक सिक्यू-रिटिया बेचें तो तुरन्तही उनके नकदीके परिमाणमें वृद्धि होजाती है। यदि केन्द्रीय बैंक राज-प्रामाणित द्रव्यके रूपमें इन सिक्यूरिटियोके रूपमें इन सिक्यूरिटियोंका मूल्य चुकायें तो इस परिमाणकी नकदी व्यापारिक बैंकोके पास आजायगी। अथवा यदि केन्द्रीय बैंक अपने हिसावमें इन बैंकोकी धरोहरमें वृद्धि करदे तवभी इस धरोहरको व्यापारिक बैंक नकदीही समझते है। यदि अन्य बैंक अथवा सस्थायें केन्द्रीय बैंकको सिक्यूरिटिया बेचतीहै तबभी प्राप्त मूल्यका कुछ न कुछ हिस्सा व्यापारिक बैंकोमें अवश्य जमा होजाता है जिससे उनके नकदीके कोषमें वृद्धि होती है। इसके प्रतिकूल सिक्यूरिटियोके बेचनेसे केन्द्रीय बैंक व्यापारिक-बैंकोकी नकदी अपने पास खीचने लगता है। यदि केन्द्रीय बैंक पर्याप्त मात्रामें आकर्षक मूल्यपर सिक्यूरिटिया बेचे अथवा मोलल तो वह बैंकोके नकदीके कोपको पर्याप्त मात्रामें प्रभावित करसकता है। परन्तु ऐसाभी होसकताहै कि केन्द्रीय बैंकके पास पर्याप्त मात्रामें बेचनेके हेतु सिक्यूरिटिया न हो। इसके अतिरिक्त यदि केन्द्रीय बैंक एक

ओर सिक्यूरिटियां बेचकर नकदीके कोषमें कमी लानेकी चेष्टा करे परन्तु दूसरी ओरसे व्यापारिक बैंक इन सिक्यूरिटियोंके आधारपर केन्द्रीय बैंकसे नकदी प्राप्त करसकें तो खुले व्यापारकी क्रिया सफल नही होगी। अतएव सिक्यूरिटियोंको बेचनेके साथ साथ केन्द्रीय बैंकको अपनी ब्याजकी दरमें भी वृद्धि करनी होगी। इसके अतिरिक्त यहभी अवश्यम्भावी नहीं है कि नकदीके कोषमें वृद्धि होनेके फलस्वरूप साख-द्रव्यके परिमाणमें वृद्धि होही जायगी। आर्थिक मन्दीके अवसरपर बैंकोमें बहुत नकदीका कोष बेकार संचित रहताहै और केन्द्रीय बैंकभी उसमें वृद्धि करनेको प्रस्तुत रहतेहै फिरभी चलनमें साख-द्रव्यके परिमाणमें विशेष वृद्धि नही होती है। इसका कारण यहहै कि उधार लेनेवालोंका पक्ष लाभ न होनेके कारण नये साख-द्रव्यको उत्पत्तिके कार्योंमें लगानेको प्रवृत्त नही रहता है। इसप्रकार हम देखते है कि खुले हाटकी क्रियाभी प्रत्येक अवस्थामें साख-द्रव्यके प्रबन्धमें पूर्णरूपसे सफल नही होती है।

(३) संयुक्त राज्य अमेरिकामें केन्द्रीय बैंकको यह अधिकार मिला हुआहै कि वह अपने सदस्य व्यापारिक बैंकोको बाध्य करसकताहै कि वे अपनी देनदारीका एक न्यूनतम निर्धारित भाग नकदीके रूपमें रखें। इस अनुपातमें केन्द्रीय बैंक परिवर्तन भी करसकते है और इस परिवर्तनके फलस्वरूप साख-द्रव्यके सृजनको प्रोत्साहित अथवा संकुचितभी करसकते है। उदाहरणके लिए व्यापारिक बैंकोको अपनी देन-दारीका २० प्रतिशत नकदीके रूपमें रखना पडताहै तो वे किसीभी नकदीकी मात्रा के आधारपर अधिकसे अधिक पाचगुने साख-द्रव्यका सृजन करसकते है। परन्तु यदि केन्द्रीय बैंक इस अनुपातको घटाकर दस प्रतिशत करदे तो उसी नकदीकी मात्राके आधारपर दस-गुने साख-द्रव्यका सृजन होसकता है। इसके प्रतिकूल यदि इस अनुपातमें वृद्धि करदी जाय तो बैंकोके साख-द्रव्यकी मात्रामें भी कमी करनी पडेगी। परन्तु यदि बैंकोके पास अतिरिक्त नकदी प्रचुर मात्रामें है तो इस अनुपात में वृद्धि होनेपर भी बैंक साख-द्रव्यके परिमाणको कम करनेको बाध्य नही होगे। अनेक अर्थशास्त्रियोके मतानुसार अन्य देशोके केन्द्रीय बैंकोको भी अन्य साधनोके साथ साथ इस साधनका प्रयोगभी साखके नियन्त्रणके सम्बन्धमें करना चाहिए।

इन तीन साधनोके अतिरिक्त यहभी कहा जाताहै कि केन्द्रीय बैंकको अन्य बैंको पर अपने ऊचे और सम्मानित पद का भौतिक प्रभावभी डालना चाहिए। यदि

देशमें द्रव्य-सम्बन्धी दुरावस्था उत्पन्न होनेकी आशकाहो तो केन्द्रीय बैंकको चाहिए कि अन्य बैंकोका ध्यान इस ओर आकर्षित करे और उनको उचित सलाह दे। केन्द्रीय बैंक कहातक इस कार्यमें सफलहो सकेगा यह केन्द्रीय बैंकके सामर्थ्य, प्रभाव और अन्य बैंकोके साथ उसका किसप्रकार सम्बन्ध है, इन बातोपर निर्भर रहेगा।

केन्द्रीय बैंक राज्य-सम्बन्धी आर्थिक कार्यभी करते है। आधुनिक कालमे राज्य, कर द्वारा देशकी आयका एक बडा हिस्सा प्राप्त करता है और इस आयको व्यय करता है। ऋण लेकरभी राज्य देशके द्रव्य सम्बन्धी कार्योमें हस्तक्षेप करता है। अतएव यह आवश्यक होजाताहै कि राज्यके इस प्रकारके द्रव्य-सम्बन्धी कार्य केन्द्रीय बैंक द्वारा सम्पादित हो। केन्द्रीय बैंक राज्यकी आयको अपनेपास धरोहर के रूपमे रखता है। राज्यके ऋणका प्रबन्धभी केन्द्रीय बैंक करते है। अन्य देशोसे जो राज्यका द्रव्य-सम्बन्धी लेनदेन होताहै वहभी केन्द्रीय बैंक द्वाराही किया जाता है।

केन्द्रीय बैंकको बैंकोका बैंकभी कहते है। इस रूपमें केन्द्रीय बैंक अपने पास अन्य बैंकोकी धरोहर रखते है। किसी किसी देशमें बैंकोको एक न्यूनतम धरोहर केन्द्रीय बैंकके पास रखनी पडती है। भारतमें शेडयूल्ड बैंको (जिनकी पूजी और सचित कोष ५ लाखसे अधिक हो) को अपनी तत्काल देय धरोहरका ५ प्रतिशत और दीर्घकालिक धरोहरका २ प्रतिशत रिजर्व बैंक (भारत का केन्द्रीय बैंक) के पास बनाये रखना पडता है। अमेरिकाके सयुक्त राज्यमें भी इसी प्रकारकी प्रथा है। अन्य देशोमें अपनी सुविधाके लिए बैंक केन्द्रीय बैंकमें धरोहर रखते है। इस प्रकार बैंकोकी धरोहरका एकत्रीकरण और केन्द्रीयकरण होजाने से केन्द्रीय बैंक किसी बैंककी सकटकी अवस्था पर आर्थिक सहायता करनेमें समर्थ होता है।

यदि बैंकोपर सकट आताहै तो वे अन्ततोगत्वा केन्द्रीय बैंककी शरण लेते है। इसलिए केन्द्रीय बैंकको अन्तिम ऋणदाता कहाजाता है। केन्द्रीय बैंकको अधिकार रहताहै कि वह कुछ परिमाण तक सिक्यूरिटियोके आधारपर नोट छाप सकता है। अतएव जब बैंकोके ऊपर सकट आताहै तो केन्द्रीय बैंक उनकी भुनायीहुई हुडियो को फिरसे भुनाकर अथवा उनकी सिक्यूरिटियोको बन्धकके रूपमें अपनेपास रखकर उनके आधारपर बैंकोको ऋण देकर उनकी सहायता करता है। भारतके रिजर्व बैंकका एक यहभी कर्तव्यहै कि वह समय समयपर बैंकोंका निरीक्षण करता रहे,

उनको उचित सलाह दे और इसप्रकार संकट उत्पन्न होनेके कारणोंको प्रभावरहित करता रहे।

केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकोंके लिए क्लियरिंग हाउसका कार्यभी करते है। क्लियरिंग हाउस एक ऐसी संस्था होतीहै जहांपर बैंकोंकी आपसी लेनी-देनीका भुगतान होता है। उदाहरणके लिए यदि लखनऊ शहरमें २० बैंकहै तो प्रत्येक दिन प्रत्येक बैंकके पास अन्य बैंकपर लिखेहुए चेक जमा होंगे जिन्हें वसूल करनेके लिए उनको प्रबन्ध करना पड़ेगा। क्लियरिंग हाउससे यह कार्य बडी सुगमतासे होजाता है। सभी बैंक क्लियरिंग हाउसमें अपना हिसाब रखते हैं। मानलीजिए लखनऊमें इम्पीरियल बैंक क्लियरिंग हाउसका कार्य करता है। प्रत्येक बैंकका एक प्रतिनिधि अन्य बैंको पर लिखेहुए प्राप्तहुए चेकोको लेकर इम्पीरियल बैंक पहुचेगा। मान लीजिए सेन्ट्रल बैंकके पास इलाहाबाद बैंकपर १००० रुपयेके चेकहै और इलाहाबादके पास सेन्ट्रल बैंकपर ८०० रुपयेके चेक है। अब ८०० रुपयेका तो आपसमें ही हिसाब होजाता है। शेष २०० रुपयेका चेक इलाहाबाद बैंक सेन्ट्रल बैंकको क्लियरिंग हाउसपर देदेगा और क्लियरिंग हाउसके खातेमें इलाहाबाद बैंककी धरोहरमें २०० रुपये कम करदिया जायगा और सेन्ट्रल बैंकके हिसाबमें २०० रुपये जोड़ दिया जायगा। इसीप्रकार अन्य बैंकोकी भी आपसकी लेनी-देनीका हिसाब होजाता है। दूरके चेकोके सम्बन्धमें केन्द्रीय बैंक क्लियरिंग हाउसका काम सुविधापूर्वक कर सकताहै क्योकि इसके पास अन्य बैंकोकी धरोहर रहती है।

अन्य बैंकोकी तरह केन्द्रीय बैंकभी अनेक प्रकारके बैंक सम्बन्धी कार्य करता है। परन्तु विशेष उत्तरदायित्व और कर्तव्य होनेके कारण इसके कार्योमें कुछ प्रतिबन्ध लगायेजाते है। यह किसी उद्योग धन्धे अथवा वाणिज्य व्यवसायमें भाग नही ले सकते है। विना पूर्व स्वीकृत जमानतके ऋण नही देसकते है। सब प्रकारकी हुडियो को नही भुना सकते है। धरोहर पर व्याज नही देते है। इन प्रतिबन्धोका अभिप्राय यहहै कि केन्द्रीय बैंकको राष्ट्रीय बैंक होनेके कारण सदैव इस योग्य बना रहना पडता है कि वह न केवल अपनी ऋण शोधन-क्षमता बनाये रखें वरन् जैसाकि ऊपर लिखा जाचुका है, सकटके अवसरपर अन्य बैंकोकी सहायता करें। अतएव केन्द्रीय बैंक जोखिमके कार्योमें अपना रुपया नही फसा सकता है।

केन्द्रीय बैंकोसे आर्थिक व्यवस्थाको अस्थिरतासे बचानेमें बहुत कुछ आशाकी

जाती है। जहातक द्रव्य-जनित अस्थिरता का सम्बन्धहै केन्द्रीय बैंक इस कार्यमें सहायता करसकता है परन्तु भविष्यमें किस प्रकारकी आर्थिक स्थिति होगी इसका पूर्वज्ञान प्राप्त करना बहुत कठिन कार्य है। भिन्न भिन्न आर्थिक अवयवोके उपकरणों के आधारपर अनुमान लगाया जाताहै और तब द्रव्य-नीति को आर्थिक अवस्थाके अनुकूल बनानेकी चेष्टा कीजाती है। केन्द्रीय बैंक इस सम्बन्धमें अब विशेष रूपसे गवेषणा कररहे है और अपने साधनो और उपकरणोको भी उपयुक्त बनानेकी चेष्टा कररहे है। अभीतक इस कार्यमें अधिक सफलता प्राप्त नही होसकी है परन्तु आशा कीजाती है कि भविष्यमें केन्द्रीय बैंक इस कार्यमें उत्तरोत्तर सफल होगे।

२६

विदेशी विनिमय

विदेशी विनिमय की आवश्यकता

आधुनिक कालमें कोईभी देश अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धो और परिस्थितियोसे प्रभावित हुए विना नही रहसकता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और पूंजीके आयात और निर्यातके फलस्वरूप प्रत्येक देशमें अन्य देशोंके साथ लेनी देनीसे सम्बन्धित प्रश्न तथा समस्याए उत्पन्न होजाती है। यदि सभी देशोमें एकही प्रकारकी द्रव्य-पद्धति होती और एकही प्रकारका द्रव्य होतातो इस प्रकारकी लेनी देनीकी अनेक समस्याओका समाधान सुगमतासे होसकता। परन्तु वास्तवमें ऐसी स्थिति नही पायीजाती। प्रत्येक देशमें आर्थिक, सामाजिक एव ऐतिहासिक कारणोसे भिन्न भिन्न प्रकारके द्रव्य और द्रव्य-रीतिया विकसित हुई है। अतएव राज्यकी सीमा द्रव्यकी सीमाभी वन गयीहै एक देशका राज्य-प्रामाणित द्रव्य दूसरे देशमें द्रव्यके रूपमें काममें नही लाया जासकता। यदि सोनेकी मुद्राभी हो, तो एक देशकी मुद्रा दूसरे देशोमें द्रव्यका काम नही देसकती क्योकि वहाकी सोनेकी मुद्राकी तोल, सोनेकी शुद्धता इत्यादि भिन्न होते है। एक देशकी सोनेकी मुद्रा अन्य देशोमें द्रव्यके रूपमें नही वल्कि वस्तुके रूपमें स्वीकार कीजाती है। कागजका नोट तो केवल अपनेही देशमें द्रव्यका काम देसकता है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हम भारत और पाकिस्तानमें देख सकतेहै जिनमें दो ढाई वर्ष पूर्व एकही प्रकारका द्रव्य था। अव पाकिस्तानके नये नोट और भारतके नये नोट भिन्न भिन्न प्रकारके होगये है और अपने अपने देशमें ही प्रामाणित मानेजाते हैं। अतएव यदि भारतवासियोको पाकिस्तानसे मोल लीगयी वस्तुओ और सेवाओका मूल्य चुकानाहै तो उनको पाकिस्तानके द्रव्यकी आवश्यकता होगी और यदि पाकिस्तान वालोको भारतसे प्राप्त वस्तुओ और सेवाओका मूल्य चुकानाहै तो उनको भारतके द्रव्यकी आवश्यकता होगी। दूसरे देशके द्रव्यको प्राप्त करनेके लिए उसका

मूल्य देनापडता है। विदेशी द्रव्यको विदेशी विनिमयभी कहतेहै और जिस मूल्यपर वह प्राप्त होताहै उसको विदेशी विनिमयकी दर कहते है।

वस्तुत: अन्तर्राष्ट्रीय लेनी देनीका भुगतान वस्तु तथा सेवाके विनिमय द्वाराही सम्पादित होता है। ऐसा बहुत कम होताहै कि देनदार देश अपने देशका द्रव्य लेनदार देशोको भेजे और जैसा हम आगे चलकर बतायेंगे, इसकी आवश्यकताभी नही होती। अभी हमने बताया कि एक देशका द्रव्य दूसरे देशोमें प्रामाणिक नही होता। सोने चादीकी मुद्राएभी यदि देनदारी पूरी करनेके लिए अन्य देशोको भेजी जातीहै तो उनको द्रव्य न कहकर हमको धातु-वस्तुही समझना चाहिए। जिसप्रकार चाय के निर्यातसे हम अपनी देनदारी चुका सकतेहै, यही काम सोनेके निर्यातसे भी हो सकता है। परन्तु सोनेके निर्यात और चाय अथवा अन्य वस्तुओके निर्यातसे देनदारी चुकानेमें एक महत्वपूर्ण भिन्नता यहहै कि सम्भवहै लेनदार देशको हमारी वस्तुओकी आवश्यकता न हो अथवा किन्ही कारणोसे वह इन वस्तुओको अस्वीकार करदे परन्तु जहातक सोनेका प्रश्नहै उसको वह अवश्य स्वीकार करलेगा क्योकि सोना एक ऐसा पदार्थहै जिसका प्रयोग प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूपमें प्रत्येक देशमें द्रव्यके रूपमें होताहै और सम्भवत होता रहेगा। सोनेके निर्यातसे अन्य देशोके द्रव्य को प्राप्त करना सुगम होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय लेनी-देनी का सामंजस्य

यदि दो देशोमें कुल लेनी-देनी वस्तु तथा सेवा-विनिमय द्वाराही चुकता कीजाये तो भी इस बातकी आवश्यकता रहेगी कि दोनो देशोके द्रव्यका आपसका मूल्य जाना जाये क्योकि अपने अपने देशकी वस्तुओ और सेवाओका मूल्य अपनेही द्रव्यमें प्रकट किया जाता है। अतएव किसी देशकी वस्तुओके कितने परिमाणके विनिमयमें अपने देशकी वस्तुओको कितने परिमाणमें दियाजाये इसका हिसाब बिना विदेशी विनिमय की दर निर्धारित किये नही होसकता। यदि विनिमयकी दरमें बदलाव आजाये तो विदेशी पावनेको पूरा करनेके लिए स्वदेशसे कम या अधिक मात्रामें वस्तुओका निर्यात करना पड़ेगा। अतएव इस विषयका विवेचन करना कि विदेशी विनिमयकी दर किसप्रकार निर्धारित होतीहै, बड़े महत्वका है। वस्तुओके मूल्य-निर्धारणके

प्रकरणमें मांग और पूर्तिका महत्व समझाया जाचुका है। इसी मांग और पूर्तिके सिद्धान्तका प्रयोग विदेशी द्रव्यके मूल्य अर्थात् विदेशी विनिमयकी दरको निश्चित करनेके सम्बन्धमें भी किया जासकता है। पहिले हम यह बतायेंगे कि किसी देशकी विदेशी द्रव्यकी मांग किन किन कारणोंसे होती है। इसका एक मुख्य कारण वस्तुओंका आयात है। जिन देशोंसे हम वस्तुए मोल लेतेहै उनका मूल्य चुकानेके लिए हमें उन देशोंके द्रव्यकी आवश्यकता होती है। यदि आयातका परिमाण बढजाये, तो विदेशी द्रव्यकी मागभी बढजायेगी। पिछले दो-तीन वर्षोंसे भारतको बाहरसे अनाज मगाना पडाहै अतएव विदेशी विनिमयकी माग भारतमें बढगयी। दूसरे देशकी वस्तुओंके अतिरिक्त हम उनकी सेवाओंका भी उपभोग करते है। इनका भी मूल्य चुकाना पडता है। इनमें प्रधान सेवाए विदेशी जहाजों, बीमा कम्पनियों और बैकों की सेवाए है। इनका हिसाब चुकता करनेके लिए भी हमको विदेशी विनिमयकी माग रहती है। इन वस्तुओं और सेवाओंके अतिरिक्त सोने और चांदीका भी आयात होता है। इस सम्बन्धमें भी देनदारी होतीहै और विदेशी द्रव्यकी आवश्यकता पड़ती है। हम अभी बताचुके है कि सोनेचादी को अन्य वस्तुओ और सेवाओंमे विशिष्ट स्थान क्यो प्राप्त है। इसी कारणसे इसका हिसाब अलगही रखाजाता है।

यदि किसी देशके लोग अन्य देशोंमें विद्योपार्जन अथवा भ्रमण करनेके लिए जायें अथवा विदेशी सस्थाओंको दान भेजें तबभी उनको विदेशी विनिमयकी आवश्यकता होगी। यदि विदेशी द्रव्य उधार लिया गयाहो अथवा विदेशी पूजी अपने देशके उद्योग धन्धोमें लगीहुई हो, तो उन विदेशियोको ब्याज और लाभाश देना पड़ता है। यदि राज्यने दूसरे देशो अथवा सस्थाओसे ऋण लियाहो जैसाकि भारत सरकारने विश्वकोपसे लियाहै, तो उसपर ब्याज देनेके लिए भी विदेशी विनिमय चाहिए। इसीप्रकार कभी कभी युद्धमें हारेहुए देशोको क्षतिपूरक धन देना पडता है। इन सभी प्रकारकी अन्तर्राष्ट्रीय देनदारियोको चालू हिसाबकी देनदारी कहा जाता है। इनके अतिरिक्त विदेशी विनिमयकी पूजीके हिसाबके सम्बन्धमें भी आवश्यकता पडती है। यदि किसी देशमें लगीहुई विदेशी पूजीको लौटाना पड़े और विदेशमें लिएहुए ऋणकी अवधि पूरी होजाने पर मूलधनका भुगतान करना पडे तो उन देशोके द्रव्यकी आवश्यकता होती है। यदि किसी देशके निवासी अन्य देशोके शेयर, बौड और हुडियां खरीदकर उन देशोके उद्योग धन्धो में अपनी पूजी लगाए

अथवा उनके बैंकोमें अपना धन रखना चाहें तोभी उनको विदेशी विनिमयकी आवश्यकता होती है।

इसीप्रकार अनेक मदोसे किसी देशको विदेशी विनिमयकी प्राप्ति होती है। व्यापारिक वस्तुए, सोना और चादीके निर्यातसे तथा दूसरे देशवासियोको सेवाए बेचने से उन देशोको द्रव्य प्राप्त होती है। यदि विदेशी लोग अपने देशमे पर्यटनके लिए आयें तो उनके व्ययसे भी उन देशोका द्रव्य प्राप्त होता है। विदेशोसे दानके रूपमें अथवा क्षतिपूरक धनके रूपमें भी विदेशी विनिमय प्राप्त होता है। विदेशोको दिये हुए ऋणसे ब्याज और विदेशोमें लगीहुई पूजीपर लाभाशभी विदेशी विनिमयकी पूर्ति करता है। ये सभी लेनीकी मदें चालू हिसाबकी कही जाती है। इसके अतिरिक्त लेनीकी कुछ मदें पूजीसम्बन्धी हिसाबमें रहती है। यदि किसी देशके निवासी अन्य देशोके शेयर, बौंड इत्यादि साख-पत्रोको बेचदें तो उनको अन्य देशोका द्रव्य प्राप्त होजायेगा। इसीप्रकार ऋणकी अवधि पूरी होनेपर साहूकार देशको ऋणी देशका द्रव्य मिलजाता है।

यदि किसी देशकी चालू तथा पूजीसे सम्बन्धित लेनी और देनीकी मदोका ठीक ठीक हिसाब रखाजाये, तो इन दोनो पक्षोका योग बराबर होगा। इसका कारण यहहै कि यदि किसी कालमें किसी देशकी चालू हिसाबकी देनदारी अन्य देशोके चालू हिसाबकी लेनदारीसे अधिकहो तो शे [illegible] दे दारीके सम्बन्धमें यह समझना चाहिए कि यह रकम उन देशोने ऋणके रूपमें दी है। इसप्रकार हिसाब रखनेपर किसीभी देशकी अन्य देशोसे लेनी और देनी बराबर होगी।

अन्तर्राष्ट्रीय लेनी देनीकी मदोमें व्यापारिक वस्तुओंके आयात और निर्यातको बहुत महत्वपूर्ण समझा जाताथा। आयात और निर्यातकी वस्तुओका मूल्य साधारणतः समान नहीं रहता है। इस प्रकारके वैषम्यको हम व्यापारिक विषमता कहेंगे। यदि किसी देशकी निर्यातकी वस्तुओका मूल्य आयातकी वस्तुओंके मूल्यसे अधिकहो, तो कहाजाता है कि व्यापारिक विषमता उसके पक्षमें है और यदि आयात की वस्तुओका मूल्य निर्यातकी वस्तुओंके मूल्यसे अधिक है, तो व्यापारिक विषमता उस देशके विपक्षमें होगी। पूर्वकालमें एक आर्थिक विचारधाराके अनुसार यदि किसी देश की व्यापारिक विषमता उसके पक्षमें हो, तो यह उस देशकी समृद्धिका द्योतक समझाजाता था। वस्तुओंके निर्यात और आयातके मूल्यके अन्तरको दूसरे

देशोसे सोने और चादीके रूपमें वसूल किया जाताथा और धातुओंका यह सचय आर्थिक शक्तिका द्योतक समझा जाता था। यह धारणा वास्तवमें युक्तिसंगत नहीहै क्योंकि जैसाकि हम दोनों देशोंकी मदोंके सम्बन्धमें देखचुके है, व्यापारिक वस्तुओ के आयात और निर्यातके अतिरिक्त सेवाओंका भी आयात निर्यात होताहै और अन्य प्रकारसे भी चालू हिसाबकी लेनी देनी उत्पन्न होजाती है। भारतवर्षमें व्यापारिक विषमता हमारे पक्ष में ही रहीहै परन्तु हमारा देशतो समृद्धिशाली नही रहा है। इसका कारण यहहै कि हमको अप्रत्यक्ष आयातकी मदोंके रूपमें विदेशो को एक बडी रकम देनी पड़ती थी।

व्यापारिक विषमता-सिद्धान्त

विदेशी विनिमयकी दरको निर्धारित करनेके सम्बन्धमें एक मत यहहै कि यदि किसी देशकी व्यापारिक विषमता उसके पक्षमें हो तो उसके द्रव्यको विदेशी विनिमय की दरमें वृद्धि होगी। अर्थात् विदेशी द्रव्यकी इकाईको प्राप्त करनेके लिए स्वदेश का द्रव्य कम परिमाणमें देना पडेगा और अन्य देशोको इस देशके द्रव्यकी इकाई प्राप्त करनेके लिए पहिलेसे अधिक द्रव्य अपने देशका देना पड़ेगा। इसके प्रतिकूल यदि किसी देशकी व्यापारिक विषमता उसके विपक्षमें हो तो इस देशकी विदेशी विनिमयकी दर गिरने लगेगी अर्थात् इस देशको अन्य देशके द्रव्य की इकाईके लिए पहिले से अधिक अपना द्रव्य देना पडेगा और अन्य देशोको उस देशके द्रव्यकी इकाई प्राप्त करनेके लिए पहिलेसे कम मात्रामें अपने देशका द्रव्य देना पडेगा। विदेशी विनिमय की दरमें इस प्रकार वदलाव होनेका कारण यह वतलाया जाताहै कि जव व्यापारिक विषमता किसी देशके पक्षमें होतीहै तो उस देशके द्रव्यकी माग वढजाती है और इस कारणसे उसको प्राप्त करनेके लिए अधिक विदेशी द्रव्य देना पडता है। और इसीप्रकार यदि व्यापारिक विषमता किसी देशके विपक्षमें होतीहै तो उस देशको विदेशी द्रव्यकी माग अधिक होजाती है अतएव उसके द्रव्यका विदेशी मूल्य अन्य द्रव्योमें गिरने लगता है।

इस मतमें कुछ सार अवश्य है। यदि किसी देशमें अन्य देशोके द्रव्यकी माग किसीभी कारणसे वढजाये और उस देशके पास उसकी पूर्तिके साधन नहीहो तो विदेशी

विनिमयकी दरमें गिरनेकी प्रवृत्ति होगी और यदि उस देशके द्रव्यकी माग अन्य देशोमें बढजाये और अन्य देशोको इस देशका द्रव्य उस परिमाणमें प्राप्त न होसके, तो अवश्यही इस देशके विदेशी विनिमयकी दरमें वृद्धि होने लगेगी (इस प्रकरणमें हमने यह मान लियाहै कि विदेशी विनिमयकी दरमें परिवर्तन होनेमें स्वतन्त्रता है; नियन्त्रित विदेशी विनिमयकी बात दूसरीही है जैसाकि हम आगे चलकर बतायेंगे।) परन्तु यदि हम ध्यानपूर्वक देखेंतो पता चलताहै कि व्यापारिक विषमता और विदेशी विनिमयकी दरका सम्बन्ध पारस्परिक है। ऐसाभी होताहै कि किसी देशके निर्यात और आयातका परिमाण और मूल्य स्वयमेव विदेशी विनिमयकी दरसे प्रभावित होता है। वास्तवमें हमको इस बातकी छानबीन करनी पडतीहै कि अन्तर्राष्ट्रीय लेनी देनी की मदोमें किन कारणोसे परिवर्तन होरहा है। इन्ही कारणोके परिणामस्वरूप विदेशी विनिमयकी माग और पूर्तिके परिमाणमें वैषम्य उत्पन्न होजाताहै और विदेशी विनिमयकी दरमें भी परिवर्तन प्रारम्भ होजाता है। अतएव हम कहसकते है कि व्यापारिक विषमता सिद्धान्त समस्याकी गहराई तक न जाकर केवल ऊपरी कारणोपर प्रकाश डालता है।

स्वर्ण-द्रव्य-पद्धति और विदेशी विनिमय

स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिके गुण और दोषोकी विवेचना करनेके प्रकरणमें हमने बतायाथा कि स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिके अन्तर्गत विदेशी विनिमयमें स्थिरता रहती है। यदि दो स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिवाले देश अपने अपने देशोमें सोनेका मूल्य अपने अपने द्रव्यके रूपमें निर्धारित करदें और उस मूल्यपर किसीभी परिमाणमें सोना बेचने और मोल लेनेके लिए प्रस्तुत रहें, तो इन दो देशोके द्रव्यके बीच स्वयमेव एक विनिमय की दर निर्धारित होजायेगी जिसका सम्बन्ध उन देशोके प्रामाणिक द्रव्यमें प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूपसे स्थित सोनेके परिमाण पर होगा। उदाहरणके लिए स्वर्ण-मुद्रा-पद्धति कालमें इगलैडकी प्रामाणिक स्वर्ण-मुद्रा सावरेनमें ११३ ००१६ ग्रेन शुद्ध सोना रहताथा और अमेरिकाके सयुक्त राज्यकी प्रामाणिक स्वर्ण-मुद्रा डालर मे २३. २२ ग्रेन शुद्ध सोना रहता था। अतएव एक सावरेनमें स्थित सोना

$\frac{११३.००१६}{२३.२२}$ = ४ ८६ डालरमें स्थित सोनेके बराबर हुआ। स्टलिंग और डालरकी इस पारस्परिक दरको विदेशी विनिमयकी टकसाली दर अथवा विदेशी विनिमयकी सम-मूल्य दर कहते हैं। यहतो हुई आधारभूत दर, वास्तविक दर इस आधारभूत दरके आसपास ही रहती है। बात यह है कि इंगलैंडसे अमेरिकाको अथवा अमेरिकासे इगलैंडको सोना भेजनेमें जहाजका तथा अन्य कई प्रकारका व्यय होता है। मानलीजिए ११३.००१६ ग्रेन सोनेके अमेरिकासे इगलैंड भेजनेका व्यय .०४ डालर अर्थात् ४ सेंट होता है। ऐसी अवस्थामें इंगलैंड और अमेरिका के बीच विदेशी विनिमयकी दर ४ ९० डालरसे अधिक नहीं बढने पायेगी और ४ ८२ डालरसे कम नही होने पायेगी। इसका कारण यह है कि यदि इगलैंड वालोंकी डालर की माग इतनी बढगयी कि उनको एक पौंडसे ४.८२ से कम डालर मिलने लगा, तो वे अपनी देनदारी सोनेके निर्यातसे करने लगेंगे अतएव ४ ८२ डालरकी दर इगलैंडके लिए स्वर्ण-निर्यात मर्यादा और सयुक्त राज्यके लिए स्वर्ण-आयात मर्यादा निर्धारित करती है। इसीप्रकार यदि संयुक्त राज्यमें पौंडकी मांग इतनी बढजाये कि एक पौंड प्राप्त करनेके लिए ४ ९० डालरसे अधिक देनापडे तो सयुक्त राज्यके देनदार अपनी देनदारीके भुगतानके लिए सोनेका निर्यात करने लगेंगे। अतएव ४ ९० डालर सयुक्त राज्यके लिए स्वर्ण-निर्यात-मर्यादा और इंगलैंडके लिए स्वर्ण-आयात-मर्यादा होजाता है। वास्तविक विदेशी विनिमयकी दर इन्ही दो स्वर्ण-आयात और स्वर्ण-निर्यात मर्यादाओंके भीतर रहती है। यदि डालरकी माग अधिकहो, तो विदेशी विनिमय की दर ४ ८२ डालरके निकट रहेगी और यदि पौंडकी माग अधिक हो, तो विनिमयकी दर ४ ९० डालरके निकट रहेगी। इसी बातको हम दूसरी प्रकार से भी कह सकते है। यदि इंगलैंडमें डालरकी माग बढ जातीहै तो इंगलैंडसे सयुक्त राज्यको सोना भेजकर किसीभी परिमाणमें डालर प्राप्त किये जासकते हैं। जब विदेशी विनिमयकी दर १ पौ० = ४.८२ डालर होगयी तो इस भावपर डालरकी पूर्ति किसीभी परिमाणमें होसकती है। इसीप्रकार यदि सयुक्त राज्यमें पौंडकी मांग बढगयी तो वहा से इगलैंडको सोना भेजकर किसीभी परिमाणमें पौंड प्राप्त किये जासकते है। जब विदेशी विनिमयकी दर १ पौ० = ४ ९०डालर पर पहुच जातीहै तो इस दरपर किसीभी परिमाणमें पौंडके मागकी पूर्ति सोनेके निर्यातसे होसकती है।

इसप्रकार हम देखतेहै कि स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिवाले देशोमें सोनेके आयात और निर्यातके फलस्वरूप विदेशी विनिमयकी दरमें विनिमयकी सम-मूल्य दरके आस पास स्थिरता रहती है। स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिके प्रकरणमें हम बताचुके है कि कभी कभी देशोको इस स्थिरताको बनाये रखनेके लिए अपनी आर्थिक अवस्थामें अस्थिरताका समावेश करना पडता है। यही कारणहै कि आधुनिक विचारधारा स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिके अन्तर्गत प्राप्त होसकने वाली स्थिर विदेशी विनिमयकी दरका समर्थन नही करती।

नियन्त्रित विदेशी-विनिमय

जिसप्रकार सरकार देशकी सीमाके अन्तर्गत वस्तुओका मूल्य नियन्त्रित करसकती है उसीप्रकार विदेशी मूल्यका भी नियन्त्रण करसकती है। कभी कभी दो देशोकी सरकार आपसमें एकमत होकर विदेशी विनिमयकी दर निर्धारित करलेती है और इस प्रकारका प्रबन्ध करतीहै कि यह दर व्यवहारमें बनी रहे। भारतवर्ष और इगलैडके द्रव्यमें सन् १९२६ से लेकर अबतक १ रु० = १ शि० ६ पें० की दर बनी हुई है। सन् १९३१ के बाद इगलैडके स्वर्ण-पद्धति छोड देनेपर भी यही दर बनी रही। इसीप्रकार द्वितीय महायुद्धके कालमें सयुक्तराज्य और इगलैडकी सरकारो ने १ पौ० का मूल्य ४ डालरके लगभग निर्धारित करलिया और इस विनिमयकी दरको बनाये रखा। इसप्रकार विदेशी विनिमयकी दरको किसी विशेष स्तरपर बाधदिया जाता है। यदि यहदर आर्थिक परिस्थितियोके अनुकूल न हुई तो या तो दरको बदलना पडताहै अथवा आर्थिक अवयवोमें इस प्रकारका नया सम्बन्ध स्थापित होनेलगता है (चाहे वह सम्बन्ध वाछितहो अथवा अवाछित) जिससे इसप्रकार निर्धारित विदेशी विनिमयकी दर बनी रहे।

विदेशी विनिमयकी दरका अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारपर, पूजीके आयात और निर्यात पर और इनके द्वारा देशके भीतरके उद्योग धन्धो, वाणिज्य-व्यवसायोपर प्रभाव पडता है। अतएव इस दरको स्वाधीनतापूर्वक किसीभी मात्रामें बदलने देना आर्थिक स्थिरताकी दृष्टिसे वाछित नही है। अविनिमय-साध्य पद्धतिके अन्तर्गत विदेशी विनिमयमें अस्थिरता आनेकी बहुत आशका रहती है। यह बात ध्यानमें रखने योग्य है कि विदेशी विनिमयसे दो पक्षोका लगाव रहताहै एक स्वदेशी और दूसरा विदेशी।

किसीभी पक्षसे अस्थिरता उत्पन्न करनेवाली परिस्थितियां उत्पन्न होसकती हैं। अतएव यह दोनों पक्षोंके हितमें है कि वे आपसमें विचार विमर्शके बाद विनिमयकी दरको निर्धारित करें और उनमें बदलाव करें। अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य कोषका आयोजन जिसका वर्णन आगे विस्तार किया जायेगा, इसी दृष्टिकोणको सामने रखकर किया गया है।

आर्थिक इतिहासमें ऐसे उदाहरण मिलतेहैं जबकि कोई देश विदेशी विनिमयका नियन्त्रण अपने निर्यात व्यापारको बढ़ाने अथवा आयात व्यापारको कम करनेके लिए करता है। यदि अन्य बातोंमें कोई बदलाव न होतो जो देश अपने द्रव्यके विदेशी मूल्यको घटाताहै अर्थात् विदेशी विनिमयका अवमूल्यन करताहै उससे उस की वस्तुओंके निर्यात व्यापारको प्रोत्साहन मिलताहै क्योंकि उसकी वस्तुओंका मूल्य अन्य देशोंके द्रव्यमें सस्ता होजाता है और उनका आयात व्यापार कम होने लगताहै क्योंकि विदेशी वस्तुओंका मूल्य उस देशके द्रव्यमें बढ़जाता है। इस प्रकारका लाभ स्थायी नही होसकता क्योंकि इससे अन्य देशोंपर जिससे इस देशका आर्थिक सम्बन्ध है, प्रभाव पड़ताहै और अपने आयात निर्यातकी रक्षाके लिए इनको भी अपने द्रव्य का अवमूल्यन करना पड़ताहै अथवा आयात-कर लगाने पड़ते हैं। इनका परिणाम यह होताहै कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारका परिमाण घटने लगताहै और देशोंमें आपस में विद्रोहकी भावना उत्पन्न होजाती है। दो महायुद्धोंके बीचके कालमें इसप्रकार के बहुतसे उदाहरण मिलते हैं।

विदेशी विनिमयके नियन्त्रणकी पराकाष्ठा उस अवस्थापर समझी जातीहै जब कि देशमें विदेशी विनिमयका स्वतन्त्र हाट नही रहताहै और जितनाभी विदेशी द्रव्य उस देशको प्राप्त होताहै उसपर राज्यका अधिकार होजाता है। इस विदेशी द्रव्य का वितरणभी राज्यकी इच्छाके अनुसार होता है। द्वितीय महायुद्धके समयसे अनेक देशोंने इसप्रकार विदेशी विनिमयका पूर्णरूपसे नियन्त्रण किया और अभीतक यह नियन्त्रण चला आरहा है। भारतवर्षमें विदेशी विनिमयपर नियन्त्रण है। पूजीके निर्यातके लिए विदेशी विनिमय नही दियाजाता है। विविध वस्तुओंके आयातके लिए बिना पूर्ण अनुमतिके विदेशी द्रव्य नही दियाजाता है। इसप्रकार हम देखतेहैं कि विदेशी विनिमयके नियन्त्रणके साथ साथ अन्तर्राष्ट्रीय लेनी देनीकी मदोंका भी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूपमें नियन्त्रण कियाजाने लगा है।

द्वितीय महायुद्धके पूर्व जर्मनीने पहिले पहिले बडी मात्रामें विदेशी विनिमयके नियन्त्रणको एक महत्वपूर्ण स्थान दिया था। इसकी सहायतासे जर्मनी कुछ अशतक अपनी आर्थिक शक्तिकी वृद्धि करनेमें और विदेशी देनदारीके भारको कम करनेमें समर्थ हुआ था। जर्मनीमें जिस किसी व्यापारीको विदेशी द्रव्यपर अधिकार प्राप्त होताथा उसे वह अधिकार राज्य द्वारा निर्धारित सस्थाको राज्य द्वारा निर्धारित दरपर बेचनेको बाध्य होना पडता था। इस प्रकारसे सचित विदेशी विनिमयका उपयोग राज्यकी अनुमतिसे ही होसकता था। राज्यकी समझमें जिन विदेशी वस्तुओं की अधिक उपयोगिता रहतीथी उन वस्तुओके आयातके लिए विदेशी विनिमय प्रचुरतासे दियाजाता था और सस्ते भावपर दियाजाता था। जिस विदेशी वस्तुको राज्य अनावश्यक समझे उसके लिए यातो विदेशी विनिमय उपलब्धही नही होताथा अथवा उसको महगी दरपर दियाजाता था। इसप्रकार एक विदेशी द्रव्यके भिन्न भिन्न प्रयोजनोके लिए भिन्न भिन्न दरोका प्रयोग होता था।

विदेशी विनिमयके नियन्त्रणकी एक यह रीतिभी काममें लायीगयी थी कि जर्मनी के बाहर रहनेवाले लोगोको जर्मनीके द्रव्य (मार्क) पर जो अधिकार प्राप्त होताथा उसको वे विदेशी विनिमयमें परिवर्तित करके वापस नही लेसकते थे। इस प्रकारका प्रतिबन्धित द्रव्य या तो जर्मनीमें ही व्यय किया जासकता था अथवा भविष्यमें वापस लेनेके निमित्त वही जमा किया जासकता था। इसका एक परिणाम यहहुआ कि विदेशोमें जर्मनीके शेयर, बौड इत्यादि साख-पत्रोके मूल्यमें कमी होनेलगी और कम मूल्यपर इन साख-पत्रोको खरीदकर जर्मनीके विदेशी ऋणका भार हलका पडगया।

विदेशी विनिमय नियन्त्रणक अन्तर्गत देशोके बीच एक प्रकारका समझौताभी होनेलगा। जो देश इस समझौतेको स्वीकार करलेते थे, वे किसी कालावधिमें एक दूसरेसे एक निश्चित परिमाणमें वस्तुओका आयात स्वीकार करलेते थे। परन्तु इन के मूल्यका भुगतान आयात और निर्यात करनेवाले व्यक्ति आपसमें नही करसकते थे। इनका हिसाब राज्यो द्वारा होता था। आयात करनेवाले व्यक्ति आयातकी वस्तुओका मूल्य अपने द्रव्यमें राज्य द्वारा निर्धारित बैंकमें जमा करदेते थे। इस कोषसे निर्यात करनेवाले व्यक्तियो द्वारा निर्यात कीगयी वस्तुओका मूल्य देदिया जाता था।

विरोधी पक्षमें अस्थिरता उत्पन्न करनेवाली परिस्थितियां उत्पन्न
अतएव यह दोनों पक्षोंके हितमें है कि वे आपसमें विचार विमर्शके द्वा
दरको निर्धारित करें और उनमें बदलाव करें। अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य को
जिसका वर्णन आगे विस्तारसे किया जायेगा, इसी दृष्टिकोणको सामने
गया है।

आर्थिक इतिहासमें ऐसे उदाहरण मिलतेहैं जबकि कोई देश वि
नियन्त्रण अपने निर्यात व्यापारको बढाने अथवा आयात व्यापा
लिए करता है। यदि अन्य बातोंमें कोई बदलाव न होतो जो
विदेशी मूल्यको घटाताहै अर्थात् विदेशी विनिमयका अवमूल्यन
की वस्तुओंके निर्यात व्यापारको प्रोत्साहन मिलताहै क्योंकि उस
अन्य देशोंके द्रव्यमें सस्ता होजाता है और उनका आयात व्यापार
क्योंकि विदेशी वस्तुओंका मूल्य उस देशके द्रव्यमें बढजाता है।
स्थायी नही होसकता क्योंकि इससे अन्य देशोंपर जिससे इस देश
है, प्रभाव पडताहै और अपने आयात निर्यातकी रक्षाके लिए
का अवमूल्यन करना पडताहै अथवा आयात-कर लगाने पडते
यह होताहै कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारका परिमाण घटने लगत
में विद्रोहकी भावना उत्पन्न होजाती है। दो महायुद्धोंके बी
के बहुतसे उदाहरण मिलते हैं।

विदेशी विनिमयके नियन्त्रणकी पराकाष्ठा उस अवस्था
कि देशमें विदेशी विनिमयका स्वतन्त्र हाट नही रहताहै और
उस देशको प्राप्त होताहै उसपर राज्यका अधिकार होजा
का वितरणभी राज्यकी इच्छाके अनुसार होता है। द्वितीय
देशोंने इसप्रकार विदेशी विनिमयका पूर्णरूपसे नियन्त्रण
नियन्त्रण चला आरहा है। भारतवर्षमें विदेशी विनिम
निर्यातके लिए विदेशी विनिमय नही दियाजाता है।
लिए बिना पूर्ण अनुमतिके विदेशी द्रव्य नही दियाजाता
कि विदेशी विनिमयके नियन्त्रणके साथ साथ अन्तर्राष्ट्
प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूपमें नियन्त्रण कियाजाने लग

सन्तुलित विनिमय की दर स्थापित होगयी है और फिर उनमें जो परिवर्तन होगा, वह उन देशोके पारस्परिक मूल्य-स्तरोके परिवर्तनका द्योतक होगा अर्थात् विदेशी विनिमयका क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त मूल्य-स्तरोके परिवर्तन पर न कि मूल्य-स्तरो पर चरितार्थ किया जाताहै।

इस सिद्धान्तमें अनेक त्रुटिया और रुकावटें पायी जाती है। किसी समय विशेष में विदेशी विनिमयकी दरको समझनेके लिए हमको एक प्रामाणिक समयकी विनिमयकी दरको आधारभूत मानकर मूल्य-स्तरोके परिवर्तन का अध्ययन करना पडेगा। पहिलेतो समस्या उस समयको ज्ञात करनेकी है जिसको प्रामाणिक मानाजाये। यदि यह समय दूर भूतकालमें हुआ तो इस कालान्तरमें आर्थिक अवस्थामें वहुत परिवर्तन होसकता है। इसके अतिरिक्त एक वडी समस्या यहहै कि किन वस्तुओके मूल्य-स्तरके आधारपर विदेशी विनिमयकी दर सम्बन्धित है। यदि सभी वस्तुओसे सम्बन्धित सूचक अकोके आधारपर इस विषयकी विवेचना करें तो ज्ञात होताहै कि अनेक वस्तुए ऐसीहै जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारमें प्रविष्ट नही होती। उनका व्यापार देश के अन्दरही होता है। ऐसी वस्तुओके मूल्य-स्तरोका विदेशी विनिमयकी माग और पूर्तिपर प्रभाव नही पडता है। यदि हम केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारमें प्रविष्ट होने वाली वस्तुओके मूल्य-स्तरको लें तो इससेभी विदेशी-विनिमयकी दरपर प्रकाश नही पडता क्योकि इन वस्तुओके मूल्य-स्तरमें यातायात-व्यय और आयात निर्यात-कर का हिसाव करलेने पर तथा चालू विदेशी विनिमय की दरसे भिन्न भिन्न देशोमें द्रव्यके रूपमें परिवर्तन करनेपर समानता आनेकी प्रवृत्ति होगी। इसके अतिरिक्त एक वस्तु एक विदेशी विनिमयकी दरपर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारमें प्रविष्ट होजाती है और दूसरी दरपर वहासे हटजाती है। दो देशोके मूल्य-स्तरोमें समानता वनी रहनेपर भी विनिमयकी दरमें अन्तर होसकता है क्योकि भिन्न भिन्न देशोकी वस्तुओकी माग का परिमाण केवल मूल्य-स्तर परही अवलम्बित नहीं रहता। मागके परिमाणमें अधिक मात्रामें परिवर्तन होजानेके कारण विदेशी विनिमयकी मांग और पूर्तिमें अन्तर होजाता है और उसकी दरमें भी परिवर्तन होजाता है। इसके अतिरिक्त विदेशी विनिमयकी दर पूजीके आयात निर्यातसे और क्षतिपूरक धन देनेके कारण से भी प्रभावित होती है। इस सम्वन्धमें क्रय-शक्ति समता सिद्धान्तसे कोई सहायता नहीं मिलती है।

इसप्रकार विदेशी विनिमयके नियन्त्रणसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बहुदेशीय न होकर द्विदेशीय होनेलगा। इससे कुछ देशोंको अवश्य लाभ हुआ परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारके दृष्टिकोणसे आर्थिक वातावरण दूषित होनेलगा और विक्षेपकी मात्रा बढ़ने लगी। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और पूंजीके लगावकी प्रगतिके लिए शुद्ध आर्थिक वातावरणकी आवश्यकता है जिसमें नियन्त्रण कमसे कम हो। इस उद्देश्यको सामने रखकर अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोषकी स्थापना हुई है।

अविनिमयसाध्य द्रव्य-पद्धति और विदेशी विनिमय

हमने देखाकि स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिके अन्तर्गत विदेशी विनिमयकी एक आधारभूत दर स्थापित होजाती है और वास्तविक दर उसके आसपास ही रहती है। अविनिमय-साध्य द्रव्य-पद्धतिवाले देशोंमें विनिमयकी दर किसप्रकार स्थिर होतीहै, इस सम्बन्ध में हम एक सिद्धान्तकी विवेचना करेंगे जिसको क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त कहते है। इस सिद्धान्तके अनुसार दो देशोंके द्रव्योंकी विनिमयकी दर उन द्रव्योंकी आन्तरिक क्रय-शक्तिपर निर्भर रहती है। उदाहरणके लिए, यदि किसी वस्तुवर्गको मोललेने के लिए सयुक्त राज्यमें ४ डालर देने पड़तेहै और उसी वस्तुवर्गको इगलैंडमें १ पौंड देकर खरीदा जासके तो ४ डालरकी क्रय-शक्ति १ पौंडकी क्रय-शक्तिके बराबरहुई। तो यही इन द्रव्योंकी विनिमयकी दरहोगी अर्थात् १ पौंड = ४ डालर। अब यदि किसी कारणसे इगलैंडका मूल्य-स्तर दुगुना होगया और अमेरिकामें पूर्ववत्‌ही रहा तो अब एक पौंडकी क्रय-शक्ति दो डालरके बराबर रहगयी। और इन दो देशोंकी विदेशी विनिमयकी दर अब १ पौंड = २ डालर होजायेगी।

स्वीडनके अर्थशास्त्री प्रोफेसर कैसलने सन् १९१४-१९२३ के कालमें द्रव्य स्फीति जनित मूल्य-स्तरो में परिवर्तन और विदेशी विनिमयकी दरमें परिवर्तन का विशेष रूपसे अध्ययन करके उनमें यह सम्बन्ध ज्ञात किया कि जैसे जैसे किसी देशके मूल्य-स्तरमें अन्य देशोके मूल्य-स्तरो की अपेक्षा वृद्धि होनेलगती है वैसे वैसे उसके द्रव्य की विदेशी विनिमयकी क्रय-शक्तिका ह्रास होनेलगता है। प्रो० कैसलने यह नहीं कहाहै कि दो द्रव्योंकी आधारभूत विनिमयकी दर उनकी आन्तरिक क्रय-शक्तिसे निर्धारित होती है। उनका कहना यहहै कि यदि किसी समय दो द्रव्योके बीच कोई

सन्तुलित विनिमय की दर स्थापित होगयी है और फिर उनमे जो परिवर्तन होगा, वह उन देशोके पारस्परिक मूल्य-स्तरोके परिवर्तनका द्योतक होगा अर्थात् विदेशी विनिमयका क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त मूल्य-स्तरोके परिवर्तन पर न कि मूल्य-स्तरों पर चरितार्थ किया जाताहै।

इस सिद्धान्तमें अनेक त्रुटिया और रुकावटें पायी जाती है। किसी समय विशेष में विदेशी विनिमयकी दरको समझनेके लिए हमको एक प्रामाणिक समयकी विनिमयकी दरको आधारभूत मानकर मूल्य-स्तरोके परिवर्तन का अध्ययन करना पडेगा। पहिलेतो समस्या उस समयको ज्ञात करनेकी है जिसको प्रामाणिक मानाजाये। यदि यह समय दूर भूतकालमें हुआ तो इस कालान्तरमें आर्थिक अवस्थामें वहुत परिवर्तन होसकता है। इसके अतिरिक्त एक वडी समस्या यहहै कि किन वस्तुओके मूल्य-स्तरके आधारपर विदेशी विनिमयकी दर सम्वन्धित है। यदि सभी वस्तुओसे सम्वन्धित सूचक अकोके आधारपर इस विषयकी विवेचना करें तो ज्ञात होताहै कि अनेक वस्तुए ऐसीहै जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारमें प्रविष्ट नही होती। उनका व्यापार देश के अन्दरही होता है। ऐसी वस्तुओके मूल्य-स्तरोका विदेशी विनिमयकी माग और पूर्तिपर प्रभाव नही पडता है। यदि हम केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारमें प्रविष्ट होने वाली वस्तुओके मूल्य-स्तरको लें तो इससेभी विदेशी-विनिमयकी दरपर प्रकाश नही पडता क्योकि इन वस्तुओके मूल्य-स्तरमें यातायात-व्यय और आयात निर्यात-कर का हिसाव करलेने पर तथा चालू विदेशी विनिमय की दरसे भिन्न भिन्न देशोमें द्रव्यके रूपमें परिवर्तन करनेपर समानता आनेकी प्रवृत्ति होगी। इसके अतिरिक्त एक वस्तु एक विदेशी विनिमयकी दरपर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारमें प्रविष्ट होजाती है और दूसरी दरपर वहासे हटजाती है। दो देशोके मूल्य-स्तरोमें समानता वनी रहनेपर भी विनिमयकी दरमें अन्तर होसकता है क्योकि भिन्न भिन्न देशोकी वस्तुओकी माग का परिमाण केवल मूल्य-स्तर परही अवलम्वित नहीं रहता। मागके परिमाणमें अधिक मात्रामें परिवर्तन होजानेके कारण विदेशी विनिमयकी माग और पूर्तिमें अन्तर होजाता है और उसकी दरमें भी परिवर्तन होजाता है। इसके अतिरिक्त विदेशी विनिमयकी दर पूजीके आयात निर्यातमे और क्षतिपूरक धन देनेके कारण से भी प्रभावित होती है। इस सम्वन्धमें क्रय-शक्ति समता सिद्धान्तमे कोई सहायता नही मिलती है।

इसप्रकार विदेशी विनिमयके नियन्त्रणसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बहुदेशीय न हो कर द्विदेशीय होनेलगा। इससे कुछ देशोंको अवश्य लाभ हुआ परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारके दृष्टिकोणसे आर्थिक वातावरण दूषित होनेलगा और विद्वेषकी मात्रा बढने लगी। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और पूंजीके लगावकी प्रगतिके लिए शुद्ध आर्थिक वातावरणकी आवश्यकता है जिससे नियन्त्रण कमसे कम हो। इस उद्देश्यको सामने रख कर अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोषकी स्थापना हुई है।

अविनिमयसाध्य द्रव्य-पद्धति और विदेशी विनिमय

हमने देखा कि स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिके अन्तर्गत विदेशी विनिमयकी एक आधारभूत दर स्थापित होजाती है और वास्तविक दर उसके आसपास ही रहती है। अविनिमय-साध्य द्रव्य-पद्धतिवाले देशोंमें विनिमयकी दर किसप्रकार स्थिर होतीहै, इस सम्बन्ध में हम एक सिद्धान्तकी विवेचना करेंगे जिसको क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त कहते हैं। इस सिद्धान्तके अनुसार दो देशोंके द्रव्योंकी विनिमयकी दर उन द्रव्योंकी आन्तरिक क्रय-शक्तिपर निर्भर रहती है। उदाहरणके लिए, यदि किसी वस्तुवर्गको मोललेने के लिए संयुक्त राज्यमें ४ डालर देने पड़तेहै और उसी वस्तुवर्गको इगलैंडमें १ पौंड देकर खरीदा जासके तो ४ डालरकी क्रय-शक्ति १ पौंडकी क्रय-शक्तिके बराबरहुई। तो यही इन द्रव्योंकी विनिमयकी दरहोगी अर्थात् १ पौंड = ४ डालर। अब यदि किसी कारणसे इगलैंडका मूल्य-स्तर दुगुना होगया और अमेरिकामें पूर्ववत्‌ही रहा तो अब एक पौंडकी क्रय-शक्ति दो डालरके बराबर रहगयी। और इन दो देशोंकी विदेशी विनिमयकी दर अब १ पौंड = २ डालर होजायेगी।

स्वीडनके अर्थशास्त्री प्रोफेसर कैसलने सन् १९१४-१९२३ के कालमें द्रव्य स्फीति जनित मूल्य-स्तरो में परिवर्तन और विदेशी विनिमयकी दरमें परिवर्तन का विशेष रूपसे अध्ययन करके उनमें यह सम्बन्ध ज्ञात किया कि जैसे जैसे किसी देशके मूल्य-स्तरमें अन्य देशोके मूल्य-स्तरो की अपेक्षा वृद्धि होनेलगती है वैसे वैसे उसके द्रव्य की विदेशी विनिमयकी क्रय-शक्तिका ह्रास होनेलगता है। प्रो० कैसलने यह नहीं कहाहै कि दो द्रव्योंकी आधारभूत विनिमयकी दर उनकी आन्तरिक क्रय-शक्तिसे निर्धारित होती है। उनका कहना यहहै कि यदि किसी समय दो द्रव्योंके बीच कोई

वास्तवमें जैसाकि हम ऊपर लिखआये हैं यदि विदेशी विनिमयकी दरमें परि-
वर्तन होनेकी पूर्ण स्वतन्त्रता है तो जिन जिन कारणोंसे विदेशी विनिमयकी माग और पूर्ति प्रभावित होती है उन्ही कारणोंसे उसकी दरभी प्रभावित होगी। इन कारणोंमें अन्तर्राष्ट्रीय लेनी देनी की सभी मदें शामिल हैं। इन मदोंके परिमाण बदलते रहते हैं और वे विदेशी विनिमयकी माग और पूर्तिके परिमाणोंको भी बदलते रहते हैं। अतएव विदेशी विनिमयकी दरभी स्वतन्त्रतासे बदलती रहती है, कहाजाता है कि यदि विदेशी विनिमयकी दरमें परिवर्तन होने दियाजाये तो कोईभी देश अपनी द्रव्य-नीतिको अन्तर्राष्ट्रीय दबावोंसे स्वतन्त्र करके अपनी आर्थिक अवस्थाके अनुकूल बनानेमें अधिक समर्थ होगा। परन्तु हम देखतेहैं कि स्वतन्त्रता-पूर्वक बदलनेवाली विदेशी विनिमयकी दर वाञ्छनीय नही समझी जाती। इसका प्रधान कारण यहहै कि इस प्रकारकी विदेशी विनिमयकी पद्धतिने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और पूजीके लगावमें अनिश्चितता आजातीहै और सट्टेका समावेश होजाता है। आधुनिक आर्थिक क्रियामें वैसेभी पर्याप्त अनिश्चितता रहतीहै क्योकि उत्पत्ति के कार्यमें समयका अन्तराय बढगया है और दूर देशोके लिए उत्पादन करनेमें भी आशंका बनी रहती है अब यदि विदेशी विनिमयकी दरमें भी अधिक मात्रामें अस्थिरता होनेलगे तो इससे न केवल आयात-निर्यातकी वस्तुओके मूल्य और उत्पत्तिमें अस्थिरता आजायेगी बल्कि जिन देशोंमें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार राष्ट्रीय आर्थिक प्रगतिका प्रधान अंग है (जैसा कि इगलैड में) उनकी आन्तरिक अवस्थामें भी अस्थिरता आ जायेगी। इसीप्रकार दीर्घकालीन अन्तर्राष्ट्रीय पूजीके लगावको भी धक्का पहुचनेकी सम्भावना होजाती है। हमने देखाकि राष्ट्र विदेशी विनिमयकी दरमें न तो स्वर्ण पद्धतिवाली दृढता चाहते है और न स्वतन्त्र रूपसे बदलनेवाली चचलता चाहते है। इससे प्रतीत होताहै कि इन दोनोकी मध्यस्थ नीति अधिक अनुकूल होगी अर्थात् विदेशी विनिमयकी दरमें न तो बडी मात्रामें अनपेक्षित बदलावहो और न ऐसाहो कि उसमें कोई परिवर्तन ही न किया जासके। इसके लिए कुछ प्रबन्ध करनेकी आवश्यकता पडती है।

विदेशी विनिमय-नियन्त्रण-कोष

सन् १९३१ के बाद स्वर्ण-द्रव्य-पद्धति छोड़नेपर अनेक देशोको इस प्रकार की

परिस्थिति का सामना करना पडा। विदेशी विनिमयकी दरमें अस्थिरता कम करनेके लिए इगलैड, सयुक्तराज्य, फ्रान्स इत्यादि देशोने एक विशेष कोषकी स्थापनाकी जिसको हम विदेशी विनिमय नियन्त्रण कोष कहेंगे। यह कोष सरकार के आधीन रहताहै और इसका प्रयोग विदेशी विनिमयकी दरमें आकस्मिक बडी मात्रामें वदलाव रोकनेमें होता है। यह कोष स्वदेशी द्रव्य, विदेशी द्रव्य, सोना और ट्रेज़री विलसे सम्पन्न रहता है।

कल्पना कीजिए किसी राजनैतिक सकटके कारण अथवा और किसी कारणसे इगलैडके लोग अपने धनको सुरक्षित रखनेके लिए अथवा लाभकी आशासे सयुक्त राज्यमें रखना चाहते है। इससे डालरकी मागमें अचानक वडी मात्रामें वृद्धि होजायेगी। विदेशी विनिमयके हाटमें पर्याप्त डालर न होनेके कारण डालरोके मूल्य में वृद्धि और पौडके मूल्यमें कमी होने लगेगी। यहापर इगलैड अपने विदेशी विनिमय कोषका प्रयोग करता है। वहभी विदेशी विनिमयके हाटमें उतर पडताहै और विदेशी विनिमयकी दरमें वडी मात्रामें परिवर्तन को रोकनेकी चेष्टा करता है। पूर्वोक्त अवस्थामें इगलैडका विदेशी विनिमय कोष डालर बेचना प्रारम्भ करेगा क्योकि डालरोकी माग वढनेके कारण विनिमय दरमें परिवर्तन होनेकी आशका हुई है। हम पहिले लिख आयेहै कि इस कोषमें विदेशी द्रव्यभी रहता है। अतएव कोष अपने डालरोको वेचने लगेगा। यदि उसके पास पर्याप्त डालर न हों तो वह सयुक्तराज्य में चालू दरसे सोना वेचकर डालर प्राप्त करेगा। मानीहुई बातहै कि यह कोष कहातक पौडको गिरनेसे बचा सकताहै, यह कोषके डालर उपलब्ध करनेकी शक्तिपर निर्भर है। परन्तु यहतो निश्चितहै कि कुछ अशतक कोष को अपने कार्यमें सफलता मिलेगी। और यदि विदेशोमें पौडकी माग अचानक अधिक मात्रामें वढजानेके कारण पौडके विदेशी विनिमय मूल्यमें अवाछित वृद्धि होनेलगे तो कोष स्वय विदेशी द्रव्य खरीद लेगा और कोषसे पौंड उपलब्ध करेगा। अपने देशके द्रव्यको उपलब्ध करना कठिन नही है। यदि कोषमें पर्याप्त पौंड न हों, तो ट्रेज़री विल वेचकर अथवा केन्द्रीय वैकसे उधारलेकर काम चलाया जासकता है। पौंड बेचनेसे कोषमें विदेशी विनिमयके परिमाणमें वृद्धि होजायेगी। यदि कोषको विदेशी द्रव्यकी इतने परिमाण में आवश्यकता न हो तो कोष अतिरिक्त विदेशी द्रव्य से उस देशमें चालू भावपर सोना मोललेकर उसको अपने कोषमें जमा करसकता है।

साधारणतया ऐसा कहा जा सकता है कि यदि विदेशी विनिमयकी दरमें परि-वर्तन होनेकी पूर्ण स्वतन्त्रताहै तो जिन जिन कारणोंसे विदेशी विनिमयकी मांग और पूर्ति प्रभावित होतीहै उन्हीं कारणोंसे उसकी दरभी प्रभावित होगी। इन कारणोंमें अन्तर्राष्ट्रीय लेनी देनी की सभी मदें शामिल है। इन मदोंके परिमाण बदलते रहते है और ये विदेशी विनिमयकी मांग और पूर्तिके परिमाणोंको भी बदलते रहते है। अतएव विदेशी विनिमयकी दरभी स्वतन्त्रतासे बदलती रहती है. कहाजाता है कि यदि विदेशी विनिमयकी दरमें परिवर्तन होने दियाजाये तो कोईभी देश अपनी द्रव्य-नीतिको अन्तर्राष्ट्रीय दवावोंसे स्वतन्त्र करके अपनी आर्थिक अवस्थाके अनुकूल बनानेमें अधिक समर्थ होगा। परन्तु हम देखतेहै कि स्वतन्त्रता-पूर्वक बदलनेवाली विदेशी विनिमयकी दर वाञ्छनीय नही समझी जाती। इसका प्रधान कारण यहहै कि इस प्रकारकी विदेशी विनिमयकी पद्धतिमे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और पूजीके लगावमें अनिश्चितता आजातीहै और सट्टेका समावेश होजाता है। आधुनिक आर्थिक क्रियामें वैसेभी पर्याप्त अनिश्चितता रहतीहै क्योंकि उत्पत्ति के कार्यमें समयका अन्तराय बढगया है और दूर देशोके लिए उत्पादन करनेमें भी आशका बनी रहती है अब यदि विदेशी विनिमयकी दरमें भी अधिक मात्रामें अस्थिरता होनेलगे तो इससे न केवल आयात-निर्यातकी वस्तुओके मूल्य और उत्पत्तिमें अस्थिर-ता आजायेगी बल्कि जिन देशोंमें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार राष्ट्रीय आर्थिक प्रगतिका प्रधान अग है (जैसा कि इगलैंड में) उनकी आन्तरिक अवस्थामें भी अस्थिरता आ जायेगी। इसीप्रकार दीर्घकालीन अन्तर्राष्ट्रीय पूजीके लगावको भी धक्का पहुचनेकी सम्भावना होजाती है। हमने देखाकि राष्ट्र विदेशी विनिमयकी दरमें न तो स्वर्ण पद्धतिवाली दृढता चाहते है और न स्वतन्त्र रूपसे बदलनेवाली चचलता चाहते है। इससे प्रतीत होताहै कि इन दोनोकी मध्यस्थ नीति अधिक अनुकूल होगी अर्थात् विदेशी विनिमयकी दरमें न तो बडी मात्रामें अनपेक्षित बदलावहो और न ऐसाहो कि उसमें कोई परिवर्तन ही न किया जासके। इसके लिए कुछ प्रबन्ध करनेकी आवश्यकता पड़ती है।

विदेशी विनिमय-नियन्त्रण-कोष

सन् १९३१ के बाद स्वर्ण-द्रव्य-पद्धति छोड़नेपर अनेक देशोको इस प्रकार की

२७

अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष और विश्वबैंक

द्रव्य-कोष

हमने पिछले अध्यायमें बताया कि प्रथम और द्वितीय विश्व-युद्धके कालाभ्यन्तरमें अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक वातावरण बहुत दूषित होने लगा था। विदेशी विनिमयका नियन्त्रण, उसकी दरका प्रतिस्पार्द्धिक अवमूल्यन, द्विपक्षी व्यापार-ऐक्य और आयात-विरोधी कर लगाना—इसप्रकार की क्रियाए दृष्टिगोचर होने लगी थी। इनके फलस्वरूप आर्थिक सहयोगका स्थान आर्थिक विद्वेषने लेलिया। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारके परिमाण एव मूल्यमें ह्रास होनेलगा। अतएव द्वितीय महायुद्धके समाप्त होनेके पूर्वही इस बातका प्रयत्न किया जानेलगा कि युद्धके पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक कार्योके सम्पादनमें अधिक सुविधा प्राप्त होसके। इसके लिए दो योजनाए—एक योजना जो 'केन्स योजना' कहलाती है इगलैडके विद्वानोने बनायी और दूसरी 'व्हाइट योजना' सयुक्त राज्यके विशेषज्ञोने बनायी। प्रत्येक योजनाके अन्तर्गत इस प्रकारके प्रस्ताव रखेगये जिनसे अन्तर्राष्ट्रीय विकृतिया कमकी जासकें। इन दोनो योजनाओंके कुछ प्रस्ताव एक दूसरेसे मिलते जुलते थे और कुछ भिन्नभी थे। अतएव इन दोनो योजनाओंके आधारपर एक सम्मिलित योजना बनायी गयी जिसमें अधिक प्रस्ताव सयुक्तराज्यकी योजनामे लियेगये थे। यह सम्मिलित योजना जुलाई १६४४ में ब्रेटनवुड्स् नामक स्थानमें एक अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-सम्मेलनके सामने रखी गयी जिसमें ४४ मित्र-राष्ट्रोंके प्रतिनिधियोने भाग लिया। विचार-विमर्शके पश्चात् सम्मेलनने एक अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष और एक विश्वबैंककी स्थापनाके लिए स्वीकृत धाराए लेखबद्धकी और उनको सम्मेलनमें भाग लेनेवाले राज्योके पास हस्ताक्षरके लिए भेजा। २७ दिसम्बर १६४५ के दिन जबतक कि २८ ऐसे राज्योकी स्वीकृतियां प्राप्त होचुकी थी जिनका चन्दा कोषके कुल परिमाण का ८० प्रतिशतके लगभग

इसी प्रकार विदेशी द्रव्य बेचनेसे कोषमें अपने देशका द्रव्य आवश्यकतासे अधिक परिमाणमें जमा होगया होतो अतिरिक्त द्रव्यको केन्द्रीय बैंकों सिक्यूरिटियां अथवा ट्रेजरी बिलके रूपमें रक्खा जासकता है।

इस प्रकारसे विदेशी विनिमयकी दरको प्रबन्धित करनेका यह आशय नहींहै कि उसमें कभी परिवर्तन ही न होनेदिया जाये। यदि किसी देशमें मौलिक कारणोंसे आर्थिक सन्तुलन विकृत होजावे और वर्तमान विनिमयकी दर तत्कालीन आर्थिक परिस्थितिसे असम्बद्ध होगयी हो, तो इस कोषके द्वारा विदेशी विनिमयकी दरको पूर्ववत् बनाये रखनेका हठ नहीं किया जायेगा। विनिमयकी दरको सन्तुलित होने दिया जायेगा और इस नयी दरमें अधिक परिवर्तन न होनेदेना कोषका कर्तव्य होगा। कहनेका अभिप्राय यहहै कि विदेशी विनिमयमें जो परिवर्तन आर्थिक स्थितिके बदलनेसे हैं, उनकोतो होनेदिया जायेगा। परन्तु जो परिवर्तन अल्पकालीन विशेषकर सट्टे की भावनासे होजाते हैं उनको रोकनेकी चेष्टा की जायेगी।

हमने अभी बताया कि कोषकी सफलता उसकी पूंजीके परिमाणपर बहुत अंशमें निर्भर करती है। परन्तु साथही साथ कोषके अधिकारियोंको सन्तुलित विदेशी विनिमयकी दरका पता चलाना चाहिए। यह एक बहुत कठिन काम है। कोई एक ऐसा सूचक आर्थिक अवयव नहीहै जिसके आधारपर सन्तुलित दरकी गणना की जासके। साधारणत: इस बातको ध्यानमें रखाजाता है कि स्वीकृत विनिमय दर की सहायतासे देशको आर्थिक स्थिरता प्राप्त करनेमें सहायता मिले और उस दर को बनाये रखनेमें देशके सोनेके और विदेशी द्रव्यके कोषको विशेप क्षति न पहुचे। इसके अतिरिक्त दर ऐसी होनी चाहिए जिसमें प्रतिस्पर्द्धात्मक अवमूल्यन की प्रवृति न हो।

कोषको अपने उद्देश्यमें सफलता प्राप्त करनेके लिए यहभी आवश्यकहै कि भिन्न भिन्न देशोके कोष आपसमें सहयोगसे काम करें। विदेशी विनिमयकी दरसे कमसे कम दो देश सम्बन्धित है। यदि इन देशोके कोष विपरीत नीतियोका प्रयोगकरें तो परिस्थिति और भी बिगड जायेगी। यही कारणहै कि सन् १९३६ में फ्रान्स, सयुक्त राज्य और इगलैंडमें त्रिपक्षी ऐक्य हुआ जिसके अनुसार इनमेंसे कोईभी देश बिना दूसरेकी सम्मति प्राप्तकिये विदेशी विनिमयकी दरमें परिवर्तन नही करसकता था। बादमें इस ऐक्यमें औरभी देश सम्मिलित हुए।

डालर है। रूस अभीतक इस कोषका सदस्य नही बनाहै अतएव इससमय भारत पाचवां बडा सदस्य है।

कोषके सदस्योके हिस्सेका बहुत महत्व है। एकतो यहकि कोषके गवर्नरोकी सभामें जिसमें प्रत्येक सदस्य देशको प्रतिनिधित्व प्राप्तहै, अपने हिस्सेके परिमाणके आधारपर मत देनेका अधिकार होता हैं। प्रत्येक सदस्य देशको २५० वोट और उसके ऊपर प्रत्येक एकलाख डालरके हिस्सेके पीछे एक वोट देनेका अधिकार दिया गया है। इसके अतिरिक्त प्रारम्भके पाच वडे हिस्सेदारोको कोषकी १२ सदस्योकी कार्यकारिणी सभामें स्थायी स्थान प्राप्त है। परन्तु हिस्सेका सबसे बडा महत्व यहहै कि प्रत्येक सदस्य कोषसे किसीभी १२ महीनेकी अवधिमें अपने हिस्सेके २५ प्रतिशत परिमाण तकही अपने द्रव्यके बदले दूसरे देशोका द्रव्य प्राप्त करसकता है। उदाहरणके लिए, भारतका हिस्सा ४० करोड डालरहै तो भारतवर्ष किसीभी १२ महीनेकी अवधिके अन्दर इस कोषसे पर्याप्त मात्रामें रुपया जमाकरके १० करोड डालरतक प्राप्त करसकता है। इसके अतिरिक्त जब कोषमें किसी सदस्य देशका अपना द्रव्य अपने हिस्सेके परिमाणसे दुगना जमा होजाता है तो इसकेबाद उस देशको कोषसे विदेशी विनिमय मोल लेनेका अधिकार नही रहजाता अर्थात् कोषके पास किसीभी समयमें किसी सदस्य देशके हिस्सेके २०० प्रतिशतसे अधिक उसका अपना द्रव्य जमा न होना चाहिए।

कोष और विदेशी विनिमय की दर

जहांतक किसी सदस्य देशके द्रव्यके विदेशी विनिमयकी दरका प्रश्नहै, प्रत्येक सदस्य को यह अधिकार दियागया है कि वह स्वयमेव अपने द्रव्यका मूल्य सोनेमें अथवा संयुक्त राज्यके डालरमें निर्धारित करके उसकी सूचना कोषके अधिकारियोके पास भेजदे। भारतने जो विदेशी विनिमयकी दर चली आरही थी, अर्थात् १३·३३३ रु० = १ पौं० (१ रु० = १ शि० ६ पे०) उसीके आधारपर यह दर निर्धारितकी। इस हिसाबसे एक रुपयेका विदेशी विनिमय ३०·१७ सेन्टके बराबर अर्थात् एक डालरका मूल्य ३·३०८५ रुपया होता है। इस हिसाबसे एक रुपयेका विनिमय-मूल्य ४·१४५१४२८५७ ग्रेन शुद्ध सोनेके बराबर होता है। इसीप्रकार अन्य सदस्य देशों

था, जो स्वीकृत धारायें कार्यरूपमें परिणत होगयी और अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोषकी स्थापना हुई।

अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोषके निम्नलिखित उद्देश्य हैं :

(१) अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-सम्बन्धी सहयोगको इस संस्था द्वारा प्रोत्साहन देना।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारकी सन्तुलित रूपमें वृद्धि करनेमें सहायता देना जिससे सदस्य देशोंकी वास्तविक आय और उद्योगोंके स्तरमें वृद्धि और स्थिरता प्राप्त हो सके।

(३) विदेशी विनिमयमें स्थिरता प्राप्त करानेकी चेष्टा करना, सदस्य देशोंमें व्यवस्थित रूपसे विदेशी विनिमयका प्रबन्ध करना, प्रतिस्पर्द्धात्मक विनिमय-अवमूल्यनको दूर करना।

(४) सदस्य देशोंके चालू लेनदेनको विभिन्न रूपोंमें चुकता करनेकी प्रणाली स्थापित करनेमें सहायता करना और इस प्रकारके विदेशी विनिमय नियन्त्रणको हटानेका प्रयत्न करना जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारमें रुकावट उत्पन्न हो।

(५) सदस्योंको कोषसे द्रव्य उपलब्ध कराना जिससे कि वे बिना इसप्रकार के उपक्रमोंके प्रयोगसे जिनसे अपने देश और अन्तर्राष्ट्रीय समृद्धिको धक्का पहुचे, अपने अन्तर्राष्ट्रीय लेनदेनकी विषमताको ठीक करसकें और फलस्वरूप उनमें विश्वास उत्पन्न होसके।

(६) इन सब बातोंको ध्यानमें रखतेहुए सदस्योंकी अन्तर्राष्ट्रीय लेनी-देनीके सन्तुलनकी हानिको यथाशीघ्र ठीक करना और कम करना।

इस कोषकी कुल सम्पत्ति ८८० करोड डालर निर्धारित कीगयी थी, जिसका प्रधान भाग सदस्य देशोंके द्रव्यके रूपमें और शेष भाग सोनेके रूपमें रखनेका प्रबन्ध है। अप्रैल १९४८ तक इसको ७९० करोड डालरके बराबर द्रव्य प्राप्त होचुका था। प्रत्येक सदस्यका हिस्सा निर्धारित करदिया गया है। प्रत्येक सदस्य अपने भाग का २५ प्रतिशत अथवा अपने सोने और डालरके सचयका १० प्रतिशत जो भी कमहो, सोनेके रूपमें जमा करेगा और शेष भाग अपने द्रव्यके रूपमें जमा करेगा। सदस्योंमें से पाच बडे हिस्सेवाले सदस्योंमें सयुक्तराज्यका २७५ करोड़, इगलैडका १३० करोड, रूसका १२० करोड़, चीनका ५५ करोड और फ्रान्सका ४५ करोड डालर निर्धारित किया गया। भारतका छठा नम्बरहै और उसका हिस्सा ४० करोड़

विषमता प्रतिवर्ष बढतीही जारही है और वह पर्याप्त मात्रामें विदेशी विनिमय उपार्जित नही कर पारहाहै तो इसका आशय यह निकला कि उस देशका आर्थिक सन्तुलन विकृत होगया है। इसप्रकार देश को अपनी अन्तर्राष्ट्रीय देनीकी पूर्तिके लिए कोषपर ही निर्भर न रहकर आर्थिक सन्तुलनकी चेष्टा करनी चाहिए। इस कार्यमें कोष इस प्रकारके सदस्यको उपयुक्त परामर्श देकर सहायता करेगा। वास्तव में इस परिस्थितिमें पडेहुए देशको कोषपर ही निर्भर रहनेकी प्रवृत्तिको कम करने के लिए इसप्रकार का प्रबन्ध किया गयाहै कि जैसे जैसे कोषके पास ऐसे देशके द्रव्यके परिमाणमें वृद्धिहोती रहेगी (अन्य देशोके द्रव्य मोल लेनेके कारण) उसको अतिरिक्त वृद्धि (अर्थात् अपने हिस्सेके ऊपर) पर सोनेके रूपमें एक निर्धारित दरसे शुल्क देना पडेगा। इस शुल्ककी दर १/२ प्रतिशतसे आरम्भ होकर अतिरिक्त वृद्धिके परिमाण और अवधिके अनुसार ४ प्रतिशत तक होसकती है। यदि किसी का द्रव्य कोषमें इतना अधिक और इतने अधिक समयसे जमा होगया है कि यह दर ४ प्रतिशत तक पहुचगयी है तो कोष इस देशको आदेश देगा कि वह इस अवस्थाको ठीक करे। कोईभी देश कोषमे अपने अतिरिक्त द्रव्यको सोनेसे अथवा किसी अन्य विनिमयसाध्य द्रव्यसे पुन: मोल लेसकता है।

यदि कोषके पास किसी सदस्य देशके द्रव्यकी माग बहुत बढजाये और कोष सभी प्रार्थी देशोकी माग पूरी करनेमें असमर्थ हो तो इस प्रकारके द्रव्यको अपर्याप्त घोषित करदिया जाताहै और प्रार्थी देशोको उनकी आवश्यकतानुसार बाट दिया जाता है। कोष अपर्याप्त द्रव्यवाले देशके द्रव्यको सोना बेचकर अथवा अन्य प्रकार से प्राप्त करनेकी भी चेष्टा करेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोषके प्रबन्धमें सोनेको विशिष्ट स्थान प्राप्त है। सोना इस कोषकी सबसे अधिक द्रव्य सम्पत्ति है जिससे किसी भी देशका द्रव्य प्राप्त कियाजा सकता है भिन्न भिन्न देशोके द्रव्योकी आपसी विनिमयकी दरको निर्धारित करनेके लिए सोना माध्यमका कामभी करता है। क्योकि प्रत्येक सदस्य देशके द्रव्यका मूल्य सोने (अथवा संयुक्तराज्य के डालर) के परिमाणमें निर्धारित रहता है। अतएव इस आधारपर भिन्न भिन्न द्रव्योका आपसका विनिमय-मूल्य स्वयही निर्धारित हो जाता है।

परन्तु सोनेके इस स्थानसे यह परिणाम निकालना ठीक न होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय

८ दिसम्बर १९४६ तक अपने द्रव्यकी विदेशी विनिमयकी दरकी सूचना भेजदी और पहिली मार्च १९४७ से कोषने विदेशी विनिमय सम्बन्धी कार्य प्रारम्भ करदिया है। युद्धजनित समस्याओं और विदेशी विनिमयके नियन्त्रणके कारण यह आशा नहीं कीजासकती थी कि यह प्रारम्भिक दर बादमें भी अनुकूल रहेगी। अतएव प्रत्येक देशको अधिकारहै कि वह आवश्यकता पडनेपर कोषको सूचनादेकर १० प्रतिशत तक परिवर्तन करसकता है। इससे अधिक मात्रामें परिवर्तनकी आवश्यकता होने पर कोषकी आज्ञा प्राप्त करनी पडती है। इसप्रकार हम देखतेहै कि इस प्रबन्धके अन्तर्गत विदेशी विनिमयकी दरमें केवल नियन्त्रित रूपसे बदलाव करना सम्भव है। इसका ज्वलन्त उदाहरण सितम्बर १९४९ का विदेशी विनिमय का अवमूल्यनहै जिसके अन्तर्गत इंगलैंड, भारत आदि देशोंने भिन्न भिन्न परिमाणमें ३०.५ प्रतिशत तक अपने द्रव्योंकी विदेशी विनिमयकी दरमें कमी करदी। स्टर्लिंग और डालरकी विनिमयकी दर ४.०३ डालरसे गिरकर २.८० डालर रहगयी। रुपयेका मूल्य ३०.२२५ सेन्टसे गिरकर २१ सेन्ट रहगया अर्थात् एक डालरका मूल्य ४.७६ रुपया होगया।

कोषका उद्देश्य अन्ततोगत्वा विदेशी-विनिमयके नियन्त्रणको हटाना है। परन्तु युद्धजनित समस्याओंके कारण सभी देशोंको एकबार ही इसको कार्यान्वित करनेमें कठिनता होनेकी सम्भावनाको ध्यानमें रखतेहुए यह स्वीकार कियागया कि कुछ समयतक सदस्य देश विदेशी विनिमयका नियन्त्रण करसकते है। यदि किसी देश मे लगातार बडी मात्रामें पूजीका निर्यात होनेलगे तो ऐसी अवस्थामें भी विदेशी विनिमयके नियन्त्रणकी अनुमति है।

कोषसे किसी सदस्य देषको अन्य सदस्य देशोका द्रव्य प्राप्त होसकता है। जैसा कि पहिले बता आयेहै कि इसका अधिकतम परिमाण निर्धारित करदिया गया है। यह ध्यानमें रखनेयोग्य बातहै कि कोष किसी देशकी विदेशी विनिमयकी हाटका स्थान ग्रहण नही कररहा है। साधारणत. सभी देश अपनी अपनी अन्तर्राष्ट्रीय देनीका प्रबन्ध स्वयमेव पूर्ववत् ही करेंगे। वह कोषसे अन्य देशोके द्रव्यकी प्रार्थना तभी करेंगे जबकि उनके लिए अन्य द्वार बन्द होगये हो। कोषभी उनकी सहायता सीमित मात्रामें ही करसकता है क्योकि पहिलेतो कोषके पास विदेशी विनिमय सीमित है तथा दूसरे सबसे बड़ी बात यहहै कि यदि किसी देशकी अन्तर्राष्ट्रीय लेनी-देनीकी

के लिए उपलब्ध करना।

(३) सन्तुलित प्रकारसे दीर्घकालीन अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारकी वृद्धि करवाना और सदस्योंकी उत्पत्तिके साधनोंकी उन्नतिके लिए और इसके द्वारा उनके जीवन-स्तरको ऊंचा करनेके लिए अन्तर्राष्ट्रीय पूंजीको प्रोत्साहितकर उनकी अन्तर्राष्ट्रीय लेनीदेनीके सन्तुलनको बनाये रखना।

(४) स्वय अपने पाससे अथवा अपनी जमानतपर दियेगये अन्तर्राष्ट्रीय ऋण का इस प्रकारसे प्रबन्ध करना कि अधिक उपयोगी बडी अथवा छोटी आवश्यक योजनाको प्रथम स्थान दियाजाये।

(५) अन्तर्राष्ट्रीय पूजी लगानेसे उत्पन्न प्रभावोंको ध्यानमें रखतेहुए अपना कर्तव्य पालन करना और युद्ध समाप्तिपर युद्धकालीन आर्थिक व्यवस्थाको शान्ति-कालीन व्यवस्थामें परिणत करनेमें सहायता देना।

विश्व बैंककी अधिकृत पूजी १० अरब डालरहै जो अन्तर्राष्ट्रीय कोषकी भांति सदस्य देशोंसे हिस्सोंके रूपमें प्राप्त होनी चाहिए। भारतका हिस्सा ४० करोड है। प्रत्येक देशको अपने हिस्सेका केवल २० प्रतिशत (१८ प्रतिशत अपने द्रव्यमें और २ प्रतिशत सोनेके रूपमें) बैंकको देना पड़ता है। शेष ८० प्रतिशतको बैंक उधार लिएहुए अथवा गारंटी कियेहुए ऋणके भुगतानके लिएही माग सकता है।

बैंक जिस देशको पूजी उधार देताहै अथवा जिस देशसे पूजी प्राप्त करताहै, उसे उस देशकी स्वीकृति लेनी पडती है। बैंक सदस्य देशोंकी सरकारकोही ऋण देता है। वहभी उसकी ऋणकमेटी से स्वीकृत कार्योंके निमित्तही। अन्य संस्थाएभी बैंकसे ऋण प्राप्त करसकती है यदि उनकी सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक, मूलधन ब्याज और अन्य व्यय देनेकी गारंटी लें। बैंकको इस बातका भी प्रबन्ध करना पडताहै कि जिस कार्यके लिए ऋण दियागया हो, वह उसी कार्यपर उचित ढगसे लगाया जाये। बैंकका एक मुख्य कार्य यहभी है कि वह प्रार्थना करनेपर सदस्य देशोंमें यथार्थता-ज्ञात करनेवाले कमीशनको भेजे। प्रत्येक ऋणके सम्बन्धमें उसकी अवधि, ब्याजकी दर और मूलधन लौटानेका समय बैंक निश्चित करेगा। गारंटी दियेगये ऋणपर १० वर्षतक बैंक १ से १ १/२ प्रतिशत प्रतिवर्ष ऋणी देशसे कमीशन लेगा।

विश्व बैंककी स्थापना जून १९४६ में हुई। तबसे इसने अनेक सदस्योंको ऋण

द्रव्य-कोषके अन्तर्गत द्रव्य-व्यवस्थी अथवा स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिके समान है। इस नवीन योजनाके अन्तर्गत स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिकी स्थापना करना आवश्यक नहीं है। इसके बड़ी बात यह है कि विदेशी विनिमयकी दरमें १० प्रतिशत तक अन्तर किया जासकता है और कोषकी अनुमतिसे अधिक मात्रामें भी। यह सुविधा स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिके अन्तर्गत नहीं पायीजाती। इसका अभिप्राय यह है कि इस नवीन प्रबन्धमें किसीभी देशको अपनी आन्तरिक अवस्थाको स्थिर विदेशी विनिमयकी दरके आधीन करनेकी आवश्यकता नहीं है।

अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोषने अपना कार्य मार्च १९४७में आरम्भ किया। अनेक देशो ने इससे सहायता प्राप्तकी है। उदाहरणके लिए भारतने कोषसे १९४८-४९ में लगभग १० करोड़ डालरका विदेशी विनिमय (किसीभी १२ महीनेकी अवधिके अन्दर यह परिमाण भारतके लिए अधिकतम है) प्राप्त किया। सितम्बर १९४९के अवमूल्यन का निर्णयभी कोषकी अनुमतिसे हुआ। कोषके कार्योंकी आलोचना करनेका अभी उपयुक्त समय नहीं हुआ है। युद्धजनित विकृतियोका समाधान अभीतक नही हो सका है। अनेक देशोमें विदेशी विनिमय नियन्त्रण बनाहुआ है। आशंका इसबात की है कि इस कोषका कार्य राजनीतिक परिस्थितियोंसे विशेष प्रकारसे प्रभावित न होजाये। इसके अतिरिक्त कोषके कार्योंकी सफलताके लिए यह आवश्यकहै कि अन्य अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक कार्यभी उसके उद्देश्योंके अनुकूल हो।

विश्वबैंक

ब्रेटन वुड्स् द्रव्य-सम्मेलनमें आर्थिक निर्माण और उत्थानके लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय बैंककी स्थापनाकी योजनाभी बनायीगयी। इस बैंकके निम्नलिखित उद्देश्य है:

(१) सदस्य देशके आर्थिक निर्माण कार्यके लिए, युद्धसे क्षत देशोके पुनरुत्थान के लिए और पिछड़ेहुए देशोके उत्पत्तिके साधनोकी उत्पादकता बढानेके लिए पूजी प्राप्त करवानेमें सहायता करना।

(२) विदेशी पूजीपतियो को गारटी देकर अथवा उनके साथ सहयोग देकर पूजी लगानेको प्रोत्साहित करना और यदि अन्य पूजीपतियो से उचित हिसाबसे पूजी न पाप्त होसके तो अपनी पूजीसे अथवा स्वय पूजी इकट्ठाकर उत्पादक कार्यो

२८

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

पृथक सिद्धान्त की आवश्यकता

प्रत्येक देश उन वस्तुओंके उत्पादनमें सलग्न रहताहै जिनके उत्पन्न करनेके लिए उसके पास उपयुक्त सामग्री उपलब्ध रहती है। उपयुक्त सामग्रीमें भूमिकी उत्पादन-शक्ति,निवासियोकी कार्यकुशलता और सग्रहीत पूजीकी मात्रा इत्यादि सम्मिलित है। प्रत्येक देश इस सामग्री द्वारा उत्पन्न कीजाने वाली वस्तुओका, अपनी देशीय आवश्यकताओके परिमाणतक ही नही वरन् उससे अधिक मात्रामें, उत्पादन करना चाहताहै और निजी आवश्यकताओ को तृप्त करने के अनन्तर बचीहुई मात्रा को दूसरे देशो द्वारा उत्पन्न उन वस्तुओसे विनिमय करता है जिनके उत्पादनके लिए उसके पास उपयुक्त सामग्री नही, या अपर्याप्त मात्रामें है।

वस्तुओके अन्तर्राष्ट्रीय लेनदेनके लिए पृथक आर्थिक सिद्धान्त निर्माण करनेकी आवश्यकता इसलिएहै कि उत्पादनके साधन श्रम, पूजी इत्यादि एक देशसे दूसरे देशमें जानेके लिए उतने गतिशील नही होते जितनेकि एक देशके एकभाग से दूसरे भागमें जानेके लिए। इसके कईएक कारणहै। श्रमजीवी भाषा अथवा रहनसहन की शैलीमें भेद होनेके कारण अधिक वेतन पानेपर भी अपना देश छोडकर दूसरेमें जानेसे हिचकिचाते है। इसीप्रकार पूजीपति अपनी पूजीका परदेशमें लगाना अधिक जोखिमपूर्ण समझते है। इसके अतिरिक्त आधुनिक सरकारें मनुष्यो अथवा पूजीके आयात-निर्यातपर नियन्त्रण लगा देतीहै।

उद्योग धन्धो के स्थानीकरण से सम्बन्ध

ओहलीन के मतानुसार तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारका सिद्धान्त उद्योग धन्धोके स्थानी-

उपलब्ध किया है। भारतको भी बैंकसे दो ऋण मिले हैं। पहिला ऋण १५ वर्ष के लिए, ३.४४ करोड़ डालरका, रेलोंके विकासके लिए दियागया। जिसपर तीन प्रतिशत ब्याज और १ प्रतिशत कमीशन लगाया गया। दूसरा ऋण, १ करोड़ डालरका, भूमिसुधारके कार्यके लिए, अक्तूबर १९४९ में प्राप्त हुआ। एक और तीसरे ऋण की बातचीत चलरही है।

इस प्रकारके अन्तर्राष्ट्रीय बैंककी अत्यन्त आवश्यकता थी। दो महायुद्धोंके मध्यकालीन समयमें अन्तर्राष्ट्रीय पूंजीके लगानेमें यह अनुभव हुआ कि इसकी व्यवस्था ठीक नहीं रहसकती है। कभी विदेशी पूंजी बड़ी मात्रामें मिलजाती थी और कभी बिल्कुल भी नहीं मिलती थी। अतएव एक इस प्रकारकी संस्थाकी आवश्यकता जान पड़ने लगीथी जो स्वतन्त्र दीर्घकालीन पूंजीके अन्तर्राष्ट्रीय वितरण और लगाव का ठीक प्रबन्ध करनेके और उसको प्रोत्साहन भी देनेके। इस कार्यमें विश्वबैंक बहुत उपयुक्त सिद्ध होगा। यह ध्यान देने योग्य बातहै कि विश्वबैंक अन्य पूंजीपतियोंके विदेशमें पूंजी लगानेका स्थान स्वयं नहीं लेना चाहता। वहतो उनको गारंटी देकर और उनके साथ सम्मिलित होकर अन्तर्राष्ट्रीय पूंजीके लगावको उत्साहित करना चाहता है। इस प्रकारके कार्यको अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष नही करसकता क्योंकि उसको अपना धन द्रव रूपमें रखना पडताहै इन सभी कारणोंसे विश्वबैंक की स्थापनाका सभी देशोंने स्वागत किया है।

अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष और विश्वबैंकके कार्योंका निकट सम्बन्ध है। किसीभी देशमें द्रव्यकी स्थिरताके लिए आवश्यकहै कि उसमें उत्पादक कार्योकी वृद्धि कीजाये जिससे विदेशी व्यापारकी वृद्धि होकर ऋणी देश बैंककी देनदारी पूरी करसके।

अभी हमने बताया कि विश्वबैंकने गत तीन वर्षोंमें अनेक आर्थिक कार्योंके लिए अनेक सदस्योंको पूंजी उपलब्धकी है। विशेषकर पिछड़ेहुए देशोंको इस प्रकारकी पूंजीकी बहुत आवश्यकता है। परन्तु बैंकसे ऋण प्राप्त करनेकी शर्ते बडी कडी है। ब्याजकी दरभी अधिकहै और ऋण वापस करनेकी अवधिभी शीघ्रही आरम्भ हो जाती है। इन बन्धनोंके कारण भारतके सदृश देशोंको बैंकसे पर्याप्त मात्रामें ऋण मिलनेकी आशा नही है। बैंकके प्रबन्धक कहतेहै कि वे बैंककी पूंजीको जोखिममें नही डालना चाहते। अतएव उनको बडी सावधानी और सतर्कतासे छानबीन करनी पड़ती है।

कुशल श्रमकी पर्याप्त मात्रामें हरसमय उपलब्धि, यन्त्र इत्यादि बनानेमें अथवा सुधारनेके लिए सहायक धन्धो, तथा आयात-निर्यातके साधनोका अस्तित्व इत्यादि सुविधाए ऐसे स्थानोपर उद्योग धन्धोको आकर्षित करनेका कारण बनती है। कच्चे मालको उपभोग्य पदार्थके रूपमें परिवर्तित होनेसे पूर्व कई बीचकी श्रेणियोमें से गुज़रना पडताहै और एक श्रेणीसे दूसरी श्रेणीमें परिवर्तित करनेके लिए पृथक पृथक धन्धे होतेहै। सम्भवहै कि इन पृथक पृथक धन्धोका किसी विशेष स्थानपर एकीकरण आर्थिक दृष्टिसे वाछनीय हो। कपास बेलने, कातने तथा कपडा बुननेके कारखाने पृथक पृथक होतेहै। इनके एकीकरणसे कपडेके उत्पादन-व्ययमें कमी होनेकी सम्भावना है। इसीप्रकार कई यन्त्र ऐसे निर्माण कियेजाते है कि उनके द्वारा अधिक मात्रामें उत्पत्ति करनेसे उत्पादन व्यय बहुतही कम होजाता है। इस प्रकार के उद्योग धन्धोका स्थानीकरण बडेबडे उपभोग-स्थानोके पास होजाता है और इनके द्वारा उत्पन्न वस्तुओका वितरण देश अथवा ससारभर में होता है।

तुलनात्मक उत्पादन-व्यय सिद्धान्त

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारका तुलनात्मक उत्पादन-व्यय सिद्धान्त भिन्न भिन्न देशोमें वस्तु-निर्माणके उत्पादन व्ययमें अन्तर होनेका ही एक विशेष रूप है। प्राचीन अर्थशास्त्री वस्तुओके मूल्यके श्रम-सिद्धान्तके अनुयायीथे। हम देख चुकेहै कि आधुनिक विद्वानोके मतानुसार सीमान्त-उत्पादन-व्यय मूल्यका आधारहै और इसी सीमान्त उत्पादन-व्ययकी सहायतासे हम यह ज्ञान प्राप्त करनेमें सफल होसकते है कि अमुक देश अमुक वस्तुके उत्पादनके लिए उपयुक्त है। मानलीजिए कि दो देशोमें केवल दोवस्तुओ का ही परस्पर विनिमय होरहा है। भारत पाकिस्तानसे कपास मगाता है और उसके विनिमयमें पाकिस्तानको कपडा देता है। यह विनिमयका कार्य उसी अवस्थामें सम्पन्न होनेकी सम्भावनाहै जबकि इसके द्वारा दोनो देशोका स्वार्थ सिद्ध होरहा हो अर्थात् भारतको कपडा देकर कपास लेनेमें और पाकिस्तानको कपास देकर कपडा लेनेमें लाभ प्राप्त होता हो। आकडो द्वारा हम यह सिद्ध करनेका प्रयत्न करेंगे कि यह अवस्था सदैव उपलब्ध नही, यह केवल उसीसमय उपलब्ध होतीहै जबकि एक देशमें केवल एक (भारतमें कपडा) और दूसरे देशमें केवल दूसरी

कारण मितव्ययिताके साथ विशेष रूपहै, क्योंकि देखनेमें आताहै कि एकही देशके भिन्न भिन्न प्रान्तोंमें भिन्न भिन्न उद्योग धन्धो का स्थानीकरण होजाता है। इसका कारण, चाहे यह भाग रुईकी खेतीका हो अथवा इसके दूसरे भाग, उत्पादन के साधनोंकी भिन्नताही है। अमरीकामें रुईके कपड़ा बुननेके कारखाने इसलिए मिलते हैं कि उस प्रान्तमें कपास पैदा करनेके लिए श्रेष्ठतम भूमि पायीजाती है और वहा का जलवायु कातने और बुननेके कार्यके लिए अधिक उपयोगी है। इसीप्रकार जर्मनीमें कारखाने इसलिए बने जातेहै कि यद्यपि वहा इनके लिए कच्चा माल दूसरे स्थानोंसे मगाना पडता है परन्तु बुननेके कार्यमें कुशल श्रम पर्याप्त मात्रामें मिलजाता है। यदि किसी प्रान्तमें कोई उत्पादन का साधन अधिक मात्रामें मिलता है तो स्वाभाविकही है कि उस प्रान्तमें उसका मूल्य कम होगा और जिस वस्तुके उत्पादनमें उस साधनका अधिक मात्रामें प्रयोग कियाजा सकताहै उसका उत्पादन-व्यय उस प्रान्तमें न्यूनतम होगा।

इसमें सन्देह नही कि पूर्वोक्त साधनोकी प्राकृतिक विभिन्नताही उद्योग धन्धोंके स्थानीकरणका मुख्य कारण है, परन्तु इस स्थानपर अन्य कारणोका भी जो स्थानीकरणमें सहायता देतेहै: उल्लेख करदेना आवश्यक होगा। उत्पादन का उद्देश्य अन्ततोगत्वा उपभोगके लिए सामग्री उत्पन्न करना है। इसकारण यदि उत्पत्तिको उपभोगके स्थानतक पहुचानेके लिए उत्पादकको इतना व्यय करनापडे कि उपभोग के स्थानपर उस वस्तुको उत्पन्न करनेवाले उद्योग धन्धोका स्थापित करना अधिक लाभकारीहो तो उत्पादक ऐसाही करेगा। ईंट बनानेके कारखाने प्राय: उपभोग स्थानोके पासही बनाये जातेहै क्योकि ईंटोका भाडा उनके उत्पादन-व्ययसे कही अधिक होता है। बहुतसे कच्चे माल ऐसे होतेहै कि जिनका समस्त अथवा अधिकाश भाग वस्तुमें विद्यमान रहता है। जैसे ऊनका, ऊनी कपडेमें। ऐसी वस्तुओका प्राय: उपभोग-स्थान के पासही निर्माण करना श्रेयस्कर रहता है। बहुतसे माल ऐसेहै जिनका बहुत थोडा अश उत्पत्तिमें विद्यमान रहता है। कोयलेका तो तनिक अशभी उत्पत्तिमें विद्यमान नही रहता। ऐसे मालोको प्रयोगमें लानेवाले उद्योग धन्धे प्राय: उन स्थानोपर स्थापित होजाते है जहा यह माल मिलता है। इसके अतिरिक्त किसी एक स्थानपर उद्योग धन्धोके एकीकरणसे ही प्राय: बहुतसी ऐसी सुविधाए प्राप्त होजाती है जो उस स्थानको उद्योग धन्धोके स्थानीकरणका केन्द्र बनादेती है।

है कि भारतमें उसे ३ के स्थानपर ४ कपडेके थान मिल सकेंगे। इसी प्रकार भारत यदि कपडेके ३ थान उत्पन्न करके पाकिस्तान भेजदे तो भाडा, बीमा आदिके व्यय की गणना न करनेपर उसे १ १/२ गाठके स्थानपर २ गाठ कपास मिलेगी। इससे सिद्धहुआ कि यद्यपि भारतमें कपास और कपडे दोनोका सीमान्त उत्पादन व्यय पाकिस्तान की अपेक्षा कमहै परन्तु उसका तुलनात्मक क्षेम कपडेके उत्पादनमें ही अपने साधनोको प्रयुक्त करनेमें है। ऐसी स्थितिभी असम्भव नही है कि एक देश में दोनो वस्तुओके सीमान्त उत्पादन व्यय दूसरे देशसे कमहो परन्तु फिरभी किसी एक देशको भी उनमेंसे एकही वस्तुको उत्पन्न करके दूसरेसे दूसरी वस्तु विनिमयद्वारा प्राप्त करनेमें तनिकभी लाभ न हो। मानलीजिए भारतमें कपडेके थानका सीमान्त उत्पादन-व्यय ५० रु० और कपासकी गाठका सीमान्त उत्पादन-व्यय १०० रु० है और पाकिस्तानमें क्रमश: ७५ रु० और १५० रु०है। भारत यदि दोनो वस्तुए अपने देशमें उत्पन्नकरे तो उनका पारस्परिक विनिमय २ : १ के अनुपातमें होगा और यही अनुपात पाकिस्तानमें भी होगा। इसकारण न तो भारतको कपडा उत्पन्न करके उसके विनिमयसे पाकिस्तानसे कपास लेनेमें कोई लाभहै और इसीतरह न पाकिस्तानको कपास उत्पन्न करके भारतसे कपडा लेनेमें। इससे सिद्धहुआ कि यदि एक देश किसी दूसरी वस्तुको और दूसरा किसी अन्य वस्तुको निरपेक्ष रूपमें कम उत्पादन-व्ययसे उत्पन्न करसकता है तो उन दोनो वस्तुओके अन्तर्राष्ट्रीय लेन देन होनेकी सम्भावना है। इसके अतिरिक्त जब एक देश दोनो वस्तुओको दूसरे देशकी अपेक्षा कम व्ययमें उत्पन्न करसकता है तो भी उन देशोमें अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन होनेकी सम्भावनाहै यदि एक वस्तुके उत्पादनसे सापेक्ष रूपमें दूसरी वस्तुके उत्पादनमे अधिक लाभ प्राप्तहो सकता है। परन्तु यदि उत्पादन-व्यय ऐसे हो कि दोनो वस्तुओको एकही देशमें उत्पन्न करनेपर भी उनका पारस्परिक विनिमय उसी अनुपातमें हो पाताहो जिस अनुपातमें कि एकवस्तु स्वयं उत्पन्न करके दूसरीवस्तु दूसरे देशसे विनिमय द्वारा प्राप्त करनेसे तो ऐसी अवस्थामें उन वस्तुओके अन्तर्राष्ट्रीय विनिमयकी तनिक भी सम्भावना नहीं है।

इस सम्बन्धमें इतना कहना आवश्यकहै कि तुलनात्मक उत्पादन व्ययके सिद्धान्त का यह अर्थ नही कि जो वस्तु विनिमय द्वारा दूसरे देशसे प्राप्त कीजाती है उसके उस देशमें उत्पादन का नितान्त अभाव हो। ऐसाभी होसकता है कि दूसरा देश

(पाकिस्तानमें कपास) वस्तुका ही सीमान्त उत्पादन-व्यय कमहो) मानलीजिए भारतमें कपासकी एक गाठका सीमान्त उत्पादन-व्यय २०० रु० और कपड़ेके एक थानका उत्पादन-व्यय १०० रु० है। इसके विपरीत पाकिस्तानमें कपासकी एक गाठ का उत्पादन-व्यय १०० रु० और कपड़ेके थानका सीमान्त उत्पादन-व्यय २०० रु० है। स्पष्ट है कि इस स्थितिमें दोनों देशोंका क्षेम इसमें है कि पाकिस्तान केवल कपास के उत्पादनमें उत्पादनके साधनोंका प्रयोग करके अधिकसे अधिक मात्रामें कपास उत्पन्न करे और भारत केवल कपड़ेके उत्पादनमें उत्पादनके साधनोंको लगाकर अधिकसे अधिक कपड़ा पैदा करे। फिर दोनों परस्पर विनिमय करलें। अन्यथा भारत को स्वयं कपास पैदा करनेमें अधिक उत्पादन व्यय उठाना पड़ेगा और पाकिस्तान को स्वयं कपड़ा बुननेमें। संसारमें बहुतसी वस्तुओंका अन्तर्राष्ट्रीय लेनदेन इसी लिए होताहै कि देनेवाले देशमें उस वस्तुका सीमान्त उत्पादन व्यय लेनेवाले देशसे निरपेक्ष रूपमें कम होता है। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय लेनदेनका होना उस अवस्थामें भी सम्भव होजाता है जबकि एक देशमें दोनों वस्तुओंके सीमान्त उत्पादन व्यय दूसरे देशसे कम हैं। परन्तु उस देशको उनमेंसे केवल एकही वस्तुके उत्पादनमें अपने उत्पादनके साधनोंका प्रयोग करनेसे सापेक्ष रूपमें अधिक लाभ होनेकी सम्भावना होतीहै। कारण यहहै कि प्रत्येक देशमें उत्पादनके साधनोंकी मात्रा सीमित है। इसलिए उनके प्रयोग द्वारा अधिकसे अधिक लाभ प्राप्त करनेकी इच्छा से उस देशके उत्पादक उसी वस्तुके उत्पादनमें अपने साधनोंको प्रयुक्त करेंगे जिनमें कि उन्हें सापेक्ष रूपमें अधिक लाभ मिलनेकी आशा है। मानलीजिए भारतमें एक गाठ कपासका सीमान्त उत्पादन व्यय १०० रु० और कपड़ेके एक थानका सीमान्त उत्पादन व्यय ५० रु० है। यदि भारत दोनोंही वस्तुओंको अपनेही देशमें उत्पन्न करले तो कपडेके थान और कपासकी गाठका परस्पर विनिमय मूल्य २ : १ होगा अर्थात् २ थानोके वदलेमें एकगाठ कपास मिलसकेगी। अब मानलीजिए पाकिस्तान में कपासकी एक गाठका सीमान्त उत्पादन व्यय १५० रु० और कपडेके एक थान का सीमान्त उत्पादन व्यय १०० रु० है। यदि पाकिस्तान दोनों वस्तुओंको अपने देशमें ही उत्पन्न करले तो उस देशमें कपडेके थान और कपासकी गाठका विनिमय ३ : २ के अनुपातमें होगा। अब यदि पाकिस्तान कपासकी २ गाठें उत्पन्न करके भारत भेजदे तो भाडा, बीमा इत्यादि व्ययकी गणना न होनेपर हम कहसकते

वस्तुए उत्पन्न करनेपर केवल कपडेके ३ थानोसे विनिमय होना सम्भव था। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय विनिमयसे पाकिस्तानको अधिकसे अधिक कपडेके एक थान की अतिरिक्त प्राप्ति होनेकी सम्भावना है क्योकि यदि कपासकी २ गाठोके विनिमय से भारतको कपडेके ४ से अधिक थान देने पडेंगे तो वह पाकिस्तानसे कपास लेनेके स्थानमें स्वय उत्पन्न करना आरम्भकर देगा। इसी प्रकार यदि पाकिस्तानको २ गाठोके वदलेमें कपडेके ३ थानसे कम मिलेंगे तो वह कपडा स्वय उत्पन्न करना आरम्भ कर देगा। इस एकथान में से भारत और पाकिस्तानको लाभके रूपमें प्राप्त अश भारतकी कपासके लिए और पाकिस्तानकी कपडेके लिए मागकी लोचकी सहायतासे किया जासकता है। यदि भारतकी कपासके लिए माग अधिक लोचदार है तो इस लाभका मुख्य अश भारतको प्राप्त होगा। क्योकि यदि पाकिस्तान अपनी दो कपासकी गाठोका विनिमय-मूल्य कपडेके तीन थानोसे थोडाभी अधिक करेगा तो भारत द्वारा कपासके लिए कुल मागमें भारी कमी आजाने से पाकिस्तानको इस विनिमय द्वारा प्राप्त होनेवाले कुल लाभमें भी भारी कमी होनेकी सम्भावना है। भारत द्वारा कपासके लिए माग कम लोचदार होनेसे लाभका मुख्य अश पाकिस्तान को प्राप्त होगा और थोडा अश भारत को। पाकिस्तानकी कपडेकी मांग अधिक अथवा कम लोचमयी होनेसे यह अनुमान लगाया जासकता है कि कौनसा देश लाभ का मुख्य अश प्राप्त करेगा और कौनसा अल्पाश। इसप्रकार वस्तुओके उत्पादन-व्यय और उनकी मागकी लोचके आधारपर दो देशोमें उनके पारस्परिक विनिमयके भाव निश्चित होतेरहते हैं। समय समयपर इन भावोमें परिवर्तन होते रहते हैं। यदि परिवर्तन मागमें परिवर्तन होनेके कारण हो तो वह देश जिसकी वस्तुओकी माग बढजाती है अथवा जिसकी वस्तुओकी मागकी लोच कम होजाती है, अधिकतर लाभ प्राप्त करता है। उत्पादन-व्ययमें परिवर्तन होनेसे लाभ-हानिका निर्णय करना इतना सुगम नही। क्योकि होसकता है कि उत्पादन-व्यय बढनेसे यदि उस वस्तुकी माग अधिक लोचदार नही है तो पहिलेसे अधिक मूल्यभी प्राप्त होनसके। इसीप्रकार उत्पादन-व्यय कम होनेपर प्राप्त मूल्यके कम होनेकी भी सम्भावना है। केवल इतना होसकता है कि मूल्य कम होनेसे उस वस्तुकी माग बढजाये और कुल प्राप्त लाभ पहिलेसे अधिक हो। इन भावोमें परिवर्तन उस देशके लिए अधिक महत्वपूर्ण है जो अपनी उत्पत्तिका अधिकाश दूसरे देशोको भेजदेता है।

उस वस्तुको उतनी मात्रामें उत्पन्न न करपाता हो, जिससे उसकी अपनी
दूसरे देशकी आन्तरिक मांग पूरी होसके।

तुलनात्मक उत्पादन व्ययका सिद्धान्त उस स्थितिमें भी लागू होताहै जबकि
देश बहुतसी वस्तुओंके विनिमयसे किसी अन्य देशसे बहुतसी वस्तुएं प्राप्त क
हो। इस स्थितिमें कहाजा सकताहै कि अमुक देशसे निर्यात कीजानेवाली व
के उत्पादनमें उस देशमें आयात होनेवाली वस्तुओंकी अपेक्षा उस देशको
रूपमें अधिक लाभ होरहा है।

इसमें यह कहदेना अनुचित न होगा कि तुलनात्मक उत्पादन व्यय सिद्धा
उत्पादन व्ययको द्रव्यके रूपमें परिवर्तित करके सिद्ध करना तर्ककी दृष्टिसे दूषि
मौद्रिक उत्पादन व्यय उत्पादनके साधनोंको दियेगये मौद्रिक मूल्यका ही रूपान्
और इन साधनोंका मौद्रिक मूल्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारकी अनुपस्थितिमें व
होता जो उस व्यापारकी उपस्थितिमें है। वास्तवमें अकेले उत्पादन व्ययका मौ
रूपही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारका कारण नहीं बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारभी
रूपमें उसका कारण होसकता है। उत्पादन व्ययका वास्तविक अर्थ उत्पा
साधनोंकी उस मात्रासे है जो वस्तु विशेषके उत्पादनके लिए आवश्यक है।
साधनोंको उस वस्तु विशेषके उत्पादनमें लगानेसे किसी अन्य वस्तुके उत्पा
नहीं लगाया जासकता है। उस अन्य वस्तुको उत्पन्न न करनेसे उस देशको जो ह
हुईहै वह वस्तु विशेषका व्ययहै जिसे अवसर व्यय अथवा वैकल्पिक व्ययभी
जाताहै और यही व्यय तुलनात्मक उत्पादन व्यय सिद्धान्तका आधार है।

मांग की लोच और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

हम यह देखही चुकेहै कि वस्तुओका अन्तर्राष्ट्रीय लेनदेन उसी अवस्थामें सम्भ
जबकि लेनेवाले और देनेवाले दोनो देशोका हित अपनी कुछ वस्तुए देकर दूसरे दे
कुछ वस्तुएं लेनेमें हो। हम देखचुके है कि भारतमें कपास की गाठ और कप
थानका सीमान्त उत्पादन-व्यय क्रमशः १००रु० और ५० रु० है और पाकिस्त
में यही व्यय १५० और १०० रु० है, तो कपास पैदा करके भारतसे कपडा ले
पाकिस्तान को कपासकी २ गाँठें देकर कपडेके ४ थान मिलजाते है और स्वय द

इसके अतिरिक्त यहतो स्पष्टहै ही कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारके उन्मुक्त होनेसे किसीभी देशमें किसी अन्य देशसे आनेवाली वस्तुओके मूल्य उस स्थितिकी तुलना में तो कमही होगे जबकि उनके आयातपर कर लगादिये जायें। मूल्योका कम होना उपभोक्ताओके लिए हितकारी है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारकी उन्मुक्तताके कारण ऐसे एकाधिकारियोका जो उप-भोक्ताओके हितका ध्यान न रखतेहुए केवल अधिकतम लाभ प्राप्त करनेकी धुनमें उन्मुक्त रहतेहै, स्थापित होना असम्भव नही तो कठिन अवश्य होजाता है।

संरक्षण

आय-कर और संरक्षण

जब वस्तुओके आयात-निर्यातपर करो द्वारा प्रतिबन्ध लगादिये जातेहै तो उसे व्या-पारके सरक्षणका नाम दियाजाता है। आयात-निर्यात कर दो प्रकारके होते है। एकतो राजस्व-कर और दूसरे सरक्षण-कर। राजस्व-कर लगानेसे किसीभी देशका उद्देश्य अपना राजकीय कार्य चलानेके लिए अधिक आय प्राप्त करना होताहै और सरक्षण-करो द्वारा स्वदेशी उद्योग धन्धोको विदेशी प्रतिस्पर्धासे सुरक्षित करके प्रोत्साहित करना। ये दोनो उद्देश्य परस्पर विरोधीहै क्योकि अधिकतम सरक्षण प्रदान करनेवाले कर वे करहै जिनके किसी वस्तुके आयातपर लगा देनेसे उस वस्तु का आयात देशमें नितान्त बन्द होजाता है और इसकारण सरकारको तनिकभी आय प्राप्त नही होती। इसके विपरीत अधिकतम आय उन करोसे प्राप्त होगी जिनके किसी वस्तुपर लगानेसे किसी वस्तुके आयातमें तनिकभी नही या बहुत थोड़ी कमी आती है।

संरक्षण के लाभ और हानियां

बहुतसे आधुनिक अर्थशास्त्रियोंके मतानुसार सरक्षण-करोका लगायाजाना कई आर्थिक अथवा अनार्थिक कारणोसे वाछनीय है। कहाजाता है कि किसी देशका किसी वस्तुकी पूर्तिके लिए किसी अन्य देशपर पूर्णरूपसे निर्भर करना उचित नही क्योकि

२६

उन्मुक्त और संरक्षित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

उन्मुक्तता के लाभ

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारके तुलनात्मक उत्पादन-व्यय सिद्धान्तका अर्थ यह हुआ कि पूर्ण प्रतिस्पर्धाकी स्थितिमें प्रत्येक देश उन वस्तुओंके उत्पादनमें संलग्न होगा जिसको उत्पन्न करनेकी उसे अन्य देशोंकी अपेक्षा सापेक्ष रूपमें अधिक सुविधा प्राप्त होगी और अन्य वस्तुओंको जो उसे भाड़ा इत्यादिके व्ययकी गणनाके अनन्तर स्वय उत्पन्न करनेकी अपेक्षा अन्य देशोंसे कम मूल्यपर मिलसकती है, उन देशोंसे मगवायेगा। इसप्रकार ससारके प्रत्येक देशमें मिलनेवाले उत्पादनके साधन ऐसी वस्तुओंके उत्पादनमें लगाये जायेंगे जिनकी वे अधिकतम उत्पत्ति करनेके योग्य होंगे। फल-स्वरूप सब प्रकारकी वस्तुओंकी संसारमें अधिकतम उत्पत्ति होगी और प्रत्येक देश के निवासियोंकी वस्तुओंके रूपमें आय उच्चतम होगी। यह कार्य सुचारु रूपसे तभी चल सकताहै जबकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उन्मुक्त हो।

इसके अतिरिक्त विविध प्रकारके कच्चे माल लोहा, कोयला, कपास, पटसन इत्यादिका ससारके विशेष भागोंमें ही मिलना अथवा उत्पन्न होना सम्भव है। ससारके अन्य भाग जिनको प्रकृतिने ऐसी वस्तुओंके उत्पन्न करनेकी शक्ति प्रदान नही की, इन वस्तुओंको अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय द्वाराही प्राप्त करसकते है। अन्यथा उन्हें इस प्रकारकी वस्तुओंसे वचित रहना पडेगा। आधुनिक जीवन तथा रहन सहनके लिए इस प्रकारकी वस्तुओंकी अत्यन्त आवश्यकताको ध्यानमें रखते हुएभी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारका उन्मुक्त होना कल्याणकारी ही सिद्ध होता है। श्रमविभाजन के लाभोंका उल्लेख होचुका है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रमविभाजन द्वारा समस्त ससारमें वस्तुओंकी उत्पत्तिकी मात्रा बढनेसे प्राप्त होनेवाले लाभ तभी उपलब्ध होसकते है जबकि वस्तुओंका अन्तर्राष्ट्रीय लेनदेन कृत्रिम प्रतिबन्धो द्वारा न रोकाजाये।

इसके अतिरिक्त यहतो स्पष्टहै ही कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारके उन्मुक्त होनेसे किसीभी देशमें किसी अन्य देशसे आनेवाली वस्तुओंके मूल्य उस स्थितिकी तुलनामें तो कमही होंगे जबकि उनके आयातपर कर लगादिये जावें। मूल्योंका कम होना उपभोक्ताओंके लिए हितकारी है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारकी उन्मुक्तताके कारण ऐसे एकाधिकारियोंका जो उपभोक्ताओंके हितका ध्यान न रखतेहुए केवल अधिकतम लाभ प्राप्त करनेकी धुनमें उन्मुक्त रहतेहैं, स्थापित होना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य होजाता है।

संरक्षण

आय-कर और संरक्षण

जब वस्तुओंके आयात-निर्यातपर करों द्वारा प्रतिबन्ध लगादिये जातेहैं तो उसे व्यापारके सरक्षणका नाम दियाजाता है। आयात-निर्यात कर दो प्रकारके होते हैं। एकतो राजस्व-कर और दूसरे संरक्षण-कर। राजस्व-कर लगानेसे किसीभी देशका उद्देश्य अपना राजकीय कार्य चलानेके लिए अधिक आय प्राप्त करना होताहै और संरक्षण-करो द्वारा स्वदेशी उद्योग धन्धोंको विदेशी प्रतिस्पर्धासे सुरक्षित करके प्रोत्साहित करना। ये दोनों उद्देश्य परस्पर विरोधीहैं क्योंकि अधिकतम संरक्षण प्रदान करनेवाले कर वे करहैं जिनके किसी वस्तुके आयातपर लगा देनेसे उस वस्तुका आयात देशमें नितान्त बन्द होजाता है और इसकारण सरकारको तनिकभी आय प्राप्त नहीं होती। इसके विपरीत अधिकतम आय उन करोंसे प्राप्त होगी जिनके किसी वस्तुपर लगानेसे किसी वस्तुके आयातमें तनिकभी नहीं या बहुत थोड़ी कमी आती है।

संरक्षण के लाभ और हानियां

बहुतसे आधुनिक अर्थशास्त्रियोंके मतानुसार संरक्षण-करोंका लगाया जाना कई आर्थिक अथवा अनार्थिक कारणोंसे वांछनीय है। कहाजाता है कि किसी देशका किसी वस्तुकी पूर्तिके लिए किसी अन्य देशपर पूर्णरूपसे निर्भर करना उचित नहीं क्योंकि

युद्धके समय ऐसी वस्तुओंकी पूर्ति बन्द होजाती है, कारण उस देशको हानि पहुंचनेकी सम्भावना है। इसीप्रकार किसी विशेष व्यवसाय अथवा जन-समुदायको सुरक्षित रखनेके लिए संरक्षण-करका लगाना आवश्यक समझा जाता है। विशेषकर कृषकों की रक्षा तथा उनको प्रोत्साहन करनेके लिए बहुतसे नीतिज्ञ अपना मत प्रगट करते हैं।

संरक्षण-करों द्वारा सुरक्षित उद्योग धन्धोंमें उत्पत्तिकी मात्रा बढनेकी सम्भावना होसकती है। परन्तु यदि उत्पादित माल सदृश वस्तुओंका आयात कम हो जाता है तो अन्य वस्तुओंका निर्यात भी कम होगा और यदि किन्हीं विशेष उद्योग धन्धों में उन्नति होनेके कारण उत्पादनके साधनोंकी अधिक आवश्यकता होजाती है तो ये साधन अन्य उद्योग धन्धोंके लिए उपलब्ध नहीं रहते और उन उद्योग धन्धोंमें अवनति से होने वाली हानि सुरक्षित धन्धोंमें होनेवाले लाभसे अधिक होसकती है।

संरक्षण-करोंकी सहायतासे उत्पन्न वस्तुओंकी खपतके लिए विदेशीके स्थानपर स्वदेशी बाजारकी स्थापना अथवा प्रसारकी सम्भावना है। परन्तु जैसा हम ऊपर कहचुके हैं, स्वदेशी बाजारके प्रसारके साथ विदेशी बाजारका संकुचित होतेजाना भी अनिवार्यसा है।

सुरक्षित उद्योग धन्धोमें उन्नति होनेसे उनमें काम करनेवालोके पास अधिक क्रय-शक्ति आनेके कारण उनके द्वारा उपभोग कीजानेवाली वस्तुओंके उत्पन्न करने वाले उद्योग धन्धोंमें भी उन्नति आने लगतीहै परन्तु निर्यात कीजानेवाली वस्तुओं को उत्पन्न करनेवाले उद्योग धन्धोमें अवनति होनेसे उनमें काम करनेवालोंकी क्रय-शक्तिका ह्रास होनेके कारण उनके द्वारा उपभोग कीजानेवाली वस्तुओंको उत्पन्न करनेवाले उद्योग धन्धोमें भी अवनतिका प्रादुर्भाव सुनिश्चित है। संरक्षण-करोकी सहायतासे किसी देशसे निर्यात कीजानेवाली वस्तुओंकी मात्रा उस देशमें आयात कीजानेवाली वस्तुओंकी मात्रासे अधिककी जासकती है। आयात कीजानेवाली वस्तुओंको कमकरना इसलिए अभीष्टहै कि विदेशी ऋणोके परिमाणमें अधिका-धिक वृद्धि न होती चलीजाये। परन्तु वस्तुओंके आयातमें ही केवल कमी करनेसे इस वृद्धिको रोकना सम्भव नही है। संरक्षण-करोके कारण लोगोको विदेशोमें ऋण लेनेमें कोई बाधा नही आती। जबतक परोक्ष रूपमें आयात होनेवाली वस्तुओंकी मात्रा बढती रहतीहै तो प्रत्यक्ष रूपमें आयात होनेवाली वस्तुओंकी मात्रामें कमी करनेसे परिणाम केवल प्रत्यक्ष रूपमें निर्यात कीजानेवाली वस्तुओंकी मात्रामें

कमी करना होगा। सरक्षण-करोका लगाना इसलिएभी उचित समझा जाताहै, क्योकि अन्य देशोने इस प्रकारके कर लगारखे है। इसमें सन्देह नही कि कोईभी देश सरक्षण-कर लगाकर न केवल अपनीही अपितु अन्य देशोकी भी हानि करता है। परन्तु इसकार प्रतिकार यह नहीहै कि अन्य देशभी उसी प्रकारका कर लगाकर अपनी तथा उस देशकी औरभी अधिक हानि करनेका अपराध करें।

कई लोगोका ऐसा विश्वासहै कि सरक्षण-करो द्वारा देशीय श्रमजीवियोको मिलनेवाले वेतनोको अन्य देशोमें इस वर्गको मिलनेवाले वेतनसे अधिक रखा जा सकता है। परन्तु दो देशोमें श्रमजीवियोको मिलनेवाले वेतनोमें अन्तरको दूसरे देशके श्रमजीवियोको अपने देशमें आनेसे प्रतिबन्ध द्वारा रोककरभी सदैव स्थित रखा जासकता है। सरक्षण-करोको विभिन्न देशोमें विभिन्न वस्तुओंके उत्पादन-व्यय सम करनेके लिए प्रयुक्त करनाभी उचित समझा जाताहै परन्तु यदि सारे ससारमें उत्पादन-व्यय एकसे होजायेंगे तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार जो इनमें अन्तरके आधारपर ही होपाता है, जडसे मिटजायेगा। इसके अतिरिक्त अधिकतम उत्पादन व्ययवाले उद्योग धन्धोको अधिकतम सरक्षणकी आवश्यकता होगी। अर्थात् उत्पादन के साधनोका कुशलतम प्रयोग करनेकी चेष्टा करना निरर्थकसा होजायेगा।

सरक्षण-करोके प्रभाव दो प्रकारके होते है। एक ओर तो उपभोक्ताओको मूल्य में वृद्धि होनेके कारण हानि सहन करनीपड़ती है और दूसरी ओर उत्पत्तिमें वृद्धि होनेसे उनकी वास्तविक आयमें वृद्धि होती है। यदि उत्पत्तिकी मात्रामें महत्तम वृद्धि के साथसाथ मूल्योमें लघुतम वृद्धिहो तो सरक्षण-कर देशके लिए हितकारीही होगे और यदि मूल्योमें महत्तम वृद्धिके साथ उत्पत्तिमें लघुतम वृद्धिहो तो सरक्षण-कर उस देशके लिए हानिकारक होगे। जहातक मूल्योमें वृद्धि होनेके कारण उपभोक्ताओकी हानिका सम्बन्ध है, इसमें तो तनिकभी सन्देह नही कि उन्हें हानि होतीहै और इस हानिको निश्चित रूपसे आकाभी जासकता है परन्तु सुरक्षित उद्योग धन्धोमें उत्पत्तिकी मात्राकी वृद्धिको वृद्धि मानलेना उचित नही। इस वृद्धि में से अन्य उद्योग धन्धोकी उत्पत्तिमें सरक्षण-करोके कारण जो कमी हुईहै, उसका निकालनाभी आवश्यक है। ऐसा करनेपर प्रतीत होगा कि संरक्षण-करोके कारण लाभकी अपेक्षा हानि अधिक होनेकी सम्भावना है।

सरक्षण-करोका लगायाजाना किसी विशेष उद्योग धन्धेमें वर्तमान बेकारीको,

युद्धके समय ऐसी वस्तुकी पूर्ति बन्द होजाने के कारण उस देशको हानि पहुचनेकी सम्भावना है। इसीप्रकार किसी विशेष व्यवसाय अथवा जन-समुदायको सुरक्षित रखनेके लिए सरक्षण-करोंका लगाना आवश्यक समझा जाताहै। विशेषकर कृषकों की रक्षा इन करोद्वारा करनेके लिए बहुतसे नीतिज्ञ अपना मत प्रकट करते है।

सरक्षण-करो द्वारा सुरक्षित उद्योग धन्धोंमें उत्पत्तिकी मात्रा बढनेकी सम्भावना होजाती है। परन्तु यदि उत्पत्तिकी मात्रा बढनेसे वस्तुओंका आयात कम हो जाताहै तो अन्य वस्तुओंका निर्गातभी कम होगा और यदि किन्ही विशेष उद्योग धन्धों में उन्नति होनेके कारण उत्पादनके साधनोंकी अधिक आवश्यकता होजाती है तो ये साधन अन्य उद्योग धन्धोके लिए उपलब्ध नही रहते और उन उद्योग धन्धोमें अवनति से होनेवाली हानि सरक्षित धन्धोमें होनेवाले लाभसे अधिक होसकती है।

सरक्षण-करोकी सहायतासे उत्पन्न वस्तुओकी खपतके लिए विदेशीके स्थानपर स्वदेशी बाजारकी स्थापना अथवा प्रसारकी सम्भावना है। परन्तु जैसा हम ऊपर कहचुके है, स्वदेशी बाज़ारके प्रसारके साथ विदेशी बाज़ारका सकुचित होतेजाना भी अनिवार्यसा है।

सुरक्षित उद्योग धन्धोमें उन्नति होनेसे उनमें काम करनेवालोके पास अधिक क्रय-शक्ति आनेके कारण उनके द्वारा उपभोग कीजानेवाली वस्तुओके उत्पन्न करने वाले उद्योग धन्धोमें भी उन्नति आने लगतीहै परन्तु निर्यात कीजानेवाली वस्तुओ को उत्पन्न करनेवाले उद्योग धन्धोमें अवनति होनेसे उनमें काम करनेवालोकी क्रय-शक्तिका ह्रास होनेके कारण उनके द्वारा उपभोग कीजानेवाली वस्तुओको उत्पन्न करनेवाले उद्योग धन्धोमें भी अवनतिका प्रादुर्भाव सुनिश्चित है। सरक्षण-करोकी सहायतासे किसी देशसे निर्यात कीजानेवाली वस्तुओकी मात्रा उस देशमें आयात कीजानेवाली वस्तुओकी मात्रासे अधिककी जासकती है। आयात कीजानेवाली वस्तुओको कमकरना इसलिए अभीष्टहै कि विदेशी ऋणोके परिमाणमें अधिकाधिक वृद्धि न होती चलीजाये। परन्तु वस्तुओके आयातमें ही केवल कमी करनेसे इस वृद्धिको रोकना सम्भव नही है। सरक्षण-करोके कारण लोगोको विदेशोमें ऋण लेनेमें कोई बाधा नही आती। जबतक परोक्ष रूपमें आयात होनेवाली वस्तुओकी मात्रा बढती रहतीहै तो प्रत्यक्ष रूपमें आयात होनेवाली वस्तुओकी मात्रामें कमी करनेसे परिणाम केवल प्रत्यक्ष रूपमें निर्यात कीजानेवाली वस्तुओकी मात्रामें

वर्तित करना अनिवार्यसा होजाता है, क्योकि यदि उद्योग धन्धोकी कुछ संस्थाए सरक्षण करोका आश्रय लिए बिनाही जीवित रहनेकी क्षमता प्राप्त करलेती है तो बहुतसी ऐसी संस्थाएभी सरक्षणके कारण स्थापित होजाती है जिनके सरक्षणके हटातेही नष्ट होजानेकी सम्भावना है। इसकारण उनके व्यवस्थापक सरक्षणके हटानेका सदैव विरोध करते है। सरक्षण-करोके विरुद्ध इन युक्तियोमें भलेही सत्य हो और सत्यहै भी परन्तु पिछडेहुए देशोकी औद्योगिक उन्नतिभी तबतक सम्भव नही जबतक उनमें स्थापित उद्योग धन्धोकी शैशव अवस्थामें भलीप्रकार रक्षा न कीजाये। इसकारण औद्योगिक दृष्टिसे उन्नत देशोमें उन्मुक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का होना भलेही आवश्यकहो परन्तु कम उन्नत देशोको उस समयतक सरक्षण-करो की शरण लेनीही पडेगी जबतक वेभी औद्योगिक दृष्टिसे उतनेही उन्नत नही हो जाते जितनेकि उनके प्रतिस्पर्धी अन्य देश।

सरक्षण और डम्पिग

सरक्षणके विरुद्ध अर्थशास्त्रके सिद्धान्तोके अनुसार इतनी कडी आलोचना कीजाने परभी आधुनिक ससारमें कोई विरलाही देश ऐसा होगा जिसने सरक्षणकी नीतिको न अपनायाहो। इस नीतिके अपनानेसे एक आर्थिक घटनाका प्रादुर्भाव हुआहै जिसने सरक्षणकी नीतिको औरभी परिपुष्ट होनेमें सहायता दीहै। इस घटनाको अग्रेजीमें डम्पिग कहते हैं। इसकी परिभाषा कई प्रकारसे कीजाती है। जबकि किसी सुरक्षित उद्योग धन्धेमें उत्पत्तिकी मात्रा इतनी अधिक होजाती है कि उसकी खपत देशमें नही होपाती तो शेष मात्राको बेचनेके लिए उत्पादक लोग उस वस्तुको विदेशी बाजारो में उस मूल्यपर बेचना स्वीकार करलेते है जो भाडा इत्यादिकी गणना करलेनेके बादभी देशमें उसी वस्तुके प्रचलित मूल्यसे कम होता है। डम्पिगकी दूसरी परि-भाषा इसप्रकार कीगई है कि विदेशी बाजारोमें उस वस्तुको उसके उत्पादन-व्यय से भी कम मूल्यपर बेचाजाता है और इस मूल्यपर बेचनेसे होनेवाली हानिको स्वदेशी बाजारमें अधिक मूल्यपर बेचनेसे होनेवाले लाभ द्वारा पूरा कियाजाता है। डम्पिग सरक्षण-नीतिकी पुष्टि दो प्रकारसे करता है। एक जिस देशमें वस्तुओका इसप्रकार निर्यात किया जाताहै उस देशके [illegible] अपने उद्योग धन्धोकी इस अनु-

समस्याको सुलझानेके लिए अत्यन्त लाभकारी बताया जाताहै। व्यापारकी उन्मुक्तता के पक्षपातीभी यह माननेके लिए तैयारहैं कि किसी विशेष उद्योग धन्धेका संरक्षण-करो द्वारा पुनरुत्थान किया जासकता है क्योंकि संरक्षणकी सहायतासे उत्पत्तिकी मात्रामें वृद्धि होना अनिवार्य है। परन्तु यदि संरक्षण-करो द्वारा किसी विशेष उद्योग धन्धेकी बेकारी तो दूर होजाये और अन्य उद्योग धन्धोमें बेकारी बढजाये तो कर लगाना विफलसा रहेगा क्योकि उनके लगानेसे हमारा उद्देश्य कुल बेकारी को दूर करनाथा न कि उस विशेष उद्योग धन्धेकी बेकारीही को। ऐसाभी असम्भव नही कि निर्यात कीजानेवाली वस्तुओंको उत्पन्न करनेवाले उद्योग धन्धो में काम करनेवाले लोगोकी सख्या उन लोगोसे अधिकहो जिनको सुरक्षित उद्योग धन्धोमें नया काम मिला है। ऐसी स्थितिमें तो संरक्षण-कर स्पष्टतया हानिकारक है।

अन्तमें आर्थिक तथा औद्योगिक दृष्टिसे पिछड़ेहुए देशोमें उद्योग धन्धोको स्थापित करनेके लिए सरक्षण-करोका प्रयोग आवश्यक मानाजाताहै विशेषकर ऐसे उद्योग धन्धोंका उनके शैशवकालमें तो सरक्षण होनाही चाहिए, कारणकि ससारके बहुतसे देशोकी औद्योगिक उन्नति केवल इस बातपर निर्भरहै कि उन्होने उद्योग-धन्धे स्थापित करनेका कार्य सर्वप्रथम आरम्भ करलिया था और इसकारण उत्पादन-कार्यमें अन्य देशोसे अधिक कुशलता प्राप्त करली है। ऐसाभी होसकता है कि अन्य देशोके पास उन्ही वस्तुओके उत्पन्न करनेके लिए अधिक साधनहो परन्तु उन साधनोका यथेष्ट प्रयोग इसलिए न होपाता हो क्योकि उन साधनोके प्रयोगके लिए स्थापित उद्योग धन्धो द्वारा उत्पन्न कीहुई वस्तुओपर आरम्भमें पुराने चिरकालसे स्थापित उद्योग धन्धो द्वारा उत्पन्न कीहुई विदेशी वस्तुओसे अधिक उत्पादन व्यय पड़ता है। इसकारण उन्मुक्त व्यापारके होनेसे ऐसे उद्योग धन्धोको स्थापित करना असम्भव होजाता है। ऐसे उद्योग धन्धोको विदेशी प्रतिस्पर्धासे कुछ कालके लिए सुरक्षित रखना अनिवार्य समझा जाताहै। इस दशामें भी सरक्षण केवल ऐसे उद्योग-धन्धोको ही देना चाहिए जो प्रौढ अवस्था प्राप्त करनेपर अपने पैरोपर खडे होनेकी क्षमता प्राप्त करलेंगे। ऐसा कहाजाताहै कि एकबार सरक्षण प्रदान करनेपर ये शिशु उद्योग धन्धे कभीभी प्रौढ नही होपाते। इनका शैशवकाल बढताही चलाजाता है और एकबार लगाए सरक्षण-करोका राजनीतिक तथा अन्य कारणोसे हटाना कठिन होजाता है। अस्थायी रूपमें नियुक्त कियेगये सरक्षण-करोका स्थायी रूपमें परि-

वर्तित करना अनिवार्यसा होजाता है, क्योकि यदि उद्योग धन्धोकी कुछ संस्थाएं सरक्षण करोका आश्रय लिए विनाही जीवित रहनेकी क्षमता प्राप्त करलेती हैं तो वहुतसी ऐसी सस्थाएभी सरक्षणके कारण स्थापित होजाती है जिनके सरक्षणके हटातेही नष्ट होजानेकी सम्भावना है। इसकारण उनके व्यवस्थापक सरक्षणके हटानेका सदैव विरोध करते है। सरक्षण-करोके विरुद्ध इन युक्तियोमे भलेही सत्य हो और सत्यहै भी परन्तु पिछडेहुए देशोकी औद्योगिक उन्नतिभी तवतक सम्भव नही जवतक उनमें स्थापित उद्योग धन्धोकी शैशव अवस्थामें भलीप्रकार रक्षा न कीजाये। इसकारण औद्योगिक दृष्टिसे उन्नत देशोमें उन्मुक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का होना भलेही आवश्यकहो परन्तु कम उन्नत देशोको उस समयतक सरक्षण-करो की शरण लेनीही पडेगी जवतक वेभी औद्योगिक दृष्टिसे उतनेही उन्नत नही हो जाते जितनेकि उनके प्रतिस्पर्धी अन्य देश।

सरक्षण और डम्पिग

सरक्षणके विरुद्ध अर्थशास्त्रके सिद्धान्तोके अनुसार इतनी कडी आलोचना कीजाने परभी आधुनिक ससारमें कोई विरलाही देश ऐसा होगा जिसने सरक्षणकी नीतिको न अपनायाहो। इस नीतिके अपनानेसे एक आर्थिक घटनाका प्रादुर्भाव हुआहै जिसने संरक्षणकी नीतिको औरभी परिपुष्ट होनेमें सहायता दीहै। इस घटनाको अग्रेजीमें डम्पिग कहते हैं। इसकी परिभाषा कई प्रकारसे कीजाती है। जवकि किसी सुरक्षित उद्योग धन्धेमें उत्पत्तिकी मात्रा इतनी अधिक होजाती है कि उसकी खपत देशमें नही होपाती तो शेष मात्राको वेचनेके लिए उत्पादक लोग उस वस्तुको विदेशी वाजारो में उस मूल्यपर वेचना स्वीकार करलेते है जो भाड़ा इत्यादिकी गणना करलेनेके वादभी देशमें उसी वस्तुके प्रचलित मूल्यसे कम होता है। डम्पिगकी दूसरी परिभाषा इसप्रकार कीगयी है कि विदेशी वाजारोमें उस वस्तुको उसके उत्पादन-व्यय से भी कम मूल्यपर वेचाजाता है और इस मूल्यपर वेचनेसे होनेवाली हानिको स्वदेशी वाजारमें अधिक मूल्यपर वेचनेसे होनेवाले लाभ द्वारा पूरा कियाजाता है। डम्पिग, संरक्षण-नीतिकी पुष्टि दो प्रकारसे करना है। एक जिस देशमें वस्तुओका इसप्रकार निर्यात किया जाताहै उस देशके उत्पादक अपने उद्योग धन्धोकी इस अनु-

समस्याको सुलझानेके लिए अत्यन्त लाभकारी बताया जाताहै। व्यापारकी उन्मुक्तता के पक्षपातीभी यह माननेके लिए तैयारहै कि किसी विशेष उद्योग धन्धेका सरक्षण-करो द्वारा पुनरुत्थान किया जासकता है क्योकि सरक्षणकी सहायतासे उत्पत्तिकी मात्रामें वृद्धि होना अनिवार्य है। परन्तु यदि सरक्षण-करो द्वारा किसी विशेष उद्योग धन्धेकी बेकारी तो दूर होजाये और अन्य उद्योग धन्धोमें बेकारी बढजाये तो कर लगाना विफलता रहेगा क्योकि उनके लगानेसे हमारा उद्देश्य कुल बेकारी को दूर करनाथा न कि उस विशेष उद्योग धन्धेकी बेकारीही को। ऐसाभी असम्भव नही कि निर्यात कीजानेवाली वस्तुओंको उत्पन्न करनेवाले उद्योग धन्धो में काम करनेवाले लोगोकी सख्या उन लोगोमे अधिकहो जिनको सुरक्षित उद्योग धन्धोमें नया काम मिला है। ऐसी स्थितिमें तो सरक्षण-कर स्पष्टतया हानिकारक है।

अन्तमें आर्थिक तथा औद्योगिक दृष्टिसे पिछडेहुए देशोमें उद्योग धन्धोको स्थापित करनेके लिए सरक्षण-करोका प्रयोग आवश्यक मानाजाताहै विशेषकर ऐसे उद्योग धन्धोका उनके शैशवकालमें तो सरक्षण होनाही चाहिए, कारणकि ससारके बहुतसे देशोकी औद्योगिक उन्नति केवल इस बातपर निर्भरहै कि उन्होने उद्योग-धन्धे स्थापित करनेका कार्य सर्वप्रथम आरम्भ करलिया था और इसकारण उत्पादन-कार्यमें अन्य देशोसे अधिक कुशलता प्राप्त करली है। ऐसाभी होसकता है कि अन्य देशोके पास उन्ही वस्तुओंके उत्पन्न करनेके लिए अधिक साधनहो परन्तु उन साधनोका यथेष्ट प्रयोग इसलिए न होपाता हो क्योकि उन साधनोके प्रयोगके लिए स्थापित उद्योग धन्धो द्वारा उत्पन्न कीहुई वस्तुओपर आरम्भमें पुराने चिरकालसे स्थापित उद्योग धन्धो द्वारा उत्पन्न कीहुई विदेशी वस्तुओसे अधिक उत्पादन व्यय पड़ता है। इसकारण उन्मुक्त व्यापारके होनेसे ऐसे उद्योग धन्धोको स्थापित करना असम्भव होजाता है। ऐसे उद्योग धन्धोको विदेशी प्रतिस्पर्धासे कुछ कालके लिए सुरक्षित रखना अनिवार्य समझा जाताहै। इस दशामें भी सरक्षण केवल ऐसे उद्योग-धन्धोको ही देना चाहिए जो प्रौढ अवस्था प्राप्त करनेपर अपने पैरोपर खडे होनेकी क्षमता प्राप्त करलेगे। ऐसा कहाजाताहै कि एकबार सरक्षण प्रदान करनेपर ये शिशु उद्योग धन्धे कभीभी प्रौढ नही होपाते। इनका शैशवकाल बढताही चलाजाता है और एकबार लगाए सरक्षण-करोका राजनीतिक तथा अन्य कारणोसे हटाना कठिन होजाता है। अस्थायी रूपमें नियुक्त कियेगये सरक्षण-करोका स्थायी रूपमें परि-

देशकी हानि होना निश्चित है। सम्भवहै कि किसी विशेष स्थितिका सुलझाव संरक्षण-करो द्वारा होसकता हो परन्तु कौन जानताहै कि इनके दुरुपयोगके कारण लाभके स्थानपर हानि हो।

व्यापारिक समनुबन्ध

अर्थशास्त्रकी परिभाषामें व्यापारिक समनुबन्धसे हमारा अभिप्राय उन समनुबन्धोसे है जो आयात-निर्यात-करोसे सम्बन्ध रखते हो। इस प्रकारके समनुबन्धोमें केवल दो अथवा दो से अधिक देश अपने आपको समनुबद्ध करसकते है। इस प्रकारके समनुबन्धोमें एक धारा प्राय. ऐसी पायीजाती है जिसके द्वारा यह निश्चित करदिया जाता है कि दोनो देश परस्पर एक दूसरेसे कैसा व्यवहार करेंगे। विशेषकर तीन प्रकार की धाराए इस व्यवहारको सुनिश्चित करनेके लिए काममें लायीजाती है। समता की धाराके अनुसार यह निश्चित करदिया जाताहै कि प्रत्येक देश दूसरे देशके निवासियो और वस्तुओसे उसी प्रकारका व्यवहार करेंगे जो वे अपने देशके निवासियों और वस्तुओसे करते है। 'जैसी लेनी वैसी देनी' की धाराके अनुसार यह निश्चित करदिया जाताहै कि प्रत्येक देश दूसरे देशके निवासियो और वस्तुओंसे उसीप्रकार का व्यवहार करेगा जैसाकि दूसरा देश पहिले देशके निवासियो और वस्तुओसे करता है। श्रेष्ठतम व्यवहार किये जानेवाले राष्ट्रकी धाराके अनुसार समनुबद्ध देश परस्पर उससे बुरा व्यवहार नही करसकते जो वे किसी अन्य देशसे कररहे है।

साम्राजिक वरीयता से हमारा अभिप्राय उन व्यापारिक समनुबन्धोंसे है जो ब्रिटेन तथा उसके उपनिवेशोको परस्पर समनुबद्ध करते थे। इन समनुबन्धो द्वारा साम्राज्यके भीतरही उत्पन्न कीगयी वस्तुओके आयातपर साम्राज्यके बाहरसे आनेवाली वस्तुओंसे कम कर लगाया जाताथा। ओटावा में कीगयी १९३२ की भारी साम्राज्य-सभामें इस प्रकारके साम्राजीय पक्षपात दिखानेकी प्रथाको भलीप्रकार पुष्ट कियागया था। इसी सभामें भाग लेकर भारतने साम्राजीय पक्षपातके सिद्धान्त को स्वीकार किया था।

चित प्रतिस्पर्धासे रक्षा प्राप्त करनेके लिए सरक्षण-करोका लगायाजाना आवश्यक समझते है। दूसरे निर्यात करनेवाला देशभी इस भयसे कि विदेशी बाज़ारमें सस्ते मूल्यपर बिकीहुई वस्तु दुबारा स्वदेशमें न लौटआये, उस वस्तुके आयातपर सरक्षण-कर लगादेते है।

इस सम्बन्धमें इतना कहदेना आवश्यक न होगा कि डम्पिगकी नीतिका अनुसरण उससमय तक नही किया जासकता जबतक स्वदेशमें उस वस्तुके उत्पादकोको उसके उत्पादनका एकाधिकार प्राप्त न हो क्योकि पूर्णप्रतिस्पर्धाकी स्थितिमें सब मूल्य माग और पूर्ति द्वारा निर्धारित होगें और इसकारण उत्पादक स्वदेशमें वस्तुका मनमाना मूल्य लेनेमें असमर्थ रहेंगे। एकाधिकार केवल उसीसमय प्राप्त नही होता जबकि उस वस्तुको उत्पन्न करनेवाला एकही उत्पादक हो। ऐसाभी होसकता है कि बहुतसे उत्पादक मिलकर उस वस्तुको निश्चित मूल्यसे कम मूल्यपर न बेचने का समनुबन्ध करलें अथवा उस वस्तुकी निश्चित मात्रासे अधिक उत्पत्ति करनेपर प्रतिबन्ध लगालें।

निर्यात और आर्थिक सहायता

कभी कभी कई देशोकी सरकारें अपने देशकी औद्योगिक उन्नतिके हित वस्तुओके निर्यातपर आर्थिक सहायता प्रदान करती है। इसके कारण उत्पत्ति तथा निर्यात की मात्रामें वृद्धि होती है। अधिक निर्यातके कारण विदेशी बाज़ारमें वस्तुका मूल्य कम होजाता है और देशी बाजारमें बढजाता है। इस प्रकारकी आर्थिक सहायता और सरक्षण-करो द्वारा दीगयी सहायतामें कोई विशेष अन्तर नही। उन के सब गुण और दोष इस प्रकारकी सहायतामें भी विद्यमान है।

अन्तमें हमें यहभी उल्लेख करदेना चाहिए कि डम्पिग अथवा निर्यातके लिए दीगयी आर्थिक सहायताके प्रतिकारके रूपमें सरक्षण-करोका लगाना आर्थिक दृष्टि से उचित नही क्योकि साधारणतया इन करोद्वारा आयात होनेवाली वस्तुओका रोकना सम्भव नही जबतक कि करोके परिमाण ही अत्यन्त अधिक न करदिये जायें। परन्तु प्रत्येक स्थितिमें सरक्षण-करों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजनको धक्का लगनेकी सम्भावनाहै जिसके कारण वस्तुओकी उत्पत्तिकी मात्रामें कमी होनेसे प्रत्येक

प्रयोगसे और मिश्रित पूजीवादी कम्पनियोके स्थापनसे उत्पत्ति और व्यापार प्रोत्साहित हुए। सबसे बड़ी बात यहहुई कि पूजीके सचय और उसके लगावमें बहुत वृद्धि हुई। विना पूजीकी वृद्धिके आर्थिक प्रगति असम्भव है। भैषज्य और शल्य चिकित्सा और स्वास्थ्य-विद्याकी वृद्धिसे रोग और मृत्यु सख्यामें कमी हुई और आयुमान में वृद्धि हुई।

आर्थिक प्रगति ससारके सभी देशोमें समान रूपसे नही हुई। अनेक देश अभीतक बहुत पिछडे हुए है। वहा जीवन-स्तर बहुत नीचा है। मुख्य धन्धा खेती है जो कि पुराने ढगपर ही कीजाती है। बचत और पूजीका लगाव बहुतही कम परिमाणमें है। औद्योगिक कला विज्ञान पिछडा हुआ है। जापानको छोडकर एशियाके सभी देशोकी स्थिति इसीप्रकार की है। अफ्रीका और दक्षिणी अमेरिकामें भी इसप्रकार के अनेक देश है। परन्तु शनैः शनै इन सभी देशोका कम या अधिक मात्रामें उद्योगीकरण होरहा है और प्रगतिशील देशोके आविष्कारोसे लाभ उठानेकी प्रवृत्ति होरही है। इसके प्रतिकूल कुछ देशोमें जहा पिछले सौ डेढसौ वर्षोमे बडे वेगके साथ और बडी मात्रामें उद्योगीकरण का विकास और विस्तार हुआ, कुछ शिथिलताके आभास का अनुमान किया जाता है। कुछ लोगोका विचारहै कि इन देशोमें आर्थिक विकास चरमावस्थामें पहुच चुका है। जन सख्याकी वृद्धि रुकगयी है। रेल, जहाज, बिजली के सामानके आविष्कारोकी सम्भावना कम है। पिछडेहुए देशोमें उद्योगीकरण के कारण मशीनसे बनीहुई वस्तुओके निर्यात-व्यापारमें भी कमी आनेकी सम्भावना है। इन सभी कारणोसे कुछ अर्थशास्त्री इस परिणामपर पहुचेहै कि सयुक्त राज्य जैसे देशोमें अब आर्थिक प्रगतिमें मन्दी आनेकी आशका है। इस प्रकरणमें हम इन विवादपूर्ण विषयका विवेचन नही कररहे कि क्या वास्तवमें कुछ देशोमें इसप्रकार की परिस्थिति उत्पन्न होगयीहै कि वहा बचतके परिमाणको पूर्णरूपसे पूजीके रूपमें लगानेकी सम्भावना नही रहगयी है। हमारा अभिप्राय केवल इतनाही बतलानाहै कि कुछ पाश्चात्य देशोमें आर्थिक प्रगति बडे वेगसे हुई है।

आर्थिक चक्र

परन्तु इस प्रकारकी आर्थिक प्रगति अविरत तथा अविरोध रूपसे नही हुई है। समय

३०

आर्थिक उत्कर्ष और अपकर्ष

आर्थिक प्रगति

पहिले अध्यायमें हमने बतायाथा कि हमारे सभी प्रकारके आर्थिक कार्योका चरम लक्ष्य समाजके आर्थिक क्षेममें वृद्धि करना है। प्रत्येक मनुष्य, कुटुम्ब अथवा समाज इस बातके लिए प्रयत्नशील रहताहै कि वह अपने साधनोकी वृद्धिकरे और उन साधनोका इस प्रकारसे उपयोग करे कि उसको न्यूनतम लागत-व्ययसे अधिकतम वस्तुए प्राप्तहो सकें। आर्थिक क्षेममें वृद्धि प्राप्त करनेके लिए यह आवश्यक है कि आर्थिक साधनोकी पूर्ण-नियुक्ति बनी रहे और इस पूर्ण-नियुक्तिके फलस्वरूप जिन वस्तुओ और सेवाओकी उत्पत्ति होतीहै, उनका समुचित वितरण हो।

आर्थिक दृष्टिकोणसे हम उस देशको प्रगतिशील कहतेहै जिसमें जन-सख्याके साथ साथ उत्पत्तिके परिमाणमें वृद्धि होतीहो; उत्पत्तिकी क्रिया इसप्रकार की हो कि किसी दियेगये परिमाणकी वस्तुओको बनानेमें उत्पादन-व्ययकी मात्रा कम होती रहे अथवा दियेगये साधनोसे उत्पत्तिके परिमाणमें वृद्धि होती रहे; वस्तुओ और सेवाओका स्वरूप उत्कृष्ट होता रहे; जीवन-स्तरमें वृद्धि होतीरहे और लोगोको भौतिक सुख और क्षेम प्राप्त करनेके लिए स्वास्थ्य और अवकाश मिलता रहे। गत १५० वर्षोके आर्थिक इतिहाससे पता चलताहै कि इस कालावधिमें अनेक पाश्चात्य देशोमें आर्थिक प्रगति बहुत वेगपूर्वक हुई है। इस प्रगतिका सूत्रपात अठारहवी शताब्दीके दूसरे भागमें इगलैडकी औद्योगिक क्रान्तिसे हुआ। प्रगतिका मुख्य कारण शिल्प कला विज्ञानकी उन्नति है। इस कालमें बहुतसे नये नये आविष्कार हुए। मशीन, वाष्प-शक्ति और विद्युत्-शक्तिके प्रयोगसे उत्पादन-क्रियामें बहुत वृद्धि हुई। श्रम-विभाग और विशिष्टीकरणको प्रोत्साहन मिला। सडकें, नहरें, मोटर, रेल, जहाज़ इत्यादि यातायातके साधनोमें भी वृद्धि हुई। साख और चेकके

समयपर इसमें व्याघात हुए है। ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ आजतक आर्थिक विकासमें वृद्धि होतीजाती है। पूजीके लगावमें वृद्धि होतीहै, आयमें, उत्पत्ति और नियोगकी मात्रामें भी वृद्धि होती रहती है। परन्तु सहसा इस क्रममें कुछ विघ्न उपस्थित होजाते है। आर्थिक अवयवोमें कुछ ऐसी विकृतिया उत्पन्न होजाती है कि उत्पादक वर्गोको पूंजीके लगावकी मात्रा कम करनी पड जातीहै जिसके फलस्वरूप उत्पत्तिके साधनोमें वेकारी फैलने लगतीहै; आय और उत्पत्तिके परिमाणमें कमी आने लगतीहै और आर्थिक कार्य-स्तरमें शिथिलता आजाती है। कुछ कालके वाद शनै शनै: पुन: परिस्थिति वदलती है। पूजीके लगावके कार्यको फिरसे प्रोत्साहन मिलताहै और उत्पत्तिके साधनोकी माग और उनकी आयमें वृद्धि होने लगती है। इसप्रकार से आर्थिक उत्कर्ष होने लगता ह। परन्तु दुर्भाग्यवश इस उत्कर्षके अन्तर्गत कुछ इसप्रकार की विषमताए उत्पन्न होजाती है कि उत्कर्षका अन्त होजाता है और फिर अपकर्षका समावेश होजाता है। इसप्रकार हम देखतेहै कि आर्थिक प्रगतिमें उत्कर्षके वाद अपकर्ष और अपकर्षके बाद उत्कर्ष और पुन: अपकर्ष लहरोके सदृश आते जाते रहते है। इस लहरके समान ऊपर नीचे उठने और गिरनेकी आर्थिक गति को हम आर्थिक चक्र कहेंगे। गत २०० वर्षोकी आर्थिक प्रगतिमें इसप्रकार के आर्थिक चक्र विशेषकर अधिक औद्योगिक देशोमें स्पष्ट रूपसे अनुभव हुए है। हमारे कहने का प्रयोजन यह नहीहै कि २०० वर्ष पूर्वकी आर्थिक पद्धतिमें किसी प्रकारके सकट नही आये अथवा कम औद्योगिक देशोमें आर्थिक-सकट कम मात्रामें आते है। प्राचीन कालके आर्थिक सकट आधुनिक आर्थिक सकटोसे भिन्न प्रकारके थे और उनके कारण सुबोध होतेथे। भूकम्प, वाढ, दुर्भिक्ष, युद्ध इत्यादि कारणोसे ही प्राचीन कालके आर्थिक सकट सम्बन्धित है। ये कारण स्पष्ट प्रतीत होजाते है। हमारे शास्त्रोने छै प्रकारके सकटोका वर्णन किया है।

अति वृष्टिर्नावृष्ट: मूषका: शलभा: शुका:।
प्रत्यासन्नाश्च राजान: षडेतारीतय: स्मृता:।।

अर्थात् वहुत वर्षा जिसके कारण वाढ आजाती है; वर्षाका विलकुल न होना अर्थात् सूखा पड़ना जिससे दुर्भिक्ष होजाता है; टिड्डीदल, तोते जो कि फसल पेड पौधोको हानि पहुचातेहै और राजाओका निकट होना जिससे युद्धकी आशका रहतीहै ये छै सकट बताये गये है।

परन्तु आधुनिक कालके आर्थिक उत्कर्ष और अपकर्षके कारण बाहरसे नही परन्तु आर्थिक प्रगतिके अन्तर्गतही उत्पन्न होते रहते है। आर्थिक अवयवोके सम्बन्धोमें स्वयमेव कुछ इसप्रकार की विषमता का प्रादुर्भाव होजाता है जिससे कि आर्थिक अस्थिरता कभी उत्कर्ष और कभी अपकर्ष बनी रहती है। ऐसा प्रतीत होताहै कि पूंजीवादी आर्थिक पद्धति, जिसका चलन लाभकी आशापर केन्द्रित रहता है, के अन्तर्गत ऐसी परिस्थितिया उत्पन्न होजातीहै कि आर्थिक सकट अनिवार्यसा होजाता है। १९२९-१९३३ का विश्वव्यापी सकट इतना उग्र हुआकि अर्थशास्त्रियोका ध्यान विशेष रूपसे इसके विश्लेषणकी ओर आकृष्ट हुआ। गत १५-२० वर्षोमें इस विषयपर बहुत खोजपूर्ण कार्य हुआ है।

वैसेतो आर्थिक प्रगतिमें छोटी बडी अनेक प्रकारकी लहरें पायीगयी है परन्तु जिन लहरोको अधिक महत्व प्राप्तहै उनकी अवधि ७ वर्षसे ११ वर्षतक है अर्थात् इस अवधिके भीतर एक आर्थिक चक्र पूरा होजाता है। आर्थिक चक्रका एक प्रतिरूप नीचे दिया जाता है :
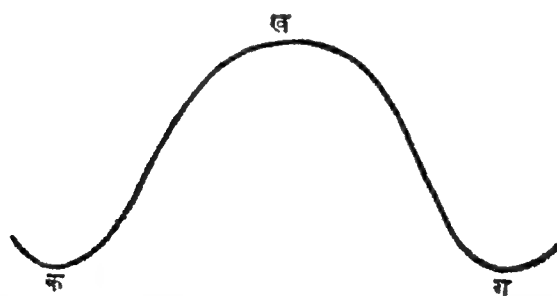
क स्थानसे ग स्थान तक पहुचनेपर एक आर्थिक चक्र पूरा होता है।

आर्थिक चक्रको चार भागोमें विभक्त कियाजाता है :

(१) उत्थान
(२) उत्कर्ष
(३) अपकर्ष
(४) गर्त

आर्थिक चक्र गर्तसे निकलकर उत्थानके पथपर आरूढ होता है। उत्थानमें प्रगति उत्पन्न होनेलगती है और आर्थिक क्रियाओमें उत्कर्ष व्याप्त होजाता है।

समयपर इसमें व्याघात हुए है। ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ कालतक आर्थिक विकासमें वृद्धि होतीजाती है। पूजीके लगावमें वृद्धि होतीहै, आयमें, उत्पत्ति और नियोगकी मात्रामें भी वृद्धि होती रहती है। परन्तु सहसा इस क्रममें कुछ विघ्न उपस्थित होजाते है। आर्थिक अवयवोमें कुछ ऐसी विकृतिया उत्पन्न होजाती है कि उत्पादक वर्गोको पूजीके लगावकी मात्रा कम करनी पड जातीहै जिसके फलस्वरूप उत्पत्तिके साधनोमें बेकारी फैलने लगतीहै; आय और उत्पत्तिके परिमाणमें कमी आने लगतीहै और आर्थिक कार्य-स्तरमें शिथिलता आजाती है। कुछ कालके बाद शनै. शनैः पुनः परिस्थिति बदलती है। पूजीके लगावके कार्यको फिरसे प्रोत्साहन मिलताहै और उत्पत्तिके साधनोकी मांग और उनकी आयमें वृद्धि होने लगती है। इसप्रकार से आर्थिक उत्कर्ष होने लगता ह। परन्तु दुर्भाग्यवश इस उत्कर्षके अन्तर्गत कुछ इसप्रकार की विषमताए उत्पन्न होजाती है कि उत्कर्षका अन्त होजाता है और फिर अपकर्षका समावेश होजाता है। इसप्रकार हम देखतेहै कि आर्थिक प्रगतिमें उत्कर्षके बाद अपकर्ष और अपकर्षके बाद उत्कर्ष और पुनः अपकर्ष लहरोके सदृश आते जाते रहते है। इस लहरके समान ऊपर नीचे उठने और गिरनेकी आर्थिक गति को हम आर्थिक चक्र कहेंगे। गत २०० वर्षोकी आर्थिक प्रगतिमें इसप्रकार के आर्थिक चक्र विशेषकर अधिक औद्योगिक देशोमें स्पष्ट रूपसे अनुभव हुए है। हमारे कहने का प्रयोजन यह नहीहै कि २०० वर्ष पूर्वकी आर्थिक पद्धतिमें किसी प्रकारके सकट नही आये अथवा कम औद्योगिक देशोमें आर्थिक-संकट कम मात्रामें आते है। प्राचीन कालके आर्थिक सकट आधुनिक आर्थिक सकटोसे भिन्न प्रकारके थे और उनके कारण सुबोध होतेथे। भूकम्प, बाढ, दुर्भिक्ष, युद्ध इत्यादि कारणोसे ही प्राचीन कालके आर्थिक सकट सम्बन्धित है। ये कारण स्पष्ट प्रतीत होजाते है। हमारे शास्त्रोने छै प्रकारके संकटोका वर्णन किया है।

अति वृष्टिर्नावृष्टः मूषकाः शलभाः शुकाः।
प्रत्यासन्नाश्च राजानः षडेतारीतय. स्मृताः।।

अर्थात् बहुत वर्षा जिसके कारण बाढ आजाती है; वर्षाका बिलकुल न होना अर्थात् सूखा पडना जिससे दुर्भिक्ष होजाता है; टिड्डीदल, तोते जो कि फसल पेड पौधोको हानि पहुचातेहै और राजाओका निकट होना जिससे युद्धकी आशका रहतीहै ये छै सकट बताये गये है।

परन्तु आधुनिक कालके आर्थिक उत्कर्ष और अपकर्षके कारण बाहरसे नही परन्तु आर्थिक प्रगतिके अन्तर्गतही उत्पन्न होते रहते है। आर्थिक अवयवोके सम्बन्धोमें स्वयमेव कुछ इसप्रकार की विषमता का प्रादुर्भाव होजाता है जिससे कि आर्थिक अस्थिरता कभी उत्कर्ष और कभी अपकर्ष बनी रहती है। ऐसा प्रतीत होताहै कि पूजीवादी आर्थिक पद्धति, जिसका चलन लाभकी आशापर केन्द्रित रहता है, के अन्तर्गत ऐसी परिस्थितिया उत्पन्न होजातीहै कि आर्थिक सकट अनिवार्यसा होजाता है। १९२९-१९३३ का विश्वव्यापी सकट इतना उग्र हुआकि अर्थशास्त्रियोका ध्यान विशेष रूपसे इसके विश्लेपणकी ओर आकृष्ट हुआ। गत १५-२० वर्षोंमें इस विषयपर बहुत खोजपूर्ण कार्य हुआ है।

वैसेतो आर्थिक प्रगतिमें छोटी बडी अनेक प्रकारकी लहरें पायीगयी है परन्तु जिन लहरोको अधिक महत्व प्राप्तहै उनकी अवधि ७ वर्षसे ११ वर्षतक है अर्थात् इस अवधिके भीतर एक आर्थिक चक्र पूरा होजाता है। आर्थिक चक्रका एक प्रति-रूप नीचे दिया जाता है :

क स्थानसे ग स्थान तक पहुचनेपर एक आर्थिक चक्र पूरा होता है।

आर्थिक चक्रको चार भागोमें विभक्त कियाजाता है :

(१) उत्थान
(२) उत्कर्ष
(३) अपकर्ष
(४) गर्त्त

आर्थिक चक्र गर्त्तसे निकलकर उत्थानके पथपर आरूढ होता है। उत्थानमें प्रगति उन्नत होनेलगती है और आर्थिक क्रियाओमें उत्कर्ष व्याप्त होजाता है।

कुछ समयके बाद उत्कर्षका अन्त होजाता है और अपकर्ष आरम्भ होजाता है जोकि बढते बढते आर्थिक व्यवस्थाको गर्तमें पटक देता है। फिर धीरे धीरे आर्थिक चक्र गर्तसे निकलकर उत्थानकी ओर अग्रसर होताहै और फिर पूर्ववत वही क्रम चलता रहता है। अतएव इस विषयके विवेचनमें इसी समस्याका समाधान करना पडता है कि क्या कारणहै कि आर्थिक क्रियाए क्रमश: इन चारो परिस्थितियो में चक्कर लगाती हुई अग्रसर होती है।

आर्थिक अवस्थामें इसप्रकार का परिवर्तन अनेक अवयवोमें दृष्टिगोचर होता है। इस विषयसे सम्बन्धित, उत्पत्ति, आय और नियोग, मुख्य तीन अवयव है जिनके आकडोसे भी चक्रवत् परिवर्तन का बोध होता है उत्कर्ष कालमें आर्थिक साधनोको अधिक काम मिलताहै अतएव नियोगके परिमाणमें वृद्धि होती है। उत्पत्तिके परिमाण में भी वृद्धि होतीहै और आयभी बढती है। ये तीनो अवयव एक दूसरेसे सलग्न है। कुछ अर्थशास्त्रियोके मतानुसार नियोगके आकडोसे आर्थिक अवस्थाका निरूपण ठीक प्रकारसे होसकता है। अपकर्षकी अवस्थामें आर्थिक साधनोमें बेकारी प्रारम्भ होनेलगती है और गर्तकी अवस्थामें बेकारी चरम सीमापर पहुचजाती है।

बेकारी

इस प्रकरणमे हम बेकारीके विषयमें पाठकोका ध्यान विशेष रूपसे आकर्षित करना चाहते है विशेषकर श्रमजीवियोकी उस बेकारीकी ओर जिसका परिमाण १९२९-१९३३ के आर्थिक सकटके कालमें सयुक्त राज्य, इगलैड इत्यादि औद्योगिक देशोमें बहुत बढगया था। वैसेतो बेकारी अनेक कारणोसे उत्पन्न होजाती है। यहापर हम यहभी लिखदेना चाहतेहै कि बच्चे, बूढे, अपाहिज और जो उद्यम करनाही न चाहते हो इसप्रकार के लोगोके सम्बन्धमें बेकारीका प्रश्न उत्पन्न ही नही होता है। वे लोग बेकार समझे जातेहै जो उद्यम करनेको उद्यतहै परन्तु उनको कामही न मिलरहा हो।

कुछ इस प्रकारके उद्योग धन्धे होतेहै जिनको 'मौसमी' कहा जासकता है। उदाहरणके लिए भारतवर्षमें चीनीके कारखानोमें काम करनेवाले श्रमजीवियोको साधारणत: नवम्बरसे मईके महीनेतक काम रहता है। उसके बाद वे बेकार हो

जाते हैं। परन्तु इस प्रकारकी बेकारीका पूर्व ज्ञान रहता है अतएव इसका प्रबन्ध किया जासकता है। फैशन और रुचिमें परिवर्तन होनेसे भी कुछ व्यवसायोंमें अवनति होजाती है और बेकारी आजाती है। परन्तु आशाकी जातीहै कि नये उद्योग-धन्धोंमें काम बढ जानेसे कुल बेकारीमें वृद्धि नही होगी। इसीप्रकार श्रम-निवारक मशीनोके प्रयोगसे और उद्योग धन्धोके वैज्ञानीकरणसे भी बेकारी होजाती है। इस सम्बन्धमें भी यह आशा कीजातीहै कि यह बेकारी दीर्घकालिक नहीं होगी। पहिले जिन उद्योग धन्धोंमें मशीनोका प्रयोग हुआहो अथवा वैज्ञानीकरण हुआ हो उनमें उत्पादक-व्ययमें कमी होनेके कारण मूल्यमें भी कमी आनेकी प्रवृत्ति होगी और इसके फलस्वरूप मागमें वृद्धि होनेसे उत्पत्तिकी मात्रामें वृद्धि होगी जिससे अधिक श्रमजीवियोकी भी नियुक्ति होगी। यदि इन वस्तुओकी मागमें पर्याप्त वृद्धि न भी हो तबभी मूल्यमें कमीके कारण उपभोक्ताओको जो बचत होगी उसको वे वस्तुओंमें व्यय करेंगे जिससे उन उद्योग धन्धोंमें वृद्धि होगी और श्रमजीवियो कोभी काम मिलेगा। इसप्रकार बेकारी की मात्रामें कमी होजायगी। इन कारणो के अतिरिक्त श्रमजीवियोके हडताल करने और मिल-मालिकोके द्वारतालसे भी अल्पकालिक बेकारी उत्पन्न होजाती है।

पूर्वोक्त कारणोसे जो बेकारी उत्पन्न होजाती है उसकी तुलनामें आर्थिक अपकर्ष और गर्तसे जनित बेकारी कही अधिक भीषण समझी जातीहै इसका कारण यहहै कि इसप्रकार की बेकारीका परिमाण बहुत अधिक रहता है। सयुक्त राज्यमें १९२९-१९३२ के अपकर्ष कालमें लगभग २५ प्रतिशत श्रमजीवी बेकार होगये थे। यह बेकारी पूजीवादसे संलग्न आर्थिक-चक्रका परिणामस्वरूप है। अतएव इसको दूर करनेकी समस्याभी बहुत कठिन है। जिन उपायोसे आर्थिक अपकर्षकी गरिमा को घटाया जासकेगा और आर्थिक क्रियाओके स्तरको सन्तुलित रूपसे उठाया जायगा उन्ही उपायोसे इसप्रकार की बेकारी भी कमकी जासकेगी।

हमने बताया कि आर्थिक उत्कर्ष और अपकर्षके सम्बन्धमें उत्पत्ति, आय और नियोगके आकडोका प्रयोग कियाजाता है। इन प्रधान आर्थिक अवयवोंके अतिरिक्त औरभी अवयवहै जो उत्कर्ष और अपकर्षके साथ प्रभावित होते रहतेहै और इनके आकडेभी इस विषयपर प्रकाश डालते है। इनमें मुख्य द्रव्यका विशेषकर साख-द्रव्यका परिमाण, मूल्य-स्तर, व्याजकी दर और लाभकी दर है।

आर्थिक चक्र के सिद्धान्त

आर्थिक चक्र एक गहन और गूढ़ विषय है। इसके अन्तर्गत सभी आर्थिक अवयवों के परिमाण और सम्बन्धोंमें परिवर्तन होता रहता है। अतएव इसका कोई एकही कारण नही होसकता है। जिन अर्थशास्त्रियोने इस विषयकी गवेषणाकी है वह सभी इस विचारसे सहमतहै कि आर्थिक उत्कर्ष और अपकर्षको किसी एक वस्तु-स्थिति द्वारा समझाया नहीं जासकता है। इसका सृजन अनेक कारणोसे सम्बन्धित है जिनमेंसे कुछ आर्थिक है, कुछ क्रियाशील है और कुछ निष्क्रिय, कुछ नियन्त्रण-साध्य है और कुछ नियन्त्रणमें नही लाये जासकते है। अतएव यह कोई आश्चर्य की बात नहीहै कि आर्थिक चक्रको समझानेके लिए अनेक सिद्धान्त प्रतिपादित कियेगये है। इन सिद्धान्तोके अनुयायी अपने अपने दृष्टिकोणको अधिक महत्व देते है। अपने प्रतिपादित कारणको प्रधान और अन्य कारणोको गौण समझते है। इस पुस्तकमें हम इन भिन्न भिन्न सिद्धान्तोकी विस्तृत विवेचना करनेमें असमर्थ है। केवल मुख्य मुख्य सिद्धान्तोकी मूल बातोको पाठकोके सामने रखनेका प्रयत्न कियागया है।

कृषि-सिद्धान्त

आर्थिक उत्कर्ष और अपकर्षको समझानेके लिए एक पुराना मत खेतोकी उत्पत्तिके परिमाणसे सम्बन्धित है। कहाजाता है कि सब उद्योग धन्धोका आधार खेतोसे उत्पन्न हुआ शस्य और कच्चा माल है। अतएव जब खेतोसे होनेवाली उत्पत्तिमें वृद्धि होतीहै तो इससे आर्थिक उत्कर्ष होताहै और जब खेतोकी उत्पत्तिमें कमी आजातीहै तो आर्थिक अपकर्ष प्रारम्भ होजाता है। खेतोकी उत्पत्तिके परिमाणमें परिवर्तन होनेका मुख्य कारण वृष्टिके परिमाणमें परिवर्तन होना है। इगलैंडके प्रोफेसर जेवन्स का कहनाहै कि सूर्यके तापमें परिवर्तन होताहै और यह चक्र १०-११ वर्षमें पूरा होता है अर्थात् १०-११ वर्षकी अवधिके अन्तर्गत सूर्यके तापकी तीव्रता और मन्दीके काल क्रमसे आते रहते है। आर्थिक-चक्रकी औसत अवधिभी इसी परिमाणकी समझी जातीहै। सूर्यके तापका प्रभाव वृष्टिके परिमाणपर पड़ता है।

जब सूर्यके तापमें प्रखरता रहती है तो प्रचुर मात्रामें वृष्टि होती है और शस्योकी वृद्धि होती है। सूर्यके तापमें मन्दी आनेपर वृष्टि कम होतीहै और खेतोकी पैदावार भी घट जाती है। अमेरिकाके प्रोफेसर मूर नेभी मौसमके प्रभावसे खेती और खेतीके प्रभावसे आर्थिक चक्रको समझानेका प्रयत्न किया है।

खेतीका आर्थिक परिस्थितिमें विशिष्ट स्थान है, यह मानना पडता है। परन्तु जब हम आधुनिक आर्थिक विकासको ध्यानमें रखते हुए सयुक्त राज्य, इगलैंड इत्यादि औद्योगिक देशोके उत्कर्ष और अपकर्षके कालकी आर्थिक परिस्थितिकी छानवीन करतेहै तो हमको खेतीकी उपजमें परिवर्तनका कोई प्रत्यक्ष सम्वन्ध नही दिखायी देता है। एक वात तो यहहै कि जिस प्रकारका स्पष्ट आर्थिक चक्र अन्य उद्योग धन्धोमें पायाजाता है, उसप्रकार का खेतीकी उपजमें नही पायाजाता है। इसके अतिरिक्त औद्योगिक देशोमें जहा आर्थिक चक्रमें अधिक तीव्रता देखीगयी है वहा कृषिका महत्व घटता जारहा है। उदाहरणके लिए सयुक्त राज्यमें कृषिकी उपज कुल उपजका केवल दसवा भाग है। इसके साथ साथ सिचाईके साधनोकी वृद्धिके कारण, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारकी वृद्धिके कारण और शस्योको सुरक्षित रखने के प्रवन्धमें उन्नतिके कारणभी आधुनिक कालमें कृषिकी उपजमें अधिक परिवर्तन नही होने पाता है।

वास्तवमें ऐसा प्रतीत होताहै कि जव अन्य उद्योग धन्धोमें समृद्धि रहतीहै तो कृपिकी उपजकी मागकी वृद्धिसे इस व्यवसायमें भी समृद्धि आनेकी प्रवृत्ति होतीहै और जव अन्य उद्योग धन्धोमें शिथिलता आजाती है तो कृपिकी उपजकी मागके घट जानेसे इस व्यवसायमें भी मन्दी आनेकी आशका रहती है। यदि कृपिकी उपज में वृद्धि ऐसे कालमें हुईहो जवकि अन्य उद्योग धन्धोमें अवसाद छाया हुआ हो तो इस वृद्धिसे कृपिकी उपजका मूल्य-स्तर औरभी नीचे गिरने लगता है। अतएव हम इस परिणामपर पहुचतेहै कि कृषिकी उपजके परिमाणमें परिवर्तनका प्रभाव अन्य आर्थिक क्षेत्रोकी परिस्थितिपर निर्भर करता है।

मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त

कुछ अर्थशास्त्री आर्थिक उत्कर्ष और अपकर्षके सम्वन्धमें मनोवैज्ञानिक कारणोंको

अधिक महत्व देते है। इनका अभिप्राय यह नही है कि मनोवैज्ञानिक कारण स्वतन्त्र कारणहै परन्तु उनका कहनाहै कि इन कारणोको इतना महत्व नही दियाजाता है जितना दियाजाना चाहिए।

आर्थिक क्षेत्रमें मनोवैज्ञानिक परिस्थितियोका समावेश आशा, निराशा, आकाक्षा इसप्रकार की प्रतिक्रियाओके रूपमें होता है। आधुनिक कालमें पूंजीका मशीन इत्यादि चिरस्थायी उपकरणोमें लगाव और उनसे प्राप्त होनेवाली आयके बीच समयका अधिक मात्रामें अतराय होता है। इसकारण आर्थिक कार्योमें अनिश्चितता और सशयका समावेश होगया है। इसका परिणाम यह होताहै कि इन कार्योमें दृष्टिगोचर कारणोकी क्रिया और प्रतिक्रियामें स्थिरता नही रहती है जितनी अन्य प्रकारके आर्थिक कार्यो में। कभी कभी उत्पादकवर्ग आवश्यकतासे अधिक आशा-वादीहो उठताहै और कभी बहुत निराशावादी। उत्कर्षका सम्बन्ध आशा और अपकर्षका निराशासे कियाजाता है। इस प्रकरणमें प्रोफेसर पीगू का कहनाहै कि उत्कर्षके कालमें आशाजनित भूलें और अपकर्ष कालमें निराशाजनित भूलें हुआ करती है। इन भूलोके कारण आर्थिक परिस्थितियोके औचित्यके हिसाबसे कभी तो पूजीका लगाव बहुत अधिक मात्रामें और कभी बहुतही सकुचित मात्रामें किया जाताहै जिसके फलस्वरूप आर्थिक परिस्थिति असन्तुलित होजाती है।

इस सक्षिप्त रूपमें बतायेगये मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तको आर्थिक चक्र समझने और समझानेमें हमको उपयुक्त स्थान देना पडताहै और किसीभी अर्थशास्त्रीने इस सिद्धान्तको नगण्य नही समझा है। जोजो विषय मनुष्यसे सम्बन्धितहै उनमें मानसिक क्रियाओ-प्रतिक्रियाओ और मनोवृत्तियोका समावेश अवश्यही रहेगा। परन्तु ये मनोवृत्तिया समस्याके मूलतक नही पहुचती है। यदि उत्पादकोमें नैराश्य छाया हुआहै तो उसका कोई न कोई कारण अवश्यही होना चाहिए। इसीप्रकार आशा का सचार होनेके लिए भी मनसे बाहर कोई कारण होना चाहिए। इन मूल कारणो को छोडकर स्वतन्त्र रूपसे मानसिक प्रतिक्रियाओको इनका स्थान नही दिया जा सकता है। हा इस बातको मान लेना पडताहै कि प्रतिक्रियाकी उग्रता औचित्यकी सीमाको लाघ गयीहो जिसके कारण आर्थिक उत्कर्ष और अपकर्षमें अधिक तीव्रता उत्पन्न होगयी हो।

द्रव्य सम्बन्धी सिद्धान्त

कुछ अर्थशास्त्री जिनमें हौट्रे का नाम विशेष रूपसे उल्लेखनीय है, द्रव्यके प्रसार और संकुचनसे आर्थिक उत्कर्ष और अपकर्षका सम्बन्ध स्थापित करते हैं। आधुनिक कालमें साख-द्रव्यकी प्रधानताके कारण और इसके परिमाणकी अस्थिरताके कारण आर्थिक अस्थिरता उत्पन्न होजाती है। साख-द्रव्यके प्रसारसे आर्थिक उत्कर्षका सूत्रपात होता है। यदि बैंक व्याजकी दर कम करदें अथवा ऋण देनेकी शर्तोमें अधिक उदारता दिखाये तो साख-द्रव्यकी माग बढजायेगी क्योंकि अपकर्षके गर्त की अवस्थामें बैंक ऋण देनेको उत्सुक रहते हैं। हौट्रेके मतमे व्यापारी वर्गको व्याजकी दरमें थोडीभी कमी होनेसे वस्तुओंके सचयमें वृद्धि करनेकी प्रवृत्ति होती है। जब वह नये साख-द्रव्य द्वारा वस्तुओंको मोल लेताहै तो यह द्रव्य उपभोक्ताओ की आयके रूपमें प्रकटहोता है। उपभोक्ताओंको आयमें वृद्धि होनेके कारण उनके व्ययमें भी वृद्धि होने लगतीहै जिसके फलस्वरूप वस्तुओंकी मागमें वृद्धि होनेलगती है और मूल्य-स्तरमें भी वृद्धि होनेकी प्रवृत्ति होती है। मूल्य-स्तरमें वृद्धि होनेसे उत्पादकोंको अधिक लाभ प्राप्त होताहै क्योंकि उत्पादन-व्ययमें धीरे धीरे वृद्धि होती है। इस लाभकी वृद्धिके कारण पूजीके लगावमें भी वृद्धि होने लगतीहै और उत्पादक वस्तुओंकी मागमें भी वृद्धि होती है। उत्पादक वर्ग बैंकोंसे अधिक परिमाणमें ऋण लेतेहै जिससे पुन: उपभोक्ताओंके आय और व्ययमें वृद्धि होतीहै और पूजीके लगावको नया प्रोत्साहन मिलता है। इसप्रकार आर्थिक उत्थानको अपनेही अन्तर्गत कारणोंसे प्रगति प्राप्त होनेलगती है और उत्कर्षकी अवस्था प्राप्त होजाती है। जबतक बैंक द्रव्यकी बढतीहुई मांगको पूरा करते रहतेहै तबतक उत्कर्षकी अवस्था बनी रहती है।

इस सिद्धान्तके अनुसार ज्योंही बैंक साख-द्रव्यके प्रसारमें कमी करने लगतेहै वैसेही अपकर्षका सूत्रपात होजाता है। अब प्रश्न यहहै कि जैसे जैसे साख-द्रव्यमें वृद्धि होती रहतीहै, बैंककी नकदी का अनुपात कम होता रहताहै और यदि उनके नकदीके कोषमें पर्याप्त मात्रामें वृद्धि न होसके तो एक समय आजावेगा जबकि उन को अपना हाथ रोकना पडेगा। इसके अतिरिक्त साख-द्रव्यकी वृद्धि और आर्थिक कार्य-स्तरकी प्रगतिके कारण समाजमें नकदीकी आवश्यकता भी बढनेलगती है।

साथही साथ केन्द्रीय बैंकभी द्रव्य-स्फीतिकी आशकासे अपनी द्रव्य-नीति द्वारा साख-द्रव्यका नियन्त्रण करनेकी चेष्टा करते है। स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिके अन्तर्गत केन्द्रीय बैंकोको इस प्रकारकी नीतिको कार्य रूपमें लाना आवश्यक होजाता था। साख-द्रव्यके प्रसारमें रोकथाम करनेके लिए बैंक व्याजकी दरमें वृद्धि करदेते है और पुराने ऋणोके वापस होनेपर नया ऋण उससे कम परिमाणमें देते है। इसप्रकार साख-द्रव्यका सकुचन प्रारम्भ होजाता है।

इस सकुचनसे आर्थिक अपकर्षभी प्रारम्भ होजाता है। व्यापारी वढीहुई व्याज की दरपर अपने वस्तुओके सचयको कम करनेलगते है और सचित वस्तुओको शीघ्रता से बेचनेकी चेष्टा करते है। इससे उपभोक्ताओकी आय और व्ययमें कमी आजाती है और विविध प्रकारकी वस्तुओकी मागभी घटजाती है। मागके घटजाने पर मूल्य-स्तर गिरने लगताहै और लाभकी मात्रामें कमी आजाती है और सीमान्त उत्पादको को तो हानि उठानी पडती है। इसके फलस्वरूप पूजीके लगावमें कमी होजाती है और आर्थिक साधनोमें बेकारी आनेसे उपभोक्ताओके आय और व्ययमें पुन: कमी होजाती है। इसप्रकार अपकर्ष आरम्भ होनेपर स्वयमेव वह गर्तकी ओर जाने लगता है। गर्तपर पहुचनेपर धीरे धीरे बैंक प्रकृतिस्थ होनेलगते है। पुराने ऋणो के वापस होनेसे और नये ऋणोकी माग न होनेके कारण बैंकोमें नकदीका परिमाण बढ़ने लगताहै और वे ऋण देनेको उत्सुक होनेलगते है। अतएव वे व्याजकी दर कम करतेहै और ऋण देनेमें अधिक उदारता दिखाने लगते है। जब व्यापारी इस परिस्थितिका लाभ उठाने लगतेहै तो पुन: आर्थिक क्रियाओके स्तरमें पूर्ववत् उत्थान और प्रगतिका सचार होनेलगता है। हौट्रेके मतानुसार यदि केन्द्रीय बैंक और अन्य व्यापारी बैंक अल्पार्थ द्रव्य-नीतिका प्रयोग करतेरहें तो कोई कारण नही है कि उत्पादक वर्ग विशेषत: व्यापारी वर्ग इसका लाभ न उठाए।

यहबात सभीको मान्यहै कि वर्तमान आर्थिक प्रणालीमें द्रव्यको प्रमुख स्थान प्राप्तहै और द्रव्यकी अस्थिरताके कारण आर्थिक अस्थिरता उत्पन्न होसकती है। परन्तु आर्थिक-चक्रकी वास्तविकताका ध्यानपूर्वक अध्ययन करनेसे पताचलता है कि सभी आर्थिक अस्थिरताए द्रव्यजनित नही होती। द्रव्यका सुप्रबन्ध होनेपर ही इन अस्थिरताओका अन्त नही होसकेगा। यह ठीकहै कि आर्थिक उत्कर्षकी वृद्धिके लिए द्रव्यका प्रसार आवश्यक है। परन्तु यदि उत्पादक वर्गको अपनी पूजीके लगाव

से लाभकी आशा न हो तो वे केवल व्याजकी दरमें कमीके कारणसे ही बैंकोसे अधिक मात्रामें साख-द्रव्यकी याचना नही करेंगे। अनुभवसे ज्ञात होता है कि आर्थिक गर्त की अवस्थामें जबकि बैंक पर्याप्त मात्रामें ऋण देनेके योग्य रहते हैं और केन्द्रीय बैंक भी अपनी व्याजकी दर कम करके अथवा खुले हाटकी क्रियाओंसे आर्थिक क्षेत्र में द्रव्यके चलनमें वृद्धि करनेकी चेष्टा करता है, उत्पादकवर्ग तबतक इस परिस्थितिसे लाभ उठानेकी चेष्टा नही करते हैं, जबतक कि उनको पूजीके लगावसे लाभ होनेकी आशा न हो। यह आशा केवल व्याजकी दरपर ही निर्भर नही रहती है। नये आविष्कार, नये बाजार, उत्पादन-व्ययमें कमी—इस प्रकारके वातावरणमें ही उत्पादकोमें आशा और विश्वासका सचार होता है। यदि इस प्रकारका वातावरण न हो तो केवल साख-द्रव्यको अधिक मात्रामे कम बाजारकी दरपर उपलब्ध करनेसे ही उत्थानका कार्य आरम्भ नहीं होगा। हॉट्रेके मतमें अल्पकालीन व्याजकी दरमें परिवर्तन करना पर्याप्त होता है परन्तु अन्य अर्थशास्त्रियोके मतानुसार पूजीके लगाव का सम्बन्ध विशेष रूपसे दीर्घकालीन व्याजकी दरसे होता है।

हायेक का सिद्धान्त

प्रोफेसर हायेकने द्रव्य-सम्बन्धी परिस्थितियो द्वारा वास्तविक आर्थिक परिस्थितियो का सम्बन्ध दर्शाते हुए यह बतलानेकी चेष्टाकी है कि वर्तमान साख-द्रव्य-पद्धतिकी विकृतियोके कारण पूजीका लगाव उत्कर्षकालमें असन्तुलित रूपसे बढ़ता जाता है और एक ऐसी अवस्था आजाती है कि आर्थिक प्रगतिमें सकट आजाना अनिवार्य होजाता है। हायेकका कहना है कि साख-द्रव्यके प्रसारके आधारपर पूजीके लगाव और उत्पादक वस्तुओके उत्पत्तिके परिमाणमें जो वृद्धि होती है वह वृद्धि स्थायी नहीं रहसकती है। स्थायी रूपसे पूंजीके लगावकी वृद्धि स्वेच्छापूर्वक बचतके परिमाणपर निर्भर रहती है। यदि बैंकोंकी व्याजकी दर सन्तुलन व्याजकी दर (अर्थात् वह दर जहांपर ऋणकी मांग बचतके परिमाणके बराबर रहती है) से कम रहती है तो इस प्रकारसे जो पूजीके लगावके कार्यको कृत्रिम उत्साह मिलता है उसके फलस्वरूप आर्थिक साधनोका प्रयोग उपभोगकी वस्तुओंके निर्माणसे हटकर उत्पादक वस्तुओंके निर्माणके कार्यमें होनेलगता है। इससे उपभोगकी वस्तुओंके मूल्य-स्तर

में वृद्धि होनेके कारण उपभोक्ताओंको विवश होकर अपने उपभोगके परिमाणमें कमी करके उत्पादक वस्तुओके निर्माणके हेतु आर्थिक साधनोंको उपलब्ध करनेके लिए बाध्य होनापडता है। इस बलात्कारसे जो पूजी वस्तुओंके निर्माणमें लगायी जातीहै उसके फलस्वरूप आर्थिक साधनोंका भिन्न भिन्न अवयवोंमें वितरण विकृत होजाता है। इस प्रकारकी आर्थिक रचना स्थायी नही रहसकती है, उसपर सकट आना अनिवार्य होजाता है।

साख-द्रव्यके आधारपर पूजीके लगाव और उत्पादक वस्तुओंके निर्माणके फल-स्वरूप जब उपभोक्ताओंके आय-स्तरमें वृद्धि होनेवाली है तो उपभोगकी वस्तुओ की मागमें वृद्धि होनेलगती है क्योकि उपभोक्ता लोग पुन: अपने उपभोगकी वस्तुओ के परिमाणको उसी स्तरपर लाना चाहतेहै जहासे विवश होकर उनको उनसे वचित होनापडा था। यहापर एक विकट परिस्थिति उत्पन्न होजाती है। एक ओरतो उत्पादक वस्तुओंके निर्माणके लिए आर्थिक साधनोंकी माग रहतीहै और दूसरी ओर उपभोक्ताओकी आयमें वृद्धि होजानेके कारण उपभोगके पदार्थोकी मागमें भी वृद्धि होजाती है और उनके निर्माणके लिएभी आर्थिक साधन चाहिए। आर्थिक साधन इतनी प्रशस्त मात्रामे नही प्राप्त होतेहै कि दोनोकी मागें पूर्णरूपसे पूरी होसकें। हायेकके मतानुसार इस परिस्थितिमें उत्पादक वस्तुओके निर्माताओंको उपभोगके पदार्थोको बनानेवाले उद्योग धन्धोके पक्षमें आर्थिक साधनोंको मुक्त करना पडता है। इसके दो प्रधान कारण है। एकतो यहकि उपभोगकी वस्तुओंकी मागमें वृद्धि होनेके कारण इनके उद्योग धन्धोमें लाभकी वृद्धि होनेलगती है जिसके कारण यह आर्थिक साधनोको अधिक मूल्य देनेमे समर्थ रहते है। अतएव उत्पादक वस्तुओंको बनाने वाले उद्योग धन्धोके साथ प्रतिस्पर्धामे अपना हाथ ऊपर करसकते है। दूसरा कारण यहहै कि इस अवसरपर बैकभी साख-द्रव्यको अधिक मात्रामें प्रसारित करनेमे असमर्थ होतेजाते है। अतएव वहभी ब्याजकी दरमे वृद्धि करदेते है। इस प्रकारकी परिस्थिति में उत्पादक वस्तुओंकी मागमें कमी आजाती है और उनपर पूजीके लगावकी मात्राभी सकुचित होने लगतीहै और आर्थिक अपकर्षका सूत्रपात हो जाता है।

हायेकने अपकर्षकी दशाका पर्याप्त विवेचन नही किया है। उसका कहनाहै कि अपकर्ष उत्पादक वस्तुओंके उद्योग धन्धोसे प्रारम्भ होकर सारी आर्थिक क्रियाओ

पर छाजाता है। इसका कारण यह बताया जाताहै कि इन उद्योग धन्धोमें संकट आनेके कारण पूंजीके लगावमें कमी आजाती है और द्रव्य बेकार सञ्चित होनेलगता है। द्रव्यके चलनके परिमाणमें सकुंचन होनेलगता है। मूल्य-स्तर गिरने लगताहै और लाभकी दर व्याजकी दरसे कम होनेलगती है। आय और मागमें इस प्रकार की कमी होनेके कारण उपभोगके पदार्थोको बनानेवाले उद्योग धन्धोंमें भी मन्दी छाजाती है।

आर्थिक अपकर्षके कालमें आर्थिक क्षेत्रको इन नयी परिस्थितियोके योग्य बनाने की चेष्टा कीजाती है। साख-द्रव्य जनित उत्पत्तिके उपकरणोके विस्तारको कम किया जाता है। इसप्रकार कष्ट सहतेहुए आर्थिक परिस्थिति स्थिरताकी ओर (नीचे स्तर पर) अग्रसर होती है। मूल्य-स्तरमें स्थिरता आजाती है और नैराश्यका अन्त हो कर आशाका सञ्चार होनेलगता है और चूंकि बैंकोके पास बेकार सञ्चित नकदीका कोष पडारहता है अतएव वेभी उद्योग धन्धोको कम व्याजकी दरपर उदारतापूर्वक ऋण देनेको प्रस्तुत रहते हैं। इसप्रकार आर्थिक-चक्र पुन: उत्थानके पथपर चढने लगता है।

हायेकका यह सिद्धान्त वास्तविक परिस्थितिकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करताहै और यह दिखानेकी चेष्टा करताहै कि साख-द्रव्यके प्रसारसे किसप्रकार आर्थिक परिस्थिति विकृत होजाती है। परन्तु सभी परिस्थितियोमें द्रव्यके प्रसार से आर्थिक विकृतियोका उत्पन्न होना अवश्यम्भावी नही है। जब उत्पादनके साधनो में बेकारी छायी हो तो ऐसी अवस्थामें द्रव्यके प्रसारसे यदि इनकी नियुक्ति होजाये तो कोई कारण नहीहै कि इस प्रकारका आर्थिक विस्तार अवाछनीय सिद्ध होगा। इसके अतिरिक्त विना अन्य वाह्य प्रेरणाओकी सहायताके केवल व्याजकी दरमें कमी होनेसे आर्थिक उत्थान प्रारम्भ होसकता है, इस प्रकारका विश्वास अनुभवसे प्रमाणित नही होता है।

उपभोग-हानि सिद्धान्त

एक और सिद्धान्त जो विशेष रूपसे आर्थिक सकटोके कारणोपर प्रकाश डालनेकी चेष्टा करताहै, समाजवादियोंकी विचार धाराका द्योतक है। इसको हमने उपभोग-

हानि सिद्धान्तका नाम दिया है। इस सिद्धान्तके मूलमें यह बातहै कि पूजीवादी आर्थिक पद्धतिमें सम्पत्ति और आयके वितरणमें बहुत असमानता है। आयका एक बडाभाग एक छोटे व्यक्तिवर्ग के पास पहुचताहै जिसमें अधिक परिमाणमें बचत करनेकी प्रवृत्ति होती है। उपभोगके पदार्थोंकी अधिकतम माग कम आयवाले व्यक्तियोंकी होती है। आयके वितरणकी असमानताके कारण कम आयवाले व्यक्तियो की माग उस अनुपातमें नही बढतीहै जिस अनुपातमें वस्तुओकी उत्पत्तिमें वृद्धि होती है। इसीकारण इन वस्तुओंकी बिक्री कम होजाती है और उत्पादकोको मूल्य-स्तर घटानेको बाध्य होना पडताहै जिससे उनका लाभ घटजाता है अथवा हानि होनेलगती है। यही आर्थिक सकटका कारण होजाता है क्योंकि लाभमें कमी अथवा हानिके कारण उत्पत्तिके परिमाण और आर्थिक साधनोंके नियोगमें कमी होनेलगती है। वितरणकी असमानतासे जो उपभोगकी हानि होतीहै, उसको दूसरे रूपसे सापेक्ष अतिशयोत्पत्ति भी कहसकते हैं अर्थात् इस प्रकारकी उत्पत्ति जिसकी द्रव्यमयी माग न होनेसे उत्पादक-व्ययके बराबर मूल्य प्राप्त नही होसकता है।

हौब्सन जो इस सिद्धान्तका प्रमुख प्रतिपादकहै, कहताहै कि अधिक आय-स्तर वाले लोग अपनी बचतको बराबर पूजीके कार्यमे लगाते रहतेहै जिससे उत्पादक वस्तुओके निर्माणमे वृद्धि होतीरहती है। अब चूकि उत्पादन-क्रियाओमे जो द्रव्यमयी आय होतीहै, उसका एकबडा हिस्सा उन लोगोके पास पहुचजाता है जिनमें बचत करके उसको पूजीके रूपमें लगानेकी प्रवृत्ति होती है, अतएव इन उत्पादित वस्तुओंकी माग पूरी नही होपाती है। हौब्सन कहताहै कि यदि पारिश्रमिककी वृद्धि करके कम आय-स्तरवाले लोगोकी आयमें वृद्धि करदीजाये जिनमें अपनी आयके एक बडे भागको उपभोगकी वस्तुओमें व्यय करनेकी प्रवृत्ति होतीहै तो इससे माग का परिमाण बनारहे और आर्थिक क्रियाएभी ठीक ठीक चलतीरहें क्योंकि उपभोग की वस्तुओके निर्माणके लिएही उत्पादक वस्तुओ (यन्त्र, मशीन इत्यादि उपकरण) का निर्माण कियाजाता है। अतएव उत्पादक वस्तुओकी माग बनीरहे। पूजीवादी आर्थिक पद्धतिमें समय समयपर आयके वितरणकी असमानताके कारण उपभोगकी वस्तुओकी मागमे हानि होजाती है। अतएव पूजीके लगावमे भी कमी करनीपडती है जिसके फलस्वरूप आर्थिक सकटका प्रादुर्भाव होजाता है।

यह बात सभीको मान्यहै कि पूजीवादी पद्धतिमें आयका वितरण बहुत असमान

है और यहभी सभी मानतेहै कि श्रमजीवियोके आय-स्तरको ऊचा करके उनके जीवन-स्तर को ऊचा करना भौतिकही नही परन्तु आर्थिक दृष्टिसे भी अत्यन्त आवश्यक है। उपभोग-हानि सिद्धान्तका छिद्रान्वेषण इस दृष्टिकोणसे नही किया जाता है। हमतो यह जानना चाहतेहै कि क्या उपभोगके लिए वस्तुओकी मागकी हानिके कारणसे आर्थिक सकटका जन्म होता है। इस कसौटीपर यह सिद्धान्त ठीक नही उतरता है। पहिले तो हौब्सनकी इस उक्तिमें ही तथ्य नहीहै कि सारीकी सारी बचत पूजीके रूपमें परिणत होकर आर्थिक क्रियाओमें लगादी जातीहै। जैसा कि हम बचत और पूजी-लगावके सिद्धान्तमें देखेंगे, आर्थिक अस्थिरता और अपकर्प का एक प्रधान कारण यहहै कि बचत पूजीके रूपमें क्रियाशील न होकर बेकार सचित होनेलगती है। इसके अतिरिक्त आर्थिक उत्कर्पके कालमें जब श्रमजीवियोका पूर्ण नियोग होने लगताहै, उपभोगके परिमाणमें वृद्धि होतीहै न कि हानि। हा यहबात अवश्यहै कि जब आर्थिक अपकर्प प्रारम्भ होजाताहै तो उद्यम और आयमें कमी आनेके कारण उपभोगकी वस्तुओकी मागमें भी कमी आजाती है और इसके कारण अपकर्ष शीघ्रतासे गर्तकी ओर अग्रसर होने लगता है। उपभोग-हानि होती अवश्यहै परन्तु यह अपकर्षका कारण नही अपितु उसको उत्तेजित करती है। इस सम्बन्धमें एकबात औरभी कही जासकती है। अनुभव और आकडोसे पता चलताहै कि अपकर्प का प्रारम्भ उत्पादक वस्तुओवाले उद्योग धन्धोमें होताहै और इन्ही उद्योग धन्धोमें आर्थिक-चक्रका वेगभी रहता है। हौब्सनके मतानुसार पहिले सकट उपभोगकी वस्तुओको बनानेवाले उद्योग धन्धोमें होना चाहिए।

बचत और पूंजी-लगाव सिद्धान्त

आधुनिक चक्रके विवेचन और विश्लेषणमें आधुनिक कालमें एक नये और महत्व-पूर्ण दृष्टिकोणका विकास हुआहै। यह दृष्टिकोण बचतकी मात्रा और पूंजीके लगावकी मात्राके सामंजस्यसे सम्बन्धित है। इस दृष्टिकोणका आर्थिक-चक्रमें समावेश करनेका विशेष श्रेय इंगलैंडके प्रसिद्ध अर्थशास्त्री केन्स को दिया जाता है। केन्स का कोई निजी सिद्धान्त आर्थिक-चक्रको पूर्णरूपसे समझानेके लिए प्रतिपादित नही है। उसने बचत और पूंजीके लगावकी इस प्रकारकी परिभाषाओंका प्रयोग

कियाहै कि इन दोनोका परिमाण सदाही समान रहता है। इस प्रकारकी समानता प्रकट करनेमें कोई वैध दोष नहीहै परन्तु प्रगतिशील आर्थिक-चक्रको समझानेमें बचत और पूजीके लगावकी समानता मानकर चलनेमें हम अपनेको वास्तविकता से हटाहुआ पाते हैं। अतएव हम इस बचत और पूजीके लगावके सिद्धान्तकी विवेचना करनेमें बचत और पूजीके लगावके परिमाणमें असमानता होनेकी सम्भावना को मानतेहुए आर्थिक उत्कर्ष और अपकर्षको समझानेमें इसका प्रयोग करेंगे।

हम विश्लेषणके कार्यको आर्थिक गर्तकी अवस्थासे प्रारम्भ करते हैं। कल्पना कीजिए किसी सयुक्तिक कारणसे पूजीके लगावमें वृद्धि होनेकी प्रवृत्ति होजाती है। होसकता है कि यह कारण नये आविष्कार, शिल्पकला, विज्ञानमें उन्नति, युद्ध-सामग्रीके निर्माणकी वृद्धि अथवा व्याजकी दरमें कमी होनेसे सम्बन्धित हो। इस पूजीके लगावमें वृद्धिके लिए द्रव्य या तो पूर्व संचयसे लियाजायेगा अथवा बैंक नये साख-द्रव्यकी सृष्टि करके उत्पादकोको उपलब्ध करेंगे अथवा दोनो रीतिया साथ साथ प्रयोगमें आयेंगी। इसप्रकार पूजीके लगावकी मात्रा चालू बचतकी मात्रासे बढजायगी और यह वृद्धि पुरानी बचतको काममें लाकर अथवा नये साख-द्रव्य के प्रयोगसे पूरी कीजायगी। अनुभवसे ज्ञात होताहै कि पूजीके लगावके परिमाणमे बचतके परिमाणसे कही अधिक अस्थिरता रहतीहै क्योकि पूजीका लगाव उसकी वर्तमान और भविष्यकी उत्पादकता और लाभकी आशापर निर्भर रहताहै। पूजीके लगावकी अस्थिरताही आर्थिक अस्थिरताका प्रधान कारण समझी जाती है।

गुणक सिद्धान्त

पूंजीके लगावमें वृद्धि होनेसे आर्थिक साधनोको अधिक काम मिलताहै और उनकी आयमें भी वृद्धि होती है। जब इस बढीहुई आयको उपभोक्ता लोग भिन्न भिन्न पदार्थोपर व्यय करते है तो उन वस्तुओके बनानेवालोकी आयमें वृद्धि होतीहै और जब येलोग अपनी बढीहुई आय व्यय करतेहै तो इसके फलस्वरूप नयी आय उत्पन्न होती है। इसप्रकार प्रारम्भमें पूजीके लगावकी मात्राको बचतकी मात्रासे बढानेसे अन्ततोगत्वा कुल आयमें कईगुनी वृद्धिहो सकती है। उदाहरणके लिए यदि प्रारम्भ

में पूजीका लगाव बचतसे १००० रुपया अधिकहो तो उसके व्ययसे १००० रुपया प्रारम्भिक आय होगी। मानलीजिए इस प्रारम्भिक आयका कुछ हिस्सा बचा लियागया और शेष उपयोगकी वस्तुओंपर व्यय कियागया। इस व्ययसे जो आय होगी उसको द्वितीय आय कहसकते हैं। इस द्वितीय आयका परिमाण प्रारम्भिक आयसे कम होगा। इसीप्रकार द्वितीय आयका कुछ हिस्सा बचालिया जायगा और शेष उपभोगकी वस्तुओंपर व्यय किया जायगा। इससे तृतीय आयका सृजन होगा जिसका परिमाण प्रारम्भिक आयसे कम होगा। इसीप्रकार चतुर्थ, पचम इत्यादि स्तरोंमें नयी आयका परिमाण कम होता जायगा। यदि हम इनसब स्तरोंकी आयो को जोड़ें तो हमको ज्ञातहोगा कि यह कुल आय १००० रुपयेसे कईगुनी अधिक है। यदि यह कुल आय ३००० रुपयाहो तो हम कहसकते हैं कि पूजीके लगावकी मात्रामें बचतकी मात्रासे १००० रुपयेके आधिक्यसे ३००० रुपयेके बराबर कुल आय हुई। इस सम्बन्धको हम 'गुणक सिद्धान्त' कहेंगे। उपरोक्त उदाहरणमें गुणक ३ है। स्पष्टहै कि गुणकके परिमाणका बचतके परिमाणसे घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि प्रारम्भिक आय सबकी सब बचाली जाय तो इससे उत्तरगामी आय नहीं होगी और गुणक एक होगा। यदि आधी आय बचायी जाय तो गुणक दो और यदि चौथाई आय बचायी जाय तो गुणक चार होगा। जैसे बचतकी मात्रासे पूजी के लगावमें वृद्धि होनेसे कुल आयमें इस अन्तरसे अधिक मात्रामें वृद्धि होतीहै इसी प्रकार जब पूजीके लगावकी मात्रा चालू बचतसे कमहो जातीहै तो कुलआय इस अन्तरसे अधिक मात्रामें घटजाती है।

गति-वृद्धि सिद्धान्त

उपभोग्य वस्तुओंकी मांगमें वृद्धि होनेसे पूजीके लगावको भी प्रोत्साहन मिलताहै और उत्पादक वस्तुओंकी मांगमें वृद्धि होती है। उपभोगकी वस्तुओंकी मांगमें जिस परिमाणमें वृद्धि होतीहै, उससे बड़े परिमाणमें उत्पादक वस्तुओंकी मांगमें वृद्धि होती है। उपभोगकी वस्तुओंकी मांगमें वृद्धिके फलस्वरूप पूजीके लगावमें जो वृद्धि होता है उस सम्बन्धको 'गति-वृद्धि सिद्धान्त' द्वारा समझाया जाता है। इस पूजीके लगावमें वृद्धिके लिए द्रव्य बैंकोंसे प्राप्त किया जाताहै और इसका सम्बन्धी

बचतसे भी प्राप्त होता है। इस प्रकार पूंजीके लगावमें वृद्धि होनेसे पुन: आयमें वृद्धि होती है और पुन: गुणक सिद्धान्त सम्बन्धी आयका चक्र चलने लगता है। इससे पुन: पूजीके लगावको उत्तेजना मिलतीहै और इसप्रकार की क्रिया और प्रतिक्रिया चलने लगती है। यह गति-वृद्धि–सिद्धान्त अपकर्षके कालमें भी लागू होता है। जब उपभोग्य वस्तुओंकी माग कम होजातीहै तो उत्पादक वस्तुओंकी मागमें इससे कही अधिक शिथिलता आजाती है।

गुणक और गति-वृद्धिके सिद्धान्तके आधारपर हम अनुमान करसकते है कि जब पूजीके लगावकी मात्रा चालू बचतकी मात्रासे बढजाती है तो आर्थिक उत्कर्षमें तीव्रता क्यों आने लगती है। अब प्रश्न यहहै कि इस प्रगतिमे बाधा क्यों पडजाती है और पूजीके लगावमें कमी क्यो होने लगती है। एक कारणतो यहहै कि जैसे जैसे उत्पादक वस्तुओंके निर्माणमें वृद्धि होती रहतीहै कुछ समय बाद आर्थिक साधनोको प्राप्त करनेके लिए उत्पादक-व्ययमें वृद्धि करना अनिवार्य होजाता है। इसके अतिरिक्त यदि इस परिस्थितिमें बैंकभी व्याजकी दरमें वृद्धि करदें तो नये उद्योग धन्धे जिस लाभकी आशासे चलाये गयेथे, वह आशा क्षीण होने लगती है। टिकाऊ उत्पादक वस्तुओंकी मात्रामें वृद्धि होनेपर कुछ समयके बाद उनकी सीमान्त उत्पादकतामें ह्रास होने लगता है। इन सभी कारणोके फलस्वरूप कुछ अशक्त उद्योग धन्धे पहिले ही धक्केको सम्हालनेमें असमर्थ होतेहै और अपने व्यवसायका क्षेत्र कम करना आरम्भ करदेते है। अन्य उद्योग धन्धेभी शकित होने लगतेहै और शीघ्रतासे अपने को उऋण करनेका प्रयत्न करते है। वे पूजीके लगावसे हाथ खीचने लगते है। वे अपनेको ऋण-शोधनशील बनाये रखनेके लिए पूजीको बचतके रूपमे रखने लगते है। जब चालू बचतकी मात्रा पूजीके लगावके रूपमें बाहर न निकलकर सचित रूपमें रखीजाने लगतीहै तो इससे भयानक आर्थिक विकृतिका सूत्रपात होजाता है। जो आय बचतके रूपमें रोकली गयी उससे उत्पादक वर्गकी इसी परिमाणमें हानि होगी जिससे पूजीके लगावको औरभी धक्का पहुचेगा।

जैसेही पूजीके लगावकी मात्रा चालू बचतकी मात्रासे कम होने लगती है, गुणक सिद्धान्त और गति-वृद्धि सिद्धान्त आर्थिक-चक्रको वेगके साथ अपकर्षकी ओर ढकेल देते है। पूजीके लगावमें कमीके कारण आर्थिक साधनोमें बेकारी आने लगतीहै और आय-स्तर गिरने लगता है। प्रारम्भिक आयमें कमीके कारण द्वितीय, तृतीय

तथा आगेके स्तरोंकी आयभी घटती जातीहै और आयमें कुल कमी पूंजीके लगाव में कमीसे कईगुना अधिक होजाती है। आयकी कमीके कारण उपभोग्य-वस्तुओं की मांगमें भी कमी आजाती है जिससे पूंजीके लगावमें औरभी अधिक ह्रास हो जाताहै और इस कमीसे भी गुणक-रूपी आय वेगसे कम होने लगती है। इसप्रकार आर्थिक-चक्र गर्तकी ओर अग्रसर होने लगता है।

आर्थिक-चक्र गिरताही क्यों नहीं जाताहै और कहांपर जाकर रुकताहै, यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। उपभोग्य वस्तुओंकी मांगमें उत्पादक वस्तुओंकी मांगकी अपेक्षा अधिक स्थिरता होती है। अतएव आर्थिक अपकर्षकी प्रगतिमें एक रोक इस दिशासे आती है। जीवन-स्तरको अधिक मात्रामें गिरनेसे बचानेकी सभी चेष्टा करते हैं। जिसके निमित्त पुरानी बचतभी व्यय करने लगते हैं। इसप्रकार उपभोग्य वस्तुओंकी मांग एक स्तरपर पहुंचकर स्थिर होजाती है। इससे कुछ अंश में उत्पादक वस्तुओंकी मांगभी बनी रहती है। इसके अतिरिक्त उत्पादक वस्तुएंभी समयके प्रभावसे और बराबर काममें लानेसे जीर्ण और अव्यवहार्य होजाती हैं। इन को बदलनेके लिएभी पूंजीका लगाव होता रहता है। इसप्रकार चिनगारी सुलगती रहतीहै और यदि इससमय पर पूंजी लगानेके नये अवसर प्राप्तहों और उत्पादक वर्गमें आशाका संचार होनेलगे तो शनैः शनैः उत्थानका क्रम आरम्भ होने लगेगा।

बचत और पूंजीके लगावका सिद्धान्तभी सम्पूर्ण आर्थिक-चक्रको नहीं समझाता है। परन्तु इस दृष्टिकोणसे विवेचना करनेमें एक विशेषता यहहै कि हम इसमें अधिक उदारता पाते हैं। द्रव्यसम्बन्धी मनोवैज्ञानिक तथा अन्य सिद्धान्तोंको इस के अन्तर्गत लिया जासकता है। यही कारणहै कि अर्थ-चक्रकी आधुनिक विवेचनामें इस सिद्धान्तको एक प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त है।

उत्कर्ष और अपकर्ष का प्रतिकार

पूंजीवादी पद्धतिके अन्तर्गत आर्थिक-चक्रका पूर्णरूपसे उन्मूलन करना असाध्य प्रतीत होता है क्योंकि इसके संस्थान और सम्बन्ध इस प्रकारके होतेहैं जिनसे अस्थिरता उत्पन्न हुए बिना रह नहीं सकती है। परन्तु आर्थिक योजना और नियन्त्रण द्वारा कुछ अंशतक इसका निराकरण किया जासकता है। इसका सार विशेषरूपसे सम्प्र

के ऊपर डाला जाताहै कि वह अपनी राजस्व-नीति द्वारा और द्रव्य-नीति द्वारा आर्थिक अस्थिरतामें कमी लानेका प्रयत्न करे। स्पष्टहै कि आर्थिक विषयोमें राज्य का जितना अधिक हाथ होगा, उसी हिसाबसे वह इस कार्यमें सफलता प्राप्तकर सकेगा। पहिले महायुद्धके बाद और विशेष रूपसे १९२९-१९३३ के विश्व-व्यापी आर्थिक सकटके बाद राज्यका हस्तक्षेप देशके आर्थिक कार्योंमें बहुत बढगया है और यह प्रवृत्ति बढतीही जारही है। आधुनिक कालमें राज्य द्वाराभी एक बडी मात्रामें पूजी लगानेका कार्य होता है। हमने देखा कि आर्थिक उत्कर्ष और अपकर्ष का एक प्रधान कारण पूजीके लगावकी मात्रामें अस्थिरता आजाना है। अन्य उत्पादक तो द्रव्यात्मक लाभकी आशासे पूजी लगातेहैं और जब लाभकी आशा घटने लगतीहै तो वे भी पूजीके लगावमें कमी करने लगजाते है, जिसके फलस्वरूप आर्थिक अपकर्ष प्रारम्भ होजाता है परन्तु राज्यके पूजी-लगावका उद्देश्य इसप्रकार का द्रव्यात्मक लाभ नही होताहै। अतएव राज्यतो अपने पूजीके लगावके कार्यमें अस्थिरता आनेको रोक सकता है। साथही साथ राज्य अपनी पूजीके लगावकी नीति द्वारा कुछ अशतक क्षतिपूरकका कार्यभी करसकता है। उदाहरणके लिए यदि आर्थिक परिस्थिति इस प्रकारकी होगयी हो कि पूजीपति पूजीके लगावके परिमाणको घटाने लगगये हो और द्रव्यका सचय होना प्रारम्भ होगया हो तो राज्य को चाहिए कि ऐसी परिस्थितिमें वह अपनी पूजीके लगावमें वृद्धि करके क्षतिपूरकका काम करे। यह आवश्यक है कि योजनाए पहिलेसे ही तैयार रहें ताकि उचित समयपर तत्काल यह कार्यरूपमें परिणत की जासकें। नही तो आर्थिक साधनोंके कुप्रयोगकी आशका होगी। राज्योके पास इसप्रकार की योजनाओकी कमी नहीं होसकती है। नहर, सडक, रेल और अनुपयोगी भूमिको उपयोगी बनाना इत्यादि अनेक प्रकारके कार्य सभी देशोंमें वाछनीय है। इन कार्योंके लिए राज्यको द्रव्य चाहिए। इस सम्बन्धमें राज्यको या तो वह द्रव्य, जो कि बेकार सचित होरहा हो, ऋणके रूपमें लेकर पुन: चलनमें लाना चाहिएं अथवा नये साख द्रव्यसे अपने कार्यो का सम्पादन करना चाहिए। कर द्वारा द्रव्य प्राप्त करनेकी चेष्टा से पूजीके लगावमें औरभी कमी आनेकी आशंका रहती है।

राज्यके पूजीके लगावमें वृद्धि होनेसे गुणक-सिद्धान्त कार्यान्वित होने लगेगा और इससे उपभोक्ताओकी आय और मागकी मात्रामें भी वृद्धि होनेकी प्रवृत्ति होगी।

यह आवश्यकहै कि राज्यका इस पूजीके लगावका कार्य अपकर्ष आरम्भ होतेही चालू करदिया जाय। देर होजानेसे जब आर्थिक परिस्थिति गर्तकी ओर वहुत दूर तक अग्रसर होगयी हो तो फिर राज्यको रोकथाम करना बहुत कठिन होजायगा। अपकर्षके कालमे वेकारोको द्रव्य-रूपमें सहायता देकरभी कुछ अंशतक उपभोगके पदार्थोंकी माग वनायी रखीजा सकती है। इसीप्रकार सर्वसाधारणके उपभोगकी वस्तुओंपर कर-भार हलका करनेसे उनकी मागमें वृद्धि होनेकी सम्भावना रहती है।

उत्कर्षके कालमें राज्यको यह देखना पडताहै कि पूजीका लगाव असन्तुलित रूप में न बढने पावे। इसकेलिए राज्यको पूजीके लगावके नियन्त्रणकी आवश्यकता होगी। इसके अतिरिक्त राज्यको अपनी पूजीके लगावकी मात्राको भी इस आर्थिक परिस्थितिके अनुकूल वनाना पडेगा। ऐसी परिस्थितिमें राज्यको अपने व्ययमें कमी करनी पडेगी। अपने वजटमें वचत लानेका प्रयत्न करना पडेगा। कर-नीति द्वाराभी इसप्रकार का प्रवन्ध करना पडेगा कि उत्कर्षमें उत्तेजना न आनेपाये।

जैसा ऊपर वतलाया जाचुका है कि आर्थिक क्रियाओंको वनाये रखनेके लिए यह आवश्यकहै कि उपभोक्ताओंकी माग वनी रहे। क्योंकि कम आयवाले लोग अपनी आयका अधिकांश उपभोगके पदार्थोंमें व्यय करतेहै और धनी वर्गमें वचत करनेकी प्रवृत्ति अधिक मात्रामें पायीजाती है। अतएव इसप्रकार की कर-नीति जिसके द्वारा धनका वितरण कम आयवालोंके पक्षमें हो, उपभोगकी मात्राको प्रोत्साहित करनेमें सहायता देसकेगी।

द्रव्यनीति द्वाराभी आर्थिक-चक्रकी विषमताओंको कम करनेमें सहायता प्राप्त होसकती है। केन्द्रीय वैंकका धर्महै कि वह निरन्तर आर्थिक परिस्थितियोंका अध्ययन करतारहे और सदैव सतर्क रहे। जैसेही विषमताओंके लक्षण प्रकट होनेलगें वैसे ही अपने उपकरणोंको उनके प्रशमनके लिए काममें लानेलगें और सरकारका ध्यान भी इसकी ओर आकर्षित करे। केन्द्रीय वैंकपर वहुत वडा उत्तरदायित्व है। उसको देशकी द्रव्य और वैंक प्रणालीपर पूरा अधिकार प्राप्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिए। व्याजकी दरका आर्थिक अवयवों और उनके सम्बन्धोंपर वडा प्रभाव पडता है। केन्द्रीय वैंकको चाहिए कि वह समय समयपर आर्थिक परिस्थितिके अनुसार व्याजकी दरमें परिवर्तन लानेकी चेष्टा करे।

वास्तवमें राजस्व नीति और द्रव्य नीतिका सामंजस्य करकेही उत्कर्ष और अपकर्ष सम्बन्धी व्याधियोको कम कियाजा सकता है। अतएव सरकार और केन्द्रीय बैंक दोनोकी नीतिमें विरोध नहीं होना चाहिए। केन्द्रीय बैंकोके राष्ट्रीयकरणसे यह आशा कीजाती है कि ये दोनो नीतिया एक दूसरेको सहायता देतीहुई आर्थिक-चक्रकी व्याधियोके प्रशमनमें सफल होसकेंगी।

३१

राजस्व का स्वरूप और क्षेत्र

राज्य और शासन की आवश्यकता

मनुष्य समाजमें रहना पसन्द करता है। प्राचीन कालके इतिहाससे ज्ञात होताहै कि वह किसी कुनबे, कबीले अथवा गिरोहका सदस्य रहा है। आधुनिक कालमें समाजका क्षेत्र बढकर राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय होगया है। जब मनुष्य साथ साथ रहने लगतेहै तो अनेक इसप्रकारकी आवश्यकताए उत्पन्न होजाती है जिनको सामूहिक आवश्यकताए कहसकते है। इसप्रकारकी आवश्यकताओंको पूरा करने का प्रबन्ध समाजको करना पडता है। उदाहरणके लिए बाहरी आक्रमणसे समाज की रक्षा कोई व्यक्ति-विशेष नही करसकता है। यह सारे समाजका ही कर्तव्य हो जाता है कि वह मिलकर शत्रुको मार भगाये। इसी प्रकार मनुष्योके साथ रहनेसे मारपीट, चोरी, डकैती होनेकी सम्भावना रहतीहै। इससे अशान्ति पैदा होजाती है। समाजका यहभी कर्तव्य होजाता है कि वह इन व्याधियोसे अपने सदस्योकी रक्षाका प्रबन्धकरे और आततायीको दड दे। इसके अतिरिक्त सक्रामक रोगोसे तथा अग्निकाडसे समाजके व्यक्तियोको बचानेका प्रबन्ध भी करना पडता है। इसप्रकार के सामूहिक कर्तव्योका पालन करनेके लिए तथा समाजके जीवनको व्यवस्थित करनेके लिए राज्य और शासनका सूत्रपात हुआ और शनै: शनै: उनका विकास हुआ। जिसप्रकार श्रम-विभाग और विशिष्टीकरण से मनुष्य अपनी आवश्यकताओंकी अधिक मात्रामें और अधिक सुगमता और कुशलताके साथ तृप्ति करसकता है, उसी सिद्धान्तके अनुसार सामूहिक आवश्यकताओंकी पूर्तिका प्रबन्ध एक विशेष सस्था द्वारा अधिक प्रवीणता और तत्परताके साथ होसकता है। एक प्रकारसे राज्य और शासनकी स्थापना और उनका विस्तार श्रम विभाग की विशिष्टताका एक उदाहरण है।

प्रारम्भमे इस प्रकारकी आवश्यकताओका क्षेत्र परिमित था। राज्यके तीन प्रधान कर्तव्य समझे जातेथे। पहिला—बाहरी आक्रमणसे रक्षाका प्रबन्ध, दूसरा—समाजके भीतर शाति-रक्षाका प्रबन्ध और तीसरा—सरकारी इमारत, सड़क, पुल और नहर इत्यादिके निर्माणका प्रबन्ध। शनैः शनैः अनुभवसे ज्ञातहुआ कि इन कार्यो के अतिरिक्त अनेक कार्य औरभी है जिनका सम्पादन राज्यद्वारा अधिक सुगमता और कम व्ययके साथ होसकता है। उदाहरणके लिए शिक्षा, स्वास्थ्य और चिकित्सा का प्रबन्ध करना, डाक, तार, मुद्रा और बाटका प्रबन्ध करना इत्यादि। यदि हम ध्यानपूर्वक देखें तो ज्ञातहोगा कि आधुनिक कालमें हमारे आर्थिक कार्योका शायद ही कोई ऐसा क्षेत्र होगा जिसमें प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूपमे राज्यका हस्तक्षेप न होता हो। दूर जानेकी आवश्यकता नही, आजकल हमको अन्न और वस्त्र सदृश प्रारम्भिक वस्तुओको प्राप्त करनेके लिए राज्यका मुह देखना पडता है क्योंकि इन वस्तुओकी कमीहै और जनताके हितके लिए यह आवश्यकहै कि इनका वितरण इसप्रकार से हो कि धनी और निर्धनी सभी लोगोको उचित मूल्यपर ये वस्तुए प्राप्त हो। यह कार्य राज्य द्वाराही किया जासकता है। इनप्रकार भिन्न भिन्न परिस्थितियो का सामना करनेके लिए राज्यके आर्थिक कार्योका क्षेत्र बढता जारहा है और इसके आगेभी विस्तृत होनेकी सम्भावना है।

आर्थिक कार्यो मे राज्यके हस्तक्षेप की आवश्यकता

कुछ काल पहिले ऐसी विचारधारा थी कि लोगोको अपने आर्थिक कार्य करनेकी स्वतन्त्रता होनी चाहिए। ऐसा कहा जाताथा कि क्योकि मनुष्य समाजका ही अग है इसलिए अपने हितके लिए जोकोई भी कार्य वह करेगा उससे समाजका हितही होगा। राज्यका कर्तव्य यही समझा जाताथा कि वह रक्षा, न्याय, सडक इत्यादिका प्रबन्ध करदे। अन्य आर्थिक कार्योमें राज्यका हस्तक्षेप अनावश्यक हीनही परन्तु अनुचित भी समझा जाता था। इसप्रकार की आर्थिक व्यवस्थाको पूजीवादका नाम दियागया है।

पूजीवादके अन्तर्गत आर्थिक कार्यो और आर्थिक सम्बन्धोको देखनेसे पता चलता है कि किसीभी व्यक्तिके स्वहितके कार्योसे समाजका हित होना अवश्यम्भावी नही

है। उदाहरणके लिए यदि कोई पूजीपति मजदूरोसे १६ घटे प्रतिदिन काम ले और उनको केवल जीवन-निर्वाह योग्य वेतनदे तो उसका तो लाभही होगा परन्तु मजदूरो और उनके बच्चोके स्वास्थ्य, शिक्षा और जीवन-स्तरपर उसका बुरा प्रभाव पड़ेगा। इसप्रकार की परिस्थितिको पैदा होनेसे रोकनेके लिए आजकल राज्यकी ओरसे न्यूनतम-वेतन और अधिकसे अधिक कामके घटे निश्चित करदिये जाते है। इसीप्रकार यदि जमीन्दार किसानोसे मनमाना लगान वसूल करें और जब चाहें तब उनको निकालदें तो इससे जमीन्दारोका लाभ और किसानोकी हानिही होगी। अब इन दोनो वर्गोकी लाभ-हानिको दृष्टिमें रखतेहुए और यह देखतेहुए कि मजदूरो और किसानोकी सख्या मिल-मालिको और जमीन्दारोकी सख्यासे कईगुना अधिकहै, यह निश्चयहै कि इस प्रकारकी स्वेच्छाचारितासे समाजकी हानिही होगी। ऐसी अवस्थाओमें राज्यका हस्तक्षेप करना नितान्त आवश्यक होजाता है।

इतनाही नही आधुनिक कालमें राज्यसे यह आशाकी जातीहै कि वह क्रियात्मक रूपसे समाजके आर्थिक कार्योमें सहयोगदे और अपनी आर्थिक और राजस्व-नीतिको बदलतीहुई आर्थिक परिस्थितिके अनुकूल बनाये। वर्तमान आर्थिक व्यवस्थामें उत्पत्तिके साधन कभी कभी बेकार पड़े रहतेहै और आर्थिक मन्दी—जोकि पूजीवादमें समय समयपर उत्पन्न होजाती है, के अवसरपर तो यह बेकारी बहुत बडी मात्रामें होजाती है। इससे राष्ट्रीय आयमें कमी और रहन सहनमें क्षति होजाती है। ऐसी अवस्थामें राज्यका कर्तव्य होजाताहै कि वह अपनी राजस्व-नीति द्वारा बेकारी हटानेका नही तो कम करनेका प्रयत्न तो अवश्य करे और आर्थिक-पद्धतिको उत्कर्ष की स्थिरताकी ओर अग्रसर करे। कर, व्यय और ऋण सम्बन्धी अध्यायोमें बताया जावेगा कि राज्य किन किन उपायोसे इसप्रकार के कार्य करसकता है।

राजस्व के मुख्य विभाग

ऊपर दियेगये वृत्तान्तसे स्पष्ट होजाता है कि राज्यके आर्थिक कार्योंके क्षेत्रमें बहुत वृद्धि होगयी है। इन कार्योंके सम्पादनके लिए राज्यको साधनोंकी आवश्यकता होती है। ये साधन कहांसे और किस प्रकारसे प्राप्त कियेजाय और इनका समाजके उत्पादन और वितरणके कार्योंमें किसप्रकार का प्रभाव पड़ेगा, इनप्रकारके [illegible]

का विवेचन राजस्वका एक मुख्य अंग है। जिसप्रकार मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को द्रव्यरूपी आयसे पूरी करताहै इसीप्रकार सामूहिक आवश्यकताओंको पूरी करनेके लिए राज्यको भी द्रव्यके रूपमें आयकी आवश्यकता होती है। यह आय आधुनिक कालमें प्रधानतः राज्य अपनी प्रजासे करके रूपमें लेता है। राज्यको अपनी सम्पत्ति और अपने उद्योग धन्धोंसे भी कुछ आय होती है। कुछ छोटी मोटी मदें आयकी औरभी है जिनका विवेचन राज्यकी आयके अध्यायमें किया जायेगा।

राजस्वका दूसरा विभाग व्यय सम्बन्धी है। सामूहिक आवश्यकताओंकी पूर्तिका प्रबन्ध करनेके लिए राज्यको द्रव्यका व्यय करना पडता है। व्ययकी अनेक मदें है। कितना व्यय किस मदमें कियाजाय और किस कालमें कियाजाय यह एक महत्वपूर्ण विषय है। राज्य जब बडी मात्रामें विविध कार्योमें व्यय करताहै तो इसका प्रभाव सारे आर्थिक क्षेत्रपर पडता है। अतएव राज्यको बहुत सोच समझकर अपनी व्यय-नीति निर्धारित करनी पड़ती है।

अनेक ऐसे अवसर आजाते है जबकि राज्यकी सामान्य आय, व्ययके लिए पर्याप्त नही होती है। उदाहरणके लिए रेल, नहर, युद्ध इत्यादि मदोपर बहुत व्यय होता है और राज्य अपनी सामान्य आयसे इनकी पूर्ति करनेमें अपनेको असमर्थ पाता है। अतएव उसको ऋण लेना पडता है। कभी कभी द्रव्यके अत्यधिक प्रसारको कम करनेके लिएभी राज्य ऋण लेता है। आधुनिक कालमे प्रत्येक राज्यके ऋणकी मात्रामे बहुत वृद्धि होगयीहै और इससे अनेक समस्यायेंभी उत्पन्न होगयी है। अतएव यहभी राजस्वका एक पृथक विभाग बनगया है।

आय और व्ययका हिसाब रखना, बजट बनाना, बजटकी मदोको राज्य-परिषद द्वारा स्वीकृत करवाना और स्वीकृतिके अनुसार भिन्न भिन्न विभागो द्वारा भिन्न भिन्न मदोमें व्ययका प्रबन्ध करना और उसकी जांच परताल करना—इसप्रकार के कार्यभी बहुत महत्वपूर्ण है। इनका विवेचन राजस्व प्रशासन विभागके अन्तर्गत कियाजाता है।

राजस्व-शास्त्रके यही चार मुख्य विभाग है। परन्तु यह नही समझना चाहिए कि राजस्वके ये चारो विभाग एक दूसरेसे पृथक है। विवेचनाकी सुगमताके लिए ही इनको अलग अलग कियागया है अन्यथा एकका दूसरेसे घनिष्ठ सम्बन्ध है। उदाहरणके लिए राज्यके व्ययका समाजके ऊपर क्या प्रभाव पड़ा इसको पूरी तौर

पर जाननेके लिए यह आवश्यकहै कि राज्यने यह धन किसप्रकार प्राप्तकिया और उसका समाजपर क्या प्रभाव पडा।

राजस्व शास्त्रमें राज्यके आय, व्यय और ऋण सम्बन्धी सिद्धान्तोका विवेचन कियाजाता है। यह अर्थशास्त्रका ही एक विभाग समझा जाताहै क्योकि जैसा आगे चलकर ज्ञात होगा राज्यके आर्थिक कार्योंके अन्तर्गतभी अर्थशास्त्रके ही सिद्धान्त लागू होते है। मूलमें राज्यके सम्मुखभी वही परिस्थितिहै जैसीकि किसी व्यक्ति-विशेष के अथवा आर्थिक संस्थाके सम्मुख होतीहै अर्थात् राज्यके पास सभी सामूहिक आर्थिक कार्योंको पूर्ण रूपसे सम्पादन करनेके लिए पर्याप्त मात्रामे साधन नही है। अतएव उसकोभी उन साधनोमे अधिकतम आर्थिक क्षेत्र उत्पन्न करनेके लिए उनका भिन्न भिन्न मदोमें नियमित रूपसे वितरण करना पडता है।

राजस्वसे सम्बन्धित राज्य शब्दका प्रयोग व्यापक रूपसे होता है। इसके अन्तर्गत केवल केन्द्रीय राज्यके आर्थिक कार्योंका ही नही वरन् प्रान्तीय राज्यके और स्थानीय निकायो जैसे जिलाबोर्ड, म्यूनिसिपल बोर्ड और ग्रामपञ्चायतके भी आर्थिक कार्यों का समावेश होता है।

अधिकतम सामाजिक-लाभ सिद्धान्त

राज्यके आर्थिक कार्योंके मूलमें एक सिद्धान्त रहताहै जिसकोकि अधिकतम सामाजिक-लाभ सिद्धान्त कहाजाता है। इस सिद्धान्तका तात्पर्य यहहै कि राज्यको वही आर्थिक कार्य करने चाहिए जिनके फलस्वरूप समाजका अधिकसे अधिक लाभ हो। ये कार्य कौनसे है? सबसे पहिले राज्यको सुरक्षा और शान्तिका ऐसा वातावरण बनाना चाहिए जिसमें सभीलोग निश्चिन्त होकर अपने अपने कार्य करें। इसके उपरान्त राज्यको अपनी प्रजाको सुखी और समृद्ध बनानेका प्रयत्न करना चाहिए। इसकेलिए दो बातोंकी विशेष आवश्यकता है। एकतो यह कि देशके उत्पादनके परिमाणमें वृद्धि कीजाए और दूसरा यहकि उसके वितरणकी असमानताको कम कियाजाए। उत्पादनकी मात्राको बढानेके लिए यह आवश्यक है कि समाजके उत्पादक साधनोंमें वृद्धि कीजाए। उनकी निपुणता बढाईजाए, उनको बेकार होनेसे बचाया जाए और उनका प्रयोग ठीक अनुपातमें कियाजाए। उत्पत्तिकी मात्राको बढानेके

साथ साथ इस बातका भी ध्यान रखाजाना चाहिए कि भिन्न भिन्न प्रकारकी वस्तुओ का परिमाण समाजकी आवश्यकतानुसार हो।

पूजीवादमें राष्ट्रीय आयका वितरण बहुत असमान होजाता है। इससे आर्थिक क्षेमकी कमीही नहीं परन्तु आर्थिक-पद्धतिके व्यवस्थित और अविरोध रूपसे चलाने में भी रुकावट पैदा होजाती है जिसके कारण आर्थिक सकट और मन्दीकी अवस्था उत्पन्न होजाती है। अतएव केवल न्यायके दृष्टिकोणसे ही नही वरन् आर्थिक व्यवस्थामें स्थिरता लानेके लिए और उत्पत्ति-साधनोको पूर्ण रूपसे काममें लगाये रखनेके लिए यह आवश्यकहै कि वितरणकी असमानताको कम किया जाय।

राज्यको केवल वर्तमान पीढ़ीके आर्थिक क्षेमको ही नही अपितु भविष्यमें आने वाली पीढीके क्षेमको भी ध्यानमें रखना पडता है। अतएव यदि किसी कार्यसे वर्तमान पीढीके अधिक हितके निमित्त आनेवाली पीढीके आर्थिक क्षेममें अधिक क्षति होनेकी सम्भावनाहो तो राज्यको ऐसे कार्योका नियन्त्रण करना चाहिए। उदाहरणके लिए यदि वर्तमान पीढी खानोसे सभी कोयला और लोहा निकालले तो इससे भविष्यकी जनताकी बहुत क्षति होगी।

इसप्रकार हम इस परिणामपर पहुचतेहै कि यदि राज्यके आर्थिक कार्यो द्वारा समाजका हित होताहो तो वे कार्य निर्दोष है। परन्तु कठिनाई यहहै कि समाजके लाभ-हानिके नापनेके लिए हमारेपास कोई मापदड नही है। इसलिए अनेक परिस्थितियोमें यह कहना कठिन होजाताहै कि कौनसे कार्योसे समाजका हित अधिक होगा। उदाहरणके लिए यदि राज्यके सामने प्रश्नहै कि दसलाख रुपया शिक्षा अथवा चिकित्सामें व्यय कियाजाय तो यह निश्चय करना कठिनहै कि समाजका अधिकतम क्षेम शिक्षा-प्रसारसे होगा अथवा स्वास्थ्य-रक्षा से। ऐसी अवस्थामें अनुमान और अनुभवके आधार परही निर्णय करना पडता है।

व्यक्ति और राज्य के आय-व्यय सम्बन्धी कार्यो मे समानता और भेद

साधारण तौरपर यह कहाजाता है कि कोई भी व्यक्ति अपनी आयके अनुसार अपने व्ययका समीकरण करताहै परन्तु राज्य अपने कर्तव्योके अनुसार अपने व्ययका

अनुमान करताहै और फिर उसके अनुसार अपनी आयका समीकरण करता है। इस भेदके कई अपवाद है। हम देखतेहैं कि अनेक व्यक्ति व्ययके वढजाने से आय वढाने की चेष्टा करते है। उदाहरणार्थ महँगीके अवसरपर कम वेतन पानेवाले शिक्षक, क्लर्क लोग ट्यूशन करके अथवा अन्य कोई सहायक कार्य करके अपनी आय वढाते है। ऐसाभी नहीहै कि राज्य अपनी आयको व्ययके अनुसार अवश्यही वढा सके। यदि ऐसाही होता तो राज्यको ऋण न लेना पडता। अतएव राज्यको व्यय करनेके पूर्व अपनी आयपर दृष्टि रखनी पडती है। प्रधान भेद यहहै कि राज्यके पास किसी भी व्यक्तिकी अपेक्षा आयके अधिक साधन है। उदाहरणके लिए कर लगाकर आय करनेका अधिकार राज्यको है व्यक्तिको नही। कभी कभी राज्य अविनिमय साध्य नोटोको छापकर और उनको राज-प्रामाणित द्रव्य घोषित करके अपनी आय वढा लेते है। यह अधिकारभी सामान्य व्यक्तिके पास नही है। ऋण लेकर तात्कालिक आय वढानेकी क्षमताभी साधारण व्यक्तिकी अपेक्षा राज्यकी अधिक रहतीहै क्योकि उनकी साख अधिक होतीहै और वह देशके भीतर और दूसरे देशोसे भी ऋणले सकताहै जहा साधारणत: प्रत्येक व्यक्तिकी पहुच नही होती है।

एक वडा भेद राज्यके और अन्य व्यक्तियोके आर्थिक कार्योमे यहहै कि साधारणत: प्रत्येक व्यक्ति अपने धनसे लाभकी आशा करताहै और इसीप्रकार के उद्योग धन्धोमें उसको लगाता है और ऐसे मूल्यपर अपनी वस्तुओ और सेवाओको वेचने की चेष्टा करताहै जिससे उसको द्रव्य-सम्वन्धी लाभहो। परन्तु राज्यका यह दृष्टिकोण नही रहता है। यदि हम राज्यकी प्रमुख व्ययकी मदोको देखें—जैसे रक्षा, शिक्षा, चिकित्सा, सडक इत्यादि तो हमको ज्ञात होताहै कि राज्यका उद्देश्य इनसे अपनी द्रव्य सम्वन्धी आयको वढाना नही होता है। कुछ वस्तुओ और सेवाओंको तो राज्य लागतसे कम मूल्यपर कभी कभी नि:शुल्कभी वेचता है। उदाहरणके लिए नि:शुल्क शिक्षा। यह अवश्यहै कि राज्यको कुछ वस्तुओके विक्रयसे लाभभी होताहै परन्तु इनकी सख्या कम है।

भविष्यके लिए उपयुक्त प्रवन्ध करनेके हेतु व्यक्तिकी अपेक्षा राज्यका दृष्टिकोण अधिक व्यापक होता है। किसीभी व्यक्तिको वर्तमानकी अपेक्षा निकट भविष्य की अधिक चिन्ता रहतीहै और जैसे जैसे भविष्यकी दूरी वढती जातीहै वैसे वैसे उसकी दृष्टिमें सुदूर भविष्यमें प्राप्त होनेवाली उपयोगिता वहुत कम मालूम पडती

हैं। उदाहरणार्थ जगल लगानेमें और उसके बढकर आय उत्पन्न करने योग्य होने में बरसो लगजाते है। शायदही किसी व्यक्तिको उतना धैर्यहो कि वह इस काममें अपनी पूजी लगाये। परन्तु राज्यको तो दीर्घकालिक दृष्टिकोणसे भविष्यकी आवश्यकताओंको ध्यानमें रखकर प्रबन्ध करना पडता है।

अपने द्रव्यको भिन्न भिन्न वस्तुओमे व्यय करनेमें राज्यकी अपेक्षा व्यक्तिको अधिक कुशलता रहती है। कोईभी व्यक्ति अपनी आवश्यकताओ की उग्रताके अनुसार भिन्न भिन्न वस्तुओंसे प्राप्त होनेवाली उपयोगिताओंकी अपने मनमें तुलना करके अधिकतम उपयोगिता प्राप्त करसकता है। परन्तु राज्यको तो इसप्रकार की कोई सीधी अनुभूति होती नही जिसके आधारपर वह भिन्न भिन्न व्ययोसे प्राप्त सीमान्त उपयोगिताओंके समीकरणका प्रयत्न करसके। अतएव बहुधा राज्य-व्ययमे यह पायाजाता है कि शक्तिशाली सस्थाओ, व्यक्तियो अथवा सम्पादकीय टिप्पणियों के प्रभाव और दबावके कारण कम आवश्यकीय विभागोको अधिक और अधिक आवश्यकीय विभागोको कम अनुदान मिलता है।

३२

राज्य का व्यय

राज्य के व्यय का महत्व

पहिले अध्यायमें हमने देखाकि आधुनिक युगमे राज्यके आर्थिक कार्योंका क्षेत्र [illegible] बढगया है और इसका समाजके आर्थिक क्षेम परभी यथेष्ट प्रभाव पडता है। इन कार्योंके सम्पादनके लिए राज्यके व्ययका परिमाणभी वहुत वढगया है। इस कारण राजस्वके व्यय विभागका महत्वभी अधिक होता जारहा है। प्राचीन कालमें जब राज्यके कर्तव्य थोडेसे ही थे और इनकी पूर्तिके लिए अधिक परिमाण मे व्ययभी नही होताथा तव इस विषयपर अधिक ध्यान नही दियाजाता था। राजस्व-शास्त्र की पुस्तकोमें भी इस विषयपर अधिक ध्यान नही दियाजाता था। परन्तु अब यह वात नही है। समाजकी आयका एक वड़ाभाग अब राज्यके द्वारा व्यय कियाजाता है। अतएव लोगोको इस वातकी जिज्ञासा होनेलगी है कि यह द्रव्य किसप्रकार व्यय कियाजाता है। इसका सदुपयोग होताहै अथवा दुरुपयोग। इसका समाजपर क्या प्रभाव पडताहै इत्यादि। इसप्रकारके प्रश्नोके अन्तर्गत राज्यके व्ययका सिद्धान्त निहित है।

राज्य के व्यय का वर्गीकरण

राजस्व-शास्त्रके लेखकोने अनेक प्रकारसे राज्यके व्ययका वर्गीकरण किया है। प्रत्येकने भिन्न भिन्न दृष्टिकोणसे यह वर्गीकरण किया है। अतएव यह कहना वहुत कठिन है कि कौन सा वर्गीकरण अधिक उपयुक्त है। भिन्न भिन्न वर्गोंसे इस विषयपर [illegible] पड़ता है। अतएव हम कुछ प्रमुख वर्गोंकी विवेचना करेंगे।

[illegible] पुराना वर्गीकरण हितके आधारपर कियागया है। इस आधारपर राज्यके

व्ययके चार वर्ग कियेगये हैं। पहिले वर्गमें वह व्ययहै जिससे समाजके सभी लोगोका हित होताहै जैसेकि रक्षा, शिक्षा और सडकोपर कियागया व्यय। राज्य का सबसे अधिक व्यय ऐसेही कार्योमें होताहै जिससे सर्वसाधारण जनताका लाभ हो। दूसरा वर्ग वहहै जो सार्वजनिक तो समझाजाता है किन्तु उसका लाभ समाज के कुछही लोगोको प्राप्त होताहै जैसेकि निर्धन और अपाहिजोकी सहायतापर व्यय। इसप्रकारके व्ययसे इनलोगोका हिततो होताही है परन्तु समाजका भी हित होताहै क्योकि राज्यसे सहायता न प्राप्त होनेपर इनमेंसे कई चोरी, डकैती और लूटमार करने लगते है और समाजमें अशान्ति पैदा करदेते है। तीसरा वर्ग वहहै जिसमें समाजके हितको दृष्टिमें रखतेहुए व्यय कियाजाता है परन्तु इससे विशेष लाभ उन्ही लोगोको होताहै जो उसको प्राप्त करनेके लिए कुछ शुल्क देते है। उदाहरणार्थ न्यायालयोकी स्थापना और न्यायाधीशोकी नियुक्ति और उनपर व्यय सर्व-साधारण हितके लिए कियाजाता है परन्तु व्यक्तिगत लाभ उन्ही लोगोको होताहै जो न्यायालय को एक निर्धारित कोर्टफीस देतेहै। चौथे वर्गमें वे व्यय आतेहै जिनसे उन्ही लोगो को लाभ होताहै जो राज्यको उन वस्तुओ अथवा सेवाओका पूरा मूल्यदेते है। राज्यके डाक, तार, रेल इत्यादि विभागोपर व्यय कियेहुए द्रव्यसे उन्हीं लोगोका हित होताहै जो इन विभागो द्वारा प्रस्तुत वस्तुओ और सेवाओका पूरा मूल्यदेते है। एक पोस्टकार्डका मूल्य तीनपैसा है। अतएव जो मनुष्य तीनपैसा व्यय करने को तत्परहै उसीको पोस्टकार्डसे लाभभी हो सकता है।

राज्यके व्ययके एक दूसरे वर्गीकरण का आधार उस व्ययसे राज्यको प्राप्त होनेवाली आय है। इसकेभी चार वर्ग कियेगये है। पहिले वर्गमें वह व्ययहै जिस से राज्यको कोई आय नही होतीहै जैसे निर्धनो और अपाहिजोपर कियागया व्यय। दूसरा वर्ग वहहै जिसमे राज्यके व्ययसे प्रत्यक्ष रूपमे तो आय नही होतीहै परन्तु अप्रत्यक्ष रूपसे आयकी वृद्धिमे सहायता मिलती है। उदाहरणके लिए शिक्षापर कियागया व्यय। ऐसा अनुमान कियाजाता है कि शिक्षित लोगोसे सुगमता और कम खर्चसे कर वसूल होजाता है। तीसरे प्रकारके व्ययसे कुछ आय होतीहै। जैसे इस प्रकारकी शिक्षाका प्रबन्ध जिसमें कुछ व्ययकी पूर्ति विद्यार्थियोसे लीगयी फीस से होतीहै अथवा इस प्रकारकी नहर जिसकी चालू लागतका कुछ भाग सिचाईके शुल्कसे प्राप्त होसके। चौथा वर्ग उस व्ययकाहै जिससे राज्यको इतनी आयहो

जातीहै कि कुल व्यय वसूल होजाता है और कभी कभी लाभभी होता है। उदाहरणके लिए डाकखानो और रेलोपर व्यय।

एक अन्य वर्गीकरण राज्यके कर्तव्योके आधारपर कियागया है। पहिले वर्गमें वह व्ययहै जो देशकी रक्षाके लिए कियेजाते है। उदाहरणके लिए सेना, पुलिस, न्यायालय और चिकित्सापर व्यय। दूसरे वर्गमें राज्यके उद्योग धन्धो और व्यापार पर कियेगये व्यय शामिल है—जैसे रेल, बिजली इत्यादिपर व्यय। तीसरे वर्गमें देश के आर्थिक विकास सम्बन्धी व्यय हैं। उदाहरणके लिए शिक्षा, सडक, नहर और बन्दरगाह इत्यादिपर व्यय।

राज्यके कर्तव्योके आधारपर दूसरे प्रकारसे भी वर्गीकरण कियागया है। इसमें दो मुख्य वर्ग है। एक प्रथम श्रेणीका और दूसरा द्वितीय श्रेणीका। प्रथम श्रेणी के व्ययमें रक्षा, शान्ति-स्थापना, प्रशासन और ऋण सम्बन्धी व्यय सम्मिलित है। द्वितीय श्रेणीमें शिक्षा, स्वास्थ्य और सामाजिक बीमा इस प्रकारके समाज-सुधार पर व्यय, राज्यके उद्योग धन्धो और निर्माण कार्योपर व्यय सम्मिलित है। द्वितीय श्रेणीसे यह नहीं समझना चाहिए कि इनके द्वारा सम्पादित कार्योका महत्व कम है।

एक वर्गीकरणके अनुसार राज्यके व्ययको उत्पादक और अनुत्पादक वर्गोंमें विभक्त कियागया है। उत्पादक व्यय वहहै जिनसे राज्यको इतनी आय होतीहो जिससे व्यय पूरा वसूल होजाय अथवा जिनसे समाजके आर्थिक क्षेमकी वृद्धिहो—जैसे रेल सडक, तथा शिक्षा इत्यादिपर व्यय। अनुत्पादक व्ययसे न तो द्रव्य सम्बन्धी आय होतीहै और न समाजके आर्थिक क्षेममें ही वृद्धि। उदाहरणके लिए उस युद्ध से सम्बन्धित व्यय जिसका अन्त पराजयमें हुआ हो।

एक प्रकारका व्यय वहहै जिसके बदलेमें राज्य वस्तुए और सेवाए प्राप्त करता है, अर्थात् व्ययका उन वस्तुओ और सेवाओका मूल्य समझसकते है। उदाहरणके लिए पुलिसपर व्यय कियेगये द्रव्यको पुलिसमैनोंकी सेवाका मूल्य, अध्यापकोपर व्यय किये गये द्रव्यको अध्यापकोकी सेवाका मूल्य समझा जासकता है। इसके प्रतिकूल दूसरे प्रकारका व्यय वहहै जिसके बदले राज्यको प्रत्यक्ष रूपमें कोई वस्तु अथवा सेवा प्राप्त नहीं होती है। उदाहरणके लिए निर्धनो और अपाहिजोपर कियागया व्यय।

एक और वर्गीकरण देकर हम इस प्रकरणको समाप्त करेंगे। इस वर्गीकरण के अनुसार राज्यका एक व्यय इस प्रकारका होताहै जिसमें [illegible]

व्ययके चार वर्ग कियेगये है। पहिले वर्गमें वह व्ययहै जिससे समाजके सब लोगोका हित होताहै जैसेकि रक्षा, शिक्षा और सड़कोपर कियागया व्यय। राज्य का सबसे अधिक व्यय ऐसेही कार्योमें होताहै जिससे सर्वसाधारण जनताका लाभ हो। दूसरा वर्ग वहहै जो सार्वजनिक तो समझाजाता है किन्तु उसका लाभ समाज के कुछही लोगोको प्राप्त होताहै जैसेकि निर्धन और अपाहिजोकी सहायतापर व्यय इसप्रकारके व्ययसे इनलोगोका हिततो होताही है परन्तु समाजका भी हित होता क्योकि राज्यसे सहायता न प्राप्त होनेपर इनमेंसे कई चोरी, डकैती और लूट करने लगते है और समाजमें अशान्ति पैदा करदेते है। तीसरा वर्ग वहहै ।ज… समाजके हितको दृष्टिमें रखतेहुए व्यय कियाजाता है परन्तु इससे विशेष लाभ उन्हे लोगोको होताहै जो उसको प्राप्त करनेके लिए कुछ शुल्क देते है। उदाहरणार्थ न्या यालयोकी स्थापना और न्यायाधीशोकी नियुक्ति और उनपर व्यय सर्व-साधारण हितके लिए कियाजाता है परन्तु व्यक्तिगत लाभ उन्ही लोगोको होताहै जो न्याय ल को एक निर्धारित कोर्टफीस देतेहै। चौथे वर्गमें वे व्यय आतेहै जिनसे उन्ही लो… को लाभ होताहै जो राज्यको उन वस्तुओ अथवा सेवाओका पूरा मूल्यदेते है राज्यके डाक, तार, रेल इत्यादि विभागोपर व्यय कियेहुए द्रव्यसे उन्ही लोगोक हित होताहै जो इन विभागो द्वारा प्रस्तुत वस्तुओ और सेवाओका पूरा मूल्यदेत है। एक पोस्टकार्डका मूल्य तीनपैसा है। अतएव जो मनुष्य तीनपैसा व्यय कर को तत्परहै उसीको पोस्टकार्डसे लाभभी हो सकता है।

राज्यके व्ययके एक दूसरे वर्गीकरण का आधार उस व्ययसे राज्यको आ… होनेवाली आय है। इसकेभी चार वर्ग कियेगये है। पहिले वर्गमें वह व्ययहै जि… से राज्यको कोई आय नही होतीहै जैसे निर्धनो और अपाहिजोपर कियागया व्यय दूसरा वर्ग वहहै जिसमें राज्यके व्ययसे प्रत्यक्ष रूपमें तो आय नही होतीहै परन्तु अप्रत्यक्ष रूपसे आयकी वृद्धिमे सहायता मिलती है। उदाहरणके लिए शिक्षा… कियागया व्यय। ऐसा अनुमान कियाजाता है कि शिक्षित लोगोसे सुगमता और कम खर्चसे कर वसूल होजाता है। तीसरे प्रकारके व्ययसे कुछ आय होतीहै जैसे इस प्रकारकी शिक्षाका प्रवन्ध जिसमें कुछ व्ययकी पूर्ति विद्यार्थियोसे लीगयी फीस से होतीहै अथवा इस प्रकारकी नहर जिसकी चालू लागतका कुछ भाग सिचाई शुल्कसे प्राप्त होसके। चौथा वर्ग उस व्ययकाहै जिससे राज्यको इतनी आ यहै

जातीहै कि कुल व्यय वसूल होजाता है और कभी कभी लाभभी होता है। उदाहरणके लिए डाकखानों और रेलोंपर व्यय।

एक अन्य वर्गीकरण राज्यके कर्तव्योके आधारपर कियागया है। पहिले वर्गमें वह व्ययहै जो देशकी रक्षाके लिए कियेजाते है। उदाहरणके लिए सेना, पुलिस, न्यायालय और चिकित्सापर व्यय। दूसरे वर्गमें राज्यके उद्योग धन्धो और व्यापार पर कियेगये व्यय शामिल है—जैसे रेल, बिजली इत्यादिपर व्यय। तीसरे वर्गमें देश के आर्थिक विकास सम्बन्धी व्यय है। उदाहरणके लिए शिक्षा, सडक, नहर और बन्दरगाह इत्यादिपर व्यय।

राज्यके कर्तव्योके आधारपर दूसरे प्रकारसे भी वर्गीकरण कियागया है। इसमें दो मुख्य वर्ग है। एक प्रथम श्रेणीका और दूसरा द्वितीय श्रेणीका। प्रथम श्रेणी के व्ययमें रक्षा, शान्ति-स्थापना, प्रशासन और ऋण सम्बन्धी व्यय सम्मिलित है। द्वितीय श्रेणीमें शिक्षा, स्वास्थ्य और सामाजिक बीमा इस प्रकारके समाज-सुधार पर व्यय, राज्यके उद्योग धन्धो और निर्माण कार्योंपर व्यय सम्मिलित है। द्वितीय श्रेणीसे यह नही समझना चाहिए कि इनके द्वारा सम्पादित कार्योंका महत्व कम है।

एक वर्गीकरणके अनुसार राज्यके व्ययको उत्पादक और अनुत्पादक वर्गोंमें विभक्त कियागया है। उत्पादक व्यय वहहै जिनमे राज्यको इतनी आय होतीहै जिससे व्यय पूरा वसूल होजाय अथवा जिनसे समाजके आर्थिक क्षेमकी वृद्धि हो—जैसे रेल सड़क, तथा शिक्षा इत्यादिपर व्यय। अनुत्पादक व्ययमें न तो द्रव्य सम्बन्धी आय होतीहै और न समाजके आर्थिक क्षेममें ही वृद्धि। उदाहरणके लिए, उस युद्ध से सम्बन्धित व्यय जिनका अन्त पराजयमें हुआ हो।

एक प्रकारका व्यय वहहै जिनके बदलेमें राज्य वस्तुए और सेवाए प्राप्त करता है अर्थात् व्ययको उन वस्तुओ और सेवाओंका मूल्य समझसकते है। उदाहरणके लिए, पुलिसपर व्यय कियेगये द्रव्यको पुलिसमैनोंकी सेवाका मूल्य, अध्यापकोंपर व्यय किये गये द्रव्यको अध्यापकोंकी सेवाका मूल्य समझा जासकता है। इसके [illegible] प्रकारका व्यय वहहै जिनके बदले राज्यको प्रत्यक्ष रूपसे कोई वस्तु [illegible] प्राप्त नहीं होती है। उदाहरणके लिए निर्धनों और [illegible]

एक और वर्गीकरण [illegible]

व्ययके चार वर्ग कियेगये है। पहिले वर्गमें वह व्ययहै जिससे समाजके सभी लोगोका हित होताहै जैसेकि रक्षा, शिक्षा और सडकोपर कियागया व्यय। राज्य का सबसे अधिक व्यय ऐसेही कार्योमें होताहै जिससे सर्वसाधारण जनताका लाभ हो। दूसरा वर्ग वहहै जो सार्वजनिक तो समझाजाता है किन्तु उसका लाभ समाज के कुछही लोगोको प्राप्त होताहै जैसेकि निर्धन और अपाहिजोकी सहायतापर व्यय। इसप्रकारके व्ययसे इनलोगोका हिततो होताही है परन्तु समाजका भी हित होताहै क्योकि राज्यसे सहायता न प्राप्त होनेपर इनमेंसे कई चोरी, डकैती और लूटमार करने लगते है और समाजमें अशान्ति पैदा करदेते है। तीसरा वर्ग वहहै जिसमें समाजके हितको दृष्टिमें रखतेहुए व्यय कियाजाता है परन्तु इससे विशेष लाभ उन्ही लोगोको होताहै जो उसको प्राप्त करनेके लिए कुछ शुल्क देते है। उदाहरणार्थ न्या-यालयोकी स्थापना और न्यायाधीशोकी नियुक्ति और उनपर व्यय सर्व-साधारण हितके लिए कियाजाता है परन्तु व्यक्तिगत लाभ उन्ही लोगोको होताहै जो न्यायालय को एक निर्धारित कोर्टफीस देतेहै। चौथे वर्गमें वे व्यय आतेहै जिनसे उन्ही लोगों को लाभ होताहै जो राज्यको उन वस्तुओ अथवा सेवाओका पूरा मूल्यदेते है। राज्यके डाक, तार, रेल इत्यादि विभागोपर व्यय कियेहुए द्रव्यसे उन्ही लोगोका हित होताहै जो इन विभागो द्वारा प्रस्तुत वस्तुओ और सेवाओका पूरा मूल्यदेते है। एक पोस्टकार्डका मूल्य तीनपैसा है। अतएव जो मनुष्य तीनपैसा व्यय करने को तत्परहै उसीको पोस्टकार्डसे लाभभी हो सकता है।

राज्यके व्ययके एक दूसरे वर्गीकरण का आधार उस व्ययसे राज्यको प्राप्त होनेवाली आय है। इसकेभी चार वर्ग कियेगये है। पहिले वर्गमें वह व्ययहै जिस से राज्यको कोई आय नही होतीहै जैसे निर्धनो और अपाहिजोपर कियागया व्यय। दूसरा वर्ग वहहै जिसमें राज्यके व्ययसे प्रत्यक्ष रूपमें तो आय नही होतीहै परन्तु अप्रत्यक्ष रूपसे आयकी वृद्धिमे सहायता मिलती है। उदाहरणके लिए शिक्षापर कियागया व्यय। ऐसा अनुमान कियाजाता है कि शिक्षित लोगोसे सुगमता और कम खर्चसे कर वसूल होजाता है। तीसरे प्रकारके व्ययसे कुछ आय होतीहै। जैसे इस प्रकारकी शिक्षाका प्रबन्ध जिसमें कुछ व्ययकी पूर्ति विद्यार्थियोसे लीगयी फीस से होतीहै अथवा इस प्रकारकी नहर जिसकी चालू लागतका कुछ भाग सिचाईके शुल्कसे प्राप्त होसके। चौथा वर्ग उस व्ययकाहै जिससे राज्यको इतनी आयहो

जातीहै कि कुल व्यय वसूल होजाता है और कभी कभी लाभभी होता है। उदाहरणके लिए डाकखानों और रेलोंपर व्यय।

एक अन्य वर्गीकरण राज्यके कर्तव्योंके आधारपर कियागया है। पहिले वर्गमें वह व्ययहै जो देशकी रक्षाके लिए कियेजाते हैं। उदाहरणके लिए सेना, पुलिस न्यायालय और चिकित्सापर व्यय। दूसरे वर्गमें राज्यके उद्योग धन्धों और व्यापार पर कियेगये व्यय शामिल हैं—जैसे रेल, बिजली इत्यादिपर व्यय। तीसरे वर्गमें देश के आर्थिक विकास सम्बन्धी व्यय हैं। उदाहरणके लिए शिक्षा, सड़क नहर और बन्दरगाह इत्यादिपर व्यय।

राज्यके कर्तव्योंके आधारपर दूसरे प्रकारसे भी वर्गीकरण कियागया है। इनमें दो मुख्य वर्ग हैं। एक प्रथम श्रेणीका और दूसरा द्वितीय श्रेणीका। प्रथम श्रेणी के व्ययमें रक्षा, शान्ति-स्थापना, प्रशासन और ऋण सम्बन्धी व्यय सम्मिलित हैं। द्वितीय श्रेणीमें शिक्षा, स्वास्थ्य और सामाजिक बीमा इस प्रकारके समाज-सुधार पर व्यय, राज्यके उद्योग धन्धों और निर्माण कार्योंपर व्यय सम्मिलित हैं। द्वितीय श्रेणीसे यह नहीं समझना चाहिए कि इनके द्वारा सम्पादित कार्योंका महत्व कम है।

एक वर्गीकरणके अनुसार राज्यके व्ययको उत्पादक और अनुत्पादक वर्गोंमें विभक्त कियागया है। उत्पादक व्यय वह है जिनसे राज्यको इतनी आय होती है जिससे व्यय पूरा वसूल होजाय अथवा जिनसे समाजके आर्थिक क्षेत्रकी वृद्धि हो—जैसे रेल, सड़क, तथा शिक्षा इत्यादिपर व्यय। अनुत्पादक व्ययसे न तो राज्य को सीधी आय होती है और न समाजके आर्थिक क्षेत्रमें ही वृद्धि। उदाहरणके लिए—इन युद्धोंसे सम्बन्धित व्यय जिनका [illegible]।

[illegible]

[illegible]

हस्तान्तरित करताहै अर्थात् समाजसे द्रव्य लेकर समाजको द्रव्यही वापिस करदेता है। उदाहरणके लिए राज्यकर द्वारा समाजसे रुपया प्राप्त करताहै और उस द्रव्य के एक भागको पेन्शनके रूपमें अथवा निर्धनों और अपाहिजोकी सहायतामें अथवा ब्याजके रूपमे समाजके व्यक्तियोको देताहै परन्तु दूसरे प्रकारका व्यय वहहै जिस से राज्य समाजके उत्पत्तिके साधनोको काममें लाता है। उदाहरणार्थ सड़क, नहर, पुल और शिक्षालय इत्यादिके बनानेमें राज्य जो द्रव्य व्यय करताहै उससे वह उत्पत्ति के साधनोका प्रयोग करता है। इस प्रकारके व्ययसे उत्पत्तिके साधनोके वितरणमें प्रभाव पडता है। पहिले प्रकारके व्ययको हम 'हस्तान्तरित' व्यय और दूसरेप्रकार के व्ययको 'वास्तविक' व्यय कहेंगे।

राज्य के व्ययसम्बन्धी नियम

राज्यके व्ययके कार्योमें चार नियमोको ध्यानमें रखना आवश्यक कहागया है। पहिला नियम यहहै कि व्ययसे समाजका अधिकतम हित हो। इस नियमको कार्यान्वित करनेके लिए यह आवश्यकहै कि व्यय करनेसे पूर्व इस बातकी अच्छीतरह छानबीन कर ली जानी चाहिए कि किस मदमें व्यय करनेसे समाजको अधिकसे अधिक क्षेम प्राप्त होगा। दूसरा नियम मितव्ययिताका है। मितव्ययिताका अर्थ-कृपणता नही है। इसका यह तात्पर्यहै कि राज्यके द्रव्यको व्यय करनेमें उसी प्रकारकी सावधानीसे काम लेना चाहिए जिस प्रकारकी सावधानी कोई व्यक्ति अपने धनको व्यय करने में लेता है। अतिव्यय और बरबादी न होनेदेनी चाहिए। तीसरा नियम स्वीकृति का है। इसका यह तात्पर्यहै कि बिना उचित अधिकारके राज्यके द्रव्यका व्यय नही होना चाहिए। पहिले अधिकारियोसे स्वीकृति प्राप्त करलेनी चाहिए और तब व्यय करना चाहिए तथा स्वीकृतिसे अधिक व्यय नही करना चाहिए और जिसकार्य के लिए स्वीकृति मिलीहो उसी कार्यमें व्ययभी करना चाहिए। चौथा नियम आय-व्ययके सामजस्यका है। इससे यह नही समझना चाहिए कि प्रत्येक अवस्थामें आय से व्यय कम होना चाहिए क्योकि ऐसेभी अवसर आजाते है जबकि राज्यको ऋण भी लेनापड़ता है। परन्तु इस बातको ध्यानमे रखना चाहिए कि प्रतिवर्ष राज्यका बजट घाटेका बजट न हो।

राज्य के व्यय का आर्थिक प्रभाव

राज्यके व्ययका देशके आर्थिक कार्योपर बहुत प्रभाव पडताहै और जितनी अधिक मात्रामें राज्यका व्यय होताहै उतनाही वह अधिक प्रभावोत्पादक भी होता है। राज्यकी आय समाजकी आयका ही भाग होता है। यदि यह आय राज्य द्वारा व्यय न होकर समाजके व्यक्तियो द्वाराही व्यय होती तो यह सम्भवहै कि वह उन मदो पर और उन परिमाणोमें व्यय न होती जैसीकि राज्य द्वारा होती है। अतएव हम इस परिणामपर पहुचतेहै कि राज्य अपनी व्यय-नीतिसे समाजकी आयका एकभाग इस प्रकारके कार्योंमें लगाताहै जिनमें बिना उसके हस्तक्षेपके वह न लगाया जाता अथवा कमसे कम उतनी मात्रामें न लगता। इसके परिणाम स्वरूप देशकी उत्पत्ति के साधनोके आर्थिक कार्योके वितरणमें भिन्नता होजाती है। अब प्रश्न यहहै कि उत्पत्तिके साधनोके प्रवाहकी दिशाको बदलनेसे समाजका हितहोगा अथवा अहित यह बहुत गम्भीर विषय है। हमको दो प्रकारकी आर्थिक स्थितियोकी तुलना करनी पडती है। एक स्थिति समाजमें उत्पत्तिकी मात्रा और उसके वितरणमें राज्यके हस्तक्षेप करनेके पूर्वकी है दूसरी स्थिति उत्पत्तिकी मात्रा और उसके वितरणपर राज्यके अपनी व्ययनीति द्वारा प्रभाव डालनेके बादकी है। इन दो प्रकारकी आर्थिक स्थितियोकी तुलना करनेपर यदि हम इस परिणामपर पहुचें कि राज्यके हस्तक्षेप करनेके बादकी आर्थिक स्थितिसे समाजका अधिक हित होताहै तो हम कहसकते है कि राज्यके व्ययसे उत्पत्तिके साधनोको भिन्न भिन्न व्यवसायोपर वितरण करनेमें जो परिवर्तन हुआ वहवाछित है। उदाहरणके लिए यदि समाजकी कुछ आय बेकार पडीहै और उत्पत्तिके कुछ साधनभी बेकार पडेहो तो ऐसी अवस्थामें यदि राज्य उस द्रव्यको कर के रूपमें लेकर उत्पत्तिके बेकार साधनोको काममें लगासके तो इस से निस्सन्देह उत्पत्तिकी मात्रामें वृद्धि होगी। इसीप्रकार यदि राज्य अपनी कर और व्यय-नीति द्वारा हानिकारक विलासिताकी वस्तुओसे उत्पत्तिके साधनोको कम कर के उनको जीवन-निर्वाह अथवा निपुणतादायक वस्तुओके उत्पादनमें लगाये तो इस से समाजका हितही होगा। इसके प्रतिकूल यदि राज्य अपनी आयका कुछ हिस्सा बरबाद करे जिसको समाजके लोग उपयोगी कार्योमें लगाते तो इससे समाजकी हानि होगी।

मोटे तौरपर हम कहसकते हैं कि राज्यके व्ययके द्वारा समाजका अधिकतम हित करनेके लिए यह आवश्यक है कि उत्पत्तिकी मात्रामें वृद्धि हो, उनकी भिन्न भिन्न मदों में सन्तुलन हो, वितरणकी असमानता कम हो और आर्थिक अस्थिरतामें भी कमी हो। अब हम यह बतानेकी चेष्टा करेंगे कि राज्यके व्ययसे किसप्रकार और किस अंशतक इनमें सफलता प्राप्त होसकती है।

राज्य के व्यय पर उत्पादन का प्रभाव

राज्यके वह व्यय जिनसे रक्षा, शान्ति और न्यायका प्रबन्ध होताहै, उत्पादन कार्यके लिए आवश्यक है। परन्तु यह देखागया है कि इन मदोंपर विशेषकर बाहरी आक्रमण से रक्षाके लिए, बहुत व्यय कियाजाता है। यदि प्रत्येक देश इस मदमें बीस प्रतिशत वृद्धि करदे तो रक्षाका स्तर तो पूर्ववत्‌ही रहेगा परन्तु इसी परिमाणमें उत्पादनके साधन अन्य मदोंसे निकालकर इन मदोंपर लगाये जावेंगे। इसके विपरीत यदि प्रत्येक देश अपनी रक्षाके व्ययमें बीस प्रतिशत कमी करदे तो उत्पत्तिके कई साधन अन्य आर्थिक प्रयोजनोंके लिए बचजायेंगे जिनसे समाजका अधिक हित होगा। यदि अन्तर्राष्ट्रीय-सुरक्षा संस्थाओं द्वारा संसारभर में शान्तिका समुचित प्रबन्ध होसके तो इससे प्रत्येक देशमें रक्षापर व्यय कम होगा और उत्पादनके साधन जो युद्ध सामग्रियोंके बनानेमें लगेहुए हैं, अन्य लाभदायक पदार्थोंका बनानेके लिए प्राप्त हो सकेंगे।

सामाजिक दृष्टिकोणसे इस प्रकारका राज्यका व्यय [illegible]। इस प्रकारके व्ययमें शिक्षा, चिकित्सा, सफाई [illegible], [illegible] और सामाजिक सुधारपर व्यय सम्मिलित है। [illegible] उत्पादनको बढ़ानेके लिए आवश्यक है। [illegible]

उद्योग धन्धोका राष्ट्रीयकरण करसकता है जिनकी उत्पत्ति और मूल्यका नियन्त्रण समाजके हितके लिए हो।

उत्पत्तिका परिमाण लोगोकी काम करनेकी इच्छापर भी निर्भर होता है। यदि राज्यके व्ययसे लोगोके काम करनेकी इच्छामें ह्रासहो तो इससे उत्पत्तिकी हानि होना सम्भव है। यदि लोगोको विना किसी वन्धनके राज्यमे आर्थिक सहायता मिलनेकी आशाहो तो सम्भवहे कि कुछ लोगोपर इसका प्रभाव कामसे जीचुराने पर पडे। परन्तु यदि आर्थिक सहायता बीमार पडनेपर अथवा अनिच्छामयी बेकारीके समय दीजाये तो इससे कार्य करनेकी इच्छाओमें कमी नही होगी।

आधुनिक कालमें राज्यके व्यय द्वारा आर्थिक व्यवस्थामें स्थिरता लानेको तथा मन्दी और बेकारीको कम करनेको वहुत महत्व दिया जारहा है। अनुभवसे ज्ञात हुआहै कि पूजीवादी आर्थिक व्यवस्थामें स्थिरता नही रहती हे। समय समयपर इसमें मन्दी और बेकारी उत्पन्न होजाती है। राज्यका यह कर्तव्य समझा जाताहै कि वह इन व्याधियोंसे समाजकी रक्षा करे। अन्य उपायोके साथ साथ राज्यकी व्यय-नीति भी इस कार्यमें सहायता करसकती है। यह आशा कीजाती है कि अपने सार्वजनिक निर्माणके कार्योंके द्वारा राज्य आर्थिक मन्दीकी रोकथाम करसकता हे। मन्दीके अवसरपर पूजीपति उत्पत्तिकी मात्रामें विशेषकर उत्पादक वस्तुओके उत्पादन में कमी करदेते हैं जिससे उत्पत्तिके साधनोमें वेकारी होनेलगती है। ऐसे अवसरपर यदि राज्य सार्वजनिक निर्माण कार्यमें वृद्धिकरे तो वेकारोको रोजगार मिलेगा, उनकी आयमें वृद्धि होगी और उपभोग्य वस्तुओकी मागमें वृद्धि होनेके कारण अन्य व्यवसायोका उत्थान होने लगेगा। एक वातसे अवश्य सावधान रहना पडेगा कि राज्य के कार्य अन्य व्यवसायोसे प्रतिस्पर्धा न करें नहीतो जिस परिमाणमें राज्य द्वारा उत्पादनके साधनोको कार्य मिलेगा उसी परिमाणमें अन्य व्यवसायोमें बेकारी होगी। यहभी आवश्यकहै कि राज्य वेकारीको कम करनेके लिए कोईभी कार्य बिना किसी योजनाके आरम्भ न करे। इससे उत्पत्तिके साधनोकी वरबादी होनेकी सम्भावना रहती है। मन्दी और वेकारी आनेके वहुत पहिलेसे ही राज्यको निर्माण-कार्यकी योजनाए तैयार रखनी चाहिए। इस वातका भी ध्यान रखना पडताहै कि इन निर्माण-कार्योमें लगानेके लिए द्रव्य अधिक मात्रामें कर द्वारा नही वरन् ऋणलेकर प्राप्त करना चाहिए। मन्दीके समय द्रव्यके चलनमें वेग लानेकी आवश्यकता है।

३३

राज्य की आय

राज्य की आय की मदें

हम देखचुकेहै कि आधुनिक कालमें राज्यके आर्थिक कार्यो और कर्त्तव्योकी सख्या वहुत बढगयी है और बढती जारही है। इन कार्योके सम्पादनके लिए राज्यको साधन चाहिए। अन्ततोगत्वा ये साधन वस्तुओ और सेवाओके रूपमें ही होतेहै परन्तु आदिमें ये साधन राज्यको द्रव्यके रूपमें इकट्ठा करने पडते है। आधुनिक कालमे राज्यकी आयका एक वडा भाग जनतासे कर के रूपमे वसूल कियाजाता है। यह भाग कुल आयका दो तिहाईसे तीन चौथाई तक होता है। प्राचीन कालमें राजाओ और राज्यके पास अपनी निजकी सम्पत्ति अधिकतर भूमिके रूपमें होतीथी जिसकी आयसे राज्यके सीमित कार्य अधिकतर सम्पादित होते थे। विशेष अवस्थामें जैसे युद्धकालमें राज्य अपनी प्रजासे दवाव डालकर आवश्यक सामग्रिया प्राप्त करलेता था। परन्तु आजकल राज्योके पास अपनी सम्पत्ति वहुत थोडी रहतीहै किन्तु उस की आवश्यकताए बढगयी है। दवाव डालकर सामग्रिया प्राप्त करनेकी प्रथाभी अब बहुतकम काममे लायी जाती है। इसलिए राज्यको अपनी आयको बढ़ानेके लिए कर-प्रणाली की व्यवस्था करनी पडी है।

कर से राज्यको सबसे बड़ी आयहोती है। कर वह रकमहै जो प्रजाको राज्यको अवश्यमेव देनी पड़ती है। इसके भुगतानमें इस बातका विचार नही होताहै कि कर देनेवालेको उस रकमके बराबर राज्यसे प्राप्ति हो। करका परिमाण किस सिद्धान्त के अनुसार निश्चित कियाजाता है उसका विवेचन एक स्वतन्त्र अध्यायमें किया जायगा। परन्तु कर की अपेक्षा कुछ अन्य मदेंभी है जिनसे राज्यको आय होती है। पहिले इन मदोपर प्रकाश डालकर हम इनका वर्गीकरण करेंगे।

सबसे पहिले हम राज्यकी सम्पत्तिसे प्राप्त होनेवाली आयकी विवेचना करेंगे।

प्राचीनकालमें राज्यकी प्रधान सम्पत्ति भूमिके रूपमें थी जिसमें खेती होती थी। इससे राज्य को पर्याप्त मात्रामें आयहो जातीथी परन्तु आजकल इलाकामें राज्य के पास भूमि बहुत कमहै जिसमें राज्यकी ओरसे खेती होतीहो और खेतीके कार्य से उसको आय हो। जंगलोंके रूपमें राज्यके पास विस्तृत भूमि अवश्य रहती है। जंगलोंसे विविध रूपमें जैसे लकड़ी घास, वनस्पति और जंगलोंमें उत्पन्न हुई वस्तुओंको बेचनेसे राज्यको कुछ आयतो अवश्यही होतीहै, परन्तु जंगलों को राज्य के अधीन रखनेका मुख्य उद्देश्य आय नहीं है। जंगलोंके संरक्षण का मुख्य उद्देश्य बाढ़ की गतियों और सतहकी उपजाऊ मिट्टीको बहनेसे रोकना है। इसीप्रकार राज्य खानोंवाली भूमि का भी संरक्षण करता है जिससे वर्तमान पीढ़ी सभी खनिज पदार्थों को अपने काममें लाकर भविष्यकी पीढ़ियों को वंचित न करदे। लाइसेंसद्वारा राज्यको अवश्यही रायल्टी (मालगाना) मिलती है।

राज्य के उद्योग-धन्धे

को उस व्यवसायमे हिस्सा लेनेको प्रेरित कियाजाता है। हानिकारक पदार्थोके उत्पादन और व्यापारका नियन्त्रण करनेके लिएभी राज्य ऐसे धन्धोको अपने अधीन रखना चाहता है। भारतवर्षमें अफीमका व्यापार इसका उदाहरण है।

इस प्रकार हम देखते है कि राज्य केवल आयके निमित्त ही उद्योग-धन्धोको अपने हाथमें नही लेता है। इस नीतिके अन्तर्गत राज्यके उद्योग-धन्धोमें उत्पन्न हुई वस्तुओ और सेवाओंका मूल्य निर्धारण करनाभी रहता है। यदि राज्यको अपनी आय अधिकतम करनीहो तो वह ऐसे मूल्य निर्धारित करेगा जिनसे उसको अधिकतम लाभ हो। परन्तु अनेक ऐसे उदाहरण मिलतेहै जहा यह मूल्य केवल लागतके बराबर होता है। कभी कभी बिना मूल्यके भी राज्यसे सेवाए और वस्तुए मिलती है। उनकी लागत राज्यकी आयसे पूरीकी जाती है। पोस्टकार्ड को केवल लागत पर बेचना, मजदूरो को लागतसे कम किराये पर मकान देना, नि:शुल्क शिक्षा और चिकित्सा इसके उदाहरण है। आकडोसे पता चलताहै कि राज्यके उद्योग-धन्धोसे अधिक आय नही होती है। वर्तमान कालमें कुछ राज्य प्रधानत: आयके लिए कुछ उद्योग-धन्धोका राष्ट्रीयकरण करना चाहते है। यदि बडी मात्रा में इस प्रवृत्तिका विकासहो तो सम्भवहै कि भविष्यमें इस मदसे राज्यको पर्याप्त आय होने लगे।

प्रशासनकारी आय

शासन सम्बन्धी कार्योसे भी राज्यको कुछ आय होजाती है। राज्यके कुछ ऐसे विभाग होतेहै जिनका उपयोग करनेके लिए फीस देनी पडती है। उदाहरणके लिए न्यायालयका उपयोग करनेके लिए कोर्टफीस देनीपडती है। इसीप्रकार दस्तावेज़ोकी रजिस्ट्री करानेके लिए फीस देनी पडतीहै जिससे उसपर राज्यकी मुहर लग जानेसे दस्तावेज़ सम्बन्धी लेन-देन अथवा क्रय-विक्रय राज प्रमाणित हो जाता है। जनताको अनेक उद्योग-धन्धोको चलानेके लिए लाइसेस लेना पडता है। लाइसेस प्राप्त करनेसे किसी कामको करनेकी अनुमति मिलजाती है और लाइसेस लेनेके लिएभी रुपया जमा करना पड़ताहै, जिससे राज्यको आय होती है। इस प्रकार हम देखतेहै कि फीस और लाइसेस से आयके साथ साथ नियन्त्रणका

फ़ीसभी लिया जाता है। यह नहीं समझना चाहिए कि फ़ीससे विभागका पूरा व्यय निकल आता है। फ़ीसकी दर निर्धारित करते समय इस बातको महत्व नहीं दिया जाता है।

थोड़ीसी आय राज्यको जुर्माने और दण्डसे भी होजाती है। राज्यके नियम का उल्लंघन करनेपर दण्ड दियाजाता है। कभी कभी यह दण्ड द्रव्यके रूपमें वसूल कियाजाता है, जिसको जुर्माना कहते हैं। कुछ आय भेंटके रूपमें भी होजाती है। कुछ लोग राज्यको पाठशाला, चिकित्सालय, पुस्तकालय खोलनेके लिए धन देते हैं अथवा युद्धके समय रुपयों और अन्य वस्तुओंसे सहायता करते हैं। कभी कभी लावारिस माल भी सरकारके हाथ लगजाता है। परन्तु इन सब मदोंकी आय बहुत ही कम होती है और उन पर अधिक भरोसा नहीं किया जासकता है।

एक विशेष प्रकारका देय होता है जो कर से मिलता जुलता होता है। सरकार उस देयको उन लोगोंसे वसूल करती है जिनकी सम्पत्तिको उसके किसी कार्य विशेषसे प्रत्यक्ष लाभ हुआहो और उस देयके अनुपातका आधार लाभकी मात्रा रहती है। उदाहरणके लिए यदि किसी स्थानमें सरकारने वहां जल निकास प्रबन्ध किया हो तो उससे उस स्थानके मकानों और दुकानोंका मूल्य बढ़ जायगा। नाली बनानेमें, सड़कको ठीक करने इत्यादिमें म्युनिसिपैलिटीका जो व्यय हुआ उसको वह इस विशेष देय द्वारा उन लोगोंसे वसूल करती है जिनके मकानों अथवा भूमिके मूल्यमें वृद्धि हुई। यह देय अनिवार्य होता है और इसीलिए यह कर से मिलता जुलता है परन्तु एक विशेष लाभके बदलेमें लियाजाता है इस कारण कर से भिन्न है।

प्राचीन भारतमें [illegible]

राज्य की आय का वर्गीकरण

जिस सिद्धान्तपर राज्यके व्ययका वर्गीकरण कियागया था, उसी सिद्धान्तपर आय का वर्गीकरण भिन्न भिन्न लेखकोने भिन्न भिन्न आधारपर किया है। इनमेंसे मुख्य मुख्य वर्गीकरणो को आगे दियाजाता है।

एक पुराने वर्गीकरणके अनुसार राज्यकी आयको दो हिस्सोंमें विभाजित किया गया है। एक हिस्सेमें राजा अथवा राज्यकी सम्पत्तिकी आय और दूसरे हिस्सेमें प्रजासे प्राप्त आय रखीजाती है। एक और वर्गीकरणसे आयके तीनभाग किये गये है। पहिले भागमें वह आयहै जो राज्यको अपनी सम्पत्तिसे, अपने उद्योग-धन्धोसे, दान और भेंटसे अथवा अपहरणसे प्राप्त होती है। दूसरे भागमें वह आय है, जो कर, फ़ीस, विशेष-देय और जुर्मानेसे प्राप्त होती है। तीसरे भागमें वह आय शामिल है जो ऋणसे प्राप्त होती है। तीसरे वर्गीकरणके भी तीन भाग है। पहिले भागमें वह आयहै जो स्वतन्त्र रूपसे होतीहै जैसे दान, भेंट। दूसरे भागकी आय नियतात्मक होतीहै जैसे राज्यकी सम्पत्ति और उद्योग-धन्धोसे आय। तीसरे भाग में अनिवार्य-देय आय शामिलहै जैसे कर, फीस, जुर्माना, विशेष-देय इत्यादि। एक और वर्गीकरणमें राज्यकी आय दो भागोमें विभक्तहै। पहिले भागको साधारण आय कहतेहै जिसमें कर, फीस, राज्यकी सम्पत्ति और उसके उद्योग-धन्धोकी आय शामिल हैं। दूसरे भागको असाधारण आय कहते है। इसमें राज्यकी सम्पत्तिको वेचनेसे अथवा ऋणसे प्राप्त होनेवाली आय शामिल है। आधुनिक कालमें जो वर्गीकरण प्रचलितहै उसके अनुसार राज्यकी आयके दो वडे भाग किये गये हैं। पहिले वर्गमें वह सब आय शामिलहै जो करोसे प्राप्त होतीहै और करोके अतिरिक्त आय जैसे राज्यकी सम्पत्ति और व्यवसायोसे प्राप्त, प्रशासन सम्बन्धी मदोसे प्राप्त और ऋणसे प्राप्त दूसरे भागमें रखी गयी है।

राज्य की अच्छी आय-पद्धति की विशेषताए

राज्यकी आय-पद्धति को समाजके आर्थिक कार्योमें एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। अतएव इसकी व्यवस्था और क्रियापर विशेष ध्यान देनापडता है। आधुनिक

पतियोका उत्साह भंग होजाय और उत्पत्तिकी मात्रा और राष्ट्रीय आयका ह्रास होनेलगेतो इससेभी राज्यकी आय कम होने लगेगी। अन्ततोगत्वा राज्यकी आय समाजकी आयपर निर्भर है। यदि समाज सम्पन्न होगा तो राष्ट्रभी अपनी आय सुगमतासे वढा सकेगा। इसलिए यह आवश्यकहै कि कर इस प्रकारके हो और ऐसी मात्रामें लगाये जायें कि उत्पत्तिके स्रोत सूखने न पायें। जहातक होसके राज्य को अपनी आय-पद्धतिको देशकी आर्थिक-पद्धतिके अनुकूल वनाकर उत्पादन कार्योमें स्थिरता और वृद्धि लानेकी चेष्टा करनी चाहिए, उत्पादनके अन्तर्गत आय को एकत्र करनेमें मितव्ययिता भी शामिल है।

अच्छी आय-पद्धतिमें लोच होनाभी आवश्यक है अर्थात् आय-पद्धति और उसके अवयव इस प्रकारके होने चाहिए कि आवश्यकतानुसार उनसे आय सुगमतासे घटायी और वढायी जासके। कभी कभी ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होजाती है जैसे युद्धकाल में जवकि शीघ्रतासे आयको वढानेकी आवश्यकता पडजाती है। ऐसी परिस्थिति में यदि आय-पद्धतिमें लोच न होतो उसको समयानुकूल नही बनाया जासकता। आयमें आवश्यकतानुसार घटबढ करनेके लिए दो वातोको ध्यानमें रखना पडता है। एकतो यह कि पद्धतिकी मदें विस्तृतहो और दूसरी वात यहहै कि साधारण अवस्थामें इनसभी मदोसे अधिकतम प्राप्य आय वसूल न कीजाय अर्थात् सकटावस्था के लिए कुछ अवकाश रखना चाहिए।

आय-पद्धतिमें विशेषकर कर-प्रणालीमें एकबात ध्यानमें रखनी चाहिए कि कर देनेवालो को अकारण कष्ट और झझट न हो। राज्यके प्रति उनका सद्भाव वनारहे इसकेलिए यह आवश्यकहै कि कर का परिमाण निश्चितहो और देनेकी विधि और काल सुविधाजनक हो। कर वसूल करनेवाले कर्मचारी स्वेच्छाचारिता न करने पावें। साथही आय-पद्धति सुगम और सुबोध होनी चाहिए। इससे भी कर वसूल करनेमे सहायता मिलतीहै और करदेने वालोका विरोधभी कम होजाता है।

जैसा हम ऊपर सकेत करआयेहै, आय-पद्धति विस्तृत होनी चाहिए अर्थात् एक या दो मदो तकही सीमित नही रहनी चाहिए। अगले अध्यायमें हम एककर-प्रणाली और बहुकर-प्रणालीकी विवेचना करेंगे। यहापर इतनाही कहकर हम इसप्रकरणको समाप्त करतेहै कि भिन्न भिन्न अवस्थाओमें भिन्न भिन्न प्रकारसे कर प्राप्त करनेमें सुविधा, सुगमता और मितव्ययिता होती है।

कर के सिद्धान्त

इस प्रकरणमें दो सिद्धान्त प्रतिपादित हुए है। इनमेंसे एकको 'लाभ-सिद्धान्त' और दूसरेको 'शक्ति अथवा क्षमता सिद्धान्त' कहते हैं। लाभ-सिद्धान्तके अनुसार प्रत्येक व्यक्तिको राज्य-कोषमें इतना द्रव्य कर के रूपमें देना चाहिए जिसके बराबर राज्य के कार्योसे उसको लाभ हुआ हो। सरसरी तौरपर बाततो ठीक मालूम देतीहै कि यदि राज्यको कर इसलिए दियेजातेहै कि उनसे समाजका लाभ होताहै तो प्रत्येक व्यक्तिको लाभके अनुपातमें ही करदेना चाहिए, परन्तु जब इस सिद्धान्तको कार्य रूपमें परिणत करनेकी चेष्टा कीजाती है तो कई समस्याए सामने आती है। पहिली बात तो यहहै कि राज्यद्वारा अनेक प्रकारकी सेवाए उपलब्ध होतीहै जिनमें से कई ऐसीहै जिनसे प्राप्त लाभको व्यक्तिगत स्तरपर मापना असम्भवसा ही है। उदा-हरण के लिए मान लीजिए उत्तर प्रदेशकी सरकार ६ करोड रुपया प्रतिवर्ष पुलिस पर व्यय करतीहै जिससे प्रान्तमें शान्ति बनी रहे। इस सामाजिक सेवासे कितना लाभ श्री उमाकान्तको हुआ, इसको रुपये-आने-पाईमें प्रकट करना असम्भव मालूम पड़ता है। यही समस्या सेनापर, स्वास्थ्य-रक्षा सम्बन्धी कार्योपर और सडकोपर व्ययकी भी है। यदि किसी प्रकारसे इस बातका हिसाब लगाभी लियाजाय कि प्रत्येक व्यक्तिको राज्यके कार्योसे कितना लाभ हुआ तो दूसरी समस्या यह उत्पन्न होतीहै कि क्या प्रत्येक व्यक्तिसे प्राप्त हुए लाभके अनुसार कर वसूल करना न्याय-सगत है। इस युगमें राज्य अपनी आयका एक बडा हिस्सा ऐसे कार्योमें व्यय करता है जिससे निर्धनो, अपाहिजो, बेकारो, विधवाओ, अनाथो और बूढो इत्यादि प्रकार के वर्गोंको लाभ होता है। क्या इन लोगोसे यह कहना न्यायसगत होगा कि जितना लाभ उनको राज्यद्वारा हुआहो उसी अनुपातमें वे कर के रूपमें राज्य-कोषमें रुपया जमा करदें? यह तो मूर्खताकी बात होगी। अत: इस लाभ-सिद्धान्तके बारेमें हम इतनाही कहसकते है कि सारे समाजके दृष्टिकोणसे इस बातमें कुछ सार है कि सबको मिलकर राज्यको समाज-हित कार्योके लिए पर्याप्त द्रव्य कर के रूपमें देना चाहिए। परन्तु प्रत्येक व्यक्तिके भागका निर्णय इस सिद्धान्तके आधारपर करना बहुत कठिन ही नही, प्रत्युत अनेक परिस्थितियोमें अनुचितभी है।

लाभ-सिद्धान्तका ही प्रतिरूप एक सिद्धान्त औरभी प्रतिपादित कियागया है

जिसको लागत-पूरक अथवा क्षति-पूरक सिद्धान्त भी कहते हैं। इस सिद्धान्तके अनुसार राज्यको लागतके अनुपातमें कर लेना चाहिए अर्थात् किसी व्यक्तिसे कोई सेवा उपलब्ध करनेमें जितना राज्यका व्यय होता है उतनाही उस व्यक्तिसे कर लेना चाहिए। इस सिद्धान्तका कार्यरूपमें परिणत करनेमें भी वैसी कठिनाइयां होंगी जिनका लाभ-सिद्धान्तमें विवेचन किया जाचुका है। सार्वजनिक सेवाओंको प्रारम्भ करनेसे राज्य द्वारा प्रत्येक व्यक्तिको जो लाभ हुआ है उसमें राज्यकी कितनी लागत लगी इसका हिसाब लगाना बहुत कठिन काम है और प्रत्येक व्यक्ति सेवाकी उस लागतको चुकता करनेमें असमर्थ है।

उचित अथवा क्षमता सिद्धान्त

से आय मिलती रहती है। समान आय होनेपर स्थिर आयमें अस्थिर आयसे अधिक कर-क्षमता होती है। इसप्रकारके अपवादोको ध्यानमें रखकरही आयके परिमाण को कर-क्षमताका माप-दंड समझाजाता है।

परन्तु इतनेही पर हमारी कठिनाइयोका अन्त नही होजाता है। यह मानाकि अन्य बाते समान होनेपर अधिक आय वालेकी कम आय वालेसे अधिक कर-क्षमता होतीहै, परन्तु कितनी अधिक? क्या कर-क्षमता उसी अनुपातमें बढतीहै जिस अनुपात में आय बढतीहै या उससे अधिक अनुपातमें? इस प्रश्नका उत्तर देनेसे पहिले हमको कुछ गहराईमें उतरना पडता है। जब मनुष्य कर देतेहै तो वास्तवमें वे उन वस्तुओ और सेवाओकी तृप्ति (तुष्टि) का त्याग करतेहै जो उस द्रव्यसे प्राप्त होती है। उदाहरणके लिए जो व्यक्ति दस रुपया कर देताहै वह दस रुपयेसे जिन वस्तुओ और सेवाओको मोललेता उनसे प्राप्त होनेवाली तुष्टिका त्याग करताहै और जो व्यक्ति बीस रुपया कर देताहै वह बीस रुपयेके व्ययसे प्राप्त तुष्टिका त्याग करता है। एक मत यहहै कि भिन्न भिन्न आयके व्यक्तियोको इतना कर देना चाहिए जिससे उनकी तुष्टि-त्यागकी मात्रा बराबर हो। हमारे उदाहरणमें यदि दस रुपया कर देनेवाले की आय दोसौ रुपया और बीस रुपया कर देनेवाले की आय चारसौ रुपया प्रतिमास होतो क्या हम कहसकते है कि कर देने से उनका समान तुष्टि-त्याग हुआ? क्रमागत-उपयोगिता-ह्रास नियमके अनुसार जैसे जैसे आयमें वृद्धि होती जातीहै वैसे वैसे आयकी सीमान्त उपयोगिता कम होतीजाती है। यह सम्भवहै कि दोसौ रुपया आयवालेको दस रुपया कर देनेमें चारसौ रुपया आयवालेके बीस रुपया कर देनेकी अपेक्षा अधिक तुष्टि-त्याग करना पडताहो, क्योकि पहिले व्यक्तिको कुछ जीवन-रक्षक अथवा निपुणतादायक पदार्थोसे अपनेको वंचित करना पडताहो और दूसरे व्यक्तिको सम्भव है कुछ विलासिताकी वस्तुओका उपभोग कम करना पडे। अतएव समान तुष्टि-त्यागके सिद्धान्तके अनुसार अधिक आयवालोको कम आय वालोकी अपेक्षा अधिक अनुपातमें कर देना चाहिए अर्थात् समान तुष्टि-त्यागके लिए दोसौ रुपये आयवाले व्यक्तिको दससे कम कर देना चाहिए। एक सिद्धान्त यहभी है कि राज्यको इस परिमाणमें कर लेना चाहिए जिससे समाजका तुष्टि-त्याग न्यूनतम हो। इस सिद्धान्तके अनुसार कर-प्रणाली बनानेमें गरीब लोगोसे एक निर्धारित सीमातक बिल्कुल कर नही लेना चाहिए। उसके ऊपरकी आयमें वर्धमान कर लगाना

आर्थिक-स्तरमें कोई बदलाव नही होता है। इन लोगोंके अनुसार राज्यको अपनी कर-नीति द्वारा भिन्न भिन्न आर्थिक वर्गोंकी पारस्परिक आर्थिक स्थितिमें विषमता पैदा नही करनी चाहिए। जैसाकि हम नीचे समझायेंगे यह तर्क ठीक नहीं है। एक बात और इस कर के पक्षमें यह कही जातीहै कि यह एक सुबोध सीधा कर है जो बहुत आसानीसे समझमें आ जाताहै और इसकी गणितभी सुगमतासे होजाती है। परन्तु केवल सिधाईही कर का गुण नही माना जासकता है।

ऊपर दीगयी तालिकामें वर्धमान कर का भी चित्रण कियागया है। अधिक आय पर कर की दरभी अधिकहै और कर का परिमाणभी आयके अनुपातकी अपेक्षा अधिक है। बचीहुई आयको देखनेसे पता चलताहै कि उसका वितरण पहिलेसे कम विषम होगया है। इस कर के समर्थक अपने पक्षको पुष्ट करनेके लिए समानतुष्टि-त्याग और न्यूनतम तुष्टि-त्यागके सिद्धान्तका सहारा लेते है। इनका कहनाहै कि क्योंकि आयकी वृद्धिके साथ साथ उसकी सीमान्त-उपयोगिता घटती जातीहै और बहुत अधिक आयके स्तरोंपर शीघ्रतासे कम होतीहै, अतएव समान तुष्टि-त्याग और न्यूनतम तुष्टि-त्यागके दृष्टिकोणसे वर्धमान कर का प्रयोग होना चाहिए। एक विशेष बात वर्धमान कर के सम्बन्धमें यहहै कि इसके द्वारा राज्यको पूजीवादके अन्तर्गत सम्पत्ति और आयके वितरणकी विस्तृत विषमताको कम करनेमें सहायता मिलती है। समाजका क्षेम अधिकसे अधिक बनानेके लिए यह आवश्यकहै कि वितरणकी विषमतामें कमी कीजाय और इसके सम्पादनके लिए कर-नीतिका प्रयोग एक वाछित उपकरण सिद्धहुआ है। वर्धमान कर में एक बात अवश्य ध्यानमें रखनी चाहिए कि करकी दर इसप्रकार की न होनेपावे जिससे पूजी-सचयके कार्यमें और उत्पादनके साधनोको काममें लगानेमें शिथिलता आजाये।

वर्धमान कर के विपरीत ह्रास-मान कर होताहै जिसकी दर आयकी वृद्धिके साथ साथ घटती जाती है। इसप्रकार के कर को किसी सिद्धान्तपर भी न्यायसगत नही ठहराया जाता और प्रत्यक्ष रूपसे यह प्रयोगमें नही आता। परन्तु अप्रत्यक्ष रूपमें कभी कभी इसप्रकार का परिणाम देखनेमें आता है। उदाहरणके लिए अग्रेज़ी राज्यमें भारतवर्षमें नमकके कर का भार धनी लोगोपर कम और निर्धनोपर अधिक था।

कर-क्षमता-सिद्धान्तके पक्षमें अनेक बातें कही गयीहै जोकि राज्यके अधिकारियो

को मान्यभी है। परन्तु जब हम कर-प्रणालियोंका अध्ययन करतेहैं तो हमको कहीं भी ऐसी प्रणाली नहीं मिलती जिसका आधार केवल यही सिद्धान्त हो। उदाहरण के लिए परोक्ष करों का भार विशेषकर उन वस्तुओंपर लगनेवाले करोंका जिनका उपयोग गरीब जनता करतीहै, धनी लोगोंकी अपेक्षा गरीबोंपर अधिक पड़ता है। परन्तु किसीभी राज्यमें अभीतक उनका प्रयोग छोड़ा नहीं गया है। परिस्थितिके अनुसार कर-प्रणाली प्रभावित होतीरहती है।

प्रत्यक्ष और परोक्ष कर

इस प्रकरणमें प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष करका भेद स्पष्ट कर देना उचित होगा। प्रत्यक्ष करोंसे प्रायः ऐसे कर समझे जातेहैं जिनका भार वही लोग वहन करतेहैं जिनपर कर लगाया जाताहै, अर्थात् कर देनेवाले उनको दूसरे लोगोंसे वसूल नहीं करसकते। इसके विशिष्ट उदाहरण आय-कर, सम्पत्ति-कर और उत्तराधिकार-कर हैं।

एककर प्रणाली और वहुकर प्रणाली

आधुनिक कालमें राज्य अनेक प्रकारके कर लगाताहै और उनकी सख्या वढती जा रही है। परन्तु समय समयपर कर-प्रणालीको सक्षिप्त बनानेके विचार प्रकट किये गये है। इस प्रकरणमें एककर-प्रणालीकी विशेष रूपसे चर्चा हुई है। फ्रान्सकी एक आर्थिक विचार-धाराके लोगो (जिनको फिजियोक्रैट्स् कहते है) के कथनानुसार राज्यको केवल एकही कर लगाना चाहिए, क्योकि उनकी धारणा थी कि आर्थिक पद्धतिमें कर चाहे कहीपर लगाया जाय घूमफिरकर वह अन्तमें भूमि-कर परही वसेगा। जैसाकि हम अगले अध्यायमें वतायेंगे उनकी यह धारणा भ्रान्तियुक्त थी। कुछ समय हुआ अमेरिकामें हेन्‌री जॉर्ज नेभी एककर-प्रणालीके लिए वहुत प्रयत्न किया था। उनकाभी यही कहनाथा कि राज्यको केवल एक भूमि-करही लगाना चाहिए। उसका एक कारण यहहै कि भूमि-कर उद्योग-धन्धोंके विकासमें वाधा नही पहुचायेगा, परन्तु प्रधान कारण यह वताया जाताहै कि भूमिकी एक विशेषता यहहै कि वह प्रकृतिकी देनहै और क्योकि भूमिका क्षेम परिमितहै अतएव जनसख्या की वृद्धिसे भूमिकी माग और उसका मूल्य वढताजाता है। मूल्यमें यह वृद्धि जो किसी व्यक्ति विशेषके उद्योगसे नही हुईहै समाजको प्राप्त होनी चाहिए, अतएव राज्यको इसे कर के रूपमें लेलेना चाहिए। इस तर्कमें एक कठिनाई यह मालूम पडतीहै कि भूमिके किसी टुकडेकी मूल्य-वृद्धिमें कितना हिस्सा जनसख्या और माग की वृद्धिके कारणहै और कितना हिस्सा उसके स्वामीकी पूजी और परिश्रमके कारण। विना इस वातका विचारकिये जो भूमि-कर हेन्‌री जॉर्जकी योजनाके अनुसार लगाया जायगा उससे भूमिके सुधारमें पूँजी लगानेमें उत्साह कमहो जायगा। केवल भूमि-कर लगानेसे कर-क्षमता सिद्धान्तकी अवहेलना होतीहै, क्योकि एक करोडपतिको जिसके पास भूमि नहीहै कुछभी कर नही देना पडेगा। इसके अतिरिक्त भूमि-कर आधुनिक राज्यके वढतेहुए व्ययको पूरा करनेमें अपर्याप्त होगा विशेषकर उन देशोमें जहा कि जनसख्याकी वृद्धि रुकगयीहै और घटनेभी लगी है।

एककर-प्रणालीमें केवल आय-कर लगानेका भी सुझाव किया गयाहै क्योकि अन्ततोगत्वा सभी कर आय-कर से ही दिये जातेहै अतएव यह सीधा मार्गहै कि कर आय परही लगाया जाय। भूमि-कर की तुलनामें यह कर अधिक उपयुक्त प्रतीत

होता है। यह प्रत्येक प्रकारकी आयपर लगाया जासकता है और वर्तमान कर-नीति का प्रयोग करके उसको क्षमता-सिद्धान्तके अनुकूल भी बनाया जासकता है। फिर भी केवल आय-कर लगानेमें कुछ असुविधाएं हैं। अनुभवके आधारपर ज्ञात हुआ है कि कर लगाने और उसको इकट्ठा करनेमें बहुत परेशानी और व्यय भी होता है। पूंजी-वादी देशोंमें कम आयवाले ही अधिक संख्यामें पाये जाते हैं। यह भी देखा गया है कि और करोंकी अपेक्षा आय-कर से बचत करनेके उत्साहमें मन्दी आनेकी प्रवृत्ति रहती है। इसके अतिरिक्त यदि आयपर ही कर लगाया जाय तो जो बड़ी बड़ी सम्पत्तियां उत्तराधिकारियोंको मिलती हैं और जिनमें पर्याप्त मात्रामें कर देनेकी क्षमता होती है वह कर से मुक्त रहेंगी। इन अनिष्ट दोषोंका समाधान कुछ अंशमें [illegible] हो सकता है, यदि बचतके ऊपर आय-कर न लगाया जाय और उत्तराधिकारीकी सम्पत्ति को उत्तराधिकारके समय आय मान लिया जाय।

प्रणालीमें कर से बचकर निकलनेकी चेष्टाकी पकड़की जासकतीहै, क्योंकि जब अनेक करोंके सम्बन्धमें आंकड़े इकट्ठा कियेजायेंगे तो इनकी जांच पड़ताल करनेसे वास्तविक स्थितिका बोध अधिक सुविधाके साथ होसकेगा।

ऊपर दियेगये विवेचनसे हम इसी परिणामपर पहुंचतेहैं कि किसीभी एककर-प्रणालीकी अपेक्षा बहुकर-प्रणाली अधिक श्रेयस्करहै। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि जितने अधिक कर होंगे उतनीही अच्छी कर-प्रणालीभी होगी। करोंकी बहुतायतसे भी झंझट और असुविधाएं उत्पन्न होजाती हैं। थोड़ेसे सप्रभाव करों का प्रयोग होना चाहिए। जहांतक धनी लोगोंका सम्बन्धहै उनपर आय-कर, सम्पत्ति-कर, उत्तराधिकार-कर और विलासिताकी वस्तुओंपर कर का प्रयोग होना चाहिए। यदि गरीब लोगोंसे कर लेना आवश्यक होजाता है तो उनसे इस प्रकारकी वस्तुओंपर कर वसूल करना चाहिए जो वस्तुएं जीवन-निर्वाहके लिए आवश्यक और निपुणता-दायक न हों और जिनका प्रचुर मात्रामें सेवन होताहो जैसे तम्बाकू, शराब इत्यादि।

कर सम्बन्धी नियम

करोंके विषयमें अबतक जो कुछ कहागया है उसके आधारपर कर सम्बन्धी नियम बनायेगये हैं। सबसे पुराने नियम अंग्रेजी ग्रन्थोंमें स्मिथके प्रतिपादित नियम समझे जातेहैं जो अबतक आदरकी दृष्टिसे देखेजाते हैं। बादमें इनमें कुछ और नियमभी जोड़ दियेगये हैं। स्मिथके प्रतिपादित चार नियम हैं.

(१) समानता अथवा क्षमता-नियम—इस नियमका तात्पर्य यहहै कि प्रजाके लोगोंको अपनी शक्ति और सामर्थ्यके अनुपातमें राज्यको कर देना चाहिए। यह कर उस अनुपातमें होना चाहिए जिस अनुपातमें राज्यकी छत्र-छायामें वे अपनी आयका उपभोग करते हैं। स्मिथके मन्तव्यसे इस प्रकारसे कर देनेवालोंके तुष्टि-त्यागमें समानता होगी और इसप्रकार की कर-प्रणालीभी न्यायसंगत होगी। पाठकोंके ध्यानमें आगया होगाकि इस नियमकी झलक कर के क्षमता-सिद्धान्तमें भी पायी जाती है। लोगोंको शंकाहै कि स्मिथ आनुपातिक-कर के पक्षमें था अथवा वर्धमान-कर के; क्योंकि नियमकी व्याख्यामें जिस भाषाका प्रयोग उसने कियाहै, उससे स्पष्ट

बोध नहीं होता है कि उनका अभिप्राय क्या था ?

(२) निश्चयताका नियम—प्रत्येक व्यक्तिके कर का परिमाण निश्चित होना चाहिए न कि मनमाना। देनेका समय और विधि भी स्पष्ट और सुगम होनी चाहिए। राज्यको भी निश्चयतासे बोध होजाता है कि उसको कर से कितनी आमदनी प्राप्त करनी चाहिए। इस नियमका पालन होनेसे कर देनेवालोंका राज्यके प्रति सद्भाव होता है।

(३) सुभीतेका नियम—प्रत्येक कर उस विधिसे और ऐसे समयपर लगाना चाहिए जिस प्रकार कर देनेवालोंको सुभीता हो।

(४) मितव्ययिताका नियम—प्रत्येक करकी व्यवस्था इस प्रकारसे होनी चाहिए जिससे राज्यके कोषमें कर के परिमाणका अधिकसे अधिक भाग जमा हो अर्थात् कर उगाहने और प्रबन्ध करनेमें व्यय कमसे कम हो। इस नियमकी व्याख्या आजकल अधिक व्यापक रूपसे कीजाती है। उगाहनेके दृष्टिकोणसे कोई कर मितव्ययी होसकता है, परन्तु यदि उसके कारण लोग उत्पत्तिकी मात्राको कम करदें तो उससे राष्ट्रीय आय कम होजायगी और राज्यको भविष्यमें कम कर मिल सकेगा।

एक नया नियम उत्पादकता का है। अधिकांश [illegible] है। यदि सब नियमोंका पालन होगया परन्तु आय पर्याप्त नहीं हुई तो सरकारके कार्योंमें रुकावट पड़ने लगेगी। यदि करोंसे यथेष्ट आय हो तो [illegible] पड़ा करता है। परन्तु [illegible] होनी ही नहीं, परन्तु [illegible] होनी चाहिए।

एक और नियमके अनुसार [illegible]

इन सभी नियमोंका [illegible]

३५

कर-भार का हस्तान्तरण और आर्थिक प्रभाव

कर-भार

राज्य प्रारम्भमें जिस व्यक्ति अथवा सस्थासे कर लेताहै उस कर का भार यह आवश्यक नहीहै कि उन्हीपर रहे। वे इस बातकी चेष्टा करतेहै कि किसी विधिसे वे उस भारको पूर्ण अथवा आशिक रूपमें दूसरोपर डालकर स्वय उस भारसे मुक्त हो जायें। कभी कभी वे ऐसा करनेमें समर्थ होजाते है और कभी कभी नहीभी होते। कर-भारको दूसरोपर डालनेकी क्रियाको हम कर का हस्तान्तरण कहेंगे। हस्तान्तरित करते करते एक ऐसी स्थिति आजाती है जहापर आगे हस्तान्तरित करना सम्भव नही होता। जिस स्थानपर यह क्रिया रुकजाती है उसको हम कर-भार का विराम कहेंगे। उदाहरणके लिए कल्पना कीजिए, राज्यने हरिसे १० रु० कर के रूप में लिया, हरिने मोहनसे वह रुपया वसूल किया और मोहनने रामसे वसूल किया। परन्तु राम उस भारको अन्य किसीपर न डाल सका। उसको स्वय उसे वहन करना पडा। यहा हस्तान्तरण कार्यका अन्त होगया, अर्थात् कर-भार विराम अवस्थामें पहुंचगया। इस प्रकरणमें जब हम कर-भार शब्दका प्रयोग करतेहै तो उससे द्रव्य की उस मात्राको समझना चाहिए जो राज्यको कर के रूपमें प्राप्त हुई हो।

प्रसरण-सिद्धान्त

कर-भारको हस्तान्तरित करनेके और उसके विराम-स्थानके विषयमें समय समय पर लोग भिन्न भिन्न परिणामोपर पहुचे है। एक सिद्धान्तके अनुसार जिसको प्रसरण-सिद्धान्त कहतेहै, किसीभी कर को, कहीपर भी और किसी प्रकारसे भी क्यो न लगाया जाये, वह हस्तान्तरित होता जायेगा, यहातक कि अन्तमें उसका भार थोड़ा

यदि कर को मूल्यमें समावेश करनेका सुयोग हो, तबभी यह आवश्यक नहीहै कि वह अवश्यमेव हस्तान्तरित हो जायेगा। मान लीजिए एक टिन सिगरेटका मूल्य २ रु० है और उसपर राज्यने २ आना कर लगाया। अब यदि सिगरेट बेचने वाला सिगरेटका मूल्य २रु० से बढाकर २ रु० २आ० कर दे और उसके ऐसा करनेसे उसकी आयमें क्षति न हो, तो वह सफलतासे कर-भारको अपने ग्राहकोंके ऊपर डाल सकता है। कुछ लोग सोचतेहै कि विक्रेता कर की मात्राको मूल्यमें जोड देता है और अपने ग्राहकोसे वसूल करता है। कुछ प्रत्यक्ष उदाहरणभी ऐसे दिखाई पड़तेहै जिनमें कर लगानेके बादही वस्तुका मूल्यभी ठीक उतनाही बढ जाताहै जितनी कि करकी मात्रा होती है। पर इससे यह परिणाम निकालना गलत होगा कि प्रत्येक कर वस्तुके मूल्यमें जोडकर दूसरोपर डाल दिया जाताहै। माना कि विक्रेताको अपनी वस्तुका मूल्य बढानेकी स्वाधीनताहै, परन्तु क्या इससे यह सिद्ध होजाताहै कि वह जितना चाहे उतना मूल्य बढा देगा? यदि यही बात होती तो वह सिगरेटका मूल्य कभीका बढाचुका होता, कर लगानेके समयकी प्रतीक्षा न करता। विक्रेताको इस बातका ध्यान रखना पडताहै कि किस मूल्यपर उसकी अधिकतम बिक्री होगी और अधिकतम लाभ होगा। अन्य परिस्थितिया समान रहने पर मूल्यमें बदलाव होनेसे मागके परिमाणमे भी बदलाव होजाता है जिसे विक्रेता को ध्यानमें रखना पडता है। यदि मूल्यमें वृद्धि करनेसे उसकी बिक्री घट गई तो यह सम्भवहै कि कर वसूल हो जानेपर भी उसके लाभकी मात्रामें कमी होजाये। अतएव उसको मूल्य बढानेसे पूर्व मागकी दशाका अध्ययन करना पड़ताहै। किसी भी वस्तुकी मागके परिमाणमें मूल बात उपयोगिता-रहती है। कर लगानेसे किसी वस्तुकी उपयोगिता बढ तो नही जाती जिसके कारण ग्राहक अधिक मूल्यपर भी उस वस्तुको उतनेही परिमाणमे मोललें जितनी कि वे कर लगनेके पूर्व कम मूल्यपर लिया करते थे। मूल्यकी वृद्धि होनेसे कुछ लोग उस वस्तुको कम परिमाणमें लेंगे और कुछ लोग प्रतिनिधि वस्तुओका प्रयोग करने लगेंगे। हा यदि वह वस्तु अत्यन्त आवश्यक प्रयोगकी है, उसकी प्रतिनिधि वस्तुभी कोई नही है और उसकी माग बेलोचहै तो ऐसी परिस्थितिमें ग्राहक मूल्य वृद्धि होजाने परभी अपनी मांगके परिमाणको कम नही करेंगे और ऐसी दशामें विक्रेता सफलतापूर्वक कर को हस्तान्तरित कर सकेंगे।

माग और पूर्ति का प्रभाव

इस विवेचनसे पाठकोंको समझमें आगया होगा कि कर के भारको हस्तान्तरित करना केवल विक्रेताओं की इच्छा पर निर्भर नहीं करता। कर को मूल्यमें समावेश करके वसूल किया जा सकताहै अथवा नहीं, यदि हां, तो किस अंशतक? इन बातोंका विचार करनेके लिए हमको उन सभी बातोंको ध्यानमें रखना पड़ताहै जिनसे मूल्य निर्धारित होता है। इसी लिए कहाजाताहै कि कर-हस्तान्तरण का अध्ययन करने के लिए हमको मूल्य-निर्धारण क्रियाका अध्ययन करना पड़ता है। मूल्य निर्धारित करनेमें माग और पूर्ति और उनको प्रभावित करनेवाली बातोंका अध्ययन करना पड़ता है। जिन बातोंका माग और पूर्तिपर प्रभाव पड़ताहै, उन्हींसे मूल्य निर्धारित होताहै और उनके विवेचनसे ही कर के हस्तान्तरित करनेकी समस्या पर भी प्रकाश पड़ता है। अतएव हम उन्हीं विषयोंकी विवेचना करेंगे।

करनेके लिएभी दो वातोंकी आवश्यकता है। पहिले तो यह कि पूजीपति को अन्य धन्धेका ज्ञान हो और वह नये धन्धेकी जोखिमोंको सहन करनेके लिए तत्पर हो। दूसरी वातयहहै कि अन्य उद्योग-धन्धेमें पूजी लगानेसे, पहिले धन्धेकी अपेक्षा अधिक लाभ होनेकी सम्भावना हो। यदि सभी उद्योग-धन्धोपर कर लगा हुआ हो तो पूजी को एक धन्धेसे हटा कर दूसरेमें लगानेसे अधिक लाभकी आशा कमही होगी। सक्षेप में कह सकते है कि यदि विना किसी प्रकारकी क्षतिके किसी वस्तुका उत्पादक उस धन्धेमें लगे हुए साधनोंको दूसरे धन्धोमे लगाकर पहिली वस्तुके परिमाणमें कमी कर सके तो ऐसी स्थितिमें वह कर के भारको मूल्यमें डालकर ग्राहकोंसे वसूल कर सकेगा। अर्थात् किसी वस्तुकी पूर्तिमें जितनी अधिक लोच होगी, उतनीही अधिक मात्रामें कर-भार को हस्तान्तरित करनेमें सुविधा होगी।

अव मागके पक्षका अध्ययन करें। किसीभी वस्तुके ग्राहक उस वस्तुके मूल्यकी वृद्धिमें रुकावट डालनेकी चेष्टा करेंगे। इस काममें उनको तभी सफलता प्राप्त हो सकतीहै जव कि वह वढे हुए मूल्यपर अपनी मागको पर्याप्त मात्रामें कम करसकें। ऐसा करनेसे विक्रेता की वस्तुए कम परिमाणमें विकेंगी और उनको वेचनेके लिए उसे मूल्य कम करना पडेगा, परन्तु ग्राहक लोगभी उस वस्तुकी माग पर्याप्त मात्रा में तभी कम कर सकते है जव कि वस्तु अधिक आवश्यक न हो अथवा उसकी प्रति-निधि वस्तुए वर्तमान हो, जिनका प्रयोग वे कर वाली वस्तुके स्थानपर कर सकें अर्थात् यदि उस वस्तुकी माग लोचदार हो तो ग्राहक मागमें कमी कर सकते है और विक्रेता को मूल्य घटानेके लिए वाध्य कर सकते है। जितनी अधिक मात्रामें मागमें लोच होगी उतनी अधिक इस कार्यमें ग्राहको को सफलता मिलेगी और कर का भार विक्रेताओंपर वना रहेगा। परन्तु यदि वह वस्तु आवश्यकहै और उसकी प्रतिनिधि वस्तुए नही है अथवा प्रतिनिधि वस्तुओंपर भी कर लगा हुआहै तो ग्राहको को दवना पडेगा, और कर-भार भी उन्हीपर अधिक होगा। सामूहिक उपभोगकी अनेक वस्तुए ऐसी होती हैं जैसे नमक, तम्बाकू जिनकी मागमें वहुतकम लोच होती हैं और थोडी मात्रामें मूल्यकी वृद्धिसे उनकी विक्रीमें कोई अन्तर नही आता। ऐसी ही वस्तुओंका मूल्य विक्रेता लोग कर के पूरे परिमाणके वरावर वढाकर ग्राहकोसे वसूल करते है और इसीके आधारपर लोग समझते हैं कि सभी करो पर यही वात लागू होगी।

माग और पूर्तिके दोनो पक्षोको साथ साथ रखकर हम कह सकतेहैं कि उत्पादक लोग उत्पत्तिकी मात्रामें कमी करके कर के भारको ग्राहकोपर डालनेकी चेष्टा करतेहैं और ग्राहक लोग अपनी मागको कम करके उनकी इस चेष्टामें बाधा डालनेका प्रयत्न करते है। इस प्रतिद्वन्द्वितामें कौन अधिक सफल होगा, यह मांग और पूर्तिकी सापेक्ष लोचपर निर्भर करता है। यदि मागमें लोच नहीहै अथवा बहुत कमहै तो विक्रेता अधिक सफलतासे कर को मूल्यमें जोड सकेगा, क्योकि उनको उत्पत्तिकी मात्रामें कमी करनेकी आवश्यकता नही पड़ेगी। परन्तु यदि माग बहुत लोचदार है तो कर के भारको ग्राहकोपर डालना दुष्कर होगा, क्योकि ऐसी अवस्थामें उत्पत्ति की मात्रामें अधिक कमी करनेकी आवश्यकता पडेगी। अतएव कमसे कम वर्तमान और निकट भविष्यकालमें कर का अधिकाश भाग उत्पादकोपर ही रहेगा। यदि माग और पूर्तिकी लोच समान हो तो कर का भार दोनो पक्षोपर बराबर होगा। इस स्थितिको हम रेखा-चित्र द्वारा भी चित्रित करसकते है।
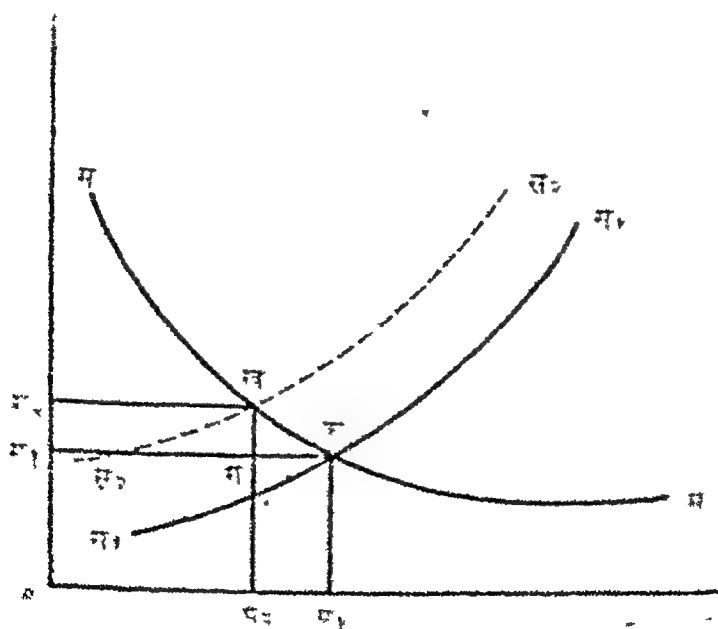
[illegible]

होकर स२ स२ होगई है। कर लगानेसे पूर्व मांग और पूर्तिका सन्तुलन ०प१ परिमाण और तदनुसार ०म१ मूल्यपर होताहै और कर लगानेके पश्चात् ०प२ परिमाण और ०म२ मूल्य पर होता है। स्पष्टहै कि जिस वस्तुकी माग और पूर्तिकी दशा इस प्रकारकी होगी, उस पर लगाएगये 'ख घ' करके भार का 'ख ग' माग उस वस्तुके ग्राहकों पर और 'ग घ' उत्पादको पर पडेगा।

एकाधिकारी पर कर

एकाधिकारीपर कर लगनेसे वह किस प्रकार उसके भारको हस्तान्तरित करनेकी चेष्टा करेगा, इसका विवेचन साधारण प्रतिस्पर्द्धाकी अवस्थामे कुछ भिन्न है, क्योकि एकाधिकारी का किसी वस्तुकी पूर्तिपर अधिकार रहता है। एकाधिकारीपर कई प्रकारसे कर लगाया जा सकता है। यदि कर उत्पत्तिकी मात्राके हिसाबसे लगाया जाये और कर लगानेके पूर्व एकाधिकारी अपनी वस्तुके मूल्यका स्तर इस प्रकार निर्धारित करचुका हो, तो कर लगानेसे वह वस्तुके मूल्य को ऊचा करेगा अथवा नही और यदि ऊचा करेगा तो किस स्तर तक इसका निर्णय माग और पूर्ति की विशेषताओ पर ही निर्भर करता है। यदि उस वस्तु की मागमें बहुत कम लोच हो और उसकी प्रतिनिधि वस्तुए प्राप्त न हो तो एकाधिकारी कर के भार को अपने ग्राहकों पर डालनेमें समर्थहो सकेगा। परन्तु यदि उस वस्तुकी माग बहुत लोचदार हो और एकाधिकारी उत्पत्ति के साधनो को बहुत सुगमतासे अन्य उद्योग-धन्योमे लगाकर उस वस्तुके परिमाणको पर्याप्त मात्रामें कम करनेमें असमर्थ हो तो कर का अधिकाश एकाधिकारी परहीं रहेगा। यदि कर वस्तुओकी मात्रा पर न लगकर एकाधिकारीके लाभ पर लगाया गया हो, तो एकाधिकारीको कर के बराबर मूल्य बढा कर हस्तान्तरित करनेकी प्रवृत्ति नही होगी। लाभ पर कर दो प्रकारसे लगाया जा सकता है। एक विधि यहहै कि एकाधिकारीसे एक निर्धारित रकम कर के रूपमें ले ली जाये और दूसरी विधि यह है कि लाभ पर एक निर्धारित दरके हिसाबसे कर लिया जाये। कल्पना कीजिए कि राज्य ने एकाधिकारी पर १००० रु० वार्षिक कर लगाया अथवा उसके लाभ पर १० प्रतिशत लगाया। कर लगनेसे पहिले एकाधिकारी अपनी वस्तुका मूल्य इस प्रकार निर्धारित कर चुका होगा कि उस

मूल्य पर उनको अधिकसे अधिक लाभ हो और उससे कम या अधिक मूल्य पर लाभ की मात्रा कम होजाय। अब नीचे दीगई तालिका पर ध्यान दीजिए :

१ मूल्य की दर	२ लाभ	३ कर की मात्रा	४ कर घटा-कर लाभ	५ कर की दर	६ कर की मात्रा	७ कर घटा-कर लाभ
रु०	रु०	रु०	रु०		रु०	रु०
१०	५०००	१०००	४०००	१०%	५००	४५००
९	६०००	१०००	५०००	१०%	६००	५४००
८	७०००	१०००	६०००	१०%	७००	६३००
७	६०००	१०००	५०००	१०%	६००	५४००
६	४०००	१०००	३०००	१०%	४००	३६००

(१) और (२) खानोंसे पता चलता है कि ८ रु० मूल्यकी दर रखनेसे एकाधिकारी को अधिकसे अधिक लाभ अर्थात् ७००० रु० प्रति वर्ष प्राप्त होता है। उससे कम या अधिक मूल्य पर द्रव्य गिरने लगता है। (३) और (४) खानोंसे पता चलता है कि १००० रु० एक निर्धारित रकम कर के रूपमें देनेके बादभी अधिकतम लाभ अर्थात् ६००० रु० ८ रु० मूल्यपर ही प्राप्त होता है। इसी प्रकारसे १० रु० प्रतिशत लाभ पर कर लगाने पर भी (६) और (७) खानोंसे ८ रु० मूल्य पर ही ६३०० रु० लाभ बचता है जो इस अवस्थामें अधिकतम है।

आयात और निर्यात कर

अब [illegible] विशेष प्रकारके करोंके सम्बन्धमें कर-भार [illegible] [illegible]। किसी देशसे जो वस्तुएं [illegible] [illegible] और [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible]

और उत्पादको पर पडेगा अथवा उन देशवासियो पर पडेगा जो भारत की चायका उपयोग करते है। यदि भारतको चायकी उत्पत्तिका एकाधिकारी स्थान प्राप्त हो अथवा अधिकाश चाय भारतमें ही पैदा होती हो और चायके बदलेमें उस आवश्यकता को तृप्त करनेवाली अन्य वस्तु न हो और चायकी मागमें विशेष लोच न हो तो निस्सन्देह कर का भार विदेशी उपभोक्ताओ पर पडेगा। परन्तु यदि अन्य देशोमें चाय उत्पन्न होती हो (चाय चीन, जापान, बर्मा, लका आदि देशोंमें होती ही है) अथवा चायके मूल्यमें वृद्धि होने पर विदेशी उपभोक्ता चायके बदलेमें कॉफी, कोको आदि अन्य वस्तुओका उपभोग करने लगें तो भारतके चायके व्यापारियोकी हस्तान्तरण शक्तिका ह्रास हो जायेगा और इस अवस्थामें कर का अधिकाश भार उन्ही पर रहेगा। हा, *यदि चाय उत्पन्न करनेवाले देशोकी सख्या थोडी हो और वे* आपसमें मिलकर एकाधिकार का पद प्राप्त करलें तो अवश्य ही उनको कर के भारको अन्य देशवासियो पर डालनेमें अधिक सफलता मिल सकेगी। लेकिन वास्तव में इस प्रकारका एकाधिकार स्थायी नही रहता।

आयात-करोके सम्बन्धमें कुछ लोगोकी धारणाहै कि इनका भार विदेशी माल भेजनेवाले पर रहता है। परन्तु यह धारणा प्रत्येक अवस्थामें सही नहीं है। यह तभी ठीक होती है जब कि आयातवाली वस्तु देशवासियो के लिए आवश्यक न हो और उसकी प्रतिनिधि वस्तुए सुगमतासे प्राप्त हो सकती हो अर्थात् यदि उस वस्तुकी माग विशेष रूपसे लोचदार हो और विदेशी व्यापारीकी उस वस्तुकी मांग अन्य देशोमें न हो अथवा बहुत कम हो। ऐसी अवस्थामें कर का अधिकाश भाग विदेशी व्यापारी को सहन करना पडेगा। परन्तु इस प्रकारकी अवस्था बहुत कम रहती है। यदि विदेशी वस्तु, आयात करनेवाले देशवासियो के लिए आवश्यक हो और उसकी प्रतिस्पर्धा करनेवाली अन्य वस्तु सुगमतासे न प्राप्त हो सकती हो और यदि उस वस्तुकी माग अन्य देशोमें भी हो तो निर्यात करनेवाले देशकी शक्ति बढ जाती है। अतएव ऐसी अवस्थामें आयात-कर का अधिकाश भाग आयात करनेवाले देशवासियो पर ही पडता है। इसप्रकार हम देखतेहै कि आयात-कर को हस्तान्तरित करना उन्ही परिस्थितियोंपर निर्भर करताहै जिन परिस्थितियोपर देशके भीतर बनायी गयी वस्तुओपर लगाये गये कर को हस्तान्तरित करना सम्भव होसकता हो। दोनो परिस्थितियोमें एक ही सिद्धान्त लागू होता है।

खेती की भूमि पर कर

यदि जमीन्दार अपने आसामियोंसे पूरा आर्थिक लगान वसूल कर रहाहो तो कर का भार जमीन्दार को ही वहन करना पडेगा, परन्तु यदि वास्तविक लगान आर्थिक लगानसे कम हो तो करका कुछ अश आसामियो पर डाला जासकता है। भूमि का क्षेत्रफल घटाया नही जासकता। अतएव ऐसे देशोमें जहा आबादीके स्थिर रहने अथवा घटनेके कारण भूमिकी मागकी लोचमें कमी आगई हो वहा भूमि-कर का अधिकाश भाग जमीन्दार परही रहेगा। आबादी की वृद्धिके कारण अनाजकी माग में भी वृद्धि हो जाती है। ऐसी अवस्थामें कर का कुछ अश अनाजके मूल्यमें वृद्धि करके उनके ग्राहकोपर भी डाला जा सकता है।

आय-कर

आय-कर के बारेमें साधारणत: यही धारणाहै कि इसका भार कर देनेवाले परही रहता है। इस प्रकरणमें वेतन, मजदूरी, पेंशन इस प्रकारके आय-कर की और वाणिज्य-व्यापारके आय-कर की अलग अलग विवेचना करना ठीक जानपडता है। जहातक वेतन और मज़दूरीका प्रश्नहै, कर देनेवाला कर का भार अपने नियोक्ता के ऊपर डालना चाहेगा। ऐसा करनेमें वह तभी सफल होसकेगा जब नियोक्ता उसके वेतन अथवा मज़दूरीमें कर के बराबर वृद्धि-करदे। परन्तु नियोक्ता इसप्रकार की वृद्धि क्यो करे। आय-कर देनेके बाद नियोक्ताके लिए श्रमजीवियोका काम अधिक उपयोगी अथवा लाभप्रद तो हो नही जाता है। यदि वह उनको उनकी सीमान्तिक उत्पादकताके अनुसार पारिश्रमिक दे रहाहो तो फिर वह उसमें वृद्धि नही करेगा। ऐसी अवस्थामें कर का भार श्रमजीवीपर ही रहेगा। परन्तु यदि पारिश्रमिक सीमान्तिक उत्पादकतासे कम परिमाणमें दिया जारहा हो तो बहुत सम्भवहै कि कुछ अशतक पारिश्रमिकमें वृद्धि कर नियोक्ता आय-कर के भारको अपने ऊपर लेले। जहातक श्रमजीवियोकी शक्तिका प्रश्नहै, यदि वे अपने श्रमकी मात्रा कम करनेमें समर्थहो तो अपनी आयको बढवा सकते है। परन्तु इसमें कठिनाइया है। पहिलेतो यदि किसी एक प्रकारके व्यवसायके श्रमजीवी उस व्यवसायको छोड़कर

के कुछ उदाहरण द्वारा हमने समझानेकी चेष्टाकी है। यह विषय बहुत विवादका है। एक कठिनाई यहहै कि करोंके कारण आर्थिक व्यवस्था कई प्रकारसे प्रभावित होती है। द्रव्यमय कर-भार को हस्तान्तरित करनेकी चेष्टासे भी आर्थिक कार्यो और सम्बन्धोमें परिवर्तन होता है। परन्तु इस परिवर्तनसे कर-भार हस्तान्तरित हो जायेगा, यह नहीं समझना चाहिए। उदाहरणके लिए यदि राज्यने किसी व्यक्तिपर १० रु० मासिक आय-कर लगाया और उसने १० रु० मासिक वाले नौकरको निकाल दिया, तो क्या हम कह सकतेहैं कि कर देनेवालेने अपने कर का भार अपने नौकर पर डाल दिया? नही। यदि कर देनेवालेने नौकरको निकालकर १० रु० की क्षति पूरी कर ली, तो भी वह नौकरकी सेवाओसे वचित रहा।

करो का आर्थिक प्रभाव

जैसाकि पिछले अध्यायोमें लिखा जाचुका है, आधुनिक राज्य समाजकी आयका वडा हिस्सा कर के रूपमें ले लेतेहै और उसको अनेक प्रकारसे भिन्न भिन्न मदोमें व्यय करते है। इसका समाजके आर्थिक कार्यो जैसे उत्पादन, उपभोग, नियोग, वितरण, पूजीके वनने तथा लगाने और आर्थिक प्रगतिपर बहुत प्रभाव पडता है। इस प्रभावका आशिक विवेचन राज्यके व्ययके अध्यायमें किया जाचुका है। परन्तु व्यय करनेके लिए आयकी आवश्यकता होतीहै जोकि साधारणत: कर के रूपमें होती है। विविध प्रकारके करोका भिन्न भिन्न आयस्तरके व्यक्तियोपर और तत्सम्वन्धी आर्थिक क्रियायोपर भिन्न भिन्न प्रभाव पडता है। इस प्रकरणमें इसी विषयपर प्रकाश डालनेकी-चेष्टा कीगई है। कभी कभी राज्य ऋण लेकर भी व्यय करता है। इसका प्रभाव राज्यके ऋणवाले प्रकरणमें किया जायेगा।

करो का उत्पत्ति पर प्रभाव

कर उत्पत्तिके कुल परिमाण और उसके अन्तर्गत भिन्न भिन्न वस्तुओ और सेवाओ के परिमाणोंको, लोगोकी कार्य करनेकी शक्ति, निपुणता और प्रवृत्ति, पूजी सचय करनेकी और उसको आर्थिक कार्योमें लगानेकी प्रवृत्ति और आर्थिक साधनोको एक

व्यवसायसे दूसरे व्यवसायोंमें लगानेके द्वारा प्रभावित करता है। यदि करोंके लगाने के कारण कर देनेवालोंकी कार्य-क्षमता का ह्रास होता हो तो इससे उत्पत्तिके परिमाणमें भी कमी आजायेगी। अतएव राज्यको चाहिए कि वह अपनी कर-पद्धति इस प्रकारकी बनाये जिससे एक विशेष आय-स्तरसे निम्न आयवाले व्यक्तियोंपर कर का भार न पडे। यह आयस्तर एक अपेक्षित जीवन-स्तर बनाये रखनेके आधारपर निर्धारित होना चाहिए। यदि इस स्तरसे निम्न आयस्तरोंके व्यक्तियोंपर कर-भार डाला जाये तो वे जीवन-निर्वाह और कार्य-कुशलता वाली वस्तुओंको उचित मात्रामें उपभोग करनेसे वंचित रहेंगे। इससे न केवल उनकी कार्य-क्षमता और स्वास्थ्यको क्षति पहुंचेगी, बल्कि उनके बच्चोंको उपयुक्त भोजन, वस्त्र, शिक्षा आदि न मिल सकनेके कारण भविष्यकी उत्पत्तिकी मात्रामें भी क्षति होनेकी आशंका है।

यदि राज्य किसी मनुष्यकी आयका एक भाग कर के रूपमें लेले तो ऐसा भी हो सकताहै कि उसके कार्य करनेकी प्रवृत्ति और पूंजी संचय करनेकी प्रवृत्तिमें शिथिलता आजाये। यदि ऐसा हुआ तो उत्पत्तिकी मात्रामें क्षति होनेकी सम्भावना है। ऐसा होगा अथवा नहीं, यह कर का स्वरूप, उसकी मात्रा, और कर देनेवालोंकी प्रतिक्रियापर अवलम्बित रहता है। जिन लोगोंपर एक बडे कुटुम्बका भार है, यदि उनकी आय कर देनेके कारण पर्याप्त नही होती, तो सम्भवहै कि ऐसे लोग अपने जीवन-स्तरको बनाये रखनेके लिए अधिक कार्य करनेको वाध्य हों। इसी प्रकार जो लोग भविष्यमें एक निश्चित आय बनाये रखनेके लिए बचत करतेहै, कर-भार के कारण बचतकी मात्रा बनाये रखनेके लिए भी उनको अधिक उद्योग करना पडेगा। आर्थिक मन्दीके अवसरपर कर-भारसे उद्योग और उत्पत्तिकी मात्रामें अधिक क्षति होनेकी सम्भावना है। परन्तु आर्थिक उत्कर्षके कालमें उत्पादक लोग इन्हीं करोंसे कुछभी नहीं घबराते और उत्पत्तिके कार्यको आगे बढाते रहते है।

जो कर अनपेक्षित आयपर लगाये जाते है, उनका कार्य करनेकी अभिलाषा पर [illegible] प्रकारका प्रभाव नहीं पडता है। इसीप्रकार इस प्रकारके एकाधिकारी पर [illegible] इसमें एक निर्धारित परिमाणमें अथवा उनके लाभकी एक निर्धारित [illegible] लिया जाताहै, एकाधिकारीको अपने व्यवसायकी मात्रा [illegible] [illegible]। यदि एकाधिकार-कर के कारण एकाधिकारीको [illegible] [illegible] हो तो ऐसी अवस्थामें सम्भवत. वह [illegible]

में लगे रहनेकी चेष्टा करेगा जिससे उत्पत्तिकी मात्रामें वृद्धि होगी।

आय-कर साधारणत: वर्धमान होते हैं। अतएव बहुत सम्भवहै कि ऊचे आय-स्तर पर जहांपर कि दर बहुत बढ जातीहै, इस प्रकारका कर उद्योग और पूजीके सचयमें कमी लाने की प्रवृत्ति उत्पन्न करे। यह कहना कठिनहै कि किस आय-स्तर पर कर की कौनसी दर इस प्रकारका प्रभाव उत्पन्न करेगी। यदि आय-कर इस प्रकार लगाया जाये जिससे परिश्रमसे प्राप्त आयपर उसकी दर कमहो और सम्पत्ति से प्राप्त आयपर अधिकहो, तो बचत और पूजीकी मात्रामें कमी आनेकी सम्भावना रहेगी।

पूर्वकालमें एक ऐसी धारणा थी कि यदि आर्थिक साधनोको भिन्न भिन्न व्यवसायोमें प्रवेश करनेमें कोई व्याघात न हो तो स्वयमेव उनका वितरण इस प्रकारसे हो जायेगा जिससे वेही वस्तुए उतनेही परिमाणमें उत्पादित की जायेंगी जो उपभोक्ताओंको अपेक्षित हो। यदि राज्य अपनी कर-नीति द्वारा इसमें व्यवधान उत्पन्न करे, तो इससे इस प्रवृत्तिमें रुकावट होगी और साधनोका भिन्न भिन्न व्यवसायोमें उपयुक्त वितरण नही हो पायेगा, यह तर्क ठीक नही है। पूजीवादमें इस प्रकार की परिस्थिति रहतीहै जिसके कारण भिन्न भिन्न वस्तुओंका परिमाण समाजके हितके लिए नही, अपितु पूजीपतियोके लाभकी दृष्टिसे होता है। अतएव राज्यको हस्तक्षेप करना पड़ता है। करोके प्रयोगसे आर्थिक साधनोके भिन्न भिन्न व्यवसायों मे वितरणको बदला जासकता है। ऐसा होसकता है कि राज्य भूलसे अथवा परिस्थितिवश इस प्रकारके कर लगादे जिससे साधनोका वितरण अनपेक्षित होजाये। उदाहरणके लिए, यदि दूधपर कर लगानेके कारण उसका मूल्य बढजाये, और दूध की माग कम होनेके कारण गो-पालनके व्यवसायमें कमी होजाये तो इसके परिणाम स्वरूप बच्चो तथा रोगियोके क्षेमकी क्षति होनेकी सम्भावना है। परन्तु यदि शराब और अन्य नशीली वस्तुओपर कर लगानेसे उनके उपभोग और उत्पादनमें कमी हो और उन व्यवसायोसे निकालकर साधनोको अधिक उपयोगी व्यवसायोमें लगाया जाये, तो इससे समाजका हित होगा। इसी प्रकार यदि विदेशी प्रतियोगिता के कारण ऐसे उद्योग धन्धे जिनका स्वदेशमें होना आवश्यक है, न पनपने पायें तो इस प्रकारकी विदेशोसे आनेवाली वस्तुओपर सरक्षण कर लगाकर देशमें उत्पत्तिके साधनोको इन उद्योग-धन्धोकी ओर आकृष्ट किया जासकता है। परन्तु इस बात

[illegible] ध्यान रखना पड़ता है कि संरक्षण-कर बड़ी सावधानीसे देशके हितोंको न कि किसी संस्था विशेष के हितोंको दृष्टिमें रखकर लगाया जाये।

करों का वितरण और नियोग पर प्रभाव

पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्थामें समय समयपर उत्पत्तिके साधनोंमें बेकारी आजाती है, जिसके फलस्वरूप आर्थिक उद्योगमें शिथिलता और राष्ट्रीय आयमें भी क्षति आजाती है। कुछ समय पहिले एक विचार-धारा प्रचलित थी कि स्वतन्त्र आर्थिक पद्धतिमें थोड़ीसी अनिवार्य बेकारीको छोड़कर प्रतियोगिता के कारण लागत मूल्य-स्तरोंमें इस प्रकारका बदलाव होजाता है जिससे स्वयमेव सभी साधन किसी न किसी व्यवसायमें लग जाते हैं, परन्तु वास्तवमें यह स्थिति पाई नहीं जाती। आधुनिक अर्थशास्त्री इस विचारके हैं कि पूंजीवादी व्यवस्थामें आर्थिक कार्यों (उद्योगों) की गतिशीलतामें रुकावट पैदा करनेवाले कुछ इस प्रकारके विकार उत्पन्न होजाते हैं जिनका निराकरण स्वयमेव नहीं होसकता। इनमें आयके वितरण और उपयोग, बचत और पूंजीके लगावमें असम्बद्धता होजाना एक प्रधान विकार है। चूंकि पूंजीवादमें उत्पत्ति मांगपर निर्भर रहती है, अतएव उसको प्रगतिशील बनाये रखनेके लिए यह आवश्यक है कि मांगका परिमाण न केवल बना ही रहे, बल्कि उसमें वृद्धि हो। [illegible] माल, मशीन, कल कारखाने इत्यादि वस्तुओंकी मांग अन्ततोगत्वा उपभोग की वस्तुओंकी मांगपर ही अवलम्बित रहती है। अब यदि उपभोगकी वस्तुओंकी मांगमें [illegible] उत्पन्न होजाये तो इससे सम्पूर्ण आर्थिक क्षेत्रमें [illegible] उत्पन्न होजाती है। आर्थिक व्यवस्थाकी स्थितिके लिए यह आवश्यक है कि उपभोगकी वस्तुओंकी और उत्पादक वस्तुओंकी मांग बनी रहे। समाजकी आयके दो मुख्य [illegible]। [illegible] तो उपभोगके पदार्थोंमें व्यय किया जाता है और [illegible] बचतके रूपमें, जो पूंजी बनाकर व्यवसायोंमें लगाया जाता है, परन्तु [illegible] पूंजीके रूपमें प्रयुक्त नहीं होजाती। [illegible]

लोगोके पास एकत्रित होजाता है जिनमें बचत करनेकी शक्ति एव प्रवृत्ति अधिक होती है। ऐसी परिस्थितिमें उपभोगकी वस्तुओकी मागमें शिथिलता आजाती है। लाभकी आशा कम होनेलगती है और पूजीके लगावकी मात्रा भी घटने लगती है। फलस्वरूप उत्पत्तिके साधनोमें बेकारी और राष्ट्रीय आयमें कमी आजाती है।

राज्य इस परिस्थितिका सामना करनेके लिए कुछ अश तक कर-नीतिका प्रयोग करसकता है। कर-नीति द्वारा आयके वितरणमें असमानता कम की जासकती है। यदि कर का भार निम्न आय-स्तरोपर कम करदियाजाये तो इससे उपभोगके पदार्थोकी मागको प्रोत्साहन मिलेगा, क्योकि इस श्रेणीके लोग अपनी आयका बहुत बडा भाग उपभोगके पदार्थोमें ही व्यय करते हैं। इसीप्रकार राज्य यदि ऐसी वस्तुओपर कर घटा या हटा दे जिनको साधारण आयके व्यक्ति अधिक मात्रामें मोल लेते है, तोभी मागको प्रोत्साहन मिलेगा। इसप्रकार हम देखतेहै कि वर्धमान-कर-प्रणाली जिसके द्वारा वितरणकी असमानता कुछ अशतक कम की जासकती है केवल नैतिक दृष्टिकोणसे ही नही, अपितु आर्थिक प्रगतिको बनाये रखनेके लिए भी वाछित है। यदि राज्य ऐसे कर लगाए जिनसे वह बचत जो बेकार सचित द्रव्यके रूपमें पडीहुई है, उद्योग-धन्धोमें लगने लगे तो उससे भी आर्थिक स्थिति सुधर जायेगी।

करोके आर्थिक प्रभावका जो चित्रण इस अध्यायमें किया गयाहै उससे हमको, आर्थिक व्यवस्थामें जो बदलाव होताहै, उसका पूरा रूप सामने नही दिखाई देता। उदाहरणके लिए हमने एक स्थानपर कहाहै कि यदि कर के कारण अल्प आयवाले व्यक्ति अपने जीवन-स्तरके घटानेको विवशहो, तो उससे उनकी, तथा उनकी सन्तानकी कार्य-कुशलता एव स्वास्थ्यको क्षति पहुचेगी। यह चित्र अपूर्ण है। यदि राज्य इस प्रकारके करकी आयके व्ययसे इस श्रेणीके लोगोको कम मूल्यपर खाने पीने की वस्तुओ और कम किरायेपर रहने योग्य मकान सुलभ कराये और उनके बच्चो के लिए नि:शुल्क शिक्षा, दवा इत्यादिका प्रबन्धहो, तो जो क्षति उनको कर देनेसे होतीहै उसकी पूर्तिसे भी अधिक क्षेम उनको राज्यकी व्यय-नीति द्वारा होसकता है। आलोचनाकी सुगमताके लिए हमने व्यय और कर-नीतिके आर्थिक प्रभावको अलग अलग दिया है। वस्तुत: राज्यकी व्यय तथा कर-नीति द्वारा उत्पन्न आर्थिक प्रभाव का पूर्ण चित्र एकसाथ देखना चाहिए।

३६

राज्य-ऋण

राज्य-ऋण का प्रयोजन और महत्व

आधुनिक कालमें सभी देशोंमें राज्य-ऋणका परिमाण बहुत होगया है। कुछ समय पूर्व अर्थशास्त्रियों और राजनीतिज्ञोंकी यह धारणा थी कि राज्य-ऋण समाजके ऊपर भार-स्वरूप होता है। अतएव राज्यको संकटके समय ही ऋण लेना चाहिए और यथाशीघ्र उऋण होनेकी चेष्टा करनी चाहिए। साधारण आर्थिक अवस्थामें राज्य-ऋणको महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं था, परन्तु आजकी विचार-धारा भिन्न है। राज्यके आर्थिक कार्य बहुत बढ़गयेहैं और उनके द्वारा समाजके सम्पूर्ण आर्थिक अवयवोंको पुष्ट, उन्नतिशील और प्रगतिशील बनानेकी चेष्टा कीजाती है। इस प्रकारके अनेक आर्थिक-कार्योंके लिए राज्यको ऋण लेना आवश्यक होजाता है, क्योंकि करसे जो आय होतीहै वह पर्याप्त नहीं होती और अनेक अवस्थाओंमें ऐसे आर्थिक मन्दीके अवसरपर कर-भार बढ़ाना उपयुक्त नहीं समझा जाता। वर्तमान आर्थिक व्यवस्थामें राज्य-ऋणको भी एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होगया है जिसके द्वारा राज्य अपनी आर्थिक द्रव्य-सम्बन्धी और राजस्व-सम्बन्धी नीतिको कार्यान्वित करनेकी चेष्टा करते हैं।

राज्य कई कारणोंसे ऋण लेते हैं। एक कारण यह है कि राज्यको करों से आय उसी समय और उसी परिमाणमें नहीं होती जिस समय और जिस परिमाणमें राज्यको व्ययकी आवश्यकता होती है। अतएव जिस समय एक [illegible]

राज्यको समाजके हितके लिए कुछ इसप्रकार के निर्माण कार्य करने पडतेहैं जिनपर वहुत द्रव्य व्यय करना पडता हैं। इतना द्रव्य राज्यकी सामान्य आयसे प्राप्त नहीं होसकता है। उदाहरणके लिए वडी वडी नहरें खुदवाने, सडकें और पुल वनवाने, वड़ी मात्रामे जगल लगवाने, भूमिकी उन्नति करने तथा नदियोकी घाटियोके निर्माण-कार्योंके लिए राज्यको वहुत वड़ी मात्रामें व्यय करना पडता है। यदि इन निर्माण-कार्योंके सम्पादनके लिए राज्यकी मामान्य आयका ही भरोसा किया जायतो इसमें वहुत अधिक समय लगजायगा और कार्यभी रुक रुक कर होगा। आवश्यकता इसवात कीहै कि इसप्रकार के आर्थिक निर्माणके कार्य यथाशीघ्र पूरे किये जायें। अतएव राज्यको ऋणका ही महारा लेना पडता हैं। इसप्रकार का ऋण स्वभावत: दीर्घकालीन होताहै और राज्य वौड, सिक्यूरिटी इत्यादि साख-पत्रोंके द्वारा इन प्रयोजनोंके लिए दीर्घकालीन पूंजी ऋणके रूपमें प्राप्त करते है।

इस प्रकरणमें राज्यके निर्माण कार्योको दो भागोमें विभाजित किया जासकता हैं। एक प्रकारके कार्य वे है जिनके निर्माणके पश्चात् उनसेही द्रव्यके रूपमें इतनी आय होजाती है कि उससे ऋणपर व्याज और ऋणके कुछ अशको चुकता करनेके लिए भी रकम वचजाती है। भारतमें ऐसी अनेक नहरेंहै और रेलेंहै जोकि ऋण लेकर वनायी गयीहैं और उनसे जो आय होतीहै उससे प्रतिवर्ष व्याज चुकाकर ऋण परिशोधन-कोषमें भी कुछ रकम डाल दीजाती है। इसप्रकारका ऋण उत्पादक ऋण कहलाता है। दूसरे प्रकारका ऋण वहहै जिसके निर्माण कार्यसे द्रव्य रूपमें इस प्रकारकी आय नही होतीहै जैसे सडकें, पुल और अस्पताल एव पाठशालाकी इमारतें आदि। ये कार्यभी आर्थिक उन्नतिके लिए आवश्यकहै और इनसेभी उत्पत्तिकी मात्रामें वृद्धि करनेमें सहायता मिलतीहै, परन्तु प्रत्यक्ष द्रव्यके रूपमें इतनी आय नही होती कि उस आयसे व्याज और ऋण चुकता किया जासके।

आर्थिक अपकर्षके अवसरपर भी राज्यको ऋण लेनेकी आवश्यकता पड जाती हैं। उद्योग-धन्धो और वाणिज्य व्यवसायके गर्तमें पड जानेके कारण उत्पादनके साधनो और प्रधानत: श्रमजीवियोमें वहुत वेकारी आजाती है। राज्यका कर्तव्य होजाताहै कि वेकारोको आर्थिक सहायतादे और आर्थिक व्यवस्थाको भी गर्तसे निकालकर समृद्धिकी ओर अग्रसर करे। इन कार्योमे वहुत रुपया व्यय होताहै जो कि कर-द्वारा प्राप्त नही होसकता है। वैसेही राष्ट्रीय आयके गिरजानेसे आर्थिक

अपकर्षके समय कर-आय गिर जाती है। नये कर लगानेसे अथवा पुराने करोंकी दरमें वृद्धि करनेसे अपकर्षके और भी गहन होनेकी आशंका रहती है। ऐसी परिस्थिति में जो द्रव्य बेकार संचित पड़ा है, उसको अथवा बैंकोंसे नया साख-द्रव्य ऋण लेकर आर्थिक सहायताके और निर्माणके कार्योंमें राज्य व्यय करता है। अपकर्षके समयके अतिरिक्त भी जब कभी आर्थिक स्वतन्त्रताके अन्तर्गत उत्पादनके साधनों का पूरा नियोग नहीं हो पाता है, ऐसे समयोंपर भी राज्यका कर्तव्य समझा जाता है कि वह अपनी साधारण कर की आयसे अधिक व्यय-कर अर्थात् ऋण लेकर बेकार साधनोंको कार्यमें लगानेकी चेष्टा करे।

युद्ध-कालीन ऋण

वर्तमान राज्योंकी ऋण ग्रस्तताका सबसे बड़ा कारण युद्ध है। आधुनिक युद्धोंमें बहुत व्यय होता है जिसकी पूर्ति करकी आयसे करना असम्भव हो जाता है। अतएव राज्यको बड़ी मात्रामें ऋण लेना आवश्यक हो जाता है। ऋण लेनेसे राज्यको एक सुविधा यह होती है कि वह [illegible] आवश्यक युद्ध-सामग्री प्राप्त कर सकता है और उत्पादनके साधनोंको [illegible] बनाने वाले उद्योग धन्धोंमें नियुक्त कर सकता है। ऐसे कर जिनसे शीघ्रतासे बहुत मात्रामें आय होगी, [illegible] हैं। इसके अतिरिक्त जनता भी करोंका विरोध करती है। [illegible] होसकती है। परन्तु [illegible] [illegible]

इस तर्कमें कोई सार नही है। जहातक युद्धके भारका प्रश्नहै वह युद्ध कालीन पीढी पर ही पडताहै, क्योंकि इसी पीढीको अनेक प्रकारकी वस्तुओ और सेवाओंसे वंचित रहना पडता है। जहांतक भविष्यकी जनताका प्रश्नहै व्याज और ऋण परिशोधके लिए उसपर जो कर लगाया जाताहै वह उसीको वापस मिलजाता है। हा, ऐसा होसकताहै कि राज्यको ऋण देनेवाले ऊचे आय-स्तर वालेहो और कर देनेवालो में अधिकाश निम्न आय-स्तरके लोग हो। ऐसी अवस्थासे आयके वितरणमें अधिक विषमता आजायेगी और ऋणका भार निम्न आयवाली जनतापर अधिक पडेगा। यदि राज्य अन्य राष्ट्रोसे ऋण ले, तो अवश्यही इस ऋणका भार भविष्यकी जनता पर पडेगा, क्योकि इसको उन सामग्रियोसे अपनेको वचित करना पडेगा जिनके द्वारा ऋणका परिशोध किया जायगा।

करोके द्वारा युद्धके लिए आय-सचय करनेके पक्षमें कहा जाताहै कि जव ऋण लेनेपर भी युद्धका भार वर्तमान पीढीपर ही पडताहै तो इसी भारको करके रूपमें ही क्यों न यह पीढी वहन करे। इससे राज्यको भविष्यमें व्याज और ऋण-परिशोध के लिए चिन्ता न करनी पडेगी। यहभी कहा जाताहै कि यदि युद्धके आरम्भमें ही पर्याप्त मात्रामें करोमें वृद्धि करदी जाय तो जनता कम आवश्यक वस्तुओ और सेवाओके उपभोगकी मात्रामें कमी करके उत्पत्तिके साधनोको युद्धकी सामग्रियोके लिए मुक्त करदेगी। कर पक्षवालोका यहभी कहनाहै कि यदि राज्य अधिक मात्रा में वैकोसे अथवा वैको द्वारा उपलब्ध द्रव्यको अन्य व्यक्तियो अथवा सस्थाओसे ऋणके रूपमें लेकर व्यय करेतो इससे द्रव्य-स्फीतिकी आशका रहती है। इन तर्को में कुछ सार अवश्यहै, परन्तु जैसाकि हम ऊपर लिख आयेहै पर्याप्त मात्रामें कर लगानेमें राज्यको अनेक प्रकारकी समस्याओका सामना करना पडता है। परन्तु शनैः शनैः राज्यको अपनी कर-प्रणालीको समयोचित वनाकर और जनतामें भी विश्वास पैदा करके अपनी कर-आय बढानी चाहिए। अन्ततोगत्वा युद्ध व्यय का एक वड़ा भाग करकी आयसे ही चुकाना चाहिए। जहातक द्रव्य-स्फीतिका प्रश्नहै यह वास्तवमें चिन्ताका विषय है। जवतक वेकार आर्थिक साधनोको पूर्ण रूपसे नियोजित नही किया जासकाहै तब तक द्रव्य-स्फीति जनित कष्टो और दुरावस्थाओ का अधिक भय नही है। परन्तु लम्बी अवधिके युद्धमे शीघ्रही ऐसी अवस्था आ जातीहै जबकि कामके योग्य सभी साधन नियुक्त होजाते है। ऐसी अवस्थामें ऋण-

समयमें द्रव्य-स्फीति जनित मूल्य-वृद्धि होनेके कारण अव्यवस्था और निम्न-आय-स्तर वालोंको परेशानी उठानी पड़ती है। इसका आंशिक निराकरण करनेकेलिए ही मूल्य-नियन्त्रण और आवश्यक वस्तुओंको परिमित मात्रामें सभीको उपलब्ध करानेके लिए राज्यको प्रबन्ध करना पड़ता है।

ऋण अथवा कर

उपर्युक्त विवेचनसे ज्ञात होजाताहै कि ऐसी अवस्थाएं और समस्याएं उत्पन्न होती रहतीहैं जिनके सम्बन्धमें राज्य कर-आयपर ही निर्भर नहीं रहसकता है। यह मानतेहुए भी कि यथासम्भव राज्यको अपनी आवश्यकताओंकी पूर्ति कर-आय से ही करनी चाहिए यह बातभी निर्विवादहै कि आधुनिक आर्थिक व्यवस्थामें राज्य-ऋणका भी एक महत्त्व पूर्ण स्थान है। ऋण और करको एक दूसरेका प्रतिद्वन्द्वी नहीं परन्तु पूरक समझना चाहिए और युक्ति पूर्वक उनका सामञ्जस्य करना चाहिए। किस अवस्थामें ऋण लियाजाना चाहिए और किस अवस्थामें कर लगाना चाहिए तथा किस प्रकार उनका सम्मिश्रण करना चाहिए इसका निर्णय तत्कालीन आर्थिक स्थिति, कर भार, कर दाताओंकी मनस्थिति और कर्तव्यकी अपरिहार्यता और अधिकारियोंपर निर्भर होगा। इस सम्बन्धमें हम आर्थिक मन्दी और युद्ध-कालके

राज्य बजटकी बचतकी रकमसे बाजारमें बौंड खरीद कर ऋणकी मात्रा कम करे। इस उपायसे अधिक सफलता मिलनेकी आशा नहीं की जासकती। पहिले तो आजकलके बजटमें बचत होनेकी सम्भावना ही कम रहती है जबतक कि विशेष रूपसे उसका प्रबन्ध न कियाजाय। इसके अतिरिक्त बौंड यदि नामांकित मूल्यसे कम मूल्यपर बिकें तभी लाभ होसकता है।

ऋण-परिशोधन-कोष

कभी कभी ऋण चुकानेके लिए परिशोधन-कोषकी स्थापना कीजाती है। कुछ समय पूर्व एक प्रथा यहथी कि ऋण लेनेके पश्चात् उसके परिशोधनके लिए एक कोषमें प्रतिवर्ष इतना द्रव्य जमा किया जाताथा जोकि चक्र वृद्धि व्याज सहित ऋणकी अवधि पूरी होते होते ऋणके परिमाणके बराबर होजाये। यह प्रथा पश्चिमी देशो में चली थी। आधुनिक कालमे इसमें कुछ परिवर्तन होगया है। अब यह आवश्यक नही है कि कोषमें द्रव्य इस हिसाबसे जमा कियाजाय कि वह ऋण अवधि तक इसके परिमाणके बराबर होजाये। कोईभी कोष जो ऋण कम करनेके लिए बनाया जाताहै उसको ऋण-परिशोधन-कोष कहते है। यह आवश्यक नही कि इसमें द्रव्य जमा होता रहा हो। यह कभीभी बौंड खरीदनेके काममें लिया जासकता है। इसमें साल में जो कुछ रुपया बजटमें बच जाय वह जमा किया जासकताहै अथवा इसके लिए बजटमें विशेष रूपसे एक निर्धारित रकमका प्रबन्ध किया जाताहै अथवा आयकी किसी विशेष मदसे जो प्राप्ति हो वह इस कोषमें डाल दीजाती है। इसप्रकार के कोषसे लेनदारोको आश्वासन रहताहै कि समयपर उनके ऋणका भुगतान होजायगा। परन्तु इस कोषको सुरक्षित रखना, इसका समुचित प्रबन्ध करना और अन्य मदोपर व्यय न करना इत्यादि समस्याए इसके साथ लगी हुई है।

विशेष पूजी कर

प्रथम महायुद्धके बाद राज्य-ऋणको शीघ्रतासे और बडी मात्रामें कम करनेके लिए एक सुझाव यह रखागया कि समाजकी पूजीपर एकही बार एक विशेष कर लगाया

जाय और इससे जो आयहो उससे इकट्ठाही राज्य-ऋणका परिशोध किया जाये। इसके पक्षमें यह कहागया कि युद्धकालमें अनेक व्यक्तियो और संस्थाओकी पूजीमें युद्ध जनित कारणोसे बडी मात्रामें वृद्धिहुई, अतएव इस पूजी-कर का भार इन्ही लोगोपर पडेगा, और चूकि इस प्रकारके लोग अधिकतर सम्पन्न होतेहै और कर भी वर्धमान सिद्धान्तके अनुसार लगाया जायगा, अतएव इसका भार हैसियतके अनुसार होगा जिससे धनके वितरणकी असमानतामें भी कमी होगी। इस पूजी-कर के प्रतिकूलभी अनेक बातें कहीगयी। कहागया कि युद्ध ऋण सारे देशकी भलाईके लिए लियागया था तब उसका भार थोडेसे सम्पन्न लोगोपर ही क्यो डाला जारहा है? इसका परिणाम यह होगा कि जिन लोगोने बचतकी है और पूजी बढाईहै उनको एक प्रकारका दंड मिलेगा और जिन लोगोने अपनी आय भोग-विलासमें लगादी वह बच जायेंगे। इससे बचत करनेकी प्रवृत्तिको धक्का लगेगा। यदि इस करकी दर भारीहुई तो उद्योग-धन्धोमें पूजी लगानेमें भी उत्साह मन्दा पडसकता है। इसके अतिरिक्त यदि इस प्रकारका कर राज्य बराबर लगाने लगे तो कुछ समय बाद सारी सम्पत्ति राज्यके पास चली जायगी।

राज्य-ऋण चुकानेका यह उपाय विशेष रूपसे काममें नहीं लाया गया। कुछ देशोंमें एक विशेष कर अवश्य काममें लायागया, जोकि आय-कर के सदृश था। यह एक बडी मात्रामें और वर्धमान नियमानुसार निर्धारित कियागया जिसका भुगतान आखिर किस्तोंमें कई वर्षोंकी अवधिमें फैलाकर कर दियागया था।

नये बौंडोसे बदल लेतेहैं। उस समय ऋण सम्बन्धी शर्तोंमें परिवर्तनभी करसकते हैं। उदाहरणके लिए ब्याजकी दर घटासकते है अथवा यदि पुराने ऋण आय-कर से मुक्तहो तो उनपर आय-कर लगाया जासकता है। सकटावस्थामें जब राज्य ऋण लेताहै तो उसको बहुधा अधिक ब्याजकी दर देनीपड़ती है। यदि ऋण-परिवर्तनके समय ब्याजकी दर गिरगई होतो राज्य अधिक ब्याजके ऋणको कम ब्याजके ऋण में परिवर्तन कर ब्याजके भारको कम करसकते हैं। आधुनिक कालमें सरकारी बौंड इस प्रकारसे लिखेजाते है कि कुछ अवधिके बाद राज्यको अधिकार रहताहै कि वह चाहे तो ऋणका भुगतान करसकता है। एक १०/३० बौंडका यह तात्पर्य होताहै कि ३० वर्षके बाद तो राज्य इस बौंडका अवश्यही भुगतान करेगा, परन्तु १० वर्ष के बाद राज्यको अधिकार होजायगा कि वह जब चाहे तब भुगतान करे। यदि दस और तीस वर्षके बीच ब्याजकी दर गिरगई होतो राज्य पुराने ऋणको कम ब्याज वाले नये ऋणमें परिवर्तित कर सकता है।

अल्प-काल	Short period
अल्पकालिक पूंजी	Short time money
अवकाश	Leisure
अवरुद्ध	Blocked
अविनिमय साध्य	Inconvertible
अविभाज्यता	Indivisibility
अविशिष्ट साधन	Non-specific factors
अस्थाई-सन्तुलन	Temporary equilibrium
अशुद्ध बाजार	Imperfect market
आंकड़े	Statistics
आर्थिक चक्र	Trade cycle
आर्थिक सहायता	Bounty
आनुपातिक कर	Proportional tax
आनुमानिक रीति	Deductive method
आभास-कर	Quasi-rent
आभ्यान्तरिक बचतें	Internal economies
आय उद्देश्य	Economic motive
आय-उपभोग रेखा	Income-consumption line
आय रेखा	Income line
आयात	Import
आय-कर	Income tax
आयात कर	Import duty
आरम्भ स्थान	Origin
आरोग्य विज्ञान	Hygiene
आवश्यकता	Want
उत्कर्ष	Prosperity
उत्कृष्ट हिस्सा	Preference Share
उत्पत्ति	Product; Output
उत्पत्ति विभेदीकरण	Product differentiation
उत्पादक	Producer
उत्पादक वस्तु	Producers' goods
उत्पादन	Production

एकरस पूंजी	Constant capital
एकरूपता	Uniformity
एकाधिकार	Monopoly
एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा	Monopolistic competition
ऐतिहासिक रीति	Historical method
औद्योगिक क्रान्ति	Industrial revolution
औसत आय	Average revenue
औसत उत्पादन-व्यय	Average cost
कच्चा माल	Raw material
कठकर्तन प्रतिस्पर्धा	Cut-throat competition
कबीला	Tribe
कर	Tax
कर-भार	Burden of taxation
कर्म-शाला	Factory
क्रय	Purchase
क्रय-शक्ति	Purchasing power
क्रय-शक्ति क्षमता	Purchasing power parity
क्रमागत-उपयोगिता-ह्रासनियम	Law of diminishing utility
कार्य-कुशलता	Efficiency
कार्यगत गतिशीलता	Occupational mobility
कुनबा	Family
कुशल श्रम	Skilled labour
कृषि सिद्धान्त	Harvest theory
कोष	Fund
खगोल-शास्त्र	Astronomy
गत्याध्ययन	Motion study
गतिवृद्धि सिद्धान्त	Acceleration principle
गतिशीलता	Mobility
ग्राहक	Buyer
गिरोह	Group
गुणक सिद्धान्त	Multiplier principle

घनत्व	Density
घनीकरण	Intensification
चक्रानुवर्तन	Rotation
चलन	Currency; Circulation
चलन का वेग	Velocity of circulation
चालू हिसाब	Current account
चिरस्थाई	Durable
जनन शक्ति	Fecundity
ज्यामिति	Geometry
जीवन-स्तर	Standard of living
जैसी-लेनी-वैसी-देनी धारा	Reciprocity clause
जोखिम	Risk
टकसाल	Mint
टकसाल दर	Mint value
टिकाऊ	Durable
ढंलाई	Coinage
ढलान	Slope
तटस्थ	Neutral
तटस्थता	Indifference
तटस्थ तालिका	Indifference schedule
तटस्थ रेखा	Indifference curve
तटस्थ रेखाचित्र	Indifference chart
तात्कालिक धरोहर	Demand deposit
तात्कालिक विनिमय	Spot exchange
तीव्रता	Intensity
तुलनात्मक व्यय	Comparative cost
तुलनात्मक-व्यय सिद्धान्त	Theory of comparative cost
तुरन्त-देय ऋण	Loan at call
तृप्ति	Satisfaction
थोक मूल्य	Wholesale price

थोक विक्रेता	Wholesale dealer
दर्शनी-हुंडी	Sight bill
दीर्घकाल	Long period
देनदार	Debtor
देय	Levy
देशगत गतिशीलता	Place mobility
द्रव्य	Money
द्रव्य-प्रसार	Expansion of money
द्रव्यमयी	Monetary
द्रव्य-वरीयता	Liquidity preference
द्रव्य-विनिमय क्षमता	Liquidity
द्रव्य सचय सिद्धान्त	Cash balance theory
द्रव्य-स्फीति	Inflation
द्वयाधिकार	Duopoly
द्वारताल	Lock out
द्विधातु पद्धति	Bimetallism
धनात्मक	Positive
धरोहर	Deposit
धात्विक कोष	Metallic reserve
धात्विक द्रव्य	Metallic money
नकदी	Cash
नम्यता	Flexibility
नवीनता	Innovation
नामाकित मूल्य	Face value
नि: शुल्क	Free
निजी पूजी	Private capital
निर्धारित कार्यक्रम	Planning
नियोग	Employment
नियोक्ता	Employer
न्यूनतम-विभेदीकरणका सिद्धान्त	Law of minimum differentiation

निर्मित माल	Manufactured goods
नियन्त्रित विदेशी विनिमय	Exchange control
निर्यात	Export
निर्यात कर	Export duty
निरपेक्ष	Absolute
निरपेक्ष जनसख्या आधिक्य	Absolute over-population
निरोधात्मक प्रतिबन्ध	Preventive checks
नीति शास्त्र	Ethics
पच	Arbitrator
परस्पर-चुकाईका समझौता	Bilateral clearing agreement
परिणाम	Result
परिमाण	Quantity
परिवर्तनीय अनुपातका सिद्धान्त	Law of variable proportion
परोक्ष	Indirect
परिवर्तनशील पूजी	Variable capital
परोक्ष आयात	Invisible import
परोक्ष कर	Indirect tax
पारिश्रमिक	Wages
पुनर्व्यवस्था	Re-organisation
पुनरावृत्ति	Repetition
पूजी	Capital
पूजी-कर	Capital levy
पूजी लगाना	Invest
पूजी का लगाव	Investment
पूजीवाद	Capitalism
पूरक	Complementary
पूरक-व्यय	Supplementary cost
पूर्ण उद्यम	Full employment
पूर्ण प्रतिस्पर्धा	Perfect competition
पूर्ति	Supply
पूर्ति-तालिका	Supply schedule

पूर्वावधारणा	Motive
प्रकृष्ट कृषि	Intensive cultivation
प्रगति	Progress
प्रगतिशील अर्थशास्त्र	Dynamic economy
प्रत्यावर्तनशील पूजी	Circulating capital
प्रत्यक्ष	Direct
प्रत्यक्ष आयात	Direct import
प्रत्यक्ष कर	Direct levy
प्रतिरूप	Model
प्रतिनिधि द्रव्य	Representative money
प्रतिनिधि	Substitute
प्रतिनिधि उद्योग सस्था	Representative firm
प्रतिपत्रक	Counterfoil
प्रतिपोषक	Collateral
प्रतियोगिता	Competition
प्रतिलोम	Inverse
प्रतिस्पर्धा	Competition
प्रतिस्थापना	Substitution
प्रतिस्थापना सिद्धान्त	Law of substitution
प्रतिस्पर्धी पद्धति	Competitive system
प्रतिज्ञापत्र	Promissory note
प्रतीक्षा	Waiting
प्रधान रेखा	Principal axis
प्रवृत्ति	Tendency
प्रबन्धित द्रव्य पद्धति	Managed money
प्रसरण सिद्धान्त	Diffusion theory
प्रसार	Expansion
प्रशासनकारी आय	Administrative revenue
प्राणि-विद्या-शास्त्र	Zoology
प्राकृतिक प्रतिबन्ध	Natural checks
प्रामाणिक मुद्रा	Standard coin

प्राप्त हिस्सा	Paid up capital
प्राप्ति	Returns
प्रान्तीय	Provincial
प्रान्तीय बाजार	Provincial market
फुटकर	Retail
फुटकर विक्रेता	Retail seller
बचत	Saving
बट्टा सिद्धान्त	Agio Theory
बहुवाधिकार	Oligopoly
बाजार	Market
बाजार का विस्तार	Extent of market
बाजार मूलक व्यवस्था	Market economy
बाजारो की व्यवस्था	Organisation of markets
बाट	Weights and measures
बाह्य बचते	External economies
बेकारी	Unemployment
बेकारी बीमा	Unemployment insurance
भाडा	Freight
भावी क्रय-विक्रय	Future purchase and sale
भावी विनिमय	Forward exchange
भूगर्भ शास्त्र	Geology
भूमि	Land
भूमि की अवाप्ति	Land reclamation
भूमिकी घाटियोके निर्माण कार्य	River valley project
भूमि बन्धक बैंक	Land mortgage bank
भूमिकर	Rent
भेट	Gift
भौतिक उपयोगिता	Material utility
भौतिक कल्याण	Material welfare
भौतिक पूंजी	Material capital
भौतिक शास्त्र	Physics

मजूरी कोष	Wages fund
मजूरी का कांस्य सिद्धान्त	Brazen law of wages
मजूरी का लौह सिद्धान्त	Iron law of wages
मजूरी	Wages
मजूरी कोष सिद्धान्त	Wages fund doctrine
मन्दी	Depression
मनोविज्ञान	Psychology
मार्क्सवाद	Marxism
माग	Demand
माग का प्रसार	Increase in demand
माग का सकुचन	Decrease in demand
माग तालिका	Demand schedule
मान नयन	Standardisation
मानव शास्त्र	Anthropology
मान अक	Weight
मितव्ययिता	Economy
मिश्रित पूजी कम्पनी	Joint stock company
मिश्रित लाभ	Gross profit
मिश्रित ब्याज	Gross Interest
मिश्रित बैंक प्रणाली	Mixed banking
मुद्दती हुडी	Usance bill
मुद्रा	Coin
मूल्य	Price
मूल्य उपभोग रेखा	Price consumption line
मूल्य भेद	Price discrimination
मूल्य स्तर	Price level
मौद्रिक मजूरी	Nominal wages
मौद्रिक मूल्य	Price
मौद्रिक व्यय	Monetary costs
यद्-भाव्य नीति	Laissez faire policy
यन्त्र विज्ञान नियम	Technological law

यातायात	Transportation
यातायात के साधन	Means of communication
यात्री चेक	Travellers' cheques
योजना	Plan
रकम	Amount
रसायन शास्त्र	Chemistry
राजनीति शास्त्र	Politics
राज्य	State
राजस्व	Public finance
राज्य ऋण	Public debt
राजस्व कर	Revenue duties
राष्ट्रीय	National
राष्ट्रीय आय	National income
राष्ट्रीयकरण	Nationalisation
राष्ट्रीय पूजी	National capital
राष्ट्रीय बाजार	National market
राष्ट्रीय योजना समिति	National planning commission
राजस्व प्रशासन	Financial administration
राज्य प्रमाणित द्रव्य	Lawful money
रुचि	Taste
रेखाकित कागज़	Graph paper
रोकड	Cash
लम्ब	Perpendicular
लम्बरूप सघ	Vertical combination
लागत	Cost
लाभ सिद्धान्त	Benefit theory
लाभांश	Dividend
लेनदार	Creditor
लेन-देन की विषमता	Balance of payment
लेनी-देनी का लेखा	Balance sheet

लोकतन्त्रवाद	Democratism
लोकाचार	Convention
लोच	Elasticity
वक्र रेखा	Curve
वर्गीकरण	Classification
व्यय	Expenditure
व्यवस्था	Organisation
व्यवसाय	Occupation
वास्तविक आय	Real income
व्यापार चिह्न	Trade mark
व्यापारिक बैंक	Commercial bank
व्यापार की विषमता	Balance of trade
व्यापार-विषमता सिद्धान्त	Balance of trade theory
व्यापारिक समनुबन्ध	Trade agreement
व्युत्क्रम	Inverse
वर्धमान कर	Progressive taxation
वस्तु-विनिमय	Barter
व्यापार	Trade
वास्तविक मूल्य	Intrinsic value
वास्तविक आय	Real Income
वास्तविक मजूरी	Real wages
वास्तविक व्यय	Real cost
विक्रय	Sale
विक्रय-चातुर्य	Salesmanship
विक्रेता	Seller
विक्रय व्यय	Selling Cost
विकास	Development
विकल्पित	Alternative
विकेन्द्रीकरण	Decentralisation
वितरण	Distribution
विदेशी-विनिमय	Foreign exchange

विदेशी-विनिमय की बहुदर-नीति	Multiple exchange policy
वितत कृषि	Extensive cultivation
विनिमय	Exchange
विनिमय का माध्यम	Medium of exchange
विनिमय की सम-मूल्य दर	Mint rate of exchange
विनिमय मूल्य	Value
विनिमय बैंक	Exchange bank
विनिमय समीकरण कोष	Exchange equalisation fund
विनिमय साध्य	Convertible
विश्लेषण	Analysis
विशिष्टीकरण	Specialisation
विशेषज्ञ	Expert
विशिष्ट साधन	Specific factors
विशेष देय	Special assessment
विज्ञापन व्यय	Advertising Cost
वेतन	Salary
वैकल्पिक मुद्रा पद्धति	Limping standard
वैकल्पिक व्यय	Alternative Cost
वैयक्तिक पूजी	Personal Capital
वैज्ञानिक प्रबन्ध	Scientific management
सकुचन	Contraction
स्थाई हुडी	Fixed deposit
स्थाई उन्नति	Permanent improvement
स्थानापन्न	Substitute
स्थानापन्नता की लोच	Elasticity of substitution
स्थानीय	Local
स्थानीयकरण	Localisation
स्थाई पूजी	Fixed capital
सदिच्छा	Goodwill

स्थिर अर्थ-व्यवस्था	Static economy
सन्तति निरोध	Birth control
सन्तुलन	Equilibrium
सरक्षण	Protection
सरक्षण-कर	Protective duty
स्पर्श रेखा	Tangent
सप्रभाव सूचक अक	Weighted index number
समकोण	Right angle
सम्पत्ति	Wealth
सम्पत्ति-कर	Property tax
समय वरीयता	Time preference
समनुबन्ध	Agreement
सम्मिलित माग	Joint demand
सम्मिलित पूर्ति	Joint supply
सम्मिलित पूजी कम्पनी	Joint stock company
समतल सघ	Horizontal combination
समयगत गतिशीलता	Mobility in time
समाज शास्त्र	Sociology
समाज	Society
सामान्य मूल्य	Normal price
समानान्तर	Parallel
समाहार	Concentration
समाजवाद	Socialism
समीकरण	Equation
सर्वदेशीय व्यापार	Multilateral trade
सरकारी हुडी	Treasury bill
सर्वोत्तम नियोग	Optimum employment
स्वर्ण निर्यात दर	Gold export point
स्वर्ण आयात दर	Gold import point
स्वर्ण मुद्रा पद्धति	Gold coin standard
स्वर्ण विनिमय द्रव्य पद्धति	Gold exchange standard

स्वरूप	Nature
स्वेद पूर्ण श्रम	Sweated labour
सहकारी बैंक	Co-operative bank
सहकारी समिति	Co-operative society
सांकेतिक मुद्रा	Token money
साख	Credit
साख-पत्र	Credit instrument
साख-द्रव्य	Deposit money
साख सृजन	Credit creation
साखालय	Credit institution
साझेदारी	Partnership
साझेदार	Partner
सापेक्ष	Relative
सापेक्ष जनसंख्या	Relative population
सामग्री	Resources
साम्यवाद	Communism
सामन्तवाद	Feudalism
सामन्त कुलीनतन्त्र	Feudal aristocracy
सामाजिक बीमा	Social insurance
सामान्य मूल्य	Normal price
सामाजिक पूंजी	Social capital
सामाजिक वरीयता	Imperial preference
सामूहिक सौदा करने की शक्ति	Collective bargaining
सामूहिक	Collective
सीमित दायित्व	Limited liability
सीमान्त उत्पादन व्यय	Marginal Cost of production
सीमान्त आय	Marginal revenue
सुरक्षा	Security
सुरक्षित कोष	Reserve fund
सूचक अंक	Index number
सौकर्य	Facility

सौमनस्य स्थापन सभा	Conciliation board
शरीर विज्ञान-शास्त्र	Physiology
श्रमजीवी	Labourer
श्रम-विभाजन	Division of labour
श्रम बाजार	Labour market
श्रम शक्ति	Labour power
श्रमिक	Labourer
श्रमिक संघ	Trade Union
शासन	Government
शुद्ध बाजार	Perfect market
शुद्ध लाभ	Net profit
शुद्ध ब्याज	Net interest
शुल्क	Fees
श्रेष्ठतम व्यवहार कियेजाने वालीराष्ट्र धारा	Most favoured nation clause
शेषाधिकारी	Residual claimant
शोषण	Exploitation
हड़ताल	Strike
हस्तान्तरण	Shifting
ह्रासमान कर	Regressive taxation
हिस्सेदार	Share holder
हुंडी	Bill
होड	Competition
क्षमता सिद्धान्त	Ability theory
क्षणिक काल	Instantaneous period
क्षेम	Welfare
क्षेत्र	Scope
क्षेत्रफल	Area

अनुक्रमणिका